कबीर वाङ्मय : खण्ड २

सबद

भावार्थबोधिनी व्याख्या सहित

डॉ० जयदेव सिंह
□
डॉ० वासुदेव सिंह

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९८१ ई०

मूल्य : मूल्य 66/-

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी-१

मुद्रक
शिवम् प्रिन्टर्स
नायक बाजार, वाराणसी-१

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मेरा॥
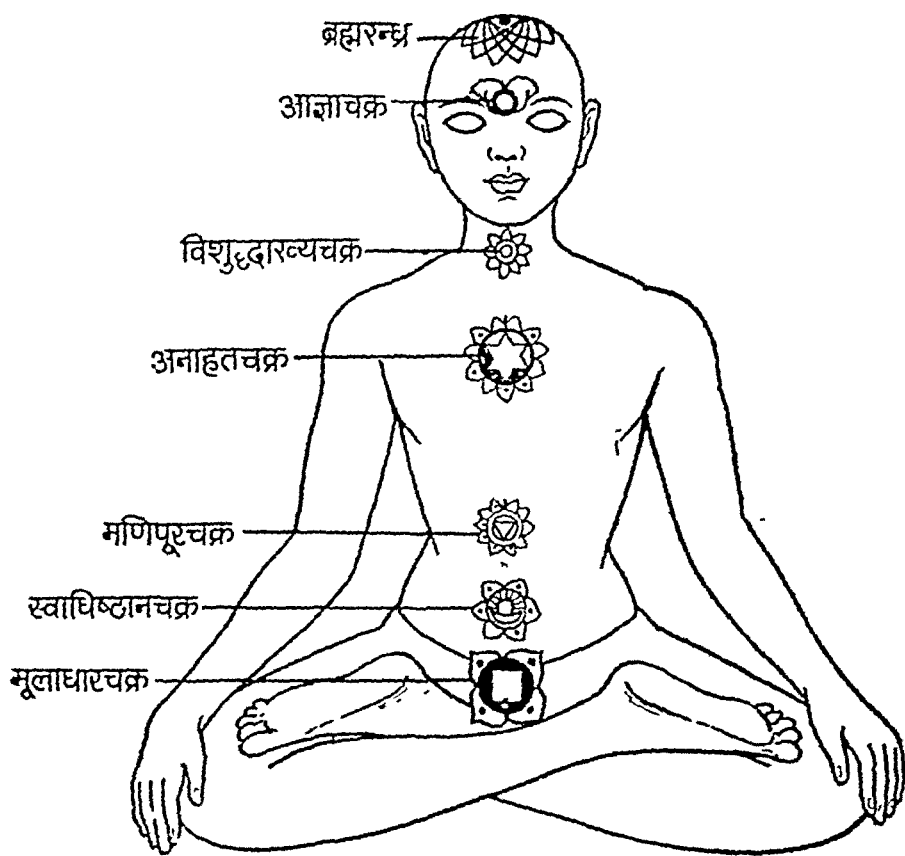
चक्रों का अभिमुखीय रूप
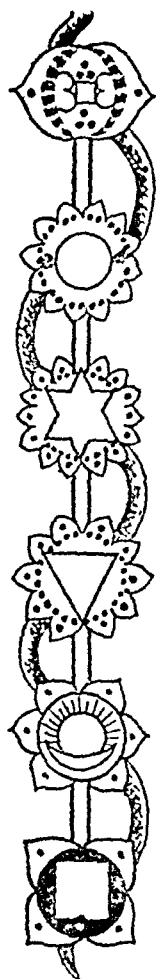
चक्रों का भेदन करती हुई
कुण्डलिनी का पृष्ठीय रूप

प्रकाशकीय

कवीर वाङ्मय को छह खंडों मे प्रकागन की योजना वनाई गई थी, जिनमें से प्रथम तीन खंडो का रमैनी, सवद और साखी का प्रमाणिक-पाठ, पाठ-भेद तथा भावार्थ वोधिनी व्याख्या सहित प्रकाशन हो चुका है। रमैनी तथा साखी के प्रथम तथा तृतीय खंड पहले प्रकाशित हुए, सवद का यह द्वितीय खंड अव प्रकाशित हो रहा है। अव तक कवीर-वाणी के प्रकाशित सभी संस्करणों मे विद्वत् समाज ने इसे प्रामाणिक रूप में स्वीकार किया है।

दर्शन, साहित्य तथा सगीत के विद्वान् डॉ० जयदेव सिंह तथा डॉ० वासुदेव सिंह ने कवीर वाङ्मय का गहन अध्ययन किया है। मूलपाठ का संपादन तथा टीका प्रस्तुत करते समय लेखक ने कवीर साहित्य, पंथ, साधना, दर्शन तथा योग पर गंभीर चिंतन किया है। कबीर वाङ्मय के आगामी दो खंड इन्ही विषयो पर प्रकाशित किये जाएँगे। अंतिम षष्ठ खंड 'कवीर कोश' होगा जो कवीर के अध्येताओ को कवीर साहित्य तथा दर्शन का वोध कराने मे सहायक होगा।

प्रभु कृपा से कवीर वाङ्मय के प्रथम तीन खंड आपके समक्ष हैं।

—पुरुषोत्तमदास मोदी

उपोद्घात

कबीरदास का व्यक्तित्व न केवल हिन्दी सन्त कवियों मे, अपितु पूरे हिन्दी साहित्य मे बेजोड़ है। हिन्दी-साहित्य के लगभग बारह सौ वर्षो के इतिहास मे, तुलसीदास को छोडकर, इतना प्रतिभाशाली एवं महिमामण्डित व्यक्तित्व दूसरे किसी कवि का नही है। यद्यपि उन्होने 'मसि कागद' का स्पर्श नही किया था, तथापि उनके नाम से प्रभूत साहित्य उपलब्ध है। कबीरपन्थियो का तो विश्वास है कि उनकी वाणी अनन्त है। वनस्पति मे जितने पत्र एवं गंगा मे जितने बालुका-कण है, कबीर ने श्री-मुख से उतना ही कहा है :—

जेते पत्र बनसपती, औ गंगा की रैन।
पंडित बिचारा क्या कहै, कबीर कही मुख बैन ॥
(बीजक—साखी २६१)

सन्त सदाफलदेव के मत से "सद्गुरु कबीर साहेब बन्दीछोर स्वतः प्रकाश-स्वरूप है एवं वे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव नित्य अनादि सद्गुरु है। वे चारो युगों मे स्वच्छन्द संसार में प्रकट होकर जगजीवों को उपदेश करते है। अतः उनको कुछ पढ़ने की तथा योग करने की कोई आवश्यकता नही है।"[1] कबीर-बीजक के टीकाकार रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'कबीर जी की कथा' मे लिखा है कि "सिकन्दर शाह लोदी ने कबीर की महिमा को सुनकर उनसे न्याय, व्याकरण आदि विभिन्न शास्त्रों पर अपना मत लिखने का अनुरोध किया। कबीर ने सहस्र गाडियों मे कागज भरवा-कर, एक स्थान पर 'राम' शब्द लिखकर, उनको भिजवा दिया। कबीर के व्यक्तित्व के प्रभाव से हिन्दू-मुस्लिम धर्मो के सभी शास्त्रों के वचन उन पृष्ठों पर स्वतः लिख गये।"[2]

इसी प्रकार बीजक के अन्य टीकाकार श्री विचारदास शास्त्री का कहना है कि कबीर ने प्रत्येक जीव के लिए छः लाख छानवे हजार रमैनियाँ मौखिक रूप से कह दी

---

१. सदाफलदेव जी : बीजक-भाष्य, पृ० १

२. सहस शकट कागज जब आयो। तब कबीर अति आनंद पायो ॥
सबके ऊपर शकट यक माँही। लिख्यो राम अक्षर द्वै काहीं ॥
सहसहु शकट साह ढिग भेजा। प्रगट्यो राम नाम कर तेजा ॥
सकल शास्त्र सब कागज माँही। लिखिगे आपुहि ते श्रम नांही ॥
(कबीर-बीजक, पृ० २०-२१)

थी, जिन्हें उनके शिष्यों ने विभिन्न प्रदेशो में प्रचारित किया—'छ. लाख छानवे सहस रमैनी एक जीभ पर होय ।'[1]

कबीर-पन्थियो के मत से 'कबीर' एक समय मे उत्पन्न एक व्यक्ति की संज्ञा नही है । कबीर वह 'परमतत्त्व' है जो अज्ञानान्धकार मे भटकते हुए प्राणियों का मार्ग-दर्शन करने के लिए प्रत्येक युग मे अवतीर्ण होता है और सदुपदेश करता है—'जुग-जुग सो कहवैया, काहु न मानी वात' (रमैनी—५)। एक साखी में तो यहां तक कहा गया है कि जिस समय यह कृत्रिम संसार नही था अर्थात् सृष्टि नही हुई थी, संसार-रूपी बाजार नही था, उस समय केवल राम के भक्त आदिगुरु कबीर थे, क्योंकि उन्हे लक्ष्य तक पहुँचने के कठिन और दुर्गम मार्ग का परिचय था :—

जा दिन किरतम ना हुता । नही हाट नहि बाट ।
हुता कबीरा राम जन, जिन देखा औघट घाट ॥ २८ ॥
(परचा को अंग)

वस्तुतः कबीर के अनुयायियों द्वारा उनकी अतिरजनात्मक प्रशस्ति के मूल मे कबीर-भक्तों की श्रद्धा की अभिव्यक्ति अधिक है, तथ्यो की सूचना कम । इसीलिए उनके उद्गार कबीर के सही व्यक्तित्व और उनकी रचनाओ की सच्ची जानकारी देने मे कम सहायक हुए है । एक प्रकार से इससे समस्या उलझी अधिक है, क्योंकि कबीर के इन भक्तो ने न केवल उनकी कोरी प्रशंसा ही की है, अपितु उनके नाम से प्रचुर साहित्य लिखकर प्रचारित भी किया है । देश के विभिन्न भागो मे विद्यमान कबीर-पन्थियो की गद्दियो और मठो में कबीर के नाम से इतना अधिक लिखित-मौखिक साहित्य उपलब्ध है कि किसी भी तटस्थ वैज्ञानिक अनुसधित्सु के लिए 'कबीर-साहित्य' को अलग कर पाना नितान्त असम्भव हो गया है । यही कारण है कि विगत ७०-७५ वर्षो से देशी-विदेशी विद्वानो द्वारा कबीर साहित्य की प्रामाणिकता पर निरन्तर कार्य होने पर भी आज तक हम अन्तिम रूप से यह कहने की स्थिति मे नही है कि उपलब्ध साहित्य मे कितना कबीर का है और कितना कबीरेतर ।

कबीर के नाम उपलब्ध साहित्य

कबीर पर १८वी शताब्दी से कार्य प्रारम्भ हो गया था, किन्तु कबीर-साहित्य की वैज्ञानिक खोज का कार्य सन् १९०३ में एच० एच० विलसन ने किया । उन्हें कबीर के नाम पर कुल आठ ग्रन्थ मिले । उनके बाद बिशप जी० एच० वेस्टकॉट ने कबीर लिखित ८४ पुस्तको की सूची प्रस्तुत की । रामदास गौड़ लिखित 'हिन्दुत्व' नामक ग्रन्थ में कबीर की ७१ पुस्तकें गिनायी गयी है । मिश्रबन्धुओ ने 'हिन्दी नवरत्न' में

---

१. बाजक, पृ० ४२ ।

७५ ग्रन्थों की तालिका दी है। इसी प्रकार हरिऔध जी द्वारा सम्पादित 'कबीर वचनावली' में २१ ग्रन्थों, युगलानन्द द्वारा सम्पादित 'वोधसागर' मे ४० ग्रन्थो, डॉ० रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' मे ६१ ग्रन्थो और नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टो में १४० ग्रन्थों की सूची मिलती है। उपर्युक्त विद्वानो ने विभिन्न स्रोतो से प्राप्त कवीर की रचनाओ की सूची मात्र दी है। उनकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता पर गहराई से विचार नही किया है।

प्रामाणिकता का प्रश्न

कवीर-साहित्य की प्रामाणिकता और पाठ-निर्धारण आदि के सम्बन्ध मे मुख्य रूप से दो दिशाओं में कार्य हुए है—एक साहित्यिक विद्वानों द्वारा और दूसरे कवीर-पन्थी साधुओ द्वारा। साहित्यिक क्षेत्र मे इस दिशा मे सर्वप्रथम महत्त्पूर्ण कार्य वावू श्यामसुन्दरदास ने किया। उन्होने संवत् १९८५ में दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'कबीर ग्रंथावली' का सम्पादन करके, नागरी प्रचारणी सभा काशी से प्रकाशित कराया। उनके अनुसार "कवीरदास के ग्रन्थों की इन दो प्रतियो मे से एक तो संवत् १५६१ की लिखी है और दूसरी संवत् १८८१ की।"[1] सवत् १८८१ की प्रति मे पहली प्रति की अपेक्षा १३१ दोहे और ५ पद अधिक है। इन दो प्रतियो के अतिरिक्त संवत् १६६१ मे संकलित 'गुरुग्रन्थ साहिव' में सगृहीत कबीर की वाणी को भी प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादन मे आधार वनाया गया है। 'गुरु-ग्रथ साहिव' मे कवीर के जो दोहे और पद उक्त प्रतियो मे भी थे, उन्हे मूल अंग मे सम्मिलित कर लिया गया है और शेष को परिशिष्ट मे दे दिया गया है। इस प्रकार 'कवीर-ग्रथावली' मे कुछ ८०९ साखियाँ, ४०३ पद और ७ रमैनियाँ सगृहीत है। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट मे १९२ साखियाँ और २२२ पद और दे दिये गये है।

सवत् १५६१ की हस्तलिखित प्रति के अन्त मे एक पुष्पिका दी हुई है जिसके अनुसार यह प्रति खेमचन्द के पढ़ने के लिए मलूकदास ने काशी में लिखी थी। वाबू श्यामसुदरदास ने यह सम्भावता व्यक्त की है कि ये मलूकदास कबीरदास के शिष्य और समकालीन प्रसिद्ध सन्त थे। इस प्रकार वावू साहव ने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत प्रति का संग्रह कवीर के जीवनकाल मे ही होने से, इसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। किन्तु परवर्ती खोजो से यह स्पष्ट हो गया है कि उक्त पुष्पिका जाली है। मलूकदास का जन्म सवत् १६३१ मे हुआ था। अतः वह अपने जन्म के ७० वर्ष पूर्व ही उक्त संग्रह कैसे कर सके? 'पेमचन्द्र' नामक किसी व्यक्ति का भी पता नही चल सका है। इस प्रति की भापा मे जो पंजाबीपन का आधिक्य है, वह भी सन्देह को जन्म देता है, क्योकि कवीर के पूर्वी क्षेत्र मे पैदा होने और निवास

१. कवीर ग्रन्थावली, प्रथम सस्करण की भूमिका, पृ० १।

के कारण इसमे पूर्वीपन अधिक होना चाहिए, न कि पजाबीपन।[1] साखियो की भाषा मे पंजाबी-प्रभाव के आधिक्य को देखकर स्वयं बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा था कि "दोनों हस्तलिखित प्रतियो मे जो पजाबीपन देख पडता है, उसका कुछ कारण समझ में नही आता। या तो यह लिपिकर्त्ता की कृपा का फल है अथवा पंजाबी साधुओं की सगति का प्रभाव है।"[2] यदि लिपिकर्त्ता कबीर का समकालीन होता तो उसे कबीर की भाषा मे इतना व्यापक परिवर्तन करने का साहस कैसे होता? अतः अधिक समीचीन यही प्रतीत होता है कि बाबू साहब ने जिन प्रतियो के आधार पर ग्रन्थावली का सम्पादन किया है, वे काफी परवर्ती है। (दूसरी प्रति को स्वय बाबू साहब ने सवत् १८८१ की लिखित माना है)। अत. 'कबीर-ग्रन्थावली' की प्रामाणिकता को अन्तिम सत्य के रूप मे नही स्वीकार किया जा सकता।

बाबू श्यामसुन्दरदास को 'कबीर-ग्रन्थावली' के प्रकाशन के लगभग १५ वर्षो बाद सवत् २००० (सन् १९४३) मे डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने 'सन्त कबीर'[3] नाम से कबीर की रचनाओ का अन्य सस्करण निकाला। उनके मत से "नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' का पाठ सन्दिग्ध और अप्रामाणिक है। पाठ का पजाबीपन तो 'पूरब' निवासी कबीर की वाणी का विषम शीशे मे पडा हुआ विकृत प्रतिबिम्ब-सा है।" डॉ० वर्मा की दृष्टि मे 'कबीर-ग्रन्थावली' की भाषा अप्रामाणिक है ही, उसके पाठ-निर्धारण मे भी अनेक त्रुटियाँ है। "अनेक स्थलो पर शब्दो को अलग-अलग लिखने मे भूल हो गयी है। कही, एक शब्द दूसरे से जोड दिया गया है, कही किसी शब्द को तोडकर आगे और पीछे के शब्दों में मिला दिया गया है।"[4] इसके अतिरिक्त 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' मे उद्धृत अनेक पदो को छोड़ दिया गया है।

डॉ० वर्मा के समक्ष यद्यपि कबीर-बानी के ६ संग्रह तथा नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९०१ से सन् १९२२ तक की खोज रिपोर्टो मे सकलित ८५ प्रतियो की सूची थी, किन्तु उन्होने 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' को ही सर्वाधिक विश्वसनीय माना, क्योकि उनके मत से "श्री ग्रन्थ साहिब का सकलन पाँचवे गुरु श्री अर्जुनदेव ने सन् १६०४ (सवत् १६६१) मे किया था। सन् १६०४ का यह पाठ अत्यन्त प्रामाणिक है। यही नही, गुरुमुखी लिपि मे लिखे जाने पर भी कबीर के काव्य का व्याकरण पूर्वी

---

१. विस्तार के लिए देखिए, नागरी प्रचारिणी पत्रिका (शोध-विशेषाक), संवत् २०२९ में डॉ० शुकदेव सिंह का निबन्ध—'कबीर ग्रन्थावली की प्रामाणिकता', पृ० ९६–१०१।

२. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ४–५।

३. प्रकाशक— साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९४३।

४. सन्त कबीर, प्रस्तावना, पृ० ७।

हिन्दी का रूप लिये हुए हैं।"[1] प्रस्तुत संग्रह में 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' के आधार पर २२८ पद (सबद) और २४३ साखियाँ दी गयी हैं। इस संग्रह मे रमैनियों को बिलकुल छोड़ दिया गया है। कबीर-पन्थियों मे सर्वाधिक मान्य रमैनियों को कबीर-साहित्य से अलग करना उचित नही प्रतीत होता। पदों और साखियो की संख्या भी बहुत कम कर दी गयी है। बहुत सम्भव है 'गुरु-ग्रन्थ साहिब' में कबीर की कुछ चुनी हुई रचनाएँ ही रखी गयी हो। अतः 'सन्त कबीर' मे संगृहीत पदो और साखियों को कबीर का सम्पूर्ण साहित्य नही माना जा सकता।

कबीर-साहित्य के वैज्ञानिक स्वरूप-निर्धारण का दूसरा कार्य डॉ० पारसनाथ तिवारी ने 'कबीर-ग्रन्थावली' नाम से किया है। कबीर की वाणी का पाठ-निर्धारण एवं प्रामाणिक रचना-संकलन करने के लिए डॉ० तिवारी ने विभिन्न पुस्तकालयो, कबीर-पन्थी, दादू-पन्थी एवं निरंजन-पन्थी सस्थानो तथा व्यक्तिगत सग्रहालयों से प्राप्त हस्तलिखित एवं मुद्रित सामग्री का अत्यन्त श्रम से निरीक्षण-परीक्षण करके प्रस्तुत संग्रह तैयार किया है। इस कार्य को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाने के लिए उन्होंने दादू महाविद्यालय, जयपुर से १५; श्री कबीर मन्दिर, मोती डूँगरी से ९; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी से २९; हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से २; पंजाब विश्वविद्यालय के संग्रहालय से २; स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण से २; श्री उदयशंकर शास्त्री से १२ और श्री अगरचन्द नाहटा से २ प्राप्त हस्तलिखित प्रतियो का भी उपयोग किया है। इन प्रतियों का लिपिकाल संवत् १८३१ और संवत् १८८० के मध्य है। डॉ० तिवारी को विभिन्न संस्थानो एवं व्यक्तिगत संग्रहों से उपलब्ध हस्तलिखित एव मुद्रित प्रतियों मे कबीर के नाम से कुल मिलाकर लगभग १६०० पद, ४५०० साखियाँ और १३४ रमैनियाँ प्राप्त हुई। इनके अतिरिक्त लगभग १०० रचनाएँ उन्हें और मिली, जो कबीर-कृत मानी जाती हैं। कबीर के नाम से उपलब्ध इस विपुल साहित्य से उनकी वास्तविक रचनाओं को अलगाना कितना श्रमसाध्य है एवं कितनी पैनी दृष्टि की अपेक्षा रखता है, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस कठिनाई की ओर संकेत करते हुए डॉ० तिवारी ने लिखा है कि "मैं नहीं जानता कि संसार के और किसी कवि या लेखक की रचनाओं की समस्त प्रतियों में समान रूप से प्राप्त और पुनः उनमें पृथक्-पृथक् सामूहिक अथवा स्वतन्त्र रूप से प्राप्त छन्दों की संख्या में इस कोटि की विषमता होगी, जितनी कबीर के सम्बन्ध मे दिखाई पड़ती है।"[2] इस प्रचुर सामग्री का सतर्कता एवं सावधानी से अध्ययन करके डॉ० तिवारी ने निष्कर्ष रूप मे २०० पदो, २० रमैनियों, एक चौंतीसी रमैनी और ७४४ साखियो को प्रामाणिक रूप से

---

१. सन्त कबीर, प्रस्तावना, पृ० १६–१७।

२. डॉ० पारसनाथ तिवारी—कबीर-ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ० ३।

कबीर की रचना माना है। इस प्रकार उन्होने बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा स्वीकृत साखियों और पदों की संख्या घटा दी है तथा रमैनियों की संख्या ७ की अपेक्षा २० मानी है।

डॉ० तिवारी ने 'कबीर-ग्रन्थावली' का सम्पादन एवं पाठ-निर्धारण पी-एच० डी० की उपाधि के निमित्त डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में किया था, किन्तु डॉ० गुप्त को उनके पाठालोचन से पूर्ण सन्तोष नही हुआ, क्योकि उनकी दृष्टि मे 'कबीर-वाणी के दो सर्वाधिक प्राचीन और सुरक्षित पाठो का यथेष्ट रूप से न तो मूल्याकन ही हुआ था और न कबीर-वाणी का सन्देश स्पष्ट करने मे उपयोग ही हुआ था।'[1] इसलिए डॉ० गुप्त ने 'कबीर ग्रन्थावली' के पाठ-निर्धारण की नये सिरे से आवश्यकता अनुभव करते हुए उसका सम्पादन किया है। प्रस्तुत संस्करण का आधार आगरा विश्वविद्यालय के के० एम० मुशी विद्यापीठ मे सुरक्षित सवत् १७६२ की बनवारीदास की परम्परा की उस प्रति को बनाया गया है जो सबसे प्राचीन उपलब्ध पाठ देती है। इस संस्करण में नागरी प्रचारिणी सभा की 'कबीर ग्रन्थावली' के समस्त छन्द संशोधित पाठ के साथ दिये गये है। इसके अतिरिक्त उक्त प्राचीनतर प्रति से उपलब्ध एक साखी और १९ पद अधिक दिये गये हैं। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण का पाठ एव छन्द-सख्या लगभग बाबू श्यामसुन्दरदास की 'कबीर-ग्रन्थावली' जैसी ही है, प्रत्येक साखी के प्रारम्भ में 'कबीर' शब्द अवश्य जोड़ दिया गया है।

इन प्रमुख कार्यो के अतिरिक्त कबीर के पदो और साखियो को लेकर और भी अनेक संग्रह समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं, जिनमे हरिऔध की 'कबीर-वचनावली', बेलवेडियर प्रेस की 'कबीर साहब की शब्दावली', गोविन्दराम दुर्लभराम द्वारा सम्पादित 'ग्रन्थ-शब्दावली', मुशी शिवव्रत लाल की 'सत्य कबीर की शब्दावली' एवं 'सन्त कबीर की साखी', स्वामी युगलानन्द की 'कबीर की साखी', हुजूर साहब की 'कबीर की साखी', विचारदास शास्त्री का 'सद्गुरु कबीर साहब का साखी ग्रन्थ', महाराज राघवदास का 'सटीक साखी ग्रन्थ', रामचन्द्र श्रीवास्तव की 'कबीर साखी-सुधा' आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

बीजक—बाबू श्यामसुन्दरदास तथा अन्य विद्वानो द्वारा 'कबीर-ग्रन्थावली' के सम्पादन-प्रकाशन का परिणाम यह हुआ कि साहित्यिक क्षेत्र में पदों और साखियों का ही अधिकाधिक प्रचार हुआ और विभिन्न विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रमो में इन्ही को स्थान मिला। बीजक प्राय: उपेक्षित ही रहा, जब कि कबीर-पन्थियो मे 'बीजक' ही अधिक मान्य ग्रन्थ रहा है, उसे पन्थ का 'वेद' माना जाता है। अमृतसर के गुरुद्वारे के

१. डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित : कबीर ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ० १।

कबीरपन्थी भगत 'बीजक' का ही पाठ करते हैं। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का सारतत्त्व 'बीजक' में ही उपलब्ध होता है। 'बीजक' का अर्थ ही है—गुप्त-धन बताने वाली सूची। कबीर ने कहा है—

> बीजक वित्त बतावई, जो वित गुप्ता होय।
> सब्द बतावै जीव को, बूझै बिरला कोय॥ (रमैनी—३७)

जो वित्त या धन गुप्त होता है अर्थात् कहीं पृथ्वी में गाड़कर या अन्यत्र छिपाकर रखा जाता है, उसका पता केवल उसके 'बीजक' से ही लगता है, उसी प्रकार जीव के गुप्त-धन को अर्थात् वास्तविक स्वरूप को शब्दरूपी बीजक (गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान-दीक्षा) बतलाता है। कबीर का प्रमुख साहित्य—रमैनी, साखी और सबद (पद) बीजक में उपलब्ध है। कबीर ने बीजक (रमैनी) में सृष्टि, मोक्ष, मनोमाया, माया से सावधानी, भव-पन्थ के कष्टों, संसार की असारता, सत्यानुभव, ज्ञान-भूमिका, देवादि-मोह-विडम्बना, सत्संग महिमा, आसक्ति से ज्ञान की दुर्लभता, सत्गुरु-महिमा, भक्ति-महिमा आदि का विशद विवेचन किया है। दर्शन के साथ काव्य का सुन्दर सामञ्जस्य 'बीजक' की अन्य विशेषता है। कबीर के सिद्धान्त, साधना एवं काव्य-वैशिष्ट्य पर विस्तार से स्वतन्त्र रूप से लिखा जायगा। यहाँ हम केवल इतना संकेत करना चाहते हैं कि अब तक कबीर-वाणी के इस महत्त्वपूर्ण अंश पर साहित्यकारों द्वारा अपेक्षित विचार का अभाव वस्तुतः कबीर के साथ अन्याय ही कहा जायगा।

'बीजक' के लोकप्रिय न होने का कारण कबीरपन्थियों की कट्टरता भी है। वे इसे मन्त्रों की तरह प्रायः गोपनीय ही रखना चाहते हैं। वे जन-सामान्य में इसका प्रचार अनुचित मानते हैं। कहा जाता है कि बीजक का मूल कबीर के दो शिष्यों भगवानदास और जगन्नाथ साहब के हाथ लगा। भगवानदास ने इसे गोपनीय ग्रन्थ बना दिया। उस पर दूसरों की दृष्टि न पड़ने दी। यदि किसी ने उसे अध्ययन-मनन के लिए माँगा भी तो भगवानदास या भग्गोदास ने अस्वीकार कर दिया, केवल सम्प्रदाय के दीक्षाकार्यों में ही इसका उपयोग हुआ। यह प्रति भगताही परम्परा के कबीर-पंथियों में ही सुरक्षित रही। बीजक की दूसरी प्रति जो जगन्नाथ साहब के अधिकार में थी, कबीर-पन्थियों में उसका ही अधिक प्रचार-प्रसार हो सका। उसी के आधार पर साम्प्रदायिक भक्तों के द्वारा टीका और भाष्य भी लिखे गये।

कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर-पन्थियों में बीजक को ही अधिक प्रामाणिक एवं आदि ग्रन्थ माना जाता है। बिशप जी० एच० वेस्टकॉट ने भी लिखा है कि 'बीजक कबीर साहब की शिक्षा का प्रामाणिक ग्रन्थ मान लिया गया है। यह सम्भवतः १५७० ई० में या सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुन द्वारा नानक की शिक्षा आदि-ग्रन्थ में

लिखे जाने के बीस वर्ष बाद लिखा गया था।"[१] कबीरपन्थी सन्तों द्वारा इसके पाठ-निर्धारण एवं टीका-भाष्य-लेखन के सम्बन्ध मे समय-समय पर कार्य होते रहे है। इन ग्रन्थो मे हसदास शास्त्री का 'कबीर-बीजक',[२] मोतीदास चेतनदास का 'कबीर साहब का बीजक',[३] सदाफलदेव जी का 'बीजक-भाष्य',[४] खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित 'सदगुरु कबीर साहेब कृत बीजक',[५] श्री गोसाईं श्री भगवान् साहब का 'मूल बीजक',[६] महात्मा पूरणसाहब का 'मूल बीजक'[७] तथा विचारदास का 'बीजक'[८] प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। कबीरपन्थियों के अतिरिक्त 'बीजक' पर कुछ अन्य लोगों द्वारा भी कार्य किये गये है, जिनमें रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिह कृत 'पाषण्ड-खण्डिनी टीका'[९] और लाहौर से उर्दू मे प्रकाशित मुशी शिवव्रत लाल का 'कबीर-बीजक' मुख्य है। इनके अतिरिक्त 'बीजक' के और भी कई सस्करण उपलब्ध है। डॉ० पारसनाथ तिवारी ने ऐसे ३२ सस्करणो की सूची दी है।[१०]

विभिन्न विद्वानो और कबीरपन्थियो द्वारा 'बीजक' के जो संग्रह निकाले गये है, उनसे स्पष्ट है कि 'बीजक' की छन्द-सख्या मे विशेष अन्तर नही है। दो-चार छन्दो के अन्तर से प्राय. सभी सस्करणो मे ८४ रमैनियाँ, ११५ शब्द, १ चौंतीसी, १ विप्रमतीसी, १ कहरा, १२ बसंत, २ चाचर, २ बेलि, १ बिरहुली, ३ हिंडोला और ३५३ साखियाँ पायी जाती है। छन्द-सख्या मे विशेष अन्तर न होते हुए भी पाठ-भेद विद्यमान है। कबीरपन्थी सपादको ने पाठ-निर्धारण मे प्रायः साम्प्रदायिक दृष्टि को ही विशेष महत्त्व दिया है। यद्यपि कुछ पाठ-शोधको ने विभिन्न स्थानो पर उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियो का भी उपयोग किया है, किन्तु पाठालोचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया तथा काव्य-रचना की बारीकियो से अनभिज्ञ होने के कारण इनके द्वारा निर्धारित पाठ अधिक प्रामाणिक नही बन सके है। उदाहरणार्थ 'बीजक मूल' के सम्पादक साधु लखनदास ने "इस ग्रन्थ का सशोधन ग्यारह ग्रन्थो से किया है, जिनमे छ टीका-टिप्पणी के साथ है और पाँच हाथ की लिखी पोथी है। परन्तु इन सब ग्रन्थो को साक्षी रूप मे

१ Kabır and Kabir Panth, p. 7.
२. कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति, बाराबंकी।
३. कबीर प्रेस, सीयाबाग, बडोदा, सन् १९३९।
४. मुक्ति पुस्तकालय, पकड़ी, बलिया, संवत् २०१३।
५. बाँकीपुर, पटना, सन् १९२६।
६. मानसर, दाऊद्रपुर, छपरा, सन् १९३७।
७. बम्बई, संवत् १९९३।
८. प्रकाशक, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सन् १९२८।
९. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से संवत् १९६१ में प्रकाशित।
१०. कबीर-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० २७ से ३० तक।

रखा गया था, केवल स्थान कबीर चौरा, काशी के पुराने और प्रचलित पाठ पर विशेष ध्यान दिया गया है।"[1] इसी प्रकार विचारदास शास्त्री ने दावा किया है कि "इस पुस्तक का शोधन अति प्राचीन पाँच प्रतियो के आधार से किया गया है, जो कि स्थान कबीर चौरा के पुस्तकालय मे सुरक्षित है। उनमे एक प्रति अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और अनेक दफा की जीर्णोद्धारित (मरम्मत) की हुई मालूम पड़ती है।"[2] श्री हंसदास शास्त्री द्वारा सम्पादित 'कबीर बीजक' मे यद्यपि २८ प्रतियो को आधार बनाया गया है, तथापि इसका "संपादन एक व्यक्ति ने नही किया, जिसका अपना निजी दृष्टिकोण ही प्रधान रूप से व्याप्त हो, वरन् तीन व्यक्तियों ने किया है और वे तीनो ही कबीर-पन्थी हैं। श्री हंसदास शास्त्री एक कबीरपन्थी मठ के अध्यक्ष हैं, श्री उदयशंकर शास्त्री कबीरपन्थी महन्त श्री गुरुशरणदास जी के पुत्र हैं और श्री महावीरप्रसाद जी कबीरपन्थ में दीक्षित हैं।"[3]

यद्यपि डॉ० पारसनाथ तिवारी ने बीजक के ३२ संस्करणों की सूची दी है, तथापि 'कबीर ग्रन्थावली' के सम्पादन में उनका अधिक उपयोग नही किया है अथवा उन्हे प्रामाणिक नही माना है। बीजक की परम्परा मे ८४ रमैनियाँ मान्य है, किन्तु डॉ० तिवारी ने २०० पदों और ७४४ साखियों के अतिरिक्त केवल २० रमैनियों और एक चौंतीसी रमैनी को ही अपने संग्रह में स्थान दिया है; क्योकि उनकी मान्यता है कि "सिद्धान्ततः केवल उन्हीं पंक्तियों को निश्चित रूप से प्रामाणिक स्वीकार किया जाना चाहिए, जो दा० वी (दादू-पन्थी) या नि० वी० (निरंजनी-सम्प्रदाय) में समान रूप से मिलती है। कठिनाई का अनुमान इस बात से और लगाया जा सकता है कि बीजक की ८४ रमैनियों मे ६० ऐसी निकल जाती हैं जिनकी एक भी पंक्ति किसी अन्य प्रति मे नही मिलती, चार रमैनियाँ ऐसी है जिनकी केवल एक-एक पंक्ति दा० नि० मे मिल जाती है, तीन रमैनियाँ ऐसी है जो केवल आंशिक रूप से दा० नि० में मिलती है। सम्पूर्ण रूप से मिलने वाली रमैनियों की संख्या केवल १६ है।"[4] इस प्रकार उन्होने दादूपन्थी और निरंजनी-सम्प्रदाय की प्रतियो को ही अधिक प्रामाणिक माना है, 'बीजक' की परम्परा की उपेक्षा की है।

इधर डॉ० शुकदेव सिंह ने 'बीजक'[5] पर नया कार्य किया है। इसे साहित्यिक क्षेत्र में किया गया प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है। उन्हें बीजक के सम्बन्ध

---

१. बीजक मूल, भूमिका, पृ० ५।

२. बीजक, परिशिष्ट, पृ० ५०।

३. कबीर बीजक, प्राक्कथन, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० २।

४. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० २६६-६७।

५. कबीर बीजक, प्रस्तुतकर्ता, डॉ० शुकदेव सिंह, नीलाभ प्रकाशन-५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण; १९७२।

में डॉ० तिवारी के निष्कर्ष मान्य नही है। उन्होंने 'कबीर-बीजक' की भूमिका में लिखा है कि 'डॉ० तिवारी द्वारा सम्पादित पाठ मे २०० पद; २० रमैनियां, १ चौतीसी और ७४४ साखियां हैं। सहज ही इस निष्कर्ष के लिए पूरा अवसर है कि इसमें बीजक का उपयोग अंगी सामग्री के रूप में हुआ है, क्योकि बीजक का महत्व ८४ रमैनियो (बीजक के सभी रूपो में), १२२ शब्दो (या ११३ से ११५), २९७ साखियो (या २५३ से लेकर अधिक से अधिक ४४५) चाचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, कहरा, बसन्त तथा विप्रमतीसी की दृष्टि से है। बीजक की अपनी ग्रन्थन शैली है, अपनी परम्परा है और कबीर के पन्थ में सबसे अधिक मान्यता भी है। इस प्रकार जाने-अनजाने इस महत्त्वपूर्ण सम्पादन में नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' का ही पाठ-विज्ञान की महत्तर और श्रमपूर्ण भूमिका में सम्पादन हुआ है। कदाचित् इसीलिए इसका नाम भी 'कबीर-ग्रन्थावली' ही रखा गया है। अतः बीजक का महत्त्वपूर्ण सम्पादन अभी तक छूटा हुआ ही माना जाना चाहिए''[1]

इस प्रकार कबीर वाणी के एक महत्त्वपूर्ण अंश के वैज्ञानिक पाठ के अभाव की पूर्ति का सकल्प लेकर प्रस्तुत संकलन तैयार किया गया है। बीजक के प्रामाणिक पाठ-निर्धारण के लिए विद्वान् लेखक ने लगभग १२ हस्तलेखो और तीन दर्जन के आस-पास बीजक के मुद्रित संस्करणो का उपयोग किया है। इस कार्य मे लेखक ने अत्यधिक श्रम करके विभिन्न मठो मे सगृहीत सामग्री का भी उपयोग किया है। उन्हें रामरूप गोस्वामी के सहयोग से भगताही पाठ भी उपलब्ध हो गया। लेखक के मत से उपर्युक्त सभी पाठो में 'भगताही बीजक' ही सबसे प्रामाणिक है। अतः उन्होंने प्रस्तुत ग्रथ भगताही बीजक को प्रमाण मानकर सम्पादित किया है।[2]

प्रस्तुत संस्करण का प्रयोजन

कबीर-साहित्य सम्बन्धी कार्यो के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी वाणी पर मुख्यतः दो क्षेत्रो मे कार्य हुआ है—एक साहित्यिक विद्वानो द्वारा, दूसरा कबीर-पन्थियो द्वारा। यद्यपि इसके अपवाद भी है। इनमें बाबू श्यामसुन्दरदास, डॉ० पारसनाथ तिवारी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त और डॉ० शुकदेव सिह द्वारा पाठ-निर्धारण और प्रामाणिकता-सम्बन्धी किये गये कार्य अधिक वैज्ञानिक और सुसगत है। किन्तु इनमे ऐसा कोई ग्रंथ नही है जो कि कबीर के समग्र साहित्य को एक साथ उपलब्ध कराता हो। यदि 'ग्रथावली' नाम से प्रकाशित ग्रन्थो मे साखियो और पदो को महत्त्व दिया गया है तो 'बीजक' मे रमैनियो की प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध

---

१. कबीर बीजक, भूमिका—पृ० ३७-३८।

२. कबीर बीजक, भूमिका—पृष्ठ ६।

की गयी है। साहित्यिक विद्वानों द्वारा 'कबीर ग्रन्थावली' अपनाये जाने का परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी के छात्रो का अध्ययन साखियो और पदों तक ही सीमित रह गया है। वे प्राय: रमैनी से अपरिचित ही रहे है, जब कि कबीर के विद्यार्थी के लिए रमैनी की जानकारी आवश्यक है। अतएव एक ऐसे ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता थी, जिसमे कबीर का सम्पूर्ण प्रामाणिक साहित्य विस्तृत व्याख्या के सहित उपलब्ध हो। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा मे किये प्रयत्न का परिणाम है।

कबीर का प्रमुख साहित्य तीन रूपो मे विभक्त है—रमैनी, साखी और शब्द या पद। प्रायः यह माना जाता है कि रमैनी मे जगत्, साखी मे जीव और सबद मे ब्रह्म सम्बन्धी विचार है। 'रमैनी' शब्द का प्रयोग तीन अर्थो में हुआ है—(i) जिसमें संसार में जीवो के रमण का विवेचन हुआ है, (ii) परमतत्त्व मे रमण कराने वाली और (iii) एक छन्द-विशेष जिसके प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती है। रमैनी में मुख्य रूप से सृष्टि और जीव तथा जगत् की स्थिति पर विचार किया गया है। इसमें मुख्य रूप से चौपाई-दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है। कितनी चौपाइयों के बाद दोहा-छन्द रखा जाय, इसका कोई निश्चित क्रम नही है। मौ० दाऊद (चंदायन) के बाद कबीर हिन्दी के दूसरे कवि है, जिन्होने 'रमैनी' में चौपाई-दोहा छन्द का विधान किया है। इसी पद्धति को आगे चलकर अन्य सूफी कवियों और तुलसी ने 'मानस' मे अपनाया है। कबीर ने एक स्थान पर कहा है कि शब्द ही माया है। शब्द का तात्पर्य है—परावाक्। माया मे जीव की प्रीति उपजी और उसने माया मे रमण करने का निश्चय किया :—

अद्बुद रूप जाति की बानी।
उपजी प्रीति रमैनी ठानी॥ (४।३)

'साखी' शब्द संस्कृत के 'साक्षी' का तद्भव है। साक्षी का अर्थ होता है—गवाह। 'गवाही' के लिए संस्कृत मे 'साक्ष्य' शब्द है। साक्षी वह है जिसने स्वयं अपनी आँखो से तथ्य देखा हो। 'साक्ष्य' का अर्थ है—आँख से देखे हुए तथ्य का वर्णन। हिन्दी में 'साखी' शब्द 'साक्षी' और 'साक्ष्य' अर्थात् 'गवाह' और 'गवाही' दोनो अर्थो में प्रयुक्त हुआ है।

कबीर ने अपनी इन उक्तियों का शीर्षक 'साखी' इसलिए दिया है, क्योंकि उन्होंने इनमें वर्णित तथ्यो का स्वयं साक्षात्कार किया है। उन्होने किसी दूसरे से सुनकर अथवा दूसरे ग्रन्थों मे उपलब्ध बात नही कही है। 'साखी' शब्द को हम चाहें 'गवाह' के अर्थ मे लें या 'गवाही' के अर्थ में, इससे भाव मे कोई अन्तर नहीं आता। भाव केवल यही है कि स्वसंवेद्य, स्वानुभूत आध्यात्मिक तथ्यो अथवा ज्ञान का वर्णन जिसमें किया गया है, उसे 'साखी' कहते है।

सबद (शब्द) का तात्पर्य

कबीर ने 'सबद' का प्रयोग चार अर्थों मे किया है :—

१. साधारणत. 'शब्द' का अर्थ ऐसी ध्वनि समझा जाता है जिसको हम कानो से सुन सकते है। किन्तु तन्त्र, योग अथवा साधना मे 'सबद' एक पारिभाषिक शब्द है। जहाँ कही क्रिया, गति या स्पद है, वह सब 'शब्द' है। आधुनिक विज्ञान बतलाता है कि विद्युदणु (Electrons) बहुत ही तीव्रगति से चक्कर काटते रहते है। इस चक्कर काटते हुए विद्युत् अणु की गति 'शब्द' है, यद्यपि वह मानवीय कानो के लिए कोई ध्वनि नही है।

ब्रह्म का चिदाकाश वह है जिसका गुण 'शब्द' है अर्थात् जिसके द्वारा सभी प्रकार का स्पंदन होता है। यही शब्द ब्रह्म है, आगमो के अनुसार यही परावाक् है—अविभेदित, निर्विशेष आद्याशक्ति है। इसी शक्ति के द्वारा सृष्टि की सारी प्रक्रिया होती है। भर्तृहरि ने इसी को 'चैतन्य' का रूप माना है। उनके 'वाक्यपदीय' मे आता है :—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत. ॥ (१-१)

अर्थात् ब्रह्म का न आदि है, न अंत। वह अक्षर (जिसका कभी क्षरण नही होता है) ब्रह्म 'शब्द-तत्त्व' कहलाता है और वही शब्द अर्थ या विषय (Object) के रूप में प्रकट होता है, जो सारे जगत् की सृष्टि का मूल है।

'शब्द ब्रह्म' ब्रह्म की शक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। यही शब्द या स्पन्दन कान को 'ध्वनि' के रूप में, त्वक् को 'स्पर्श' के रूप में, चक्षु को 'रूप' के रूप मे, जिह्वा को 'स्वाद' के रूप मे और नाक को 'गंध' के रूप में प्रतीत होता है। मानसिक क्रियाएँ भी शब्द या स्पन्दन है। विचार मन का स्पन्दन है, जैसे ध्वनि कान का स्पन्दन है। सर्वव्यापी स्पन्दन 'सामान्य स्पन्दन' है। इसीको कबीर साहब ने 'सार-शब्द या ब्रह्म' कहा है।

कबीर की साधना को 'सुरति शब्द योग' कहा गया है, जिसका तात्पर्य ही है 'शब्द' करने वाले परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करना। वस्तुतः 'सबद' की साधना उस लक्ष्य को प्राप्त करने की साधना है जिसके लिए शब्द के द्वारा सृष्टि की गई।

२. शब्द का दूसरा अर्थ है—प्रमाण। चार्वाक को छोड़कर प्राय. सभी दर्शनों ने 'शब्द-प्रमाण' को माना है। आप्त-वचन को शब्द-प्रमाण कहते है। जिस सत्य का

ऋषि-मुनि या संत ने अनुभव किया है, उसका कथन या वर्णन 'शब्द प्रमाण' कहा जाता है।

३. उस मंत्र को भी 'शब्द' कहते हैं जो गुरु शिष्य को दीक्षा के अवसर पर देता है। कबीर ने गुरु के संदर्भ मे 'सबद' का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। दीक्षा के समय गुरु जो 'राम', 'ओऽम्' आदि मंत्र-शब्द शिष्य को देता है, उस शब्द में वह एक चैतन्य शक्ति समाविष्ट कर देता है जो शिष्य के भीतर क्रिया करने लगती है। इसी को कबीर ने गुरु के द्वारा 'शब्द-बाण' मारना कहा है। यह 'शब्द' शिष्य के भीतर एक 'दैवी शक्ति स्फुरण' बन जाता है और उसका 'सहज' से 'परचा' (परिचय, साक्षात्कार) करा देता है। वह शब्द शिष्य के हृदय के अन्तस्तम-तल मे प्रविष्ट कर जाता है। उसका स्वभाव ऐसा होता है कि शिष्य के चित्त का आन्तरिक अनाहत नाद में लय हो जाता है और जीव 'सहज' से एकाकार हो जाता है।

४. 'शब्द' पद के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है।

कबीर की रचना में यत्र-तत्र 'शब्द' का प्रयोग इन चारों अर्थों में हुआ है। किन्तु पदों में मुख्य रूप से 'आप्त वचन' और 'पद' के लिए ही 'सबद' का प्रयोग हुआ है।

रमैनी, साखी और सबद के अतिरिक्त कबीर के नाम से कहरा, बसंत, बेलि, बिरहुली, चांचरि, हिंडोला, चौंतीसी, विप्रमतीसी आदि अन्य काव्य-रूपो मे लिखा साहित्य भी पाया जाता है। जैसा कि प्रारम्भ मे ही कहा जा चुका है कि स्वयं कबीर द्वारा लिपिबद्ध न किये जाने के कारण तथा कबीरपन्थी भक्तों की उदारता और कबीर के प्रति उनकी श्रद्धाभिव्यक्ति के कारण, कबीर के नाम से प्रचुर साहित्य एकत्र हो गया है। उसकी प्रामाणिकता पर विभिन्न विद्वानों द्वारा अद्यावधि जो अनेक श्रमसाध्य कार्य हुए है, वे भी अन्तिम सत्य तक पहुँचानेवाले नही है। प्रायः सभी शोधकों और पाठालोचकों ने स्वीकार किया है कि कबीर का साहित्य यही है अथवा इतना ही है, इसे अंतिम सत्य के रूप मे नही कहा जा सकता। वस्तुतः कबीर-जैसे रमते साधुओं के सम्बन्ध मे इस प्रकार का अन्तिम निर्णय लिया भी नही जा सकता। उन्होंने काव्य-रचना का कोई निश्चित संकल्प लेकर लिखना नही प्रारम्भ किया था। उन्होंने प्रबन्ध-काव्य जैसी कोई वस्तु भी नही लिखी। अतएव प्रस्तुत संग्रह तैयार करते समय कबीर-साहित्य की प्रामाणिकता, रचना-क्रम, पाठ तथा भाषा सम्बन्धी अनेक समस्याएँ आयीं, क्योंकि इन सब पर विचार किये बिना उनकी व्याख्या करने का कोई अर्थ ही नही होता। इस संग्रह मे प्रयत्न किया गया है कि कबीर की लगभग सभी प्रामाणिक एवं मान्य रचनाएँ स्वीकृत पाठ के साथ सम्मिलित कर ली जायें। जैसा कि ऊपर के

विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, रमैनी, पद और साखी कबीर की प्रामाणिक रचनाएँ मानी जाती है। अतएव हमने प्रस्तुत संस्करण में इन तीनो को प्रमुख स्थान दिया है।

इनके अतिरिक्त 'बीजक' मे अन्य काव्य-रूप भी समाविष्ट है। बीजक कबीर-पंथियो का मान्य ग्रंथ है। उन्हे इसकी प्रामाणिकता मे किञ्चित् भी सदेह नही है। अत प्रस्तुत खण्ड के परिशिष्ट भाग मे ग्यान चौतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, वसंत, चाँचर, वेलि, विरहुली, हिंडोला आदि कबीर-बीजक के सभी काव्य-रूपो का समावेश कर लिया गया है। इससे प्रस्तुत ग्रथ की संज्ञा 'कबीर वाङ्मय' सार्थक हो गई है।

क्रम-निर्धारण

इस सम्बन्ध मे पहली समस्या क्रम-निर्धारण की आयी। कबीर ने पहले रमैनी की रचना की या साखी अथवा शब्द की, इसका निर्णय सर्वथा असम्भव है। सम्भवतः कबीर ने किसी एक क्रम से इनकी रचना की भी नही होगी। वे समय-समय पर अपने विचार प्रकट करते रहे होगे और उनके शिष्य अपने सुविधानुसार उसे लिपिवद्ध कर लेते होगे, इसीलिए कबीर-वाणी के जितने सस्करण उपलब्ध है, उनमे रचनाओ के समान-क्रम का अभाव है। इस उलझन का संकेत करते हुए डॉ० पारसनाथ तिवारी ने लिखा है कि "दा १, दा २ तथा दा ३ मे पहले साखियाँ आती हैं, तत्पश्चात् पद और रमैनियाँ। दा ४ मे पहले पद आते है, तत्पश्चात् रमैनियाँ और अन्त मे साखियाँ। नि० मे साखियों के पश्चात् पहले रमैनियाँ आती हैं, तत्पश्चात् पद आते है। गु० मे पहले पद आते है, तत्पश्चात् साखियाँ। 'वावन अखरी' की रमैनियाँ पदो के बीच मे ही गौडी राग के अन्तर्गत आ जाती है। बीजक मे पहले रमैनियाँ आती है, तत्पश्चात् पद और अंत मे साखियाँ मिलती है।"[1] डॉ० तिवारी ने इन विभिन्न प्रकार के उपलब्ध-क्रमो का उल्लेख करते हुए अपने संग्रह मे सर्वप्रथम पदो, तत्पश्चात् रमैनियो और अन्त मे साखियो को स्थान दिया है। इसके पूर्व बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने सग्रह मे सर्वप्रथम साखियों, तत्पश्चात् पदों और अन्त में रमैनियो को स्थान दिया था। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी बाबू साहब के क्रम को ही अपनाया है। प्रस्तुत सग्रह मे रमैनियो को प्रथम स्थान दिया गया है, क्योकि रमैनियों को कबीर की आदि-वाणी माना गया है। कबीरपन्थियो मे 'बीजक' ही सर्वमान्य ग्रंथ है, उसी का पाठ भी किया जाता है। 'बीजक' मे भी रमैनियाँ पहले रखी गयी है। रमैनियों के बाद कबीरपन्थियो मे 'पद' या 'सबद' का महत्व है। अत दूसरे खण्ड में 'सबद' और तीसरे मे 'साखियो' का सन्निवेश किया गया है। प्रथम और तृतीय खण्ड पहले ही प्रकाश मे आ चुके है। 'सबद' सम्बन्धी द्वितीय खण्ड आपके समक्ष है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका पृ०–२७४।

वीजक मे ८४ रमैनियाँ मान्य है। इनके परस्पर क्रम मे बहुत थोड़ा अन्तर पाया जाता है। प्राय. रमैनियो का प्रारम्भ 'जीव रूप यक अंतर वासा' से हुआ है। वा० प्रति में इसे दूसरे स्थान पर रखा गया है और दूसरी रमैनी 'अंतर जोति सब्द एक नारी' को सर्वप्रथम रखा गया है। वलि० वाली प्रति मे प्रथम तीन रमैनियो के चरण परस्पर इधर-उधर हो गये है। इसी प्रकार अन्य प्रतियों की २९ नं० की रमैनी, व० ख० की प्रतियों मे नं० ३१ पर आयी है। उनमे इसके स्थान पर जो रमैनी आयी है, वह अन्य प्रतियो मे ३८ न० पर रखी गयी है। इस प्रकार कुल मिलाकर चार-पाँच रमैनियो के क्रम मे ही अन्तर है, अन्यथा सभी प्रतियो मे लगभग समान क्रम अपनाया गया है। रमैनियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें एक व्यवस्थित विचार-धारा मिलती है। अतः विचारों को अविच्छिन्नता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत संग्रह के प्रथम खण्ड मे रमैनियो का क्रम निर्धारित करके उन्हें प्रकरणो में विभक्त कर दिया गया है।

विभिन्न संस्करणो मे साखियों की सख्या और क्रम मे अत्यधिक अंतर मिलता है। कवीरपंथियों में मान्य 'वीजक' के ही भिन्न-भिन्न संस्करणो मे साखियों की संख्या समान नही है, अपितु २९७ से लेकर ४४५ तक पहुँचा दी गई है। गोसाँई श्री भगवान् साहव के 'मूल वीजक' में २९७ साखियाँ मिलती है,[1] किन्तु कवीरचौरा, वाराणसी से श्री लखनदास जी और श्री रामफलदास जी द्वारा प्रकाशित 'वीजक मूल' में ३५३ साखियाँ दी गई है। इसी प्रकार कवीरचौरा के पुस्तकालय में ही सुरक्षित पाँच प्रतियो के आधार पर श्री विचारदास शास्त्री द्वारा संपादित 'वीजक' में भी ३५३ साखियाँ ही उपलब्ध है।[2] डॉ० शुकदेव सिंह ने भी ३५३ साखियों को ही प्रामाणिक माना है।[3] इनके अतिरिक्त रीवाँ नरेश महाराजा विश्वनाथ सिंह के कवीर साहव के वीजक मे यह संख्या वढ़कर ३६९ हो गई है[4] और कतिपय अन्य वीजको मे ४४५ तक पहुँच गई है। इससे प्रतीत होता है कि 'वीजक' परम्परा मे २९७ से लेकर ४४५ साखियाँ तक ही मान्य रही है। इन साखियों का 'अंगो' मे विभाजन भी नही किया गया है। सम्भवत. कवीर ने किसी निश्चित संख्या में साखियो की रचना नहीं की होगी और न उनका 'अंगो' मे विभाजन ही किया होगा, क्योकि 'श्री गुरु ग्रंथ साहव' मे भी उपलव्व साखियाँ अंगो में विभाजित नही है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'संतकवीर' मे 'श्री गुरुग्रंथ साहव' को ही प्रामाणिक आधार मानकर २४३ साखियाँ दी है और उनका अंगो मे विभाजन भी नही किया है।

---

१. देखिये--गोसाँई श्री भगवान साहव, मूल वीजक, स्वसम्वेद कार्यालय, सीयावाग, बड़ौदा।
२. ,, विचारदास शास्त्री—वीजक–प्र० रामनरायन लाल, इलाहावाद।
३. ,, डॉ० शुकदेव सिंह, कवीर वीजक, नीलाभ प्रकाशन, इलाहावाद।
४. ,, विश्वनाथ सिंह—कवीर साहव का वीजक, वम्वई।

आश्चर्य का विषय यह है कि 'बीजक' मे साखियो की सख्या कम देने वाले हनुमान दास, विचारदास तथा युगलानद आदि कबीरपथियो ने जब स्वतन्त्र रूप से साखियो का सपादन किया तो उनके द्वारा साखियो की संख्या बढा दी गयी है, उनका अंगो मे विभाजन भी किया गया है। उदाहरण के लिए श्री हनुमानदास द्वारा दो खण्डो में सपादित 'साखी ग्रन्थ'[1] मे २०१५ साखियाँ सगृहीत है जो ८३ अंगों में विभक्त है। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट मे २३ अगो मे विभक्त ३०६ साखियाँ और दी गयी है। इसी प्रकार श्री युगलानद के 'सत्य कबीर की साखी'[2] मे ७५ अगो मे विभक्त २६०० साखियाँ सगृहीत हैं और श्री विचारदास के 'सद्गुरु कबीर साहब का साखी-ग्रन्थ'[3] मे ८४ अगो मे विभक्त ३९५० साखियाँ एकत्र की गयी है। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट मे 'प्रश्नोत्तर को अग' के अन्तर्गत ७४ साखियाँ और जोड़ी गयी है।

इन दो परम्पराओ से भिन्न साखी-सग्रह की तीसरी परम्परा साहित्यकारो की हैं। इनमें मुख्य रूप से बाबू श्यामसुन्दरदास, डॉ० पारसनाथ तिवारी, डॉ० माताप्रसाद गुप्त आदि आते है। बाबू साहब ने उपलब्ध दो हस्तलिखित प्रतियो तथा ग्रंथ साहब के आधार पर 'कबीर ग्रन्थावली' का संपादन किया था, जिसमे ४०३ पद तथा ५९ अंगो मे विभक्त ८०९ साखियाँ सगृहीत है। इनके अतिरिक्त १९२ साखियाँ परिशिष्ट मे दी गयी है। बाबू साहब द्वारा संपादित 'ग्रंथावली' का साहित्य-क्षेत्र मे काफी प्रचार हुआ, क्योंकि कबीर पर उसे ही एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया। प्रत्येक स्तर पर उसी के अंश पाठ्यक्रम मे भी रखे गये। बाबू साहब का ग्रंथ सवत् १९८७ में प्रकाशित हुआ था। उसके लगभग बीस वर्षो बाद डॉ० पारसनाथ तिवारी ने कबीर के प्रामाणिक साहित्य की परिश्रमपूर्वक खोज करके 'कबीर ग्रन्थावली' नामक ग्रन्थ में २०० पदो तथा कतिपय रमैनियो के साथ ७४४ साखियो को सगृहीत किया। ये साखियाँ ३४ अगो मे विभक्त है। बाबू साहब ने केवल दो हस्तलिखित प्रतियों और 'ग्रन्थ साहब' के आधार पर सपादन किया था। उन्हे उक्त दोनो प्रतियाँ पश्चिमी क्षेत्र से प्राप्त हुई थी, जिनकी भाषा मे पजाबीपन अधिक था। कबीर की भाषा मे पजाबीपन का आधिक्य बाबू साहब को भी खटका था। डॉ० तिवारी ने साखियों की संख्या, पाठ आदि के निर्धारण मे १७ प्रतियो का उपयोग किया है। इनमे से पांच प्रतियाँ दादूपथी शाखा की, एक प्रति निरजनी शाखा की, एक गुरुग्रन्थ की, दो बीजक की, दो शब्दावलियो की, तीन साखियों की, एक 'सर्वंगी' की,

---

१. रावपुरा, बड़ौदा से प्रकाशित, प्रथम संस्करण, सन् १९५२।
२. लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण, बम्बई से प्रकाशित।
३. प्र०—कबीर धर्मवर्धक कार्यालय, सीयाबाग, बड़ौदा।

एक 'गुणगंजनामा' की और एक 'आचार्य सेन' की है। इनके तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर उक्त संग्रह तैयार किया गया है। डॉ० तिवारी की मान्यता है कि "ये प्रतियाँ कबीर के नाम पर उपलब्ध प्रतियो के विपुल समुदाय का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर देती है अर्थात् कबीर की वाणी का पाठ जिन विभिन्न रूपो से होकर गुजरा है, उनके सम्बन्ध में जितना उक्त प्रतियाँ बता देती है, उसके बाहर जाने को प्रायः कुछ नही रह जाता है।"[1] डॉ० तिवारी ने पाठानुसंधान का यह कार्य डॉ० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में किया था। फिर भी डॉ० गुप्त को इस कार्य से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने संवत् १७६२ की बनवारीदास की परम्परा की प्रति को आधार मानकर 'कबीर ग्रंथावली' का पुनः संपादन किया। यह संस्करण लगभग बाबू श्यामसुन्दर दास जैसा है। इसमें सगृहीत पदो और साखियो की संख्या, क्रम, अंग-विभाजन, पाठ, भाषा आदि लगभग बाबू साहब की 'कबीर ग्रंथावली' के ही समान है, केवल एक साखी बढ़ गई है।

प्रस्तुत संस्करण तैयार करने मे हमारा ध्यान मुख्य रूप से कबीर के पाठ-शुद्धीकरण पर केन्द्रित रहा है। यतः कबीर के नाम से उपलब्ध साखियों की सख्या भिन्न-भिन्न सस्करणो मे भिन्न-भिन्न है और ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नही है, जिसके आधार पर कबीर रचित साखियो की संख्या सुनिश्चित की जा सके और यतः कबीर ने स्वयं साखियो का विभाजन 'अंगो' में नही किया था। यह परवर्ती सपादकों और कबीर के पाठकों का कार्य है। अत. साखियों की संख्या, क्रम और अंग-विभाजन मे प्रस्तुत कार्य में बाबू साहब तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त की प्रतियों को आधार बनाया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत सस्करण में ८०९ साखियाँ दी गयी है, जो ५९ अंगों मे विभक्त है। ये साखियाँ मुख्यत. दोहा छन्द मे लिखी गयी है, केवल ६।७ सोरठा छन्द हैं। इनमें चार-पाँच साखियाँ ऐसी है जिनकी पुनरावृत्ति हुई है। उनका यथास्थान निर्देश कर दिया गया है।

रमैनियो और साखियो के ही समान कबीर सम्बन्धी पदो की संख्या भी विभिन्न संस्करणों मे भिन्न-भिन्न पाई जाती है। जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है कि विभिन्न स्रोतो से अब तक कबीर के नाम से लगभग १६०० पद प्राप्त हो चुके है। किन्तु इनमे वस्तुत. कितने कबीर द्वारा रचित या कथित है, इसका निर्णय करना लगभग असम्भव है। बाबू श्यामसुन्दर दास की 'कबीर ग्रंथावली' में ४०३ पद संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में २२२ पद और दे दिए गये है। डॉ०

---

१. कबीर ग्रन्थावली, भूमिका—पृ० ५३।

रामकुमार वर्मा ने २२८ पदो को ही प्रामाणिक माना है। इस दिशा मे सर्वाधिक श्रमसाध्य कार्य डॉ० पारसनाथ तिवारी का है, किन्तु उन्हे भी केवल २०० पद स्वीकार्य हुए। पाठ-निर्धारण और संपादन-कला के विशेषज्ञ डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी अपनी 'ग्रथावली' मे लगभग वावू श्यामसुन्दर दास का ही अनुसरण किया है, उनके द्वारा केवल १९ पद और जोड दिए गए है। वीजक के विभिन्न सस्करणो मे प्राय ११५ 'सवद' ही मान्य रहे है।

प्रस्तुत सस्करण मे मुख्य रूप से वावू श्यामसुन्दर दास, डॉ० पारसनाथ तिवारी एवं वीजक को आधार मानकर ३५० पदो को अकारादि क्रम से प्रस्तुत किया गया है। प्रयत्न यह किया गया है कि कवीर के नाम से प्रचलित कोई महत्वपूर्ण पद छूटने न पाए तथा उनके मूल सिद्धान्तो से इतर अथवा महत्वहीन पदों की अनावश्यक भर्ती भी न हो। 'वीजक' के प्राय. सभी पद ले लिए गए है।

पाठ-निर्धारण

कवीर की रचनाओ के सम्बन्ध मे सवसे वडी समस्या पाठ-निर्धारण की है, क्योकि प्रथमत: कवीर ने उनको स्वयं लिपिबद्ध नही किया था, दूसरे उन्हें छन्दशास्त्र का ज्ञान भी नही था। अतएव उनकी रचनाओ मे भाषा-वैविघ्य के साथ ही छन्द-दोष भी पाये जाते है। वस्तुत' कवीर की वाणी का संकलन उनके शिष्यो द्वारा उन्ही के समय से प्रारम्भ हो गया था। ये शिष्य विभिन्न प्रान्तो के और अनेक वोलियो तथा भाषाओं के क्षेत्र के थे। वे प्रायः कम पढ़े-लिखे भी थे। अतएव उनके द्वारा कण्ठस्थ छन्दो को जव लिपिवद्ध किया गया तो स्वभावत उनके संस्कारवश भाषा-भेद तथा छन्द-दोष आ गये। इसके अतिरिक्त स्वय कवीर किसी एक भाषा के पण्डित नही थे। वे भ्रमणशील और वहुश्रुत व्यक्ति थे। राजस्थान, पजाब और गुजरात से लेकर वंगाल तक फैली कवीर की गद्दियाँ इस वात का प्रमाण है कि उन्होने लगभग पूरे उत्तर भारत की यात्रा की थी। इस अवसर पर वे विभिन्न भाषा-भाषी व्यक्तियो के सम्पर्क में आते रहे होगे। अतएव उनकी वाणी मे अनेक वोलियों तथा भाषाओ के शव्दो का सम्मिश्रण स्वाभाविक ही कहा जायगा।

वर्तमान समय मे कवीर का जो साहित्य उपलव्ध है, वह प्राय: तीन स्रोतो से प्राप्त हुआ है—राजस्थानी परम्परा, पंजावी परम्परा और पूर्व परम्परा। वावू श्याम-सुन्दर दास की 'कवीर ग्रन्थावली' की भाषा मे पंजावीपन अधिक है। इसका कारण यह है कि वावू साहव ने जिन दो हस्तलिखित प्रतियो तथा ग्रथ साहव के आधार पर ग्रन्थ का सम्पादन किया है, वे पजावी-प्रभावापन्न थी। उन्होने स्वय लिखा है कि "ग्रन्थ साहिव मे कवीरदास जी की वाणी का जो सग्रह किया है, उसमे जो पजावीपन देख पड़ता है, उसका कारण तो स्पष्ट रूप से समझ मे आ सकता है, पर मूल भाग मे

अथवा दोनो हस्तलिखित प्रतियों में जो पंजावीपन देख पड़ता है, उसका कुछ कारण समझ में नही आता। या तो यह लिपिकर्त्ता की कृपा का फल है अथवा पजावी साधुओं की संगति का प्रभाव है।"[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वावू साहव ने जिन प्रतियों के आधार पर पाठ निर्धारित किया है, उनकी भाषा को वे प्रामाणिक या कवीर-कृत नही मानते। किन्तु अन्य प्रतियो के अभाव में उन्हे विवश होकर उक्त पाठ देना पड़ा है।

भाषा

विगत वर्षों में कवीर की भाषा पर विभिन्न विद्वानो द्वारा जो विचार व्यक्त किये गये है, उनसे प्राय: दो प्रकार के निष्कर्ष सामने आये है। कुछ लोगों ने कवीर के नाथपन्थी और मुस्लिम संस्कार के आधार पर उन्हें खड़ी वोली के उस रूप का कवि माना है जो अमीर खुसरो, वली, दक्खिनी हिन्दी तथा राजस्थानी कवियो की रचनाओ मे पायी जाती है, दूसरी ओर अन्य लोग कवीर के काशीवासी होने के कारण उनकी भाषा को भोजपुरी या पूर्वी मानते है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी तथा डॉ० उदयनारायण तिवारी कवीर को भोजपुरी का कवि मानने के पक्ष मे है।[2] आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का कहना है कि "साखियो की भाषा में खड़ी का जितना अधिक व्यवहार मिलता है, उतना सवदो में नही। उसमें व्रजी के शब्द कुछ अधिक मिलते है। रमैनी मे पूर्वी रूप वरावर दिखाई देते है; जैसे-कोई-कोई या कोऊ-कोऊ के स्थान पर केऊ-केऊ। इस प्रकार विचार करने से यह कहा जा सकता है कि कवीर की तीन प्रकार की कृतियों मे स्थूल रूप से हिन्दी की तीन उप-भाषाओ की स्पष्ट और निश्चित प्रवृत्ति मिल जाती है।"[3] इस प्रकार मिश्र जी 'साखी मे खड़ी, सवदी में व्रजी और रमैनी मे अवधी या पूर्वी' रूप देखकर मात्रा-भेद से उनकी रचनाओ को तीन उपभाषा या वोली वर्गो मे विभक्त करने के पक्ष मे प्रतीत होते हैं।

वस्तुत: कवीर की भाषा के सम्वन्ध मे अन्तिम निर्णय टेढ़ी खीर है। अनुमान के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि यत. कवीर के जीवन का अधिकांश काशी मे वीता, उनके भाषागत संस्कार अध्ययन की अपेक्षा श्रवण से वने, उन्होने विभिन्न स्थानो की यात्रा की तथा अनेक प्रकार के साधु-सन्तो के सम्पर्क मे आये, अतः उनकी भाषा का मूल आधार 'पूर्वी' रहा होगा, जिसमे अन्य वोलियों और भाषाओं के लोकप्रचलित शब्द अनायास ही आ गये होंगे।

---

१. कवीर ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ४-५।
२. कवीर बीजक, डॉ० शुकदेव सिंह, भूमिका, पृ० ४३-४४।
३. हिन्दी-साहित्य का अतीत (भाग १), पृ० १५२।

प्रस्तुत संग्रह के पाठ-निर्धारण में उपर्युक्त भाषा-नीति को ही आधार बनाया गया है। इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि पाठ में छन्द-दोष न्यूनातिन्यून रहे तथा अर्थ मे भी संगति बनी रहे। रमैनी के जो विभिन्न संस्करण उपलब्ध हैं, उनमे भाषा-सम्बन्धी विशेष अन्तर नही पाया जाता है। लगभग सभी 'बीजकों' की भाषा एक क्षेत्र की है। ब० ख० के पाठ लगभग एक-जैसे है, बलि० के पाठ में भोजपुरी का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसमें 'राम-नाम' के स्थान पर प्राय 'सत्यनाम' कर दिया गया है। छ० प्रति मे छन्द-दोष अधिक विद्यमान हैं। बा०, ब० प्रतियो मे शब्दो के सस्कृतीकरण की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है। रमैनी के पाठालोचन मे डॉ० शुकदेव सिंह का कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उन्होने भी भगताही पाठ को अधिक प्रामाणिक एवं प्राचीन मानकर पाठ स्थिर करते समय उसी को आधार बनाया है। हमारी दृष्टि मे उक्त पाठ में भी कई त्रुटियाँ दिखाई पडी। अतएव उसको भी अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नही किया गया है। कुछ उदाहरणो मे हमारी बात स्पष्ट हो जायगी :—

डॉ० शुकदेव सिंह की प्रति का पाठ — प्रस्तुत पाठ

१. तिनि पुनि रचल खण्ड ब्रह्मण्डा—तिन्ह पुनि रचल पिण्ड ब्रह्मण्डा। (२।५)
२. ई ले ऊ व्यवहार—ई लयऊ व्यवहार। (दूसरी रमैनी की साखी)
३. धर्ती अकास दुई गाड़ खोदाया—महि अकास दुइ गाड खँदाया। (२८।२)
४ चाँद सूर्य दुई नारी बनाया—चाँद सुरुज दुइ नरी बनाया। (२८।२)
५. सहस्र तार ले पूरन पूरी—सहसतार लै पूरिन पूरी। (२८।३)
६. कहहि कबीर कर्म ते जोरी—कहहि कबीर करम सो जोरी। (२८।४)
७. छठये मांह सभ गैल बिगोई—छठये मा सभ गैल बिगोई। (३७।३)
८. वैसे शब्द बतावे जीव को—शब्द बतावै जीव को। (३७वी साखी)
९. फरमत सो जग भो औतरिया—कर्म तो सो जो भव औतरिया।
फरस्यत सो निजाम को धरिया। कर्म तो सो जो निमाज को धरिया।
(३९।३)
१०. हमरे कहल दुष्ट बहु भाई—हमरहि कहँ छूटिहो भाई। (४२।६)
११. हबीब औ नबी के कामा—नबी हबीबी कै जो कामा। (४८।५)
१२. दिया नखत तन कीन्ह पयाना—दिया खताना किया पयाना।
(६६-साखी)
१३ सुख को ले नन सपनेहु पावै—सुख को लेस न सपनेहु पावे। (८४।५)

इसी प्रकार डॉ० शुकदेव सिंह की प्रति मे ६१ वी रमैनी की दूसरी पंक्ति और ७५ वी रमैनी की दूसरी पंक्ति छूट गयी है। प्रस्तुत सस्करण में इस प्रकार

की त्रुटियो से सावधान रहते हुए, अधिक प्रामाणिक एवं शुद्ध पाठ देने की चेष्टा की गयी है।

साखियो और पदों में पंजाबी अथवा राजस्थानी के अधिक प्रयोग असंगत प्रतीत होते हैं। यह कबीर की स्वाभाविक भाषा नही हो सकती। अतएव इनके पाठ-निर्धारण मे प्रयत्न किया गया है कि जहाँ तक सम्भव हो, रमैनियों के समान इनकी भाषा मे भी एकरूपता लायी जाय और कबीर-वाणी के मूल तक अथवा निकट से निकट पहुँचा जा सके।

पाठ-निर्धारण मे भाषा के अतिरिक्त छन्द तथा अर्थ को भी ध्यान मे रखा गया है। बाबू साहब तथा डॉ० गुप्त के संस्करणों मे साखियों की भाषा मे जो पंजाबीपन का आधिक्य है, वह निश्चित रूप से परवर्ती लोगो की देन है। इस दृष्टि से डॉ० तिवारी का पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त बाबू साहब के पाठ मे कतिपय ऐसी साखियाँ हैं जिनमे एक-दो अक्षर इधर या उधर जुड़ गए हैं, अथवा हस्तलिखित प्रतियो के पढ़ने में भूल हो जाने से त्रुटि रह गई है। इससे पाठ नितान्त अशुद्ध हो गया है और अर्थ करने मे भ्रान्तियाँ बढ़ी है। आश्चर्य यह है कि वैज्ञानिक पाठालोचक डॉ० गुप्त ने भी ऐसे दोषों पर ध्यान नही दिया और लगभग वही भ्रष्ट पाठ स्वीकार कर लिया, जो बाबू साहब की प्रति मे विवशतावश आ गया था। ऐसे कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं—

ना० प्र० का पाठ	प्रस्तुत पाठ
नैनाँ अंतरि आँचरू	नैनाँ अंतरि आव तूँ। (३।३३)
भेला पाया श्रम सों	भेला पाया सरप का। (३।४३)
कबीर देख्या एक अग	कबीर देखा इक अगम। (५।३८)
सालै चिता सनेह	सालै चित्त सनेह। (६।५)
ओ अगाध एका कहै	ओ अगाध ए का कहै। (९।१)
सुरति ढीकुली ले जल्यौ	सुरति ढीकुली लेज लौ। (१०।२)
दो जग तौ हम अंगिया	दोजख तौ हम अगिया। (११।७)
संकल ही तैं सब लहै	साँकर हू तें सबल है। (१६।२५)
काँ सिकड़ू बासुत कलित	काँसि कुडुंबा सुत कलित। (१७।२२)
नाँ सुपनैं तरगंम	नाँ सुपिनंतर गंम। (३१।४)
सतगुण सी गणिनैंहि	सर गुण सीगणि नाँहि। (४०।५)
हीरावण जिया	हीरा वनजिया। (४५।२८)
नाँ तूं बड़ी न	नाँ तुमरी नाँ बेलि। (५८।१)

साखियो के ही समान पदो की भी स्थिति रही है। लगभग सभी ग्रंथों में कतिपय ऐसे पाठ मिले जो नितान्त अशुद्ध है तथा उनसे अर्थ की कोई संगति नही बैठती। छन्द तथा अर्थ को ध्यान मे रखते हुए ऐसे पाठो को शुद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य है :—

ना०प्र० तथा गुप्त जी का पाठ	प्रस्तुत पाठ
सिरकस दम	सिर कसदम (पद १०)
कुनेपै	कु नेपै (पद १०)
पाण वुणै	थान बुनै (पद ३०)
निद्रा पुनि सवि	मुद्रा पुनि साचि (पद ५४)
अहनिसि रोवै	अहनिसि सोवै (पद १४५)
रहै तवास	रहत बास (पद १८२)
मै रनि रासी जे निधि पाई	मैं निरास जौ नौ निधि पाई (पद १८३)
ये कहि गालि	एकहि घालि (पद १८४)

तिवारी जी का पाठ	प्रस्तुत पाठ
उलटै धनुष पारधी मार्‌यौ	उलिटा बान पारथहि लागै (पद ३२)
यहु जियरा	यहु हीरा (पद ६९)
यहु परसग	तापर सग (पद ९८)
उरध मुखि	अउंध मुख (पद १७९)
मदन	मदल

बीजक (शुक०) का पाठ	प्रस्तुत पाठ
नहि कालिगहि मारा	नहीं कलिहि गहि मारा
कार दुकार कार कटि लागे	काग दुकाग कारकुन लागे
मारि	राम
तिय	यति
फल	कल
रितु	रति
तरवर	तरुतर (पद ८८)
पुर तामे रहती	पुरता मे राती (पद २०६)
अचल	अदल (पद १५१)
वृक्षा चढै	बिरछा बूडै (पद १५२)

उलटबाँसी—कबीर के पद सर्वाधिक क्लिष्ट है। उनमें एक साधक चित्त की जिस आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है, उसे समझना अत्यत दुष्कर है। पुनश्च, जब उन्होंने अपने लोकोत्तर अनुभव को सीधी-सरल वाणी मे व्यक्त करना संभव न देखकर प्रतीकों या उलटबाँसियो का सहारा लिया है, तब सम्बद्ध स्थल और भी दुरूह हो गए हैं।

वस्तुत. साधना-मार्ग में उलटबाँसियों की परम्परा अत्यत प्राचीन है। विद्वानों ने इनका आदि रूप वेदो और उपनिषदों मे भी खोज निकाला है। सहजयानी सिद्धों और नाथ योगियों की रचनाओ में यह पद्धति बहुत अधिक पाई जाती है। जैसे ढिंढिपा का कथन है कि बैल ब्याता है, गाय बाँझ रहती है और बछड़ा तीनो समय दुहा जाता है :—

बलद बिआअल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे॥ (चर्यापद, ३३)

इसी प्रकार गोरखनाथ कहते है कि जल मे आग लगी, मछली पर्वत पर चढ़ गई, खरगोश जल में है। तृषित के लिए रहँट बहने लगी और शूल से निकलकर काँटा नष्ट हो गया :—

डूंगँरि मंछा जलि सुसा, पाणीं मैं दौ लागा।
अरहट बहै तृसालवां, सूलै कांटा भागा॥

(गोरखबानी, पद २०)

इसी विचित्र कथन-पद्धति के कारण सिद्धो की भाषा को 'संध्या या संधा' भाषा कहा जाता है। कबीर की उलटबाँसियाँ इसी परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी है।

'उलटबाँसी' शब्द की व्युत्पत्ति पर विद्वानों में मतभेद है। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार यह शब्द 'उलटा' और 'अंश' के योग से बना है।[1] डॉ० सरनामसिंह शर्मा के मत से यह शब्द 'उलटबाँ+सी' के योग से बना है, जिसका तात्पर्य है—उलटी हुई प्रतीत होनेवाली उक्ति।' उन्होंने इसकी दूसरी व्युत्पत्ति 'उलटवास' से मानी है। उनके अनुसार 'परमपद या अध्यात्म-लोक में रहने वाले का निवास वास्तव में 'उलटवास' है। इससे सम्बंधित वाणी 'उलटवासी' कहला सकती है।"[2]

---

१. देखिए—कबीर साहित्य की परख, पृ० १५१।
२. कबीर एक विवेचन, पृ० ३२२।

वस्तुत कबीर की उलटबाँसी मे कुछ पद ऐसे प्रतीत होते है, जैसे बौद्धो के 'ध्यान मार्ग' के वचन। ये वचन ध्यान के लिए इस प्रकार कहे जाते थे, जो साधक को उलझन मे डाल देते थे। साधक से उन पर विचार करके समाधान के लिए कहा जाता था। इस समाधान की खोज मे चित्त थककर निश्चल हो जाता है और समाधि की अवस्था को पहुँच जाता है। इसी ध्यान को चीन मे 'च्वाँग' और जापान मे 'जेन' (Zen) कहते है। कबीर की कुछ उलटबाँसियाँ भी इसी प्रकार की है।

राग—कबीर सगीतज्ञ नही थे। उन्होने पदों को रागो मे नही बाँधा था। वह साधारण धुन मे गाते थे। कबीरपथी मन्दिरो में भी पद राग मे नही गाए जाते है। उनके पद सिक्खो के गुरुद्वारो में भी गाए जाते हैं। प्रत्येक गुरुद्वारे मे कुछ गायक नियुक्त किए जाते है, जिन्हें 'रागी' कहते है। इन्ही रागियों के द्वारा कबीर के पदों को रागबद्ध किया गया था। प्रारम्भ मे रागियो ने पदो के लिए जिन रागो का चयन किया था, वे अभी तक उसी रूप चले आ रहे हैं। इसीलिए परिशिष्ट (२) मे रागों के लक्षण भी दे दिए गए है।

भावार्थबोधिनी व्याख्या

प्रस्तुत कार्य का विशेष प्रयोजन कबीर-साहित्य की एक ऐसी प्रामाणिक एव स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करना रहा है, जो कबीर की साधना और सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के साथ उसके साहित्यिक वैशिष्ट्य को भी उद्घाटित कर सके। आधुनिक विद्वान् टीका-व्याख्या लिखना अधिक सम्मानजनक नही मानते। प्रायः मूल कृति के अध्ययन के बिना ही बडे-बडे मोटे समीक्षात्मक ग्रन्थ तैयार कर दिये जाते है। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि आज के छात्र कवि की रचना से अपरिचित ही रह जाते है। आलोचनात्मक ग्रन्थो के अध्ययन से तलोपरिक ज्ञानोपार्जन द्वारा ही उन्हे सन्तोष करना पडता है। सस्कृत मे टीका-भाष्य आदि लिखने की लम्बी परम्परा मिलती है और अनेक टीकाकार या भाष्यकार मूल लेखक से भी अधिक ख्यातिलब्ध हो गये है। हिन्दी मे लाला भगवानदीन सदृश कुछ विद्वानो ने ही इस दिशा में रुचि ली।

कबीर का साहित्य सीधा-सरल नहीं है। उसमे एक साधक-चित्त की अनुभूति की गहराई है। कवि ने जिस अनिर्वचनीय परमतत्त्व को वाणी का विषय बनाया है, उसकी अभिव्यक्ति अभिधा द्वारा सम्भव नही। अत उसने प्रतीको का सहारा लिया है अथवा ध्वनि या व्यञ्जना के द्वारा उस परमानन्द का सकेत किया है। इसीलिए उनकी वाणी प्राय. अटपटी या उल्टी लगती है। उनके काव्य मे निहित प्रतीको या

ध्वन्यार्थ को समझे विना, भावों की गहराई तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त कवीर के पहले नाथ-योगियों, बौद्ध-सिद्धों तथा अन्य साधना-सम्प्रदायों की लम्बी परम्परा थी। अनेक पारिभाषिक शब्द इन सम्प्रदायो मे परम्परा से प्रयुक्त होते चले आ रहे थे। कवीर ने अपनी वात स्पष्ट करने के लिए अनेक शब्दों को ग्रहण किया है। किन्तु यहाँ उनका अर्थ ठीक वही नही रह गया है, जो परम्परा से मान्य है। कवीर ने उन्हें नयी अर्थवत्ता से भास्वर कर दिया है। अतएव कवीर को समझने के लिए विशिष्ट शब्दों की परम्परा और पृष्ठभूमि से अवगत होना आवश्यक है।

कवीर-वाणी पर अर्थ या व्याख्या की दृष्टि से दो क्षेत्रो मे कार्य हुए हैं। 'वीजक' अथवा रमैनियों की टीका प्राय. कवीरपन्थी साधुओ द्वारा की गयी है और साखियों तथा पदों की व्याख्या साहित्यिक विद्वानों द्वारा। ये टीकाएँ प्रायः एकांगी प्रतीत होती है। कवीरपन्थी साधु काव्य-गुणो से अपरिचित रहे ही हैं, पूर्वग्रह अथवा पन्थाग्रह से भी ग्रस्त रहे है। फलतः उनके द्वारा लिखी गयी टीकाएँ साहित्य के विद्यार्थी के लिए अनुपयोगी है। अभी तक हमारे देखने मे जो टीकाएँ आयीं, वे सन्तोषजनक नही प्रतीत हुईं। कही-कही तो एक ही रमैनी की दो-दो, तीन-तीन विचारो के आधार पर व्याख्या लिखी गयी है, जिनमें पूर्वापर सामञ्जस्य नही दिखलाई देता। इसी प्रकार साखी आदि की व्याख्या मे भी वहुत असमञ्जसता दिखाई पड़ी। कवीर की वाणी की सर्व-सम्मत व्याख्या तो प्रायः सम्भव नही हैं, किन्तु उनकी वाणी सही परिप्रेक्ष्य मे समझी जा सके, इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु यह प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत अर्थ करने मे यह दृष्टि रही है कि पूर्वापर सामञ्जस्य वना रहे और कवीर को साधक और कवि के रूप में वास्तविक सन्दर्भ मे समझा जा सके। इस लक्ष्य को ध्यान मे रखते हुए 'कवीर-वाङ्मय' की सुविस्तृत भावार्थवोधनी व्याख्या एवं उनके साहित्य, पन्थ, दर्शन और साधना की प्रामाणिक समीक्षा की योजना वनी। प्रस्तुत ग्रंथ इसी विशाल एवं महत्वपूर्ण योजना का अग है। इसका प्रथम खण्ड 'रमैनी' और तीसरा खण्ड 'साखी' प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत दूसरे खण्ड में 'सवद' की व्याख्या दी गयी है। परिशिष्ट मे 'वीजक' के अन्य काव्य-रूपो की भी व्याख्या सम्मिलित है। चौथे और पाँचवे खण्ड मे क्रमशः कवीर की जीवनी, साहित्य, दार्शनिक सिद्धान्त और साधना सम्बन्धी विवेचन रहेगा और छठा खण्ड 'कवीर कोश' का होगा। इस ग्रन्थ मे 'आत्मा' शब्द सर्वत्र पुलिंग मे प्रयुक्त हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संग्रह-सम्पादन एव लेखन में जिन कृतियों का सहारा लिया गया है, उनके लेखको के प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते है। विश्वविद्यालय

प्रकाशन के सचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी के हम विशेष रूप से अनुगृहीत है, जिन्होने कागज के सकट एव अभाव की समस्या का समाधान करते हुए बडी लगन एव तत्परता से 'कबीर वाड्मय' को प्रकाशित करने की उदारता दिखायी है। श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' ने ग्रंथ के मुद्रण मे जो सहयोग दिया है, उसके लिए हम उनके आभारी है।

गुरुपूर्णिमा, १९८१ ई०

जयदेव सिह

वासुदेव सिह

संकेत-विवृति

अ०	=	अरबी
गुप्त०	=	डॉ० माताप्रसाद गुप्त—कबीर ग्रन्थावली
तिवारी	=	डॉ० पारसनाथ तिवारी—कबीर ग्रन्थावली
ना० प्र०	=	बाबू श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली—प्र०—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
पं०	=	पंजाबी
प्र० अ०	=	प्रतीकात्मक अर्थ
फा०	=	फारसी
मु०	=	मुहाविरा
राज०	=	राजस्थानी
ला० अ०	=	लाक्षणिक अर्थ
वि०	=	विचारदास—सद्गुरु कबीर साहब का साखी-ग्रन्थ
शु०	=	डॉ० शुकदेवसिंह—कबीर बीजक
सं०	=	संस्कृत
हंस०	=	हंसदास शास्त्री—कबीर साहब का बीजक

अनुक्रम

कबीर वाङ्मय

खण्ड : दो

सबद

सबद (पद)

[१]

अकथ कहानी[1] प्रेम की, कछु कही न जाई ।
गूँगे केरि सरकरा, बैठे-बैठे मुसुकाई ॥ टेक ॥
भूमि[2] बिना अरु बीज बिन, तरवर एक भाई ।
अनँत फल प्रकासिया, गुर दीया बताई ॥
मन थिर बैसि बिचारिया, रामहि लौ[3] लाई ।
झूठी अनभै बिस्तरी, सब थोथी बाई ॥
कहै कबीर सकति कछु नाँही, गुरु भया सहाई ।
आँवन[4] जाँनी मिटि गई, मन मनहि समाई ॥

शब्दार्थ—अकथ = अवर्णनीय । सरकरा = शक्कर । तरवर = वृक्ष । थिर = स्थिर, एकाग्र । लौ = प्रेमपूर्ण ध्यान । अनभै = अनुभव । विस्तरी = विखर गई । थोथी = निकम्मी, कुण्ठित । वाई = वायुदोष । सकति = शक्ति ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम के अवर्णनीय मर्म का संकेत किया है ।

व्याख्या—प्रेम का मर्म अवर्णनीय है । इसके विषय में कुछ कहा नही जा सकता । जैसे गूँगा पुरुष शक्कर का स्वाद तो जानता है, किन्तु वह उसका वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रेमानुभूति का वर्णन नही किया जा सकता ।

प्रेम रूपी फल ऐसे वृक्ष मे लगता है जो बिना भूमि और बीज के उत्पन्न होता है । इस वृक्ष मे अनंत फल लगते है । सद्गुरु ने इसके मर्म को बता दिया है । इस फल की प्राप्ति मन को स्थिर करके विचारपूर्वक ध्यान लगाने से होती है । अन्य सभी अनुभव गंदी वायु के समान है जो शरीर को विकारग्रस्त कर देते है । कबीर कहते है कि गुरु की सहायता से ही इस फल की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा मेरे मे कोई ऐसी शक्ति नही है कि मैं इसे प्राप्त कर सकूँ । उसके अनुभव से आवागमन मिट जाता है और व्यष्टि मन समष्टि मन मे समाविष्ट हो जाता है ।

अलंकार—(१) दूसरी पंक्ति मे दृष्टांत ।
(२) तीसरी पंक्ति मे विभावना ।

राग—रामकली ।

---

१. ना० प्र०—कहाँणी २. ना० प्र०—भोमि ३. ना० प्र०—ल्यौ ४. ना० प्र०—आँवण जाँणी ।

[२]

अजहुँ बीच[१] कैसे दरसन तोरा।
बिन दरसन मन मांनै क्यौं[२] मोरा ॥ टेक ॥
हमहिं कुसेवग कि[३] तुमहिं अयांनां, दुह मैं दोस काहि[४] भगवाना।
तुम्ह कहियतु त्रिभुवनपति राजा, मन बंछित सब पुरवन काजा।
कहै कबीर हरि दरस दिखावौ, हमहिं बुलावौ कै तुम[५] चलि आवौ ॥

शब्दार्थ—अजहुँ = अब भी। बीच = अतर। अयाना = अनजान, अनभिज्ञ। वञ्छित = इच्छित। पुरवन - पूर्ण करने वाले।

संदर्भ—इस पद मे कबीर यह सकेत करते है कि जब तक जीव और प्रभु में अतर बना रहता है, जब तक जीव पूर्णरूप से समर्पण नही कर देता, तब तक प्रभु का दर्शन दुष्कर है।

व्याख्या– हे प्रभु ! इतने दिनो तक साधना करने पर भी मेरे आपा का व्यवधान आप और मेरे बीच मे बना हुआ है। मैं अभी तक पूर्णरूप से आपके चरणो मे आत्मसमर्पण नही कर सका हूँ। इसीलिए आपका दर्शन कैसे हो ? परन्तु आपके दर्शन के बिना मेरा जी नही मानता, हृदय व्याकुल रहता है। या तो अभी हमारी साधना अपूर्ण है अथवा आप मेरी तीव्र उत्कण्ठा से अपरिचित हैं। हे प्रभु ! मैं अपने और आपमे किसको दोष दूँ ? आपको सभी लोग तीनों लोको का स्वामी कहते है और आप सभी मनोवाछित कार्यो को पूर्ण करने वाले है। कबीर कहते है कि हे प्रभु ! मेरी निर्बलताओ के ऊपर ध्यान न दे। कृपाकर अपना दर्शन दें। आप मुझे अपने पास बुला ले अथवा आप स्वय मुझमे समाविष्ट हो जायँ।

टिप्पणी—अतिम चरण मे कबीर यह सकेत कर रहे है कि या तो मुझे सामीप्य मुक्ति दीजिए अथवा सायुज्य मुक्ति। इन दो मे से किसी एक की प्राप्ति के बिना मुझे सतोष नही होगा।

अलंकार—हमहि कुसेवग कि तुमहिं अयाना—सदेह।

राग—भैरव।

[३]

अपनैं बिचारि असवारी कीजै।
सहज कै पांवड़ै पगु[६] धरि लीजै ॥ टेक ॥
दै मुहरा लगाम पहिरावउं[७], सिकली जीन गगन दौरावउं[८]।

---

१ तिवारी–मिलै २. ना० प्र०, गुप्त–क्यूॅं ३. ना० प्र०. गुप्त–क्या ४. ना० प्र०, गुप्त–कहौ किन रॉमाँ ५ ना० प्र०, गुप्त–तुम्ह। ६. ना० प्र०–पाव जब ७. ना० प्र०–पहिराऊँ ८. ना० प्र०–दौराऊँ।

चलु रे वैकुंठ तुझहि[1] लै तारउं, हिचहि[2] त प्रेम ताजनैं मारउं।
कहत[3] कवीर भले असवारा, वेद कतेब तैं[4] रहहि नियारा ॥

शब्दार्थ—अपनैं=आत्मस्वरूप। पाँवड़ैं=रिकाव (अ०), घोड़े का काठी का पायदान जिसमे पाँव रख कर चढ़ते हैं। मुहरा=घोडे के मुख पर पहनाया जाने वाला साज। सिकली=(अ० सिक्ल) भारी, दृढ। हिचहि=हिचकता है। ताजनैं=(फा० ताजियाना) कोड़ा। कतेव=किताव, कुरान। गगन=ब्रह्मरंध्र, शून्य-चक्र। नियारा=न्यारा, पृथक्, भिन्न।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे वताया गया है कि आत्मस्वरूप की जानकारी के द्वारा ही परमतत्त्व को जाना जा सकता है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि हे जीव! यदि तुम परमतत्त्व की प्राप्ति करना चाहते हो तो आत्मतत्त्व को अच्छी तरह समझकर मन रूपी अश्व पर आरूढ़ हो जाओ। जो तत्त्व तुम्हारे भीतर स्वाभाविक रूप मे विद्यमान है, उसी के रिकाव मे अपना पैर रखो अर्थात् उसी के द्वारा परम तत्त्व की उपलब्धि हो सकती है। मनरूपी अश्व को नियंत्रित करने के लिए उसके मुँह मे तोवडा लगाकर लगाम पहना दो, जिससे वह विपयो का स्वाद लेने के लिए प्रवृत्त न हो सके। तत्पश्चात् उस पर मज़बूत ज़ीन डालकर उसे ऊपर ब्रह्मरंध्र की ओर दौड़ा दो।

मनरूपी अश्व को संवोधित करके कवीर कहते है कि तू वैकुण्ठ की ओर चल। तेरा उद्धार हो जाएगा। यदि तू वीच मे हिचकता है तो प्रेम रूपी कोड़े से मारकर मैं तुझे उस ओर ले चलूँगा। कवीर कहते है कि ऐसा सिद्ध असवार वेद-कुरान आदि पुस्तकीय ज्ञान से भिन्न होता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, सांग रूपक।

राग—गौरी।

[४]

अपनो[5] करम न मेटो जाई।
करमक[6] लिखल मिटै धौं कैसे, जो जुग कोटि सिराई ॥
गुरु वसिष्ठ मिलि लगन सुधायो,[7] सुरज मंत्र एक दीन्हा।
जो सीता रघुनाथ विवाही, पल एक संच न कीन्हा ॥
तीनि लोक के करता[8] कहिए, वालि वधो[9] वरियाई।

---

१. ना० प्र०–तोहि २. ना० प्र०–थकहित ३. ना० प्र०–जन कवीर ऐसा असवारा ४. ना० प्र०–दहूँ थे न्यारा ५. शुक०–आपन कर्म ६. शक०–कर्म का लिखा ७. शुक०–सोधाई ८. शक०–कर्त्ता ९. शुक०–वधे।

एक समै ऐसी बनि आई, उनहूँ औसर पाई ॥
नारद मुनि को बदन छिपायो, कीन्हो कपि को रूपा।
सिसुपाल की भुजा उपारिन, आपु भए हरि ठूँठा ॥
पारवती को बाझ न कहिए, ईस[1] न कहिए भिखारी।
कहैं कबीर करता की बातें, करम की बात निनारी ॥

शब्दार्थ—सिराई=बीतना। सुधायो=शोध किया। गच=गुरु। बरियाई=बलपूर्वक। उपारिन=उखाड़ा। ठूँठ=जिसका हाथ कटा हो। निनारी=न्यारी, भिन्न।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इससे बड़े-बडे देव-देवियो को भी छुटकारा नही मिला।

व्याख्या—कबीर कहते है कि कर्म का फल अमिट है। करोड़ो युग बीत जाने पर भी कर्म के अनुसार फल अवश्य मिलेगा। गुरु वसिष्ठ ने बहुत विचार कर राम के विवाह की तिथि निश्चित की थी और उस समय का मंत्र-पाठ सूर्य द्वारा दिया गया था। इतनी सावधानी बरतने पर भी राम का सीता से जो विवाह हुआ, उसके कारण उन्हे एक पल भी सुख न मिला। राम को तीनो लोको का कर्त्ता माना जाता है, किंतु उन्होने छिपकर वालि का वध किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि दूसरे जन्म मे वालि ने ही व्याध रूप मे विष्णु के दूसरे अवतार कृष्ण को मारा। नारद-मोह के समय विष्णु ने उनका वास्तविक रूप छिपाकर बदर की आकृति दे दी थी। उन्ही के शाप से राम को स्त्री-वियोग का दु ख सहन करना पडा। श्रीकृष्ण ने शिशुपाल की दो भुजाएँ उखाड दी थी। फलस्वरूप जगन्नाथ रूप मे वह भुजाहीन हुए। यद्यपि पार्वती के दो पुत्र—गणेश और कार्तिकेय थे, किंतु वे उनके गर्भ से नही उत्पन्न हुए थे। अतः पार्वती को बाँझ क्यो न कहा जाय ? शिव यद्यपि समर्थ देवता है। किंतु उनकी वेश-भूषा, रहन-सहन भिखारियो जैसी है। अत. उन्हे भिखारी क्यो न कहा जाय ? कबीर कहते है कि कर्त्ता कर्म करने मे स्वतत्र है। अतः उसे उसका फल भोगना ही होगा। इसलिए कर्म की बात न्यारी है।

तुलनीय—(१) स्वतंत्रः कर्त्ता य. कर्त्ता स एव भोक्ता।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥

× × ×

(२) कर्माण्यत्र प्रधानानि सम्यगृक्षे शुभे गृहे।
वसिष्ठकृतलग्नापि जानकी दु.खभाजनम् ॥

—(गरुडपुराण-आचारखड, अध्याय–११३/२५)

---

१. वि०–इसर।

टिप्पणी—(१) नारद मोह—एक बार नारद को मोहवश अहंकार हो गया कि उन्होंने काम को वश में कर लिया है। उन्होंने विष्णु भगवान पर यह तथ्य प्रकट कर दिया। विष्णु ने उनका मोह-भंग करने के निमित्त मार्ग मे एक सुंदर नगर, उसके सम्राट् तथा राजा की परम रूपवती कन्या का निर्माण किया। उस कन्या के स्वयंवर के अवसर पर देवर्षि उसी मार्ग से निकले। राजा ने नारद से कन्या का भविष्य पूछा। अपूर्व सुन्दरी नृपबाला को देखकर नारद काम के वशीभूत हो गए और उससे विवाह का निश्चय करके विष्णु से उनका रूप माँगा। विष्णु ने उन्हे वंदर की आकृति दे दी। स्वयंवर मे निराश होने पर नारद ने विष्णु भगवान् को शाप दिया कि जिस स्त्री के कारण उन्हे अपमानित होना पड़ा है उसी स्त्री-वियोग का दुःख विष्णु को भी भोगना पड़ेगा। रामावतार मे राम को सीता का वियोग झेलना पड़ा।

(२) शिशुपाल—महाभारत के अनुसार चेदि देश का राजा, दमघोप का पुत्र। जन्म के समय इसके तीन नेत्र और चार हाथ थे। उस समय आकाशवाणी हुई थी कि जिसकी गोद में जाने से इसकी तीसरी आँख और दो भुजाएँ विलीन हो जायँगी, उसी के हाथ इसकी मृत्यु होगी। श्रीकृष्ण की गोद मे जाने से उसकी आँख और हाथ विलीन हुए। उन्ही के द्वारा वह मारा गया।

(३) जगन्नाथ—जगन्नाथ जी की मूर्ति के पैर नही होते और हाथ भी विना पंजे के होते है।

(४) पार्वती—पार्वती के दो पुत्र थे—गणेश और कार्तिकेय। दोनो अयोनिज थे। मत्स्य पुराण के अनुसार ये पार्वती के शरीर के मैल तथा उवटन से पैदा हुए थे।

कार्तिकेय के संवंध मे कहा जाता है कि जब पार्वती शिव का वीर्य धारण न कर सकी, तव क्रमशः पृथ्वी, अग्नि और गंगा ने उस वीर्य को धारण किया। जब गंगाजी भी उस वीर्य को धारण न कर सकी तो उसे हिमालय के निकट शरवन मे फेंक दिया। वही कार्तिकेय का जन्म हुआ।

अलकार—पार्वती ··· ···भिखारी—वक्रोक्ति।

[५]

अपुनपौ आपुहि[1] विसर्यो।
जैसे स्वान[2] कांच मंदिर में, र्भमित[3] भूंकि मर्यो॥
ज्यों केहरि वपु निरखि कूपजल, प्रतिमा देखि पर्यो।
वैसे[4] ही गज फटिक सिला पर, दसनन आनि अर्यो॥

१. शुक०—आपही विसरो २. वि०—सुनहा ३. वि०— भरम ते भूँसि मरो ४. शुक०—वैसहि मदगज।

मरकट मूँठी[1] स्वाद न बिहुरै, घर घर नटत[2] फिर्‌यो।
कहै कबीर ललनी के सुवना[3], तोहि कौने पकर्‌यो॥

शब्दार्थ—अपुनपौ=आतमस्वरूप। आपुहि=स्वयं। बिसर्‌यो=भुला दिया। स्वान=कुत्ता। काच=शीशा। भ्रमित=भ्रम मे पडकर। केहरि=सिंह। वपु=शरीर। प्रतिमा=परछाई। फटिक=स्फटिक पत्थर। दसनन=दाँतो से। मर्कट=बंदर। अर्‌यो=अडता है। बिहुरै—छोडता है। नटत=नाचता हुआ। ललनी=बाँस की नली।

संदर्भ—सासारिक विषय परछाई के समान नश्वर और अवास्तविक है। जीव भ्रमवश उन्हे वास्तविक समझकर उनमे फँसा रहता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि जीव आतमस्वरूप को स्वयं भूल गया है। उसकी दशा उस श्वान के समान है जो शीशमहल में अपनी परछाई देखकर, भ्रमवश दूसरा श्वान समझकर भौंकता हुआ व्यथित हो जाता है, उस सिंह के समान है जो कुएँ के जल मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर भ्रमवश उसे दूसरा सिंह समझकर उससे भिडने के लिए कुएँ मे कूद पडता है, उस हाथी के समान है जो स्फटिक पत्थर मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे दूसरा हाथी समझकर उससे युद्ध करने के लिए दाँतो को अड़ा देता है, उस बंदर के समान है जो स्वाद के लिए तंग मुँह वाले घड़े मे हाथ डालकर अपने को फँसाकर लोभवश उसे नही छोडता और कलदर की डोरी से बँधकर घर-घर नाचता है तथा उस तोते के समान है जो बाँस की नली पर बैठकर अपने को फँसा देता है। तोता जब नली पर बैठता है तो वह घूम जाती है और तोता उलट जाता है। वह गिरने के भ्रम से उसे मजबूती से पकडे रहता है। इसी बीच शिकारी आकर उसे पकड लेता है। ऐसी ही दशा जीव की है। वह विषयो मे आसक्त होकर ससार मे आबद्ध हो जाता है।

टिप्पणी—इस पद मे यह संकेत किया गया है कि ससार के सभी आकर्षक विषय प्रतिबिम्ब मात्र है, अवास्तविक है। जीव भ्रमवश उन्हे वास्तविक मान लेता है। यह जगत् वास्तव मे ब्रह्म की प्रतिच्छाया है।

तुलनीय—लगभग यही पद सूरसागर मे भी मिलता है। इसका मूल रचयिता कौन है—कबीर या सूर? यह निर्णय करना बड़ा कठिन है। पद इस प्रकार है—

अपुनपौ आपुन ही बिसर्‌यौ।
जैसे स्वान काँच मदिर मैं भ्रमि भ्रमि भूकि पर्‌यौ॥
ज्यौं सौरभ मृग नाभि बसत है द्रुम तृन सूँघि फिर्‌यौ।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ तसकर अरि पकर्‌यौ॥

---

१. वि०—मूँठि० स्वाद नहिं २. शुक, वि०—रटत ३. वि०—सुगना।

ज्यौं केहरि प्रतिविम्ब देखि कै आपुन कूप पर्‌यौ।
जैसे गज लखि फटिकसिला मैं दसननि जाइ अर्‌यौ॥
मर्कट मूँठि छाँड़ि नहि दीनी घर घर द्वार फिर्‌यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा कहि कौने पकर्‌यौ॥
—(सूरसागर २/२६)

अलंकार—उदाहरण।

[६]

अब कहँ[1] चलेउ अकेले मीता, उठहु न करहु घरहु की चिंता।
खीर खाँड घृत पिंड संवारा, सो तन लै बाहर कर[2] डारा।
जो[3] सिर रचि रचि बाँध्यो पागा, सो सिर रतन विडारत कागा।
हाड़ जरै जस लकड़ी[4] झूरी, केस जरै जस तृन[5] की कूरी।
आवत संग न जात संघाती, काह भये दल बाँधल हाथी।
माया के रस लेन[6] न पाया, अंतर जम विलारि होय धाया।
कहँ कबीर नर[7] अजहुँ न जागा, जम का मुगदर[8] सिर बिच लागा॥

शब्दार्थ—खीर=क्षीर, दूध। खाँड=गुड़। पिंड=शरीर। पागा=पगडी। विडारत=फाड़ते है। झूरी=सूखी। कूरी=ढेर, पुंज। दल=समूह। अंतर=बीच मे ही। मुगदर=गदा।

संदर्भ—इस पद मे जीवन की क्षणभंगुरता का वर्णन करते हुए प्रभु-भक्ति के लिए उपदेश दिया गया है।

व्याख्या—मरणोपरान्त सभी को इस संसार से अकेले ही जाना होता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए तथा मृतक को संबोधित करते हुए कबीर कहते है कि हे मित्र ! मरने पर तुम अकेले कहाँ जा रहे हो ? अब उठकर उस घर की चिंता क्यो नही करते, जिसके लिए जीवन भर व्याकुल रहे। तुमने जिस शरीर को खीर, खाँड, घृत आदि से पोषित किया था, उसी शरीर को प्राण न रहने पर लोग घर के बाहर कर देते है। जिस सिर पर सुरुचिपूर्वक पगड़ी बाँधते थे, उस श्रेष्ठ सिर को कौए फाड़ते है। हड्डियाँ सूखी लकडी के समान जलती है और केश तिनके के ढेर के समान जल जाते हैं। न तो जन्म के समय कोई साथ आता है और न मृत्यु के बाद कोई साथ जाता है। फिर झुंड बटोरने और दरवाजे पर बड़े-बड़े हाथी बाँधने से क्या लाभ ? सांसारिक पदार्थो का पूरा भोग भी न कर सके और बीच मे ही यमराज रूपी बिलाव

१. शुक०–कहाँ २. वि०–बाहरि करि ३. वि०–जिहि ४. शुक०–जंगल की लकडी ५. शुक०– घास की पूली ६. शुक०–लेइ ७ वि०–नल ८. वि०–मुद्गर मँझ सिर।

ने आकर धर दबोचा। कबीर कहते हैं कि मनुष्य अन्त समय तक मोह-निद्रा से नही जगता और यम की गदा सिर पर बज जाती हैं अर्थात् मृत्यु आ जाती है।

अलंकार—(१) प्रथम पंक्ति मे वक्रोक्ति।
(२) सिर रतन-रूपक।
(३) जम बिलारि-रूपक।
(४) 'बाँधल' शब्द मे देहरी दीपक।

[७]

अब का डरौं डर डरहि समांनां।
जब तैं[1] मोर तोर पहिचांनां॥ टेक॥
जब लग मोर तोर करि लीन्हां, भैं भैं जनमि जनमि दुख दीन्हा।
आगम[2] निगम एक करि जानाँ, ते मनवाँ मन माँहि समाना।
जब लग ऊँच नीच करि जाना, ते पसुवा भूले भ्रंम नाँना।
कहि कबीर मै मेरी खोई, तबहि रांम अवर नहि[3] कोई॥

शब्दार्थ—मनवाँ = सकल्प-विकल्पात्मक मन। मन = परम चेतन्य। पसुवा = पशु, जीव। अवर = अपर, अन्य। निगम = वेद।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने बताया है कि अहंता और ममता सभी भ्रमो का मूल है।

व्याख्या—वह कहते है कि जब से मैंने 'मेरे तेरे' की वास्तविकता को समझ लिया है, तब से मुझे कोई भ्रम नही रह गया। जिसके (ईश्वर के) भय से सारे ससार की प्रक्रिया चलती है, उसी मे मेरा मन लीन हो गया है। अत. अब मुझे भय किस बात का ? कहने का तात्पर्य यह है कि अब मैं ईश्वरीय भय के प्रशासन के स्तर से ऊपर उठकर भागवत प्रेम से युक्त हो गया हूँ। जब तक 'मेरे तेरे' का भेद बना हुआ था, तब तक भय का आतंक बना रहता था और बार-बार जन्म लेना पड़ता था। उपनिषद् मे कहा गया गया है—द्वैताद्वै भय भवति।' भय दूसरे से ही होता है। इसीलिए कबीर कहते है कि जब तक 'मेरे तेरे' का भेद बना हुआ था, तभी तक भय बना हुआ था। जब मैंने यह समझ लिया कि वेद-शास्त्र एकत्व (अद्वैत) का प्रतिपादन करते है, तब मेरा सकल्प-विकल्पात्मक व्यष्टि मन, परम समष्टि मन मे समाविष्ट हो गया। जो लोग अपने-पराये और ऊँचे-नीचे का भेद करते रहते है, वे पशु-जीव नाना प्रकार के भ्रम मे पडते रहते है। कबीर कहते है कि जब मैंने अहता-ममता समाप्त कर दी, तब मेरे लिए राम के सिवाय कोई नही रह गया। सर्वत्र राम ही राम रह गए।

राग—गौरी।

---

१ ना० प्र०–थें २. ना० प्र०–अगम ३. ना० प्र०–नहीं।

[८]

अव क्या कीजै ग्यांन विचारा।
निज निरखत गत व्यौहारा ॥ टेक ॥
जाचिग दाता इक पाया, धन दिया जाइ नां खाया।
कोई ले भरि सकै न मूका, औरन पहि[1] जांनां चूका।
तिस वाझ न जीया[2] जाई, वो मिलै त घालै खाई।
सो[3] जीवन भला कहाही, विनु मूएँ[4] जीवन नांहीं।
घसि चंदन वनखंडि वारा, विनु नैंननि रूप निहारा।
तिहिं पूति वाप इक जाया, विनु ठाहर नगर वसाया।
जो जीवत ही मरि जांनै, तौ पंच सैल सुख मांनै।
कवीरै[5] सो धनु पाया, हरि[6] भेटत आपु गँवाया ॥

शब्दार्थ—निज निरखत=आत्म साक्षात्कार होने पर। गत=चला गया। व्यौहार=सासारिक व्यवहार। जाचिग=याचक, जीव। दाता=देने वाला, प्रभु। धन=(प्र० अ०) ज्ञान और आनंद। मूका=मुट्ठी भर। चूका=समाप्त हो जाता है। वाझ=विना। घालै खाई=नष्ट करके मार डालना। वनखंडि=विषय रूपी वन। वारा=जलाया। जाया=उत्पन्न किया। ठाहर=ठहरे हुए। सैल=(फा० सैलाव) प्रवाह, वहाव। आपु=पृथक् जीवभाव।

संदर्भ—इस पद में कवीर ने वताया है कि ज्ञान और आनंद रूपी धन प्राप्त होने पर पृथक् जीवभाव समाप्त हो जाता है। जो इस धन को प्राप्त कर लेता है उसी का जीवन सार्थक है।

व्याख्या—सिद्धावस्था को प्राप्त होने पर विवेक, विचार आदि की क्या आवश्यकता है? आत्मसाक्षात्कार होने पर सांसारिक व्यवहार समाप्त हो जाते है। जीव रूपी याचक भगवान् रूपी दाता को प्राप्त कर लेता है। उन्होने ज्ञान तथा आनंद रूपी धन दिया, जो भोगने पर भी समाप्त नही होता। वह अक्षय है। वह इतना असीम और अगाध है कि उसे कोई मुट्ठी मे बाँधकर परिसीमित नही कर सकता। उस ज्ञान और आनंद के प्राप्त होने पर अन्य किसी के पास जाने की आवश्यकता नही रह जाती है। उसके विना जीवन निरर्थक है। उसके प्राप्त होने पर पृथक् जीवन, आपा आदि सर्वथा विनष्ट हो जाते है। एकत्वमय चेतना का वह जीवन सर्वश्रेष्ठ है। जब तक आपा या अहं विनष्ट नही हो जाता, तव तक वास्तविक जीवन प्रारम्भ नही होता है।

---

१. ना० प्र०—पै २. ना० प्र०—जीव्या ३. ना० प्र०—वो ४. ना० प्र०—मूँवाँ ५. ना० प्र०—कहै कवीर सो पाया ६. ना० प्र०—प्रभु।

सुगंधिमय भक्ति-साधना (चदन) से वह अग्नि (ज्ञान) प्रज्वलित होती है, जो विषय रूपी वन को जलाकर नष्ट कर देती है। गीता मे भी कहा गया है कि 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' (४।३७)। और तब उस परमतत्त्व का साक्षात्कार भीतर ही भीतर बिना चर्म चक्षुओ के हो जाता है। उस साधक रूपी पुत्र ने भगवद् ज्ञान रूपी पिता को उत्पन्न किया और उसने बिना ठहरे हुए एक नगर बसाया अर्थात् ससार मे लिप्त हुए बिना वह समस्त सांसारिक कार्य सपादित करता रहा।

जो जीते जी मरने की कला जानता है अर्थात् आपा एवं अहं समाप्त कर सकता है, पाँचो इद्रियो के प्रवाहित होते हुए भी अर्थात् उनकी क्रियाशीलता विद्यमान रहते हुए भी वह क्षुब्ध नही होता है। वह सुख और शाति का अनुभव करता रहता है। कबीर ने वह ज्ञान और आनद रूपी धन प्राप्त कर लिया है और प्रभु से मिलन होने पर उन्होने अपना पृथक् जीव-भाव विलीन कर दिया है।

अलकार—(१) अब क्या कीजै ज्ञान बिचारा-वक्रोक्ति।
(२) धन दिया जाइ ना खाया-विशेषोक्ति।
(३) बिनु मूएँ जीवन नाही-विरोधाभास।
(४) बिनु नैननि रूप निहारा-विभावना।

राग—सोरठ।

[९]

अब तोहि जांन न दैहूँ राम पियारे।
ज्यौं[1] भावै त्यौं[2] होहु हमारे॥ टेक॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए, भाग बड़े घर[3] बैठे आए।
चरनन लागि करौं सेवकाई[4], प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।
आज[5] बसौ मन मंदिर चोखै, कहै कबीर परहु मति धोखै[6]॥

शब्दार्थ—चोखै=(सं० चोक्ष) शुद्ध, उत्तम, श्रेष्ठ।

व्याख्या—हे प्रियतम प्रभु ! अब मै तुम्हे जाने नही दूँगी। जैसे भी हो तुम हमारे होकर रहो। जन्म-जन्मातर के वियोग के अनन्तर मैने आज प्रभु को प्राप्त किया है। यह मेरा परम सौभाग्य है कि वह स्वय हमारे घर पधारे है अर्थात् स्वत. प्राप्त हो गये है। मै आपके चरणो मे लगकर आपकी सेवा करूँगी और अपने प्रेम-व्यवहार मे आपको उलझाए रखूँगी। आज मेरे सच्चे, शुद्ध हृदय रूपी मदिर मे निवास करो। अन्य किसी प्रेयसी के जाल मे न फँसो।

अलंकार—रूपक।

राग—गौरी।

---

१. ना० प्र०-ज्यूँ २. ना० प्र०-त्यूँ ३. ना० प्र०-घरि ४. ना० प्र०-बरिआई ५. ना० प्र०-इत मन मंदिर रहो नित चोषे ६. ना० प्र०-धोषे।

[१०]

अब न बसूँ इहि गाउँ[1] गुसाईं।†
तेरे नेवगी खरे सयांनें हो राम॥ टेक॥
नगर एक तहँ[2] जीव धरम हत[3], बसै जु पंच किसानां।
नैनूं नकटूँ[4] श्रवनूं, रसनूं, इन्द्री कहा[5] न मानैं हो राम॥
गाउ[6] कु[7] ठाकुर खेत कु[8] नेपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेत पसारैं, सब मिलि मोकौं मारै हो राम॥
खोटौ महतौ विकट बलाही, सिर[9] कसदम का पारै।
बुरौ दिवांन दादि नहिं लागै, इक बांधै इक मारै हो राम॥
धरमराइ[10] जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी।
पांच किसाना भाजि गये हैं, जीव धर बांध्यौ पारी हो राम॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधौ भेरा।
अबकी बेर बकसि बंदे कौं, बहुरि[11] न भौजलि फेरा॥

शब्दार्थ—गाउँ=गाँव, (प्र० अ०) शरीर। नेवगी=नेगी, हिसाब लेने वाले कर्मचारी। खरे=अत्यधिक। सयाने=चतुर। हत=नष्ट। नकटूँ=नाक। श्रवनूँ=कान। रसनूँ=जिह्वा। ठाकुर=स्वामी (प्र० अ०) मन। खेत=क्षेत्र (प्र० अ०) शरीर। नेपै=नापता है, हिसाब करता है। काइथ=कायस्थ, पटवारी (प्र० अ०) भोग का हिसाब रखने वाले कर्म। पारै=अंत नहीं। जेवरी=रस्सी, ज़मीन नापने की जंजीर जिसको 'जरीब' (अ०) कहते हैं, (प्र० अ०) आशा, तृष्णा, वासना।

---

१. ना० प्र०, गुप्त०-गाइं २. ना० प्र०, गुप्त०-तहाँ ३. ना० प्र०, गुप्त०-हता ४. ना० प्र०- निकट ५. ना० प्र०, गुप्त०-कह्या ६. ना० प्र०, गुप्त०-गाँइ ७. गुप्त-कुठाकुर ८. गुप्त०-कुनेपै ९. गुप्त-सिरकस दम १०. गुप्त-धमराट ११. गुप्त, ना० प्र०-सब खत करौ निबेरा।

† तिवारी की प्रति में यह पद अधूरा है, जो इस प्रकार है—

बाबा अब न बसउं यहि गांउं।
घरी घरी का लेखा मांगै काइथ चेतू नांउँ॥ टेक॥
देही गावा जिउ धर महतौ बसहिं पंच किरसानां।
नैनूं नकटू स्रवनूं रसनूं इन्द्री कहा न माना॥ १॥
धरमराइ जब लेखा मागै बाकी निकसी भारी।
पंच किसनवां भागि गए लै बांध्यौ जिउ दरबारी॥ २॥
कहै कबीर सुनहु रे संतहु खेतहिं करहु निबेरा।
अब की बेर बखसि बंदे कौं बहुरि न भौजलि फेरा॥ ३॥

(पद-४१)

महतो (स० महत्)=मुखिया, (प्र० अ०) प्रवृत्तियाँ। बलाही=बलाधिकृत, लगान वसूल करने वाले कर्मचारी। कसदम (अ०)=शक्तिशाली। पारै=उपारता है, उखाडता है। दिवान=मंत्री। दादि (फा०)=न्याय। धर=पकडकर। पारी=(स०) हाथी का पैर बाँधने वाला रस्सा। भेरा=वेडा या नौका। बकसि=(फा०-बख्श), क्षमा करना। बंदे=दास। फेरा=पुनरागमन।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर सासारिक जीव की कठिनाइयो का उल्लेख करते हुए प्रभु से उसे बधनमुक्त करने की प्रार्थना करते हैं। उन्होने शरीर को गाँव या क्षेत्र का प्रतीक माना है।

व्याख्या—वह कहते है कि हे प्रभु ! अब मैं इस शरीर रूपी गाँव में नही रहना चाहता। आपके कर्मचारी अत्यंत चतुर और कठोर है। यह शरीर रूपी नगर ऐसा है जिसमे बसने वाला जीव अपने वास्तविक कर्म से च्युत हो जाता है और उसके अधीन कार्य करने वाले पाँच किसान अर्थात् चक्षु, घ्राण, श्रवन, रसना और त्वचा ये पाँचो इन्द्रियाँ उसके अनुशासन मे नही रहती। वे मनमानी करती रहती हैं।

इस शरीर रूपी गाँव का स्वामी मन है जिसका अधिकार क्षेत्र पूरा शरीर है। कर्म रूपी पटवारी के भोग रूपी व्यय का कोई अत नही अर्थात् संचित कर्मों के फलदायी प्रारब्ध कर्मो के भोग करने और क्रियमाण कर्मो के नये सस्कार बनने का क्रम निरतर चलता रहता है। उसका कभी अन्त नही होता। जिस प्रकार जरीब से सारा खेत नापा जाता है, उसी प्रकार तृष्णा और वासना की जेवड़ी सारे शरीर मे व्याप्त रहती है। इस प्रकार इन सबने मिलकर जीव को जकड़ रखा है और उसको आहत कर दिया है।

हे धर्मराज ! इस शरीर रूपी गाँव मे आपके द्वारा नियुक्त कर्मचारी अत्यंत कठोर है। गाँव का मुखिया खोटा है, लगान वसूल करने वाला (बलाही) बहुत ही भयकर है, वह बडे-बडे शक्तिशाली लोगो के बाल उखाड डालता है। मेरे जैसे लोगो की तो कोई गिनती ही नही। भाव यह है कि हमने जो कर्म किए हैं, आपके कर्मचारी उनका दड बड़ी कठोरता से देते है। वे मेरे प्रति तृणमात्र भी सहानुभूति नही रखते। आपके दीवान से भी अपील करने पर कोई न्याय नही मिलता। वह भी कर्मो के दण्ड भोगने से छुटकारा देने के लिए रचमात्र तैयार नही होता। आपके कर्मचारियो मे मुझे (जीव को) कोई बाँधता है, कोई मारता है अर्थात् सभी कर्मचारी मुझे नाना प्रकार की यातनाएँ देते रहते है। मृत्यु के समय धर्मराज ने जब मेरे कर्मो का हिसाब माँगा तो मेरे जिम्मे ऐसे अनेक कर्म निकले जिनका भोग करना शेष था। उस समय पाँचो इन्द्रियाँ रूपी किसान भाग गए अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने तत्वो मे लीन हो गईं। उन्होने जीव का साथ छोड दिया। एकाकी जीव को पकड़कर हाथी का पैर बाँधने वाले रस्से से जकड़कर बाँध दिया गया।

कवीर कहते है कि हे संतो ! सुनो, भगवान् के भजन रूपी वेड़े को तैयार करो जिससे जीव भव-सागर से पार हो जाए। हे प्रभु ! आप इस वार अपने दास को क्षमा प्रदान करें। आप की भक्ति रूपी वेड़े के द्वारा इस भव-सागर को पार करने के वाद वह पुनः इसमे नही आएगा।

टिप्पणी (१) इस रूपक में कवीर ने शरीर को गाँव या क्षेत्र माना है। इसमे रहने वाले जीव को मुख्य काश्तकार और पाँच ज्ञानेन्द्रियो को सहायक किशान माना गया है। मन इस गाँव का स्वामी है, कर्म पटवारी हैं, तृष्णा और वासना ही जंजीर है। गाँव के मुखिया, कर वसूल करने वाले तथा दीवान धर्मराज के कर्मचारी है।

(२) निधन होने पर स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है। इन्द्रियाँ अपने तत्वों मे लीन हो जाती हैं। जीव को अपने कर्मो का हिसाव धर्मराज के सम्मुख देना पड़ता है। उन कर्मो के भोग के लिए जीव को पुनः इस संसार मे आना पड़ता है। इस पुनरागमन से त्राण का एक ही उपाय है—भगवद्भक्ति।

इसी आशय का सूर का एक पद देखिए—

अव कै नाथ मोहि उवारि।
मगन हौं भव अंवुनिधि मैं कृपासिंधु मुरारि॥
नीर अति गंभीर माया लोभ लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल कौं गहे ग्राह अनंग॥
मीन इन्द्री तनहि काटत मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सिवार॥
काम क्रोध समेत तृप्ना पवन अति झकझोर।
नाहि चितवन देत सुत तिय नाम नौका ओर॥
थक्यौ वीच विहाल विह्वल सुनौ करुना मूल।
स्याम भुज गहि काढि लीजै सूर व्रज के कूल॥
९९॥

—डॉ० हरदेव वाहरी व डॉ० राजेन्द्रकुमार—सूरसागर सटीक

अलंकार—(१) पूरे पद मे सांग रूपक।
(२) पारै पारै में यमक।

राग—आसावरी।

[११]

अब मन जागत रहु रे भाई।
गाफिल होइ कै जनमु गंवायौ, चोर मुसै घरु जाई॥ टेक॥
षट चक्र की कीन्ह कोठरी, वस्तु अनूपु विच पाई।
कुंजी कुलफु प्रांन करि राखे, उघरत[1] वार न लाई॥
पंच पहरुआ दर महिं रहते, तिनका नहीं पतिआरा।
चेत सुचेत चित्त होइ रहु, तौ लै परगासु उजारा॥
नउ घर देखि जु कामिनि भूली, वस्तु अनूपु न पाई।
कहत कबीर नवै घरु मूसे, दसवैं तत्त समाई॥

शब्दार्थ—गाफिल (अ०) = असावधान। मुसै = चुरा कर उठा ले जाता है। षटचक्र = शरीर में छ चक्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा) कोठरी = मकान (प्र० अ०) शरीर। कुलफु = (अ०-कुफ्ल) = ताला। वार = विलब। पच पहरुआ = पाँच रक्षक (प्र० अ०) पाँच ज्ञानेद्रियाँ। दर (फा०) = भीतर। पतिआरा = प्रतीति, विश्वास। परगासु = प्रकाश। उजारा = उजाला। नउ घर = नौ तत्व (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) अनुपु = अनुपम, अद्वितीय। दसवैं तत्त = दसवाँ तत्व, दहर कोश। विच = मध्य मे।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे असावधान चित्त! अब तो तू जग जा। अभी तक सोता ही रहा। असावधानी मे अपना जीवन नष्ट कर डाला। तेरे घर मे काम, क्रोध आदि चोर घुसकर विवेक-बुद्धि का अपहरण कर लेते है। तेरा शरीर एक ऐसी अद्भुत कोठरी है जिसमे छ चक्र है और मध्य मे अनुपम आत्मतत्व (अर्थात् दहरकोश) विद्यमान है। यद्यपि पंच प्राण रूपी कुंजी-ताले के द्वारा वह अनुपम तत्व सुरक्षित है, फिर भी उस ताले के खुलने मे देर नही लगती। पंच ज्ञानेन्द्रिय रूपी पहरेदार (रक्षक) भीतर ही स्थित है, किंतु उनका भी विश्वास नही किया जा सकता। माया-मोहजन्य काम, क्रोध आदि चोर अपनी घात से चूकते नही और विवेक-बुद्धि का अपहरण कर लेते है।

हे जीव! तू सावधान होकर रह। तब तुझे उज्ज्वल प्रकाश का भान होगा। माया मोह आदि नौ घर तक ये चोरी कर सकते है अर्थात् अंत करण चतुष्टय और पंच प्राण को भ्रात कर सकते है। किंतु भीतर जो अनुपम आत्मतत्त्व है, वह उनके हाथ नही लग सकता। नौ तत्त्वो को भ्रात करने पर ही माया-मोह आदि चोर यह समझते है कि मैंने सारी अध्यात्म-सम्पत्ति की चोरी कर ली। किंतु वे भूल मे है।

१. तिवारी—करते।

अनुपम आत्म-तत्त्व तो दसवे कोश (दहर कोश) मे है। कबीर कहते है कि काम, क्रोध, माया आदि अधिक से अधिक नौ घर तक तो चोरी कर सकते हैं, किंतु वास्तविक दसवे अर्थात् दहर कोश मे स्थित आत्मतत्त्व पर उनका दाँव नही चल सकता। हे जीव ! तू उसी अनुपम वास्तविक आत्मतत्त्व मे अपने चित्त को लगा।

राग—गौरी।

[१२]

अब मैं जानिबौ रे, केवल राइ की कहाँनी[1]।
मंझा जोति राँम परगासै,[2] गुर गमि बाँनी[3] ॥ टेक ॥
तरवर एक अनंत मूरति, सुरताँ लेहु पिछानी[4]।
साखा पेड़ फूल फल नाँही, ताकी अमृत बाँनी[5] ॥
पुहुप वास भँवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझै पवन झकोरै, आकासे फल फलिया ॥
सहज समाधि बिरष यहु सींचा,[6] धरती जलहर सोषा[7]।
कहै कबीर तास मैं चेला, जिनि यहु तरवर पेषा[8] ॥

शब्दार्थ—केवल = एक, अकेला, अद्वितीय। राइ = राम। कहाँनी = मर्म; वास्तविकता। मझा = मध्य मे। गमि = ज्ञान। तरवर = वृक्ष (प्र० अ०) सुषुम्ना। अनंत = ब्रह्म। सुरतां = सुरति के द्वारा। भँवरा = भ्रमर, (प्र० अ०) जीवात्मा। राता = अनुरक्त। बारा = वारि, अमृत। सोलह = (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पच प्राण और मन) आकासे = गगन मडल मे। जलहर = जलाशय। पेषा = देखा।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने यह बताया है कि प्राणशक्ति के विकास से कुण्डलिनी के जागरण के द्वारा सहस्रार मे रामतत्त्व का साक्षात्कार होता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि अब मैंने उस एक, अद्वितीय परमतत्व राम के मर्म को जान लिया है। गुरु ज्ञानोपदेश से भीतर अनुभूत ज्योति के मध्य में वह राम प्रकट होते है। सुषुम्ना रूपी वृक्ष के ऊपर अर्थात् सहस्रार मे ब्रह्म का स्वरूप भासित होता है। उसे सुरति के द्वार ही पहचाना जा सकता है। इस वृक्ष मे न शाखाएँ है, न फल-फूल। इसमे अनाहत नाद की अमृतधारा बहती रहती है। उसके पुष्प की सुगंध से जीवात्मा रूपी भ्रमर आकृष्ट होता है और उस अमृत-वारि को अपने हृदय मे धारण करता है। प्राणशक्ति सोलह (पच ज्ञानेन्द्रियो, पंच कर्मेन्द्रियों, पंच

१ ना० प्र०—कहाँणी २ ना० प्र०—प्रकासै ३ ना० प्र०—बाँणी, ४ ना० प्र०—पिछाँणी ५ ना० प्र०—वाणी ६ ना० प्र०—सींच्या ७ ना० प्र०—सोष्या ८ ना० प्र०—पेष्या।

प्राण और मन) के बीच से इस तरुवर को झकझोरती है अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, प्राण और मन की शक्ति को निरुद्ध करके प्राणशक्ति ऊपर की ओर उठती है तथा गगन-मंडल को जाती है। उस गगनमडल मे ही ब्रह्म रूपी फल है जिसका उसे साक्षात्कार होता है। यह वृक्ष सहज समाधि के द्वारा सीचा जा सकता है, सासारिक जलाशय से वह सूख जाता है अर्थात् विषयो के रस से वह सूख जाता है। कबीर कहते हैं कि जिसने इस तरुवर का साक्षात्कार किया है, उसे मैं अपना गुरु मानने को तैयार हूँ।

अलंकार—(१) साखा पेड—बाँनी—व्यतिरेक।
(२) पुहुप बास—धरिया—रूपकातिशयोक्ति।
(३) धरती जलहर सोपा—विरोधाभास।

राग—रामकली।

[१३]

अब मै पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान।
सहज समाधें सुख में रहिबो, कोटि कलप बिसराम[1] ॥ टेक ॥
गुरु किरपाल[2] कृपा जब कीन्ही, हिरदै कँवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझा[3], परम जोति परगासा[4] ॥
मिरतक[5] उठा धनुक कर लीये, काल अहेड़ी भागा।
उदया सूर निस किया पयाँना, सोवत थैं जब जागा ॥
अविगत अकल अनूपम देखा[6], कहताँ कहा[7] न जाई।
सैन करै मनही मन रहसै, गूँगै जानि मिठाई ॥
पहुप बिना एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।
नारी बिनाँ नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया ॥
देखतु काँच भया तन कंचन, बिन बानी मन माँना।
उड़ा बिहंगम खोज न पाया, ज्यूँ जल जलहि समानाँ ॥
पूजा[8] देव बहुरि नहिं पूजों, न्हाये उदिक न न्हाऊँ[9]।
भागा भ्रम ये कही कहंताँ, आए बहुरि न आऊँ ॥
आपै मै तब आपा निरखा[10], अपन मै आपा सूझा[11]।
आपै कहत सुनत पुनि अपनाँ, अपन पै आपा बूझा[12] ॥
अपनैं परचै लागी तारी, अपन पै आप समाँनाँ।
कहै कबीर जे आप बिचारै, मिटि गया आवन जाँना ॥

१. ना० प्र०–विश्राम २. ना० प्र०–कृपाल ३. ना० प्र०–सूझ्या ४. ना० प्र०–प्रकासा ५. ना० प्र०–मृतक। ६. ना० प्र०–देख्या ७. ना० प्र०–कह्या ८. ना० प्र०–पूज्या ९. ना० प्र०–नाँऊँ १०. ना० प्र०–निरख्या ११. ना० प्र०–सूझ्या १२. ना० प्र०–बूझ्या।

२

शब्दार्थ—पाइवो=प्राप्त हो गया। सहज समाधे=सहज की समाधि से। विगासा=विकसित हो गया। धनुक=धनुष। अहेडी=शिकारी। उदया=उदित हुआ। सूर=सूर्य (प्र० अ०) ज्ञान। निस=निशा (प्र० अ०) अज्ञान। पठावा=प्रयाण किया। अकल=अखण्ड। सैन=संकेत। रहसै=रहस्य का अनुभव करता हूँ। तूर=तुरही। विहंगम=पक्षी (प्र० अ०) व्यष्टि चैतन्य। उदिक=जल। कही कहता=बात की बात मे, कहते-कहते। तारी=ध्यान।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि अन्तरात्मा के साक्षात्कार होने पर कृत्रिम अहं समाप्त हो जाता है। यही सभी साधनाओं का सार है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अब मुझे ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो गया है। ब्रह्म, जो आत्मरूप मे, हृदय मे सहज रूप मे अर्थात् स्वभावत: विद्यमान है, उसमे समाधि लग जाने से, मैं आनद का अनुभव कर रहा हूँ और करोड़ो कल्प अर्थात् शाश्वत शांति का अनुभव कर रहा हूँ। दयालु गुरु का जब अनुग्रह हुआ, तब हृदय रूपी कमल विकसित हो गया। उस अवस्था मे पहुँचने पर सारा भ्रम चला गया, चारो ओर ज्ञान का प्रकाश हो गया और परम-ज्योति का साक्षात्कार हो गया। फलस्वरूप अब तक जो शक्तिहीन, मृतक तुल्य जीव था, उसमे शक्ति का संचार हुआ और उसने ज्ञान रूपी धनुष से काल रूपी शिकारी को मार भगाया अर्थात् अब जीव आवागमन से मुक्त हो गया।

जब मैं मोह की निद्रा से जगा, तब ज्ञान-सूर्य के उदय होने पर अज्ञान-निशा समाप्त हो गई। उस समय मुझे जिस अज्ञेय, अखण्ड और अनुपम तत्व का साक्षात्कार हुआ, वह वर्णनातीत है। इस आन्तरिक रहस्य का अनुभव होने पर मेरी अवस्था उस गूँगे के समान हो गई जो मिठाई के स्वाद का अनुभव तो करता है, किन्तु उसका संकेतमात्र कर सकता है, वर्णन नही कर सकता।

उस सहजानुभूति का आनंद अद्भुत है। उसमे अमृतफल का मधुर स्वाद तो है, किन्तु उसका निमित्त कोई तरुवर नहीं है, मधुर संगीत के श्रवण का आनंद तो है, किन्तु वहाँ न कोई वाद्य है, न वादक, आत्म विश्रान्तकारी नीर से पूर्ण काया परितृप्त हो गई है, किन्तु उसे भरकर देने वाली कोई नारी नही है अर्थात् उस साक्षात्कार मे सभी प्रकार का आनंद तो है, किन्तु उसका कोई स्थूल निमित्त नही है। काँच-तुल्य मूल्यहीन शरीर बहुमूल्य कचन हो गया अर्थात् काया का रूपान्तरण ही हो गया। मन मीन रूप से भीतर ही भीतर उस आनंद का रसास्वादन करता है। व्यष्टि चैतन्य रूपी पक्षी समष्टि चैतन्य मे उड़कर इस प्रकार लीन हो गया कि अब उसकी पृथक् सत्ता का उसी प्रकार पता नहीं चलता है, जिस प्रकार घट के फूट जाने पर भीतर का जल जलाशय मे अभिन्न रूप से मिल जाता है। सामान्य जन जित

साधनो का अवलम्बन करते है, वे सब अब मेरे लिए निरर्थक हो गए। ससार जिन देवो का अर्चन करता है, उनकी पूजा अब मेरे लिए व्यर्थ है, जिन पवित्र तीर्थ स्थानो मे लोग स्नान करते हैं, मेरे लिए उनकी अब कोई उपयोगिता नही। कहते-कहते अर्थात् क्षण भर मे मेरा सारा भ्रम भाग गया। अब मेरा पुनर्जन्म न होगा।

हृदय-कमल मे प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होने पर मुझे वास्तविक आपा (Metaphysical Igo) का बोध हुआ और अभी तक मैं जिस आपा (Psychological Igo) मे भटक रहा था, वह समाप्त हो गया। मुझे स्वतः शुद्ध बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार हो गया। इस प्रकार आत्म-चिंतन करते हुए मुझे आप से आप आत्म-स्वरूप का ज्ञान हो गया। परिचय अर्थात् साक्षात्कार की दशा मे चित्त प्रत्यगात्मा मे समाहित हो गया और वास्तविक प्रत्यगात्मा मे कृत्रिम अहं विलीन हो गया। कबीर कहते हैं कि जो आपा के मर्म को समझ लेते है, वे आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।

टिप्पणी (१) सहज—मानव के भीतर परम तत्व की स्वाभाविक सत्ता।

(२) **हृदय कमल**—यहाँ 'हृदय' का तात्पर्य भौतिक हृदय नही है। वह आन्तरिक गुहा या केन्द्र है, जिसमे प्रत्यगात्मा का निवास है। कबीर ने इसी तथ्य को एक साखी मे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

अतर कँवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तँह होइ।
मन भँवरा तँह लुबुधिया, जांनैगा जन कोइ॥

तुलनीय—(१) भागा भ्रम दसौं दिस सूझा ......
संतौ भाई आई ग्यान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडानी, माया रहै न बाँधी रे॥
× × × —(कबीर)

(२) अविगत अकल अनूपम देखा ......
अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगे मीठे फल को रस अतरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही मु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै॥
—(सूरदास)

अलकार—(१) मृतक उठा ......विरोधाभास।
(२) काल अहेडी ...... रूपक।
(३) सूर, निस...... रूपकातिशयोक्ति।
(४) पुहुप बिना ...... सो पाया—विभावना।

(५) देखत काँच......... 'चपलातिशयोक्ति ।
(६) ज्यूँ जल जलहि समाँनां........उपमा ।

राग—गौरी ।

(१४)

अब मैं रांम सकल सिधि पाई ।
आँन कहूँ तौ राम दुहाई ॥ टेक ॥
इहि चिति चाषि सबै रस दीठा, राम नाम सा और न मीठा ।
औरै रस ह्वै है कफ गाता, हरि रस अधिक अधिक सुखदाता ।
दूजा बनिज[1] नहीं कछु बाषर, रांम नाम दोऊ तत आषर ।
कहै कबीर जे हरि रस भोगी, ताको[2] मिला निरंजन जोगी ॥

शब्दार्थ—आँन=अन्य । दुहाई=शपथ, सौगंध । दीठा=देखा । गाता=शरीर । बनिज=व्यापार । बाषर=बखरी, घर । तत=सारवस्तु, तत्त्व । आषर=अक्षर । निरंजन=माया रहित शुद्ध चैतन्य पद ।

संदर्भ—इस पद में राम-भक्ति की सर्वोत्कृष्टता बताई गई है ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैंने राम मे सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली है । यदि मैं किसी अन्य का आश्रय लूँ तो राम की शपथ अर्थात् मैं उनकी शपथ खाता हूँ कि किसी अन्य देवी-देवता की उपासना नहीं कर सकता ।

मैंने इस चित्त से सभी रसों का स्वाद लेकर देख लिया है । राम नाम के सदृश अन्य कोई रस मीठा नहीं है । अन्य रसों से शरीर मे विकार उत्पन्न होता है । परन्तु प्रभु-भक्ति रूपी रस अधिकाधिक सुखदायी होता है । मेरे घर में दूसरा कोई व्यापार नही होता है अर्थात् राम-भक्ति के अतिरिक्त मेरी कोई दूसरी साधना नहीं है । राम नाम के दोनो अक्षर ही सारवस्तु हैं । कबीर कहते हैं कि जो भगवद्भक्ति का रसास्वादन करने वाले है, वे मायारहित शुद्ध चैतन्य पद को प्राप्त होते हैं ।

अलंकार—(१) राम नाम सा और न दीठा—प्रतीप ।
(२) औरै रस.......भेदकातिशयोक्ति ।

राग—गौरी ।

(१५)

अब[3] मोहि नाचिबौ न आवै ।
मेरो मन मंदला[4] न बजावै ॥ टेक ॥

---

१. ना० प्र०—वणिज । २. ना० प्र०—ताकूँ मिल्या । ३. ना० प्र०—ताथैं । ४. तिवारी—मंदरिया ।

ऊभर था सो सूभर भरिया, त्रिसनां गागरि फूटी।*
कांम चोलना भया पुरांनां, गया[1] भरम सभ छूटी।
जे बहु रूप किए ते कीए, अब बहु रूप न होई।
थाकी सौंज संग के बिछुरे, रांम नांम मसि[2] धोई।
जे थे सचल अचल ह्वै थाके, चूके वाद विवादा[3]।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, भया रांम परसादा[4]॥

शब्दार्थ—मदला=मृदग की जाति का एक ताल-वाद्य, मर्दल। ऊभर=उभरा हुआ, खाली। सूभर=(स० शुभ्र) अच्छी तरह से भरा हुआ। त्रिसना=तृष्णा। चोलना=चोला. एक प्रकार का बहुत लम्बा और ढीला कुरता जिसे प्राय. साधु पहनते है। सौंज=सामग्री। परसादा=प्रसाद, अनुग्रह। संग के=साथ वाले, विपय-वासना।

संदर्भ—इस पद मे वताया गया है कि साधना से सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और पुनर्जन्म नही होता।

व्याख्या—कबीर कहते है कि अब मेरे जीवन की नृत्य-क्रिया समाप्त हो गई है तथा मैं जिस ताल पर नाचता था, उसका भी बजना बंद हो गया है। यहाँ 'नाचिबो, शब्द मे दो तथ्यो की व्यजना निहित है—(१) भिन्न-भिन्न रूपो या वेषों मे प्रदर्शन और (२) गतिशीलता। जीव का ससरण उसकी गतिशीलता है और भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रकट होना ही प्रदर्शन है। कबीर कहते हैं कि अब मैं उस अवस्था मे पहुँच गया हूँ जब कि मेरा भिन्न-भिन्न रूपो मे ससरण नही होगा। जब तृष्णा का क्षय हो जाता है, तब सस्कारो का वह आवेग ही समाप्त हो जाता है जिसके कारण मनुष्य ससार मे जन्म लेता है। तृष्णा का संस्कार ही वह ताल-वाद्य है जिसके अनुसार जीव-नाचता रहता है।

कबीर पुनः कहते हैं कि मेरा जीवन-घट जो पहले भक्ति-जल से रिक्त था, वह अब उससे पूर्ण रूप से भर गया है और तृष्णा का क्षय हो गया है। जिस काम-वस्त्र से मैं आवृत का, वह अब जीर्ण-शीर्ण हो गया है और समस्त अविद्या समाप्त हो गई है।

जीवात्मा का नाना रूपों को धारण करके संसरण करना समाप्त हो गया है। अब वह भिन्न-भिन्न रूपो मे नही आएगा। अब मुक्ति प्राप्त हो गई है। मूल पच-

---

*. इसके बाद ना० प्र० की प्रति में निम्नलिखित दो पक्तियाँ और है :—
हरि चिंतत मेरो मंदला भीनौं, भरम भीयन गयौ छूटी।
ब्रह्म अगनि मैं जरी जु ममिता, पाषंड अरु अभिमाना।।

१. ना० प्र०—मोपै होइ न आना। २. तिवारी-वसि होई। ३. ना० प्र०—विवादं। ४. ना० प्र०—परसादं।

क्लेश अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (आकृति धारण करने का आग्रह) तथा उनसे प्रवर्तित कर्म-संस्कार नष्ट हो गए है और विषय-वासना की आसक्ति छूट गई है। राम नाम ने मेरे जीवन के समस्त कालुष्य धो डाले। चित्त की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ और वासनाएँ जो निरन्तर एक-दूसरे के बाद उठती रहती थी, वे सब निश्चल और शान्त हो गई है और परमार्थ के सम्बन्ध मे जो मत-मतान्तर, वाद-विवाद उठता रहता था, वह भी समाप्त हो गया। कबीर कहते है कि प्रभु का अनुग्रह हो गया और अब मै 'पूर्ण' से संलग्न हो गया हूँ।

तुलनीय—

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना कंठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत निंदा सबद रसाल।
भ्रम भोयो मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल॥
तृष्ना नाद करति घट भीतर नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेटा बाँध्यौ लोभ तिलक दियौ भाल॥
कोटिक कला काछि दिखराई जलथल सुधि नहि काल।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नन्दलाल॥

—सूरदास

अलंकार—(१) साग रूपक।
(२) अचल-सचल—विरोधाभास।

राग—सोरठ।

(१६)

अब मोहि रांम भरोसा तोरा[1]।
तब काहू का कवन निहोरा[2]॥ टेक॥
जाके हरि[3] सा ठाकुर भाई, सो कत[4] अनत पुकारन जाई।
तीनि[5] लोक जाकै हहि भारा, सो काहे[6] न करै प्रतिपारा।
कहै कबीर सेवौ बनवारी, सींचौ पेड़ पिवैं[7] सब डारी॥

शब्दार्थ—निहोरा=मनुहार, अनुनय, निवेदन। अनत=अन्यत्र। ठाकुर (सं० ठक्कर.) स्वामी। कत=क्यो। हरि=(हरति दुःखानि इति हरिः), दुःखो का हरण करने वाला। हहि=है। प्रतिपारा=प्रतिपालन, रक्षा।

---

१. ना० प्र०-तेरा, गुप्त-तोगै। २. गुप्त-और कौन कौं करौं निहोरौं। ३. ना० प्र०, गुप्त-राम सरीखा साहिब भाई। ४. ना० प्र०, गुप्त-क्यूँ। ५. ना० प्र०, गुप्त-जा सिरि तीन लोक कौ भारा। ६. ना० प्र०, गुप्त-क्यूँ न करे जन की प्रतिपारा। ७. ना० प्र०, गुप्त-पीवैं।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैं चारो ओर से भटककर और निराश होकर अब आपकी शरण में आया हूँ। मुझे अब केवल आपका भरोसा है। तब फिर किसी दूसरे की मनुहार क्यो करूँ ? हे भाई ! जिसका स्वामी हरि (दु.खो का हरण करने वाला) हो, वह अन्यत्र क्यो जाने लगा ? जिसने तीनो लोकों की रक्षा का भार अपने ऊपर ले रखा है, वह भला मेरा प्रतिपालन क्यो न करेगा ? कबीर कहते हैं कि कि वनमाली (प्रभु) की सेवा करो। उनकी सेवा पेड सीचने के समान है। जैसे वृक्ष की जड सीचने से जल का प्रभाव सभी शाखाओ मे पहुँच जाता है, उसी प्रकार केवल एक वनमाली (प्रभु) की सेवा करने से सभी देवी-देवता स्वत तृप्त हो जाएँगे।

अतिम पंक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—जैसे पेड़ की जड सीचने से शाखाएँ भी सिंच जाती है, वैसे ही प्रभु की सेवा से अन्य सभी कामनाएँ स्वत. पूर्ण हो जाती है।

अलंकार—(१) सो कत अनत पुकारन जाई—वक्रोक्ति।
(२) सीचौ पेड पिवै सब डारी—दृष्टान्त।
(३) 'हरि' शब्द में परिकराकुर।

तुलनीय—एक भरोसो एक वल, एक आस विस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥

—तुलसीदास

राग—गौरी।

(१७)

अब मोहि ले चल ननद[1] के बीर अपने देसा।
इन पंचनि मिली लूटी हूँ, कुसंग आहि विदेसा[2] ॥ टेक ॥
गंग तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहानाँ।
सातौ बिरही मेरे नीपजै, पंचू मोर किसानाँ।
कहै कबीर यह अकथ कथा है, कहताँ कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहे समाई ॥

शब्दार्थ—ननद=(प्र० अ०) माया। वीर=भाई। ननद के वीर=ब्रह्म रूपी पति। विदेसा=(प्र० अ०) संसार। गंग=(प्र० अ०) इडा। जमुन=(प्र० अ०) पिंगला। विरही (स० व्रीहि)=अन्न। सातौ विरही=ज्ञान की सात भूमियाँ। नीपजै=उत्पन्न होता है। पचू=पाँचो यम (अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह)। भाइ=भाव से। रमि=रत होकर। समाई=मिल गए।

---

१. ना० प्र०–चलि नणद। २. ना० प्र०–वदेसा।

संदर्भ—इस पद मे वताया गया है कि जो प्राणी इस ससार मे आव्यात्मिक खेती करते है, वे ही ज्ञान प्राप्त कर प्रभु से तादात्म्य स्थापित कर सकते है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि हे ननद रूपी माया के भाई अर्थात् ब्रह्म ! अव तुम मुझे अपने देश ले चलो। इस ससार रूपी विदेश मे मैं कुसंग मे पड़ गई हूँ और काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह ने मिलकर मेरी आव्यात्मिक सम्पत्ति लूट ली है। मैं पतित हो गई हूँ।

गुरुकृपा से मैंने इस संसार मे आध्यात्मिक खेती प्रारम्भ की। इड़ा रूपी गंगा के निकट मेरी खेती है, पिंगला रूपी यमुना के निकट मेरा खलिहान है। मेरे जीवन-क्षेत्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य रूपी पाँच किसान हैं। इनके द्वारा सात प्रकार के अन्न पैदा होते हैं अर्थात् ज्ञान की सातो भूमियाँ सिद्ध हो गई है। कवीर कहते है कि साधना के इस मार्ग का वर्णन सम्भव नही; उसको कहते नही वनता। जिसके भीतर यह ज्ञान सहज-भाव से उत्पन्न हो जाता है अथवा जो सहजावस्था को प्राप्त हो जाता है, वह राम मे समा जाता है अर्थात् उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

टिप्पणी—योगवाशिष्ठ मे ज्ञान अथवा योग की सात भूमियाँ इस प्रकार वताई गई है—

ज्ञानभूमि· शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽससक्तिनामिका।
परार्थभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥

(१) शुभेच्छा—परम तत्त्व की इच्छा।
(२) विचारणा—गुरु दया प्राप्त उपदेश का मनन।
(३) तनुमानसा—मन का क्षीण होना।
(४) सत्त्वापत्ति—सत्त्व की सम्यक् अवस्था।
(५) असंसक्ति—विषयो से आसक्ति का हट जाना।
(६) परार्थभाविनी—परब्रह्म की भावना करने वाली अवस्था।
(७) तुर्यगा—तुरीयावस्था या ब्रह्मावस्था।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(१८)

अव हम जानिया हो, हरि वाजी का खेल।
डंक वजाय देखाय तमासा, वहुरि सो[1] लेत सकेल[2]॥

---

१. गुक -कैं २. शुक०-सकेला

हरिबाजी सुर नर मुनि जहंडे, माया[1] चाटक लाया।
घर में डारि सकल भरमाया, हृदया ज्ञान न आया।
बाजी झूँठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी।
कहँ कबीर जिन जैसी समुझी, ताकी गति[2] भई तैसी ॥

शब्दार्थ—हरिबाजी = प्रभु की माया। डक = डंका, नगाडा। सकेल = समेट लेना। घर = (प्र० अ०) देह। जहडे = ठगे गए, धोखे में पड गए। चाटक = जादू।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि जो माया के रहस्य को समझ लेते लेते है, वे मुक्त हो जाते है, अन्यथा आवागमन मे फँसे रहते है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हमने अच्छी प्रकार समझ लिया है कि ससार प्रभु की माया का खेल है। जिस प्रकार बाजीगर डका बजाकर तमाशा दिखाकर सारी सामग्री समेट लेता है, वैसे ही प्रभु पूरे ससार को अपने मे समेट लेते है। प्रभु की माया के खेल से देवता, मनुष्य, मुनि सभी ठगे जाते है। माया ने जादू का खेल पसारा है। उसने सभी मे देहाभिमान उत्पन्न करके सबको भ्रम मे डाल दिया है। किसी के हृदय मे यह ज्ञान नही हुआ कि हम आत्मा है, देह नही। सतो का यह विश्वास है कि जिस प्रकार बाजीगर सत्य होता है, उसका खेल भ्रम-मात्र होता है, वैसे ही ईश्वर सत्य है, उसका यह खेल (ससार) मिथ्या है। कबीर कहते है कि जिन्होने ससार को जैसा समझा है, उनको वैसी ही गति प्राप्त होती है। जो आत्मा को ससार से अलग समझ लेते है, वे मुक्त हो जाते है, जो देहाभिमान से अलग नही हो पाते, वे जन्म-मरण के चक्कर मे पडे रहते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(१९)

अब हम भयल बाहिरि[3] जल मीना, पुरब[4] जनम तप का मद कीना।
तब मैं अछलो मन बैरागी, तजलो कुटुम राम रट लागी[5]।
तजलो कासी मति भइ भोरी, प्राननाथ कहु का[6] गति मोरी।
हमहि कुसेवक कि तुमहि अयाना, दुइमा दोष काहि भगवाना।
हम चलि अइलों[7] तुहरे सरना, कतहुँ न देखौं हरि के चरना।
हम चलि[8] अइलो तुहरे पासा, दास कबीर भल कीन्ह[9] निरासा ॥

शब्दार्थ—मद = गर्व। अछलो = था। अयाना = अजान।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे एक भक्त का प्रभु के प्रति आर्त निवेदन है।

---

१. वि०–माये २ शुक०–मति। ३. शुक०–बहुरि। ४ शुक०–पूर्व जन्म। ५ वि०–लोग कुटुम राम लागी। ६ शुक०–कया ७. शुक०–अयल तुम्हारे ८ शुक०–अइल तुम्हारे। ९ वि०–कहल।

व्याख्या—वह कहता है कि हे प्रभु ! पूर्व जन्म मे मुझे अपने तप का गर्व था, किन्तु आप से साक्षात्कार न हो सका। अब आपके वियोग मे मेरी वही दशा हो रही है जैसे जल के बाहर आने पर मछली छटपटाती है। पहले मैं मन से वैरागी था, राम की उपासना मे मैंने घर-परिवार का परित्याग कर दिया था। मैंने अपनी मूर्खता मे काशी छोड़ दिया। मेरी साधना पूरी नही हुई। हे प्राणनाथ ! कहो मेरी क्या दशा होगी ? आप से मेरा मिलन अब भी संभव नही हो रहा है। या तो मेरी सेवा सच्ची नही है अथवा आप मेरी सेवा पर ध्यान नही देते। हे भगवान् ! दो मे मैं किसे दोष दूँ ? अब मैं पूर्ण रूप से आपकी शरण मे आ गया हूँ। फिर भी आपके चरणो का दर्शन नही होता है। हम आपकी शरण में आ गए, फिर भी आपने इस दास को निराश किया।

(२०)

अब हम सकल कुसल करि मांनां।
सांति[1] भई जब गोविंद[2] जांनां ॥ टेक ॥
तन महिं[3] होती कोटि उपाधि, उलटि भई सुख-सहज समाधि।
जब तैं[4] उलटि भया है[5] राम, दुख बिनसे[6] सुख किया बिसरांम।
वैरी उलटि भए हैं मीता, साकत उलटि सजन भए चीता ॥
आपा जांनि उलटिलें आप, तौ नहिं व्यापै तीन्यूँ ताप।
अब मन उलटि सनातन हूवा, तब[7] जांनां जब जीवत मूवा ॥
कहै कबीर सुख सहजि समावउँ,[8] आप न डरउँ न और[9] डरावउँ ॥

शब्दार्थ—उपाधि=कष्ट। सहज=स्वाभाविक। बिसराम=शांति। चीता= चित्त। आपा=आत्मा। तीन्यूँ ताप=त्रिताप (दैहिक, दैविक, भौतिक) सहजि= स्वाभाविक रूप से विद्यमान प्रभु मे।

संदर्भ—इस पद में कबीर अन्तरात्मा के साथ तादात्म्य होने पर और अहंता की समाप्ति पर जो अवस्था आती है, उसका वर्णन किया है।

व्याख्या—कबीरदास कहते है कि जब मैंने भक्ति के द्वारा प्रभु का साक्षात्कार कर लिया, तब मुझे पूर्ण शांति मिल गई और पूर्ण रूप से यह प्रतीति हो गई कि अब मेरा कल्याण होगा। जब तक मेरा शरीर मे तादात्म्य था, तब तक मैं नाना प्रकार के शारीरिक कष्टों का अनुभव करता था। अब मेरा चित्त अन्तर्मुखी होकर सहज मे एकाग्र हो गया है और उसके आनंद का अनुभव कर रहा है। शरीर से तादात्म्य होने

१. ना० प्र०—स्यौंति। २. ना० प्र०—गोव्यंद। ३. ना० प्र०—मैं। ४. ना० प्र०—थें। ५. ना० प्र०—भये है। ६. ना० प्र०—बिसर्‌या। ७. ना० प्र०—तब मन जांना जीवत मूवा। ८. ना० प्र०—समाऊँ। ९. ना० प्र०—डराऊँ।

के कारण अभी तक मुझे मृत्यु का भय था, किन्तु अब अन्तरात्मा रूपी प्रभु से युक्त हो जाने पर मृत्यु-भय जाता रहा, क्योकि आत्मा अमर है। अब सारे दुःख नष्ट हो गए है और पूर्ण सुख तथा शांति प्राप्त हो गई है। अब ससार मे मेरा कोई विपक्षी नही रहा, क्योकि सभी आत्मवत् प्रिय हो गए है। शाक्त जो पहले मुझे दुर्जन प्रतीत होते थे, अब वे मेरे चित्त मे सज्जनवत् ही प्रतीत होते है। मेरा आपा (अहंता) उलट गया है अर्थात् मेरे मे पहले जो शरीर, मन, बुद्धि मे तादात्म्य-भाव था, वह उलटकर अन्तरात्मा मे हो गया है। अतएव अब मेरे भीतर तीनो तापो (दैहिक, दैविक, भौतिक) का प्रभाव नही रहा। मन मरने पर ही सनातन होता है अर्थात् जब वह अन्तरात्मा रूपी शाश्वत तत्व मे युक्त हो जाता है, तब उसकी मरणशीलता समाप्त हो जाती है और तब जीवन्मुक्ति की अनुभूति हो जाती है। कबीर कहते है कि मैं अन्तस् मे सहज रूप से विद्यमान आत्मा के शाश्वत आनंद मे लीन हो गया हूँ। संसार में जो कुछ भय होता है, वह द्वैत से होता है। अद्वैत के अनुभव के फलस्वरूप न मेरा कोई विपक्षी रह गया है और न मैं किसी का विपक्षी हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीता मे भी कहा गया है —

> नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावक.।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
> अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
> नित्य सर्वगतः स्थाणुरचलोऽय सनातन. ॥२४॥
>
> (अध्याय २)

अलंकार—(१) आपा जानि उलटिलै आप—यमक।
(२) जीवत मूवा—विरोधाभास।

राग—गौरी।

(२१)

अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं,
प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ॥ टेक ॥
जरै सरीर अंग नहिं[1] मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं।
चिंतामणि[2] क्यूं पाइए ठोली, मन दे रांम लियौ निरमोली।
ब्रह्मा खोजत जनम गवांयौ, सोई रांम घट भीतरि[3] पायौ।
कहैं कबीर छूटी सब आसा मिल्यौं राम उपज्यौ बिसवासा ॥

शब्दार्थ—हूँ=मैंने। भीनौ=भीग गया। ठोली=सरलतापूर्वक। निरमोली=अमूल्य। आसा=तृष्णा। बिसवासा=निष्ठा।

---

१. ना० प्र०—नाहीं। २. ना० प्र०—च्यतामणि। ३. ना प्र०—भीतरी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में बताया गया है कि इस शरीर में ही विद्यमान प्रभु का साक्षात्कार प्रेम से किया जा सकता है ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि अब मैंने प्रभु को अपने प्रेम से अपना लिया है । मेरा मन प्रेम रूपी भक्ति में भींग गया है । यह शरीर विरह में जल रहा है, फिर भी मैं अंग नहीं मोड़ता । मेरे प्राण भले ही चले जायँ, किन्तु मैं अपना प्रेम नहीं छोड़ सकता । भगवान् रूपी चिंतामणि को सरलतापूर्वक नहीं प्राप्त किया जा सकता । अपना चित्त समर्पित करके ही मैंने अमूल्य राम को प्राप्त किया है । जिस प्रभु को खोजने में ब्रह्मा ने अपना सारा जीवन गँवा दिया, उसी राम को मैंने अपने शरीर के भीतर ही पा लिया है । कबीर कहते हैं कि अब सम्पूर्ण तृष्णा नष्ट हो गई है । राम का साक्षात्कार हो गया है और उनमें मेरी पूरी निष्ठा हो गई है ।

टिप्पणी—चिंतामणि—यह मणि जिसके पास होती है, उसके ध्यान करने से ही समस्त कामनाएँ पूरी हो जाती हैं ।

तुलनीय—माई म्हें गोविन्द लीनी मोल ।

कोई कहै सस्तो, कोई कहै महँगो, लीनी तराजू तोल ॥
कोई कहै घर मे, कोई कहै बन मे, राधा के संग किलोल ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, आवत प्रेम के मोल ॥

—मीराबाई

अलंकार—चिंतामणि क्यूँ पाइए ठोली—वक्रोक्ति ।
राग—भैरवी ।

(२२)

अविनासी दुलहा कब मिलिहौं, सभ संतन के प्रतिपाल ॥ टेक ॥
जल उपजी जल ही सौं नेहा, रटत पियास पियास ।
मैं बिरहिनि ठाढ़ी मग जोऊँ, राम तुम्हारी आस ।
छाड़्यौ गेह नेह लगि तुमसे, भई चरन लौलीन ।
तालाबेलि होत घट भीतर, जैसे जल बिनु मीन ।
दिवस न भूख रैनि नहिं निद्रा, घर अंगना न सुहाइ ।
सेजरिया बैरिनि भई मोकौं, जागत रैनि बिहाइ ,
मैं तो तुम्हारी दासी हो सजनां, तुम हमरै भरतार ।
दीनदयाल दया करि आवौ, समरथ सिरजनहार ।
कै हम प्रांन तजत हैं प्यारे, कै अपनी करि लेहु ।
दास कबीर बिरह अति बाढ़्यौ, अब तौ दरसन देहु ।

शब्दार्थ—प्रतिपाल=रक्षक। जोऊँ=प्रतीक्षा करना। लौलीन=अनुरक्त, ध्यानमग्न। तालावेलि=छटपटाहट, तड़पन, व्याकुलता। सेजरिया=शय्या। विहाइ=बीतती है। सजना=स्वजन, प्रियतम, भर्ता। कै=या तो।

व्याख्या—प्रस्तुत पद में वियोगिनी नारी के रूपक द्वारा कबीर कहते हैं कि हे सब संतो के रक्षक अविनश्वर प्रियतम! तुम कब मिलोगे? हे परमात्मन्! यद्यपि जीव तुम्हारा ही अंश है और तुमसे ही उत्पन्न हुआ है तथापि अज्ञानवश अपने को तुमसे वियुक्त समझता हुआ वह दुःख का अनुभव करता है। हे प्रभु! तुमसे मिलने की आशा में मैं वियोगिनी खड़ी-खड़ी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ। तुम्हारे प्रेम-बंधन में पड़कर मैंने सांसारिक सम्बंधों का त्याग कर दिया है और तुम्हारे चरणों में मेरा मन अनुरक्त हो गया है। जैसे जल के अभाव में मछली छटपटाती है, उसी प्रकार मेरे भीतर तुम्हारे बिना तड़पन हो रही है। तुम्हारे वियोग में मुझे न तो दिन में खाना अच्छा लगता है और न रात में नींद आती है। यही नहीं, अपना ही घर-आँगन परदेस-सा लगता है। तुम्हारे वियोग में मेरे लिए शय्या भी दुःखदायी हो गई है और रात जागते-जागते बीतती है। हे प्रियतम! तुम मेरे भर्त्ता हो और मैं तुम्हारी दासी हूँ। हे स्रष्टा! इस विरह को मिटाने में तुम्हीं समर्थ हो। तुम दीन दयालु हो। अतः अनुग्रह करके दर्शन दो। या तो तुम मुझे अपनी बना लो, अन्यथा मैं अपने प्राण तज दूँगी। कबीर कहते हैं कि अब विरह अत्यधिक बढ़ गया है। उनकी व्यथा असह्य हो गई है। अतः अब तो कृपा करके दर्शन दो।

अलंकार—(१) जल उपजी जल ही सो ......विरोधाभास।
(२) जैसे जल बिनु मीन ... ...उपमा।

राग—काफी

(२१)

अल्लह रांम जिऊँ तेरै[१] नांईं।
वंदै[२] ऊपरि मिहरि करौ मेरे सांईं॥ टेक॥
क्या लै मूड़ी[३] भुइं[४] सौं मारैं, क्या जल देह न्हवाएं।
खून[५] करै मिसकीन कहावै[६], अवगुन[७] रहै छिपाएं।
क्या ऊजू[८] जप मंजन कीए, क्या मसीति[९] सिरुनाएं।
दिल[१०] महिं कपट निवाज गुजारै, क्या हज कावै[११] जाएं।

---

१. वि०-जिवो तेरि। २. वि०-जन पर मेहर होहु तुम साँई। ३. ना० प्र०-माटी। ४ वि०-भूमी सिर नाए। ५. ना० प्र०-जोर। ६. ना० प्र०-सतावै। ७. तिवारी, ना० प्र०-गुन ही। ८ ना० प्र०-तू जू। ९. वि०-महजिद। १०. ना० प्र०-रोजा धरै। ११. वि०-मका।

वाह्मन[1] ग्यारसि करै चौबीसौं, काजी मांह[2] रमजांना।
ग्यारह मास कहौ[3] क्यूं खाली, एकहि मांहि नियांना[4]।
जौ रे खुदाइ मसीति वसतु है, और मुलुक किस[5] केरा।
तीरथि मूरति रांम निवासी, दुहु मंहि किनहु न हेरा।
पूरब दिसा हरी का वासा, पच्छिमि अलह मुकांमा।
दिल मंहि[6] खोजि, दिलै दिलि खोजहु[7], इहंई[8] रहीमां[9] रामां।
जेते औरति मरद [10]उपानें, सो सभ रूप तुम्हारा।
कबीर पुंगरा अलह राम का, सोइ गुर पीर हमारा॥

शब्दार्थ—जिऊं=जी रहा हूँ। नाइं=नाम से। मिहरि (फा०-मिह्र)=दया, कृपा। बंदे=दास। मूंडी=सिर। भुइं=पृथ्वी, भूमि। मिसकीन (अ०)=दीन, विनम्र। अवगुन=पाप, अपराध। ऊजू (अ०-वज़ू)=नमाज़ के पहले हाथ-पैर, मुँह धोना। मसीति=मस्जिद। निवाज (फा०)=नमाज़। गुजारै (फा०-गुज़ारिश)=निवेदन करता है। हज (अ०)=मक्के की तीर्थ-यात्रा। काबा (अ०-काबः)=मक्के मे पवित्र स्थान जिसे मुसलमान ईश्वर का घर समझते है और जहाँ हज करने जाते है। मंजन=मज्जन, स्नान करना। रहीम=दयालु, कृपालु, ईश्वर। ग्यारसि=एकादशी। रमजांनां=(अ०-रमजान) मुसलमानी नवाँ महीना, जिसमें मुसलमान दिन भर रोज़ा रखते है और रात को तरावीह (नमाज) पढते है। इस महीने मे वे पूरा कुरान सुनते है। नियांनां=समा गया। उपाने=उत्पन्न किए। पुंगरा (सं० पौगण्ड) ५ से १० वर्ष की आयु का बालक। पीर (फा०)=धर्मगुरु।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों मे व्याप्त बाह्याचार को भ्रम बताया है और कहा है कि ईश्वर का वास घट मे ही है। उसे वही खोजना चाहिए, मन्दिर या मस्जिद मे नही।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे अल्लाह! हे राम! मैं तुम्हारा नाम स्मरण करके जीवित हूँ। हे मेरे स्वामी! अपने सेवक पर दया कीजिए।

बाह्याचार का खण्डन करते हुए वह कहते है कि नमाज के समय जमीन मे झुककर सिर लगाने (सिज्दः करने) अथवा मदिर मे देवता के सामने पृथ्वी पर माथा टेकने से क्या लाभ? पवित्रता की दृष्टि से शरीर को जल से स्वच्छ करने से भी क्या लाभ? हिन्दू-मुस्लिम दोनो मतावलम्बी अपने पाप को छिपाने के लिए धर्म

---

१. वि०-हिन्दू एकादसि करै चौबीसौं, रोजा मूसलमाना। २ ना० प्र०-महरम जांन। ३ वि०-कहो किन टरे, ना० प्र०-जुदे क्यूं कीए। ४. ना० प्र०-समांन। ५. वि०-केहि। ६. ना० प्र०-ही। ७. ना० प्र०-भीतरि। ८. ना० प्र०-तहाँ रांम रहिमांना। ९. वि०-करीमा। १०. ना० प्र०-मरदा कहिये।

के नाम पर जीवो का वध करते है और अपने को 'दीन' बतलाते है। वज़ू करने से, जप से और तीर्थादि मे स्नान करने से क्या लाभ ? मस्जिद मे सिर झुकाने से भी क्या लाभ हो सकता है ? हृदय मे कपट भरा रहता है और प्रभु के लिए नमाज पढता है। ऐसी नमाज से क्या लाभ ? और हज के लिए काबा जाने से भी क्या लाभ हो सकता है ? ब्राह्मण (हिन्दू) वर्ष भर मे चौबीसो एकादशी का व्रत रखते है और काजी (मुसलमान) रमजान के महीने मे रोजा रखते है। कबीर पूछते है कि वर्ष के ग्यारह महीने कोई व्रत नही रखते। क्या पूरा वर्ष एक ही महीने मे सिमट कर आ जाता है ? यदि ईश्वर का वास केवल मस्जिद मे है तो क्या अन्य स्थान प्रभु से रिक्त है ? प्रभु का वास तीर्थो और मूर्तियो मे ही माना जाता है। लेकिन इन दोनो स्थानो मे प्रभु को कोई नही खोज सका है।

हिन्दू ईश्वर को पूर्व दिशा की ओर विद्यमान मानकर पूजा करते है और मुसलमान अल्लाह को पश्चिम की ओर विद्यमान समझ कर नमाज पढते है। कबीर कहते है कि दोनो भ्रम मे है। वास्तव में प्रभु का वास मंदिर-मस्जिद, पूर्व-पश्चिम कही नही है। वह घट-घट वासी है। उसे वही खोजो। राम-रहीम वही मिलेगे।

ससार मे जितने नर-नारी उत्पन्न हुए है, वे सभी आपके ही रूप है। कबीर अल्लाह और राम दोनो का ही बच्चा है और वही कबीर का पीर भी है और गुरु भी।

अलंकार—वक्रोक्ति।

राग—आसावरी।

(२४)

अलह लौ[1] लाएँ काहे न रहिए।
अहनिसि केवल रांम नांम कहिए॥ टेक॥
गुरुमुखि कलमां ग्यांन मुखि छूरी, हुई हलाल पचूँ पूरी।
मन मसीति मैं किनहूँ न जांनां, पंच पीर मालिम भगवाना।
कहै कबीर मै हरि गुन गाऊँ, हिन्दू तुरुक दोऊ समझाऊँ॥

शब्दार्थ—लौ=लगन। अहनिसि=दिनरात। कलमाँ (अ०)=मूल मंत्र। मैं=में। हलाल=विहित वध। पँचू पूरी=पाँचो इन्द्रियाँ। मसीति=मस्जिद। पीर=धर्मगुरु। मालिम (अ०-मुअल्लिम)=ज्ञान देने वाला।

संदर्भ– प्रस्तुत पद मे बाह्याचार को छोडकर, भगवद्भक्ति करने का उपदेश दिया गया है।

---

१. ना० प्र०-ल्यौ।

व्याख्या—कबीर मनुष्यो को उपदेश देते हुए कहते हैं कि भगवान् से लगन क्यों नही लगाए रहते हो ? दिन-रात राम-राम कहते रहो। गुरु का उपदेश मूलमंत्र है और ज्ञान वह छुरी है जिसके द्वारा विषयोन्मुख पाँचों इन्द्रियो का विहित वध किया जा सकता है। यह कोई नही जानता कि मनरूपी मस्जिद में धर्मगुरुओ को भी ज्ञान देने वाले भगवान् विद्यमान हैं। कबीर कहते है कि मैं प्रभु की भक्ति करता हूँ और हिन्दू-मुसलमान दोनो को इसी मार्ग को अपनाने का उपदेश देता रहता हूँ। वाह्याचार व्यर्थ हैं।

अलकार—रूपक ।

राग—आसावरी ।

(२५)

अवधू ऐसा ग्यान बिचारं।
भेरैं चढ़े सो[1] अधधर डूबे, निराधार भए पारं ॥ टेक ॥
अघटि चले सो[2] नगरि पहूँते, बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटाँने, के बांधे के छूटे ॥
मंदिर पैसि चहूँ दिसि भोगे, बाहरि रहे ते सूषा।[3]
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा ॥
बिन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यहु जग देखा[4] धंधा ॥

शब्दार्थ—भेरै = बेड़ा, नौका। अधधर = एकदम नीचे। अघटि = अवघट, विकट मार्ग। पहूँते = पहुँचे। बाट = मार्ग,। जेवड़ी = रस्सी, (प्र० अ०) माया। सरि = बाण। दूषा = दुःख। अछते = रहते हुए। धंधा = प्रपंच का चक्कर।

संदर्भ—बाह्य आचार पकड़कर मनुष्य तत्त्व को नही ग्रहण कर सकता है। सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग से ही तत्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि ऐसा ज्ञान विचार योग्य है। जो लोग प्रचलित वाह्य साधनाओ की नौका पर चढ़ते हैं, वे अपने लक्ष्य तक नही पहुँच पाते। वे भवसागर में डूब जाते हैं। जो इन वाह्य आचारो को छोड़ देते है, वही पार लग पाते हैं। जो लोग रूढ़ मार्ग पर चलते हैं, वे बीच-मार्ग मे लूट लिए जाते है—ज्ञान से भी वचित होते है और तथाकथित गुरुवा लोग भी लूटते हैं। किन्तु जो लोग साधन के विकट मार्ग से चलते है, वे अपने गन्तव्य लक्ष्य तक पहुँच जाते है। सामान्यतः सभी लोग एक ही माया-रज्जु से बँधे है। फिर किसे वद्ध कहें, किसे

---

१. ना० प्र०–सु। २. ना० प्र०–सु। ३. ना० प्र०–सूका। ४. ना० प्र०–देख्या।

मुक्त ? जो लोग बाह्याचार के मदिर मे शरण लेते है, वे कोष्ठ मे ही रहते है। किन्तु जो बाह्याचारो से अलग रहते है, वे विपयो के रस से असम्पृक्त रहते है। जो सद्गुरुके उपदेश रूपी बाण से विद्ध है, वे सुख का अनुभव करते है, किन्तु जो गुरु-उपदेश से वञ्चित है, वे दुःखी रहते है। जो वाहरी नेत्रो से रहित हो गए है अर्थात् विपयो से पृथक् हो गए है, वे तत्व को जानते है। किन्तु जिनकी प्रवृत्ति केवल विपयो तक सीमित है, जो केवल पराङ्मुख है, वे नेत्र रहते हुए भी अंधे है अर्थात् वे तत्व को नही जानते है। कबीर कहते है कि अपने जीवन मे मैंने यही अनुभव किया है कि यह ससार प्रपच मात्र है।

अलंकार--(१) विरोधाभास।
(२) अनमारे तेदूषा—विभावना।
(३) लोचन अछते अधा—विशेषोक्ति।

राग—रामकली।

(२६)

अवधू ऐसा ग्यांन बिचारी।
तातैं[1] भई पुरिख तैं[2] नारी॥ टेक॥
नां हूँ परनी ना हूँ क्वांरी, पूत जनमांवनहारी[3]।
कारे मूंड कौ एक न छांड्यौ, अजहूँ अकन कुंवारी।
बांह्मन कै घरि बांह्मनि[4] होती, जोगी कै घरि चेली।
कलमां पढ़ि पढ़ि भई तुरकिनी, अजहूँ[5] फिरौ अकेली।
पीहर जाउं न रहूँ सासुरै, पुरखहि संग न लाऊँ।
कहै कबीर मैं[6] जुग जुग जीऊँ, अंगहि अंग न छुवाऊँ॥

शब्दार्थ—पुरिख=चैतन्य पुरुप। नारी=(प्र० अ०) माया। परनी=परिणीता, विवाहिता। अकन=अंक से, चिन्ह से। कारे=अंधकारपूर्ण। मूंड=मूढ। कलमा (अ०-कलिम) वह वाक्य जो मुस्लिम धर्म का मूलमत्र है। पीहर=पितृगृह।

सदर्भ=प्रस्तुत पद मे माया के स्वरूप का वर्णन करते हुए कबीर ने वताया है कि वह किसी के वश मे नही रहती, किन्तु सभी को अपने वश मे रखती है।

व्याख्या—हे अवधू! इस अद्भुत ज्ञान पर विचार करो जिसके द्वारा यह स्पष्ट हो जाय कि चैतन्य पुरुष से माया रूपी नारी कैसे प्रकट हुई ?

---

१. ना० प्र०-ताथैं। २ ना० प्र०-थैं। ३. ना० प्र०-जन्यूँ यौ हारी। ४. ना० प्र०-बम्हनेटी कहियौं। ५. तिवारी—कलि महिं। ६. ना० प्र०-सुनहुरे संतौ।

माया कहती है कि मैं न तो परिणीता हूँ और न कुमारी, फिर भी मैं जीवो के आविर्भाव की कारण हूँ। तात्पर्य यह है कि माया ब्रह्म की शक्तिमात्र है। चैतन्य उसके वश मे नही होता, माया उसके वश मे रहती है। चैतन्य उसने आकृष्ट नही है, अत वह विवाहिता नही है। कुमारी वह होती है, जो किसी को जन्म नहीं देती। माया सभी जीवो के जन्म का कारण है। अत. वह कुमारी नही है। माया ही प्रकृति है—मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् (श्वेता० ४।१०) अर्थात् माया को प्रकृति जानो और महेश्वर माया को वश मे रखनेवाला पुरुष (मायी) है। सूक्ष्म और स्थूल दोनो शरीर प्रकृति से बनते हैं। अत वह जीवो के जन्म का कारण है।

अपनी मोहिनी शक्ति से मैं सभी अज्ञानियो को आकृष्ट करती हूँ। फिर भी मेरे में सभी चिह्न कुमारी के ही विद्यमान है अर्थात् मैं किसी के वश में नही रहती। मेरी आकर्षण शक्ति नारी का रूप धारण करती है। अत. बडे-बड़े विद्वान् ब्राह्मणो की पत्नी बनती हूँ, योगियो की चेलिन बनती हूँ और यद्यपि मुझे बचपन से ही कलमा पढ़ाया जाता है, फिर भी अपनी आकर्षण-शक्ति से बड़े-बडे मौलवियों की पत्नी (तुरकिनी) बनती हूँ। ब्राह्मण, योगी और मौलवी सभी धर्माचार्यों को वश मे रखते हुए भी मैं सदा स्वतन्त्र विचरती हूँ।

मैं विवाहिता नही हूँ अर्थात् किसी एक की होकर नही रहती। अत मेरा न कोई नैहर है और न ससुराल। मैं किसी पुरुष की संगिनी बनकर नही रहती। मैं अजर हूँ, प्रत्येक युग मे सदा रहती हूँ। परन्तु किसी पुरुष की भोग्या नही बनती। केवल अपनी मोहिनी शक्ति से पुरुष को भोग के लिए विवश करती हूँ।

अलंकार—(१) पूरे पद में मानवीकरण।
(२) कारे मूंड ....कुंवारी-विरोधाभास।

राग—आसावरी।

(२७)

अवधू कामधेनु गहि बाँधी रे
भाँड़ा भंजन करै सबहि[1] का, कछू न सूझै, आँधी रे॥ टेक॥
जौ ब्यावै तौ दूध न देई, गाभिन[2] अमृत सरवै।
कौली घाल्या[3] बीडरि चालै, ज्यूँ घेरौं त्यूँ दरवै॥
तिहि धेनु तैं इंछा[4] पूगी, पाकरि खूँटै बाँधी रे।
ग्वाड़ा माँहैं आनंद उपनौं, खूँटै दोऊ बाँधी रे॥
साईं माइ सास पुनि साईं, साईं याकी नारी।
कहै कबीर परम पद पाया, संतो लेहु विचारी॥

---

१. ना० प्र०-सबहिन। २. ना० प्र०-ग्याभंण। ३. ना० प्र०-घाल्याँ। ४. ना० प्र०-इंछ्या।

(२८)

अवधू कुदरति की गति न्यारी।
रंक निवाज करै राजेसुर[1], भूपति करै भिखारी ॥ टेक ॥
यातै लौंगहि फर नहि लागै, चंदन[2] फूल न फूलै।
मच्छ सिकारी रमै जंगल मैं[3], सिंघ समुन्दर झूलै ॥
एरंड रूख करै[4] मलयागिरि, चहुँ दिसि फूटै बासा।
तीनि लोक ब्रह्मण्ड खण्ड मैं,[5] अँधरा देख तमासा ॥
पंगुला मेर सुमेर उलंघै, त्रिभुवन मुकुता डोलै।
गूँगा ग्यान बिग्यान प्रकासै, अनहद बांनी बोलै ॥
बाँधि[6] अकास पतालि पठावै, सेस सरग पर राजै।
कहै कबीर रांम है राजा, जो कछु करैं सो छाजै ॥

शब्दार्थ—कुदरति (अ० कुद्रत)=ईश्वर, ईश्वर की महिमा। निवाज= अनुग्रह। मच्छ=मत्स्य (प्र० अ०) विषयी पुरुष। सिंघ=सिंह, (प्र० अ०) जीव। जंगल=(प्र० अ०) संसार। मेर=मेरुदण्ड। समुन्दर=समुद्र (प्र० अ०) संसार। रूख=वृक्ष। अँधरा=अंधा, (प्र० अ०) अन्तर्दृष्टिसम्पन्न। पंगुला=लँगड़ा। मुक्ता=मुक्त पुरुष। छाजै=शोभा देता है।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे प्रभु की महिमा का वर्णन करते हुए कबीर ने विरोध-मूला शैली में यह बताया है कि वह अनहोनी और असंभव को भी सभव बना देता है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे अवधूत योगी ! ईश्वर की महिमा विचित्र है। वह अपने अनुग्रह द्वारा रक को राजेश्वर बना देता है और सम्राट् को भिखारी बना देता है। उसकी महिमा ऐसी है कि लवंग मे केवल फूल आते है, फल नही और चंदन मे फूल नही लगते।

मछली सामान्यत जल मे रहती है और शिकार करती है तथा सिंह वन मे शिकार करता है। किन्तु प्रभु की शक्ति ऐसी अद्भुत है कि संसार रूपी वन मे मछली (माया) विषयी जीवो का शिकार करती है और सिंहरूपी जीव भवसागर मे थपेड़े खाता रहता है। उसकी महिमा ऐसी विचित्र है कि वह रेंड को सुगंधित चंदन के वृक्ष मे परिवर्तित कर देता है अर्थात् साधारण साधक को सिद्ध पुरुष के रूप मे परिणत कर देता है, जिसके प्रताप और पुण्य की सुगंध चतुर्दिक् विकसित हो जाती है।

---

१. वि०-वह राजा। २. तिवारी-बांवन चंदन फूलै। ३. वि०-मँह। ४. वि०-भए। ५. वि०-मँह, देखै अंध तमासा। ६. वि०-अकासहि बांधि।

सामान्यत अधे प्रतीत होने वाले अर्थात् विषयो के प्रति विरक्त, किन्तु अन्त-दृष्टि-सम्पन्न साधक अखिल ब्रह्माण्ड का रहस्य जान लेते है। सांसारिक एषणाओं के प्रति क्रियाहीन तथा निश्चल मन वाले (पगु) साधक मेरुदण्ड रूपी सुमेरु पर्वत पर चढ जाते है अर्थात् उनकी गति सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक हो जाती है और सिद्ध पुरुष का चित्त मुक्त रूप मे तीनो लोको के रहस्य मे विचरण करता है। गूंगा अर्थात् अनिर्वचनीय अनुभव-सम्पन्न साधक अपने विशिष्ट ज्ञान की ज्योति को चतुर्दिक् विकीर्ण करता रहता है और भीतर निरन्तर निनादित होने वाले अनाहत शब्द के माहात्म्य को मौन रूप से व्यक्त करता रहता है।

प्रभु की ऐसी महिमा है कि वह आकाश को बांधकर पाताल पहुँचा देता है और पाताल निवासी शेषनाग को स्वर्ग (आकाश) पहुँचा देता है अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित प्रकाश (आकाश) के प्रभाव को नीचे मूलाधार (पाताल) तक पहुँचा देता है। कबीर कहते है कि प्रभु प्रतापी एव ऐश्वर्य-सम्पन्न है तथा वह जो कुछ करते है, वही उनको शोभा देता है।

तुलनीय

चरन कमल वंदौ हरिराइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लघै, अधे कौ सब कछु दरसाइ॥
बहिरौ सुनै गूंग पुनि बोलै, रक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार वदौं तिहि पाइ॥ १॥

—सूरदास

× × ×

मूक होइ वाचाल, पगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवौ सकल कलिमल दहन॥ २॥

—(मानस-तुलसी)

अलंकार (१) मच्छ सिकारी...... झूलै—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास।
राग—बिहागडा।

(२९)

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै॥ टेक॥
मूल बाँधि सर गगन समाँनाँ, सुखमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता, तहाँ जोगनी[1] जागी।

---

१. ना० प्र०—जोगणी।

मनवाँ जाइ दरीचै[1] बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नांही, सबद अनाहद बागा ॥

शब्दार्थ—गगन मंडल=सहस्रार। वंक नालि=वक्र नाल, सहस्रार के नीचे कपाल-कुहर से लेकर तालु तक विस्तृत टेढी नली जिसके द्वारा सोमरस का क्षरण होता है। मूल=मूलाधार चक्र। सर=चोटी। गगन=ब्रह्मरन्ध्र। जोगनी=(प्र० अ०) कुण्डलिनी। पलीता (फा०-फतील.)=रेशो को बटकर बनाई गई बत्ती जिससे बंदूक या तोप के भीतर आग लगाई जाती है। दरीचै (फा०)=झरोखा। बागा=बोला, गूँजा।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि योगी का वास्तविक आश्रम गगन-मंडल या सहस्रार मे है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे अवधूत! ब्रह्मरन्ध्र मे अवस्थित हो जाओ। वही वास्तविक घर है। कपाल-कुहर से लेकर तालु तक विस्तृत वक नालि से सोमरस टपकता रहता है, उसी का आस्वादन करो। शरीर मे कुण्डलिनी सुषुम्ना नाडी के द्वारा मूलाधार से ऊपर की ओर चलकर ब्रह्मरन्ध्र मे जाकर समा जाती है। काम और क्रोध को भस्म कर देने पर ही कुण्डलिनी जाग्रत होती है। कुण्डलिनी के जागरण पर सहस्रार के झरोखे मे जीवात्मा और परमात्मा का मिलन होता है। कबीर कहते है कि उस दशा मे अनाहत शब्द गूँज उठता है। इस विषय मे किसी के मन मे संशय का अवकाश नही हो सकता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(३०)

अवधू ग्यान लहरि धुनि मांडी रे।
सबद अतीत अनाहद राता, इहि विधि त्रिष्णां षांडी रे ॥ टेक ॥
बन कै ससै समंद घर कीया, मंछा बसै पहाड़ी।
सुइ पीवै बाँम्हन[2] मतवाला, फल लागा बिन बाड़ी।
थान बुनै[3] कोली मै बैठो, मैं खूंटा मै गाड़ो।
तानै बानै[4] पड़ी अनँवासी, सूत कहै बुनि गाढ़ी।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, अगम ग्यांन पद माँही।
गुरु परसादि सुई कै नाकै, हस्ती आवैं जांही ॥

---

१. ना० प्र०—दरीवै। २. ना० प्र०—ब्राह्मण। ३. ना० प्र०—पाड बुणै। ४ ना० प्र०—ताणैं बाणैं।

शब्दार्थ—अवधू = गोरखपंथी योगी, अवधूत (जिसने अपने कल्मष को झकझोर कर फेंक दिया है)। धुनि = ध्वनि, नाद। माँडी = मची हुई। अतीत = कालातीत। राता = अनुरक्त। पाँडी = खडित, नष्ट। ससै = शशक, खरगोश, (प्र० अ०) मन। समद = समुद्र, (प्र० अ०) ब्रह्मनाडी। मछा = मछली, (प्र० अ०) मन। पहाडी = (प्र० अ०) शून्य शिखर। गाड़ी = गड्ढा। सुइ = वही। बाम्हन = ब्रह्म का ज्ञाता। बाड़ी = खेत। थान = कपड़ा। कोली = जुलाहा, कोरी। अनवाँसी = नया अप्रयुक्त वर्तन। नाँकै = छिद्र से। हस्ती = हाथी, (प्र० अ०) जीव।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने ब्रह्म-साक्षात्कार की सूक्ष्म अवस्था का वर्णन किया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे अवधूत ! ज्ञान की लहर मे ध्वनि मची हुई है अर्थात् साक्षात्कार की अवस्था मे एक विचित्र नाद का अनुभव होता है। वह ध्वनि कालातीत है और उस अनाहत नाद मे चित्त अनुरक्त हो जाता है। इस प्रकार तृष्णा नष्ट हो जाती है। शरीर (वन) के भीतर रहने वाला चंचल मन (शशक) ब्रह्म नाड़ी (समुद्र) मे स्थिर हो गया है। उसका निवास ब्रह्म नाडी मे हो गया। मछली पहाडी पर वसने लगी अर्थात् चंचल मन नीचे से उठकर शून्यशिखर पर चला गया। ब्रह्म का ज्ञाता साधक सहस्रार से स्रवित होने वाले उस रस को पीकर छक गया। विना खेती-वारी किए परमतत्वरूपी फल प्राप्त हो गया। अह (जीव) ही जुलाहा है, वही खूँटी है और वही गड्ढा है, जो ध्यान रूपी थान (कपडा) वुन रहा है अर्थात् सारी प्रक्रिया जीव द्वारा हो रही है। अभी तक ध्यान रूपी ताने-वाने अप्रयुक्त थे अर्थात् पूर्ण रूप से ध्यान नही लगा था। वही ध्यान का सूत सघन होने की प्रेरणा देता है। वह कहता है कि खूब गाढा बुनो अर्थात् ध्यान सघन हो जाय। कबीर कहते है कि हे सतो ! सुनो। इस प्रकार उस साक्षात्कार के पद मे मैं स्थित हो गया, जो साधारण जन के लिए अगम्य है। वह परम सूक्ष्म पद है, किन्तु गुरु के अनुग्रह से सुई के छेद से हाथी आ-जा सकता है अर्थात् मैं वहाँ पहुँच गया।

अलंकार—(१) फल लागा बिन वाडी—विभावना।
(२) अतिम पक्ति मे विरोधाभास।

राग—गौरी।

(३१)

अवधू छाड़हु मन विस्तारा ॥
सो पद गहो जाहिते सदगति, पारब्रह्म ते[1] न्यारा ॥

१, शुक०-से।

नहीं महादेव नहीं मोहम्मद, हरि हजरत तब[1] नाहीं।
आदम ब्रह्मा कछु[2] नहि होते, नहीं धूप नहि छाँही॥
असी[3] सहस पैगम्बर नाहीं, सहस अठासी मूनी[4]।
सूर्य चन्द्र[5] तारागन नाहीं, मच्छ कच्छ नहि दूनी॥
वेद कितेब[6] सुम्रिति नहि संजम, जीव नहीं परछाई[7]।
बंग निमाज कलिमा नहि होते, रामहु नाहि खोदाई॥
आदि अन्त मन मध्य न होते, आतस पवन न पानी।
लख चौरासी जीव[8] जंतु नहि, साखी सबद न बानी॥
कहैं कबीर सुनो हो अवधू, आगे करहु बिचारा।
पूरन ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, किरतम किन उपचारा[9]॥

शब्दार्थ—हजरत (अ०)=महापुरुप। आदम (अ०)=मूल पुरुप। मच्छ=मत्स्यावतार। दूनी (१) दोनो (२) संसार। संजम = योग का पारिभाषिक शब्द—धारणा, ध्यान, समाधि तीनो के प्रयोग को समाधि कहते है। बंग = बाँग (अ०) अजान, नमाज की सूचना के शब्द। निमाज (अ०)= ईश प्रार्थना। कलिमा (अ०)=वह वाक्य जो मुसलमानो के धर्म-विश्वास का मूल मन्त्र है—ला इलाह इलिल्लाह मुहम्मद रसूलिल्लाह। सबद=आप्त वचन, अनुभव प्राप्त संत की वाणी। आतस (फा०) =अग्नि। किरतम=कृत्रिम, माया का प्रपच। उपचारा = विधान।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने बताया है कि सामान्यतः मानव जिनको ईश्वर मानकर पूजा करता है, परब्रह्म परमेश्वर उन सबसे भिन्न है। सारी सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है। किन्तु वह सबसे परे है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे अवधू! मन का सकल्प-विकल्प त्यागो। उस परब्रह्म परमेश्वर की शरण जाओ अथवा उस अवस्था को प्राप्त करो, जिससे सद्गति प्राप्त होती है। वह परब्रह्म सबसे भिन्न है। वह अनादि और अनत है। मूल अवस्था मे अकेला वही रहता है। उस समय न महादेव होते है, न मुहम्मद, न हरि होते है, न कोई महापुरुप। उस अवस्था मे न आदम (मूल पुरुप) होता है और न ब्रह्मा; वहाँ न धूप है न छाया। वहाँ न तो मुस्लिम विश्वास के अनुसार अस्सी हजार पैगम्बर होते है और न हिन्दुओ को मान्य अट्ठासी हजार मुनि। वहाँ न सूर्य है, न चन्द्र और न तारागण। दोनों मत्स्य और कच्छप अवतार भी उस समय नही होते अथवा मत्स्य-कच्छप अवतार तथा संसार वहाँ नही होते। वहाँ न हिन्दुओं का मूल ग्रंथ वेद है

---

१. वि०—किछु। २ वि०—नहि तब। ३. वि०—असियासै। ४. गुरु०—यूनी। ५. वि०—चंद सुरुज। ६. वि०—किताब स्मृत। ७ वि०—नहीं जवन परसाहीं। ८. वि०—जिया। ९. वि०—उपराजा।

और न मुसलमानो का मूलग्रथ कुरान। वहाँ न स्मृति (धर्मशास्त्र) है और न नयम (धारणा, ध्यान और समाधि का सम्मिलित रूप)। वहाँ जीव की छाया तक नही है। उस अवस्था मे न बाँग है, न नमाज है, न कलमा है; न राम है, न खुदा। उस पद का न आदि है, न मध्य और न अंत। वहाँ मन भी नही है। वहाँ न अग्नि है, न पवन और न जल। वहाँ चौरासी लाख योनियाँ भी नही है और प्रमाण रूप साखी व शब्द भी नही है। कबीर कहते है कि हे अवधूत ! सुनो। इन सबसे जो परे है, उनका विचार करो। परब्रह्म अनादि है, उसके प्रथम प्राकट्य का कोई प्रश्न ही नही। यह भी विचार करो कि इस कार्य रूप माया-प्रपंच का किसने विधान किया है अर्थात् *वह कारण रूप है। जगत्, माया-प्रपच कृत्रिम है अर्थात् उसका कार्य है।* उस कारण का कोई कारण नही है। वह स्वय प्रकाश है। सारा विश्व उसी का कार्य है।

अलंकार—(१) दूनी शब्द मे श्लेष।
(२) अतिम पक्ति मे काकु वक्रोक्ति।

(३२)

अवधू[1] जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ कलप नहि व्यापै, देही जुरा[2] नहि छीजै॥ टेक॥
उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर[3] सूर गरासै।
नव ग्रह मारि योगिया[4] बैठे, जल महि बिंब प्रकासै॥
बेठि[5] गुफा महि सब जग देखै, बाहरि किछू न सूझै।*
उलिटा[6] बान पारथहि लागै, यहु अचिरज कोई बूझै।
औंधा घड़ा न जल महि डूबै, सूधा सूभर[7] भरिया।
[8]जाकौ यहु जग घिन कर चालै, ता प्रसाद निस्तरिया॥†

---

१. वि०-संतो। २. वि० जरा। ३. वि०-ससि औ सूरहि ग्रासै। ४. ति०-रोगिया। ५. वि०-पैठि। ६. ति०, ना० प्र०-उलटै धनुख पारधी मार्यो। ७. वि०-सों जल। ८. वि०-जिहि कारन नल भीन भीन करु, गुरु-परसादे तरिया।

*. वि० में पाँचवीं छठी पंक्ति इस प्रकार है—

विनु चरनन कौ दहुँ दिसि धावै, विनु लोचन जग सूझै।
ससै उलटि सिंघ कहु ग्रासै, ई अचरज को बूझै॥

ना० प्र०-में पाँचवीं-छठी पंक्ति इस प्रकार है—

डाल गह्यां थैं मूल न सूझै, मूल गह्याँ फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौ लागी, धरणि महारस खावा॥

† ना० प्र० में इसके बाद दो पंक्तियाँ और है—

अंबर बरसै धरती भीजै, यहु जाणैं सब कोई।
धरती बरसै अंबर भीजे, बूझै विरला कोई॥

गावनहारा[1] कवहूँ[2] न गावै, अनबोला नित गावै।
नटवर[3] पेखि पेखनां पेखै, अनहद वेन[4] वजावै॥
कहनीं[5] रहनीं निज तत जांनैं, यहु सब अकथ कहांनीं।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै,[6] यह पुरिखां कै वानीं॥
वाझ[7] पियालै अंम्रित अँचवै[8], नदी नीर भरि राखै।
[9]कहै कबीर सो बिरला जोगी, धरनि महारस चाखै॥

शब्दार्थ—कलप=कल्प, ब्रह्मा का एक दिन, १४ मन्वन्तर अर्थात् मानव के चार अरब बत्तीस करोड वर्ष। देही=देह में रहने वाला जीवात्मा। जुरा=जरा, वृद्धावस्था। छीजै=क्षीण होना। उलटी गंग=ब्रह्माण्ड मे चढाया गया श्वास, उदान वायु। समुद्रहि=(प्र० अ०) सांसारिक-संताप। ससिहर=शशधर, चन्द्र, (प्र० अ०) इड़ा नाड़ी। सूर=सूर्य, (प्र० अ०) पिंगला नाड़ी। गरासै=ग्रस लेती है। नव ग्रह=(प्र० अ०) पाँच इन्द्रियाँ+अन्त करण चतुष्टय। पारथहि=शिकारी को, (प्र० अ०) मन को। सूंभर=शुभ्र, स्वच्छ। घिन=घृणा। निस्तरिया=उद्धार होता है। पेखि=देखकर। पेखना=खेल, प्रेक्षण। वेन=वेणु, वंशी। निजतत=आत्मतत्व। धरती=(प्र० अ०) मूलाधार चक्र। अकासहि=(प्र० अ०) ब्रह्मरन्ध्र। पुरिखां=पुरुषो की, आप्त पुरुषो की। वाझ=विना। अँचवै=आचमन करता है। अंम्रित=सहस्रार से झरने वाला सोमरस। महारस=आत्मानन्द।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने स्वरूप मे प्रतिष्ठित योगी की दशा का सुन्दर चित्रण किया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे अवधूत! जग जाने पर, बोध हो जाने पर प्रमाद न करना। इस शरीर मे निवास करने वाला आत्मा ऐसा तत्व है जो काल से परे है, जिसके ऊपर समय का कोई प्रभाव नही पड़ता और जिसको जरा जीर्ण नही कर सकती।

कुण्डलिनी के जागृत होने पर जब प्राणवायु (गगा) की धारा ऊपर ब्रह्माण्ड (सहस्रार) की ओर चलती है, तब वह सांसारिक विषयो के समुद्र को सुखा देती है और उस अवस्था मे चन्द्र-सूर्य नाड़ियो (इड़ा-पिंगला) का ग्रास हो जाता है। योगी नव ग्रह अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियो और अन्त करण-चतुष्टय को वश मे करके ध्यानस्थ होता है और उसके शुद्ध हृदय (जल) मे चैतन्य (बिम्ब) का प्रकाश प्रतिबिंबित

---

१. वि०—गायन कहै कवहुं नहिं गावै। २. ना० प्र०—कदे। ३. वि०—नट-वट वाजा पेखनि पेखै ४. वि०—हेत वढावै। ५ वि०—कथनी-वदनी निजुकै जोहै। ६. वि०—वेधै। ७. वि०—विना। ८. ना० प्र०—सोख्या ९. वि०—कहहि कविर सो जुग जुग जायै, राम सुधा-रस चाखै।

होता है। योगी का चित्त गगनमण्डल (गुफा) मे निश्चल होकर भीतर ही सर्वस्व अनुभव करता है और उस अवस्था मे वाह्य जगत् का भान समाप्त हो जाता है, सर्वत्र आत्मा ही आत्मा प्रतीत होती है। गीता मे भी कहा गया है :—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ (६।२९)

साधारण अवस्था मे मन की वृत्तियाँ वहिर्मुखी रहती हैं, विषयो की ओर जाती हैं। सिद्धावस्था में यही वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं, परिणामस्वरूप मन निश्चल हो जाता है। इसी तथ्य का कबीर शिकारी और बाण के प्रतीक द्वारा उल्लेख करते हैं। यहाँ मन शिकारी है और बाण वृत्तियाँ हैं। पहले वृत्तियाँ (बाण) विषयो की ओर जाती थी, अब उलटकर वे उसी मन (शिकारी) को मार डालती हैं अर्थात् उसे निश्चल कर देती हैं। मन की वृत्तियों का निरुद्ध हो जाना ही योग है। पतंजलि के शब्दो मे 'तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् मन की वृत्तियो के निरुद्ध होने पर द्रष्टा अपने स्वरूप मे अवस्थित हो जाता है। इस रहस्य को (बाण के उलटकर शिकारी के लगने को) विरले ही समझ सकते हैं।

उलटा घडा जल मे नही डूबता, सीधा स्वच्छ या शुभ्र जल से भर जाता है अर्थात् विषयासक्त चित्त (औंधा घडा) स्वरूप के आनन्दसागर मे डुबकी नही लगा सकता। शुद्ध चित्त ही आनन्दसागर के दिव्य जल से परिपूर्ण हो सकता है। जिस साधना को सासारिक जीव व्यर्थ समझकर पृथक् रहता है, उसी साधना के प्रसाद से जीव का उद्धार होता है।

पाखण्डी साधक (गावनहारा) कभी सत्य का वर्णन नही कर सकता। जिसने सत्य का अनुभव किया है, वह मौन (अनबोला) हो जाता है और अपने आचरण (रहनी-करनी) से उस सत्य का नित्य प्रतिपादन (नित गावैं) करता रहता है। वह सिद्ध योगी उस नट के समान है जो नाना प्रकार के खेल दिखाता हुआ भी यह जानता रहता है कि वे क्रीडामात्र हैं और वह स्वयं उनसे असम्पृक्त रहता है तथा भीतर ही भीतर अनाहत (बेन) की मधुर ध्वनि का आस्वादन करता रहता है।

तुलसीदास के शब्दो मे —

जथा अनेक वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ॥

(मानस ७।७२)

आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित योगी मन-वाणी से जो कुछ भी करता या कहता है (अपने सभी प्रकार के व्यवहार मे) उसकी आत्म-स्वरूप की चेतनता बनी रहती है।

यह अनुभूति शब्दातीत है। धरती उलटकर आकाश को ग्रस लेती है अर्थात् उसकी चेतना निम्नस्थित मूलाधार (धरती) से उठकर ब्रह्मरन्ध्र (आकाश) को पहुँच जाती है।

उन पुरुषों (योगियो) का वचन प्रमाण है जिनको आत्मसाक्षात्कार हो चुका है। ऐसा योगी सहस्रार से झरते हुए अमृत रस का बिना किसी प्याले के छककर पान करता है। उसकी हृदय-नदी स्वरूपानन्द रूपी नीर से भर जाती है। कबीर कहते है कि पृथ्वी पर ऐसे विरले योगी ही होते हैं जो इस महारस के चखने के अधिकारी होते है।

टिप्पणी—उलटी.......गरासै।

साधना की पूर्णता की अवस्था मे इड़ा-पिंगला पर बहने वाले प्राण-अपान वायु तुल्यबल होकर स्थिर हो जाते है। इस तथ्य को कबीर ने 'ससिहर सूर गरासै' द्वारा व्यक्त किया है। इस स्थिति मे उदान वायु की क्रिया प्रारम्भ होती है, जिसके द्वारा सुप्त कुण्डलिनी, जो मूलाधार में स्थित थी, उत्थित होकर सहस्रार की ओर चलती है। तब सभी शोक-संताप नष्ट हो जाते है और अनुपम आनन्द का अनुभव होता है। इस तथ्य को कबीर ने 'उलटी गंग समुद्रहि सोखै' द्वारा व्यक्त किया है।

अलंकार—(१) गावनहारा कबहु न गावै—विरोधाभास।
(२) बाझ पियालै अम्रित अँचवै—विभावना।
(३) नदी नीर भरि राखै—रूपकातिशयोक्ति।

राग—रामकली।

(३३)

अवधू जांनि राखि मन ठाहरि।
जो कछु खोजौ सो तुमहीं मांहि, काहे कौ भरमै बाहरि॥ टेक॥
घट ही भीतरि बनखंड गिरिवर, घटि ही सात समुंदा।
घट ही भीतरि तारा मंडल, घट भीतरि रवि चंदा॥
ममता मेटि सांच करि मुद्रा, आसन सील दिढ़ कीजै।
अनहद सबद कींगरी बाजै, ता जोगी चित दीजै॥
सत करि खपर खिमा करि झोरी, ग्यांन बिभूति चढ़ाई।
उलटा पवन जटा धरि जोगी, सींगी सुरति[1] बजाई॥
नाटक चेटक भैरौं कलुवा, इनमै जोग न होई।
कहै कबीर रमता सौं रमनां, देही बादि न खोई॥

---

१. तिवारी-सुन्नि।

शब्दार्थ – ठाहरि=स्थान। सील=सदाचार। कीगरी=किन्नरी, एक प्रकार की वीणा। खिमा=क्षमा। सीगी=हिरन के सीग का बना वाद्य। चेटक=जादूगरी, कलाबाजी। रमता=आत्मा। बादि=निरर्थक।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने नाथयोगियो की बाह्य वेशभूषा की निरर्थकता बताते हुए अन्त साधना पर जोर दिया है।

व्याख्या— वह कहते है कि हे अवधूत! समझकर मन को स्थिर रखो। उसे एक स्थान पर केन्द्रित करो। वही भीतर तुम्हे सत्य का दर्शन होगा। तुम जिस तत्व की खोज मे लगे हो, वह तुम्हारे भीतर ही है। उसे पाने के लिए बाहर क्यो चक्कर काटते हो?

इस शरीर के भीतर ही वन, पर्वत, सातो समुद्र, नक्षत्र-मण्डल, सूर्य और चन्द्र सभी कुछ है अर्थात् जितने बाह्य पदार्थ है, वे जिस प्रकाश की अभिव्यक्ति है वह प्रकाश तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। अतः उसके साक्षात्कार से सभी कुछ जान लिया जाता है।

नाथयोगियो की बाहरी वेशभूषा और साधना की निरर्थकता बताते हुए कबीर कहते है कि हे अवधू! तुम ममत्व को त्यागकर सत्य की मुद्रा धारण करो, काँच या स्फटिक की मुद्रा से कोई लाभ नही; शीलरूपी आसन को दृढ करो, योगासनो (पद्मासन आदि) से कोई लाभ नही, तुम्हारे भीतर निरन्तर किन्नरी वीणा के समान अनाहत शब्द की मधुर ध्वनि हो रही है, उसमे चित्त लगाओ, सीगी-वाद्य की ध्वनि मे तुम व्यर्थ चित्त लगाते हो, 'सत्' अर्थात् जो सभी सत्ताओ का मूल है उसका खप्पर और क्षमा की झोली धारण करो तथा ज्ञान की भस्म लगाओ। प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी जागरण की जटा धारण करो, बाहरी जटा व्यर्थ है; सुरति की सीगी बजाओ अर्थात् निरन्तर आत्मतत्व का ध्यान करो।

बाह्याडम्बरियों (नाटक-चेटक) तथा अनधिकारियो (भैरों, कलुवा) के द्वारा योग नही होता अर्थात् जिनके हृदय में सत्य की खोज की वास्तविक लालसा नही है, जो केवल व्यवसाय बुद्धि से योग का आडम्बर बनाए हुए है, वे सच्चे योगी नही हो सकते। कबीर कहते है कि जो तत्व सभी मे रमण कर रहा है, उसमे रमण करो, जिससे मानव जीवन, जो साधना के लिए मिला है, व्यर्थ न नष्ट हो जाय।

अलकार—साग रूपक।

राग—गौरी।

(३४)

अवधू जोगी जग तैं[1] न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी, नाद न खंडै धारा॥ टेक॥

---

१. ना० प्र०-थैं।

बसै गगन मैं दुनीं न देखै, चेतनि चौको बैठा।
चढ़ि अकास आसन[1] नहिं छाड़ै, पीवै महारस मीठा॥
परगट कंथा मांहै जोगी, दिल मै दरपन जोवै।
सहँस इकीस छ सै धागा, निहचल नाकै पोवै॥
ब्रह्म अगनि मै काया जारै, त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेस्वर, सहज सुंनि ल्यौ लागै॥

शब्दार्थ—मुद्रा=(१) योग मे शरीर के अंगों का विशेष न्यास (२) गोरख-पंथी साधुओं का कर्णाभूषण। सुरति=प्रेममय अवधान। निरति=सुरति की चरम अवस्था। सींगी=हिरन के सींग की बनी तुरही जिसे नाथ योगी बजाते हैं। गगन=सहस्रार। दुनी=संसार। कंथा=चिथड़ा, फटा वस्त्र। जोवै=देखता है। सहँस=स+हंस=हंस के सहित अर्थात् हंस. का श्वास-प्रश्वास के द्वारा अजपाजप। पोवै=पिरोता है। त्रिकुटी संगम=आज्ञाचक्र, जहाँ इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना तीनों नाड़ियाँ मिलती है। माँहै=भीतर।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने यह बताया है कि बाह्य उपकरणो से कोई सच्चा योगी नही होता है। आन्तरिक स्थिति से ही सच्चे योगी को पहचाना जा सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे अवधूत! बाह्य उपकरणो से कोई सच्चा योगी नही बनता है। सच्चा योगी सभी सासारिक जनो से न्यारा होता है। उसकी पहचान बाह्य वेश-भूषा और उपकरणों से नही की जा सकती। उसकी वास्तविक मुद्रा निरति होती है, न कि कर्णाभूषण; उसकी वास्तविक सींगी सुरति है, न कि हिरन के सींग की बनी तुरही, जिसे नाथ योगी बजाते हैं। वह अनाहत नाद की अखण्ड धारा का अनुभव करता रहता है। उसका चित्त सहस्रार मे लीन रहता है और वह सांसारिक विषयो से विरत रहता है। वह चैतन्य-स्वरूप मे सदा स्थित रहता है। सच्चा योगी अपनी उच्च स्थिति से कभी च्युत नहीं होता और प्रभु-प्रेम का मधुर-रस निरन्तर पान करता रहता है। उसका बाह्य रूप फटे वस्त्र मे आवृत रहता है, किन्तु भीतर से वह प्रभु में युक्त रहता है और अपने हृदय-दर्पण मे प्रिय का दर्शन करता रहता है। वह अपनी नाक के प्रवेश-द्वार में 'हं सः' के साथ श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया के द्वारा २१६०० धागे पिरोता रहता है अर्थात् उसकी नाक के भीतर दिन भर मे श्वास-प्रश्वास के द्वारा २१६०० बार 'हं सः' का अजपाजप चलता रहता है। वह काठ की धूनी के सामने अपनी काया को नही तपाता है, प्रत्युत ब्रह्माग्नि मे, ज्ञानाग्नि मे अपने को शुद्ध करता रहता है। वह प्रयाग मे गंगा-यमुना-

---

१. ना० प्र०-आसण।

सरस्वती के सगम पर नही जगता है, प्रत्युत आन्तरिक इडा-पिंगला-सुषुम्ना के सगम अर्थात् आज्ञाचक्र के चैतन्य प्रकाश मे निरन्तर सजग रहता है। कबीर कहते है कि जिसका ध्यान सहज शून्य (परम तत्त्व) मे लगा रहता है, वही परम योगी है।

टिप्पणी—प्रत्येक व्यक्ति मे एक मिनट मे १५ बार श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती है। इस प्रकार एक दिन मे १५ × ६० × २४ = २१६०० श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया होती है और प्रत्येक श्वास-प्रश्वास मे 'ह स' की ध्वनि होती है। इस प्रकार जीव बिना किसी कृत्रिम जप के, आप मे आप 'ह सः' का दिन भर मे २१६०० जप करता रहता है। इसे 'अजपा जप' कहते है।

अलंकार—(१) मुद्रानिरति...... ...धारा-सांग रूपक।
(२) बसै गगन ...... बैठा – विरोधाभास।
(३) सहँस = श्लेष।

राग—गौरी।

(३५)

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उनमनि चढ़ा[1] मगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजिआरा॥
गुड़ करि ग्यांन ध्यांन कर महुवा, भव भाठी करि भारा।
सुषमन नारी सहजि समांनी, पीवै पीवनहारा॥
दोइ पुड़[2] जोरि चिगाई[3] भाठी, चुआ महारस भारी।
काम क्रोध दोइ किया बलीता, छूटि गई संसारी॥
[4]सुंनि मंडल मै मंदला बाजै, तहां मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै॥
पूरा मिला तबै सुख उपज्यौ, तन की तपति बुझानी।
कहै कबीर भव बंधन छूटै, जोतिहि जोति समानी॥

शब्दार्थ—अवधू = अवधूत। मतिवारा = मतवाला, मस्त। उन्मनि = भागवती चेतना, तुरीयावस्था, सहज। भौ = ससार। सुषमन नारी = सुषुम्ना नाडी। चिगाई = बनाई, तैयार की। बलीता = पलीता। पुड = पुट, नासिका पुट (ला० अ०) इडा-पिगला नाडियाँ। काछै = पास, निकट। सुंनि मण्डल = सहस्रार। मदला = मर्दल वाद्य।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने मदिरा बनाने की प्रक्रिया के रूपक द्वारा ब्रह्मानुभूति की अवस्था का वर्णन किया है।

---

१. ना० प्र०—चढ्या। २. तिवारी-पुर। ३. तिवारी-रसाई। ४. यहाँ से चार पंक्तियाँ तिवारी की प्रति में नहीं हैं। इनके स्थान पर दो अन्य पंक्तियाँ हैं।

व्याख्या—वह कहते हैं कि हे अवधूत ! मेरा मन राम रस पीकर मस्त हो गया है। वह उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो गया है और उसमें मग्न होकर राम रस का पान कर रहा है। उस चैतन्य के प्रकाश से तीनों लोक प्रकाशित हो रहे हैं।

अब वह राम रस रूपी मदिरा के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस रस के निर्माण में ज्ञान का गुड़ और ध्यान का महुआ डाला तथा सांसारिक विषय-वासनाओं की भट्टी बनाई। इड़ा-पिंगला नाड़ियों में बहने वाले प्राण और अपान को समन्वित करके भट्टी तैयार की। काम और क्रोध का पलीता लगाकर अग्नि को प्रज्वलित किया। सुषुम्ना नाड़ी सहज में लीन हो गई और साधक छककर इस मदिरा का पान कर रहा है। अब संसार के प्रति उसकी आसक्ति समाप्त हो गई है।

सहस्रार में मर्दल का अनाहत नाद सुनाई दे रहा है। उसे सुनकर मेरा मन आनन्दित होकर नाच उठा है। गुरु की कृपा से मुझे अमृतरूपी महारस की प्राप्ति हो गई है। सुषुम्ना सहज में लीन हो गई। मुझे 'पूर्ण' का साक्षात्कार हो गया, तब आनन्द का अनुभव हुआ और तन का ताप शान्त हो गया। कबीर कहते हैं कि भव-बन्धन समाप्त हो गया और जीवात्मा रूपी ज्योति परम ज्योति में लीन हो गई।

टिप्पणी—मानव के भीतर एक दिव्य चेतना विद्यमान है, जो 'सहज' है—सह जायते इति सहज.। वह जीवन के साथ ही विद्यमान रहती है। किन्तु जीव का उस से सम्पर्क नहीं हो पाता। मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्ना नाड़ी है जो गुदा के पास स्थित मूलाधार से मस्तिष्क के ऊपर स्थित सहस्रार तक गई है। जब साधना द्वारा प्राण और अपान तुल्य बल हो जाते हैं, तब सुषुम्ना में उदान प्राण का जागरण होता है और सुषुम्ना का राजपथ खुल जाता है। कुण्डलिनी उत्थित होकर इसी राजपथ से सहस्रार तक पहुँच जाती है। यही जीव और शिव का मिलन है।

जब कुण्डलिनी का जागरण होता है, तब भीतर ही भीतर अनाहत नाद सुनाई देने लगता है, जिसे सुनकर चित्त आनन्द में मग्न हो जाता है। जब जैव-चित्त का परमात्म-चित्त में लय हो जाता है, तब एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है तथा विषय-वासना और संसार के प्रति आसक्ति समाप्त हो जाती है। यह मन 'उन-मन' में अर्थात् भागवती चेतना में डूब जाता है और अपना पृथक् अस्तित्व खो देता है। यही खोकर पाना है।

कबीर ने मदिरा के रूपक द्वारा इसी साधना का उल्लेख किया है।

अलंकार—सांग रूपक।

राग—गौरी।

(३६)

अवधू वैतत[१] रावल माता, नाचै बाजन बाजु बराता।
मौर[२] के माथे दुलहा दीन्हा, अकथा जोरि कहाता।
मड़ए[३] के चारन समधी दीन्हा, पुत्र विवाहल माता।
दुलहिन लीपि चौक बैठारे[४], निरभय पद परगाता[५]।
भातै[६] उलटि बरातै खायो भली बनी कुसलाता।
पानीग्रहन भयो भव मडन, सुखमनि सुरति समानी।
कहै कबीर सुनो हो संतो, बूझो पडित ज्ञानी॥

शब्दार्थ—ओतत = वह तत्व। रावल = राजा, जीव। राता = अनुरक्त। अकथा = अनिर्वचनीय। चारन = चारण, भाँट। परगाता = गान करते हैं। भातै = चावल। पानीग्रहन = पाणिग्रहण, विवाह। सुखमनि = सुषुम्ना।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने विवाह के रूपक द्वारा मायाग्रस्त जीव का वर्णन किया है।

व्याख्या—सामान्यत विवाह मे बराती होते है, दूल्हा होता है, बाजा बजते है, दूल्हे के सिर पर मौर रखा जाता है। मण्डप छाया जाता है। समधी का यशगान होता है। चौक लीप कर उस पर दुलहिन को बैठाया जाता है। बरातियो को भात खिलाया जाता है और पाणिग्रहण होता है।

किन्तु मायिक जीव की स्थिति इसके विपरीत होती है। कबीर कहते है कि हे अवधू! इस शरीर का राजा (जीव) माया तत्व मे अनुरक्त है। इसलिए उसकी स्थिति मे सभी चीजे उलटी होती है। शरीर (बाजा) कर्मों के अनुसार नाचता रहता है और उसके पंचप्राण (बराती) ध्वनि करते रहते है। सामान्यत लोग समझते है कि जीव सबसे ऊपर है, जब कि वास्तविकता यह है कि जीव भीतर है। यही मौर (ब्रह्म-रन्ध्र) के ऊपर दूल्हा (जीव) का होना है। प्रायः विवाह के अवसर पर अनेक न कही जाने योग्य बाते, जोड-गाँठकर कही जाती है। इसी प्रकार जीव जब माया से बँध जाता है तो बहुत सी अशोभन बातें करता है। समधी (समत्व बुद्धि) मण्डप (शरीर) मे चारणो (इन्द्रियो) का यशगान करता है अर्थात् बुद्धि इन्द्रियो के वश मे है। मायाजन्य पुत्र (जीव) ने अपनी माता (माया) से ही विवाह कर लिया है। दुलहिन को लीपकर उस पर चौक बिठाई गई है अर्थात् माया को सजाकर उस पर अन्त करण-चतुष्टय (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार) को प्रतिष्ठित किया गया है। ऐसे मायिक जीव निर्भय पद प्राप्त करने का मिथ्या गान करते है। भात (विषय) बरातियो (पच

---

१. श०–ओतत। २. शक०–भौर। ३. वि०–मँडवक। ४. वि०–बैठायो। ५. शक०–परमाता, वि०–परगासा। ६. शक०–माँ तै।

प्राण) को ला रहा है। कैसा सुन्दर विवाह हो रहा है ? यह ऐसा विवाह (पाणि-ग्रहण) है जिसके द्वारा जीव जरा-मरण (भव) से मण्डित हो रहा है अर्थात् माया के बन्धन में फँसकर आवागमन के चक्कर मे पड़ गया है। योगी का ध्यान (सुरति) सुषुम्ना नाड़ी मे समाहित होता है, किन्तु मायिक जीव की नाडी ही सुरति पर हावी रहती है अर्थात् वह नाड़ी के स्पन्दन के अनुसार ही इच्छा-क्रिया करता है। उसमें ध्यान की स्थिति नही आती। कवीर कहते है कि हे संतो ! सुनो। तथाकथित ज्ञानी पण्डितों से इसका रहस्य पूछो।

टिप्पणी—पूरे पद में उलटवाँसी है।

(३७)

अवधू सो जोगी गुर मेरा।
जो या[1] पद का करै निवेरा ॥ टेक ॥
तरवर एक मूल[2] बिन ठाढ़ा, बिन फूलां[3] फल लागा।
साखा पत्र कछू[4] नहि वाकै, अष्ट गगन मुख बागा[5] ॥
पग[6] बिनु निरति करां बिनु बाजा[7], जिभ्या[8] हींनां गावै।
गावनहार कै रूप न रेखा, सतगुर होइ लखावै ॥
पंखी का[9] खोज मींन का मारग, कहै कबीर बिचारी[10]।
अपरंपार पार परसोतम, वा मूरति की बलिहारी ॥

शब्दार्थ—अवधूत=अव (उपसर्ग) + धू (धातु) + क्त (प्रत्यय), अर्थात् जिसने अपनी सभी निम्न प्रवृत्तियो और सस्कारो को झकझोर कर बाहर फेंक दिया है। नाथ सम्प्रदाय के साधक अपने को योगी अथवा अवधूत कहते थे। कबीर ने प्राय. अवधू या योगी सम्बोधन द्वारा उन पर व्यंग्य किया है। निवेरा=स्पष्टीकरण। तरवर= वृक्ष, (प्र० अ०) प्रकृति या माया (मायां तु प्रकृतिं विद्यात्-श्वेता०)। अष्ट गगन = आठ दिशाएँ अथवा अष्टधा प्रकृति (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार)। मुख =ओर, तरफ। बागा = व्याप्त हुआ। निरति=नृत्य। खोज=मार्ग।

संदर्भ—गीता में तीन तत्वो—क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और पुरुषोत्तम का उल्लेख मिलता है। कबीर ने इस पद में इन्ही तीन तत्वो की ओर सकेत किया है। क्षेत्र प्रकृति अथवा माया है, जिसमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा का क्रियाकलाप चलता रहता है। पुरुषोत्तम वह तत्व है जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों को अपने मे समेटे हुए है।

---

१. वि०-यह। २. तिवारी-पेड। ३. वि०-फूलै। ४. वि०-किछौ। ५. वि०-गाजा। ६. वि०-पौ बिनु पत्र करह बिनु तूँबा, ना० प्र०, गुप्त-पैर। ७. ना० प्र०, गुप्त-बाजै ८. वि०-बिनु जिभ्या गुन गावै। ९. वि०-पंछिक। १०. वि०-दौउ भारी।

व्याख्या - वह कहते हैं कि हे अवधू ! मैं तुम लोगों में उस योगी को अपना गुरु मानने को तैयार हूँ जो मेरे इस पद का स्पष्टीकरण कर सके ।

एक ऐसा वृक्ष है जो बिना मूल के स्थित है । उसमें बिना फूल के फल लगते हैं । यहाँ वृक्ष के द्वारा प्रकृति की ओर सकेत किया गया है । प्रकृति का कोई मूल या जड नही है । वह स्वयं सभी का मूल अर्थात् आधार है । साख्य मे उसे मूल प्रकृति कहा गया है, क्योकि उसका और कोई मूल नही है—मूले मूलाभावादमूलं मूलम्–साख्य सूत्र । उस मूल प्रकृति रूपी वृक्ष मे बिना फूल के विश्व रूपी फल लगा है अर्थात् सारा विश्व अव्यक्त प्रकृति का व्यक्त परिणाम है । यद्यपि उस वृक्ष में शाखाएँ और पत्ते नही है तथापि वह आठो दिशाओ मे फैला हुआ है । आठ दिशाओ में अष्टधा प्रकृति (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार) का सकेत है ।

इस क्षेत्र मे आत्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ का क्रियाकलाप चलता रहता है । वह ऐसा चेतन तत्व है कि बिना पैर के नृत्य करता है, बिना हाथो के बाजा बजाता है और बिना जिह्वा के गाता है अर्थात् सूक्ष्म रूप मे ही वह सारे क्रियाकलापों का मूलभूत आधार है । उस चेतन की कोई आकृति नही है, केवल सद्‌गुरु ही उस निराकार का बोध या परिचय करा सकता है ।

अतिम दो पक्तियो मे कबीर यह बताते है कि वह चेतन पुरुषोत्तम से किस प्रकार युक्त हो सकता है ? पुरुषोत्तम सभी सीमाओ से परे है, उसकी कोई सीमा नही । कबीरदास कहते है कि ऐसा पुरुषोत्तम जो सभी सीमाओ से (पार) परे है, मैं उसके प्रति आत्म-समर्पण करता हूँ । उससे युक्त होने के दो मुख्य मार्ग है—विहंगम मार्ग और मीन मार्ग ।

टिप्पणी—सिद्धों और योगियो द्वारा मुक्ति या परमार्थ के तीन मार्ग बताए गये है—पिपीलिका मार्ग, विहगम मार्ग और मीन मार्ग । पिपीलिका का अर्थ है—चीटी । चीटी धीरे-धीरे क्रम से चलती है । वह न कूद सकती है और न उड सकती है । जिस साधना द्वारा क्रम-मुक्ति प्राप्त होती है, उसे पिपीलिका मार्ग कहते है । यहाँ कबीर ने मुक्ति के लिए केवल दो मार्गो–विहगम मार्ग और मीन मार्ग को चुना है ।

विहंगम मार्ग के दो मुख्य लक्षण है—(१) विहंगम अर्थात् पक्षी अपने गन्तव्य स्थान को उडकर पहुँचता है, (२) उसके गमन का कोई पद-चिह्न नही रह जाता है । पक्षी की उडान के द्वारा सद्योमुक्ति का सकेत किया गया है और दूसरे लक्षण द्वारा आत्मा के परमात्मा तक गमन की रहस्यात्मकता को व्यक्त किया गया है ।

मीन मार्ग के भी दो लक्षण है । मछली के जल मे गमन का कोई चिह्न नही रह जाता है । यह लक्षण विहगम मार्ग के समान ही है । किन्तु मीन की दूसरी विशेपता यह होती है कि वह जलधार के विपरीत चलती है । इसके द्वारा यह संकेत

किया गया है कि जीव की विषयों के प्रति जाने की जो पराङ्मुखी प्रवृत्ति होती है, परमात्मा तक जाने के लिए उसे उलटकर प्रत्यङ्मुखी बनाना होगा।

महाभारत में भी विहंगम और मीन के अपद मार्ग का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

शकुन्तानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदम् यथा न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः॥

(शान्तिपर्व—१८१।१२)

अलंकार—विभावना

राग—रामकली

(३८)

आऊँगा न जाऊँगा मरूँगा न जिऊँगा।
गुरु कै साथि[1] अमी रस पिऊँगा॥ टेक॥
कोई फेरै माला कोई फेरे तसबी, देखौ रे लोगा दोनों कसबी।
कोई जावै मक्का कोई जावै कासी, दोऊ कै गलि परि गई पासी।
कहत कबीर सुनौ रे लोई, हम न किसी के न हमरा कोई॥

शब्दार्थ—तसबी (अ० तसबीह)=सुमिरिनी, माला। अमी=अमृत। कसबी=(अ० कस्ब)=व्यवसायी। पासी=फाँसी, बंधन, पाश। लोई=लोग।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में कबीर ने आत्मा के अमरत्व का प्रतिपादन किया है और बाह्याचार को निरर्थक बताया है।

व्याख्या—कबीर शुद्ध चैतन्य की दृष्टि से कहते है कि मैं न जन्म लूँगा, न मेरा मरण होगा और न मेरा कोई सांसारिक जीवन ही होगा। जिस प्रकार हमारे गुरु अमर है, वैसे ही हम भी अमृतत्त्व का रसास्वादन करेगे। हिन्दू माला फेरते हैं और मुसलमान तसबीह फेरते है। ये दोनो व्यवसायी है। मुसलमान मक्के की हज करते हैं, हिन्दू काशी की तीर्थयात्रा करते है। परन्तु दोनों बंधन से नही बचते। कबीर कहते है कि हे लोगो! सुनो। सांसारिक सम्बन्ध शरीरजन्य है। आत्मा न उत्पन्न होता है और न किसी दूसरे को उत्पन्न करता है।

राग—भैरव।

(३९)

आपन आस किये बहुतेरा, काहु न मरम पाव हरि केरा।
इन्द्री कहाँ करै बिसराम, सो कहँ गए जे कहते राम।

---

[1] ना० प्र०—सबद मैं रमि रमि रहूँगा।

सो कहँ गए जो होत सयाना, होय म्रितक वह पदहि समाना।
रामानद रामरस माते, कहँ कबीर हम कहि कहि थाके ॥

शब्दार्थ—आपन=अपने ऊपर। आस=भरोसा। मरम=मर्म, रहस्य। सयाना=चतुर। रामानन्द=राम नाम मे आनन्द लेने वाले।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में यान्त्रिक ढंग से राम नाम जपना अनावश्यक बताते हुए, उसके रहस्य को जानने का उपदेश दिया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि केवल अपनी साधारण बुद्धि पर भरोसा करके तथा बिना गुरु की सहायता के प्रभु का रहस्य नही जाना जा सकता। यह पता लगाने की आवश्यकता है कि इन्द्रियो की विश्रान्ति कहाँ है ? वे कहाँ लीन होती है ? जो रात दिन राम का नाम रटते थे, वे भी कहाँ गए ? जो अपने को बहुत चतुर समझते थे, वे भी कहाँ गए ? जो अपने अहंकार को नष्ट कर देता है, वह राम के वास्तविक स्वरूप मे लय हो सकता है। केवल राम नाम में आनन्द लेने वाले, नाम के रस में ही मतवाले रहते है। वे मर्म को नही समझ पाते। कबीर कहते है कि मर्म को समझने का प्रयत्न करो, केवल नाम रटने से कोई लाभ नही।

(४०)

आव वे आव मुझे हरि[1] को नाम, और सकल तजु कौने काम[2]।
कहँ[3] तब आदम कहँ[4] तब हव्वा[5], कँह[6] तब पीर पैगम्बर हुवा।
कहँ[7] तब जिमीं कहाँ असमान, कँह तब वेदकितेब कुरान।
जिन दुनिया मे रची मसीद[8], झूठा रोजा झूठी ईद।
साँचा एक अलह[9] को नाम, जाको नै नै करहु सलाम।
कहु धौं भिस्त कहाँ ते[10] आई, किसके कहे तुम छुरी चलाई।
करता किरतम बाजी लाई, हिन्दू तुरुक की राह चलाई।
कहँ[11] तब दिवस कहाँ तब राती, कहँ[12] तब किरतम की उतपाती।
नहिं वाके जाति[13] नहीं वाके पाँती, कहँ कबीर वाके दिवस न राती॥

शब्दार्थ—आव (फा०)=पानी (ला० अ०)=प्रतिष्ठा। वे=बिना। आदम=सामी धर्मो के अनुसार मूल पुरुष। हव्वा=मूल पुरुष की पत्नी। जिमी (फा०)=पृथ्वी। बाजी=खेल, तमाशा। कितेब=धर्मग्रंथ। मसीद=मस्जिद। नै नै=झुक झुककर। भिस्त (फा० बहिश्त)=स्वर्ग। किरतम=कृत्रिम। उतपाती=उत्पन्न किया।

---

१. शुक०—हरि नामा। २. शुक०—कामा। ३. शुक०—कहाँ ४. शुक०—कहाँ। ५. शुक० तव्वा। ६ शुक०—कहाँ। ७ शुक०—कहाँ। ८. शुक०—मसजीद। ९. शुक०—अल्लह। १०. शुक०—से। ११. शुक०—कहाँ। १२. शुक०—कहाँ। १३. शुक०—जात।

संदर्भ—हिन्दू-मुस्लिम आदि धर्म मानवकृत हैं। ईश्वर एक है। विभिन्न धर्मो का ईश्वर अलग-अलग नहीं है। उसी एक ईश्वर का स्मरण करना चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मुझे चाहे प्रतिष्ठा मिले या न मिले, मेरे लिए प्रभु का नाम ही सब कुछ है। संसार की अन्य वस्तुएँ हेय हैं, वे किस काम की हैं, केवल एक प्रभु ही उपादेय है।

वह विभिन्न धर्मों की मान्यताओं का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सृष्टि के आदि में न आदम थे, न हव्वा; न कोई पीर था, न पैगम्बर। उस समय तो पृथ्वी और आकाश भी नही थे और न वेद, इंजील या कुरान ही थे। जिन्होंने संसार में मस्जिद की प्रथा चलाई, आदि युग मे उनका भी अस्तित्व न था। रोजा और ईद भी केवल दिखावा है। केवल एक अल्लाह का नाम सत्य है, मुसलमान जिसका सिज्दा करते हैं, झुक झुककर जिसे सलाम करते है। पैगम्बर लोगों का कथन है कि हलाल विहित है। इसका खण्डन करते हुए कबीर कहते है कि हिंसा द्वारा जिस स्वर्ग का तुम्हें प्रलोभन दिया गया है, वह स्वर्ग कहाँ से आ गया ? किसके उपदेश से तुम पशु-वध को विहित समझते हो ? सभी धर्मो के निर्माता कृत्रिम हैं। यह उन्ही लोगों का खेल है। उन्ही लोगों ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय और पथ चलाए हैं, हिन्दू और मुसलमान धर्मों की कल्पना की है। सृष्टि के पूर्व न दिन था, न रात, केवल एक प्रभु विद्यमान था। उस समय कृत्रिम पंथ आदि कहाँ थे ? इनको किसने उत्पन्न किया ? उस प्रभु की कोई जाति-पाँति नही है। वह कालातीत है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

(४१)

आसन पवन दूरि[1] करि रउरा।
छाडि[2] कपट नित हरि भजि बोरा॥ टेक॥
का[3] सींगी मुद्रा चमकाए, का[4] विभूति सब अंग लगाए।
सो हिन्दू सो मूसलमांन, जिसका दुरुस रहै ईमान।
सो[5] जोगी जो धरै उनमनीं ध्यान, सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्मगियान।
कहै कबीर कछु आंन न कीजै, रांम नांम जपि लाहा लीजै॥

शब्दार्थ—आसन = योग के लिए शरीर के अंगो का विन्यास। पवन = प्राणायाम। रउरा = आप। बौरा = पागल, बावला। सींगी = शृंगी, हिरन के सीग का बना वाद्य। मुद्रा = कुण्डल, कान की बालियाँ। विभूति = भस्म। दुरुस (फा०

१. ना० प्र०—किए दिढ़ रहु रे। २. ना० प्र०—मन का मैल छाड़ि दे बौरे। ३. ना० प्र०—क्या ४. ना० प्र०—क्या। ५. ना० प्र०—सो ब्रह्मा जो कथै ब्रह्म गियान, काजी सो जाँनै रहिमाँन।

दुरुस्त)=ठीक, शुद्ध। उनमनी=उनके मन मे अर्थात् प्रभु मे। ब्रह्म गियान= आध्यात्मिक ज्ञान। ब्रह्मां=ब्राह्मण। आन=अन्य। लाहा=लाभ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर नाथपथी योगियो के बाह्याचार पर प्रहार करते हुए सच्चे हिन्दू, मुसलमान, योगी और ब्राह्मण की व्याख्या करते हैं।

व्याख्या—वह कहते हैं कि हे योगियो! आसन, प्राणायाम का बाह्याचार छोडो। अरे बावले! कपट त्यागकर सच्चे हृदय से प्रभु की भक्ति करो। सीग की तुरही बजाने और कानो मे शीशे का कुण्डल धारण करने से क्या लाभ? शुद्ध चित्त से प्रभु की भक्ति ही उत्तम योग है। सच्चा हिन्दू और सच्चा मुसलमान वही है, जिसमे प्रभु के प्रति वास्तविक निष्ठा है। सच्चा योगी वही है जो भागवती चेतना मे रत रहता है और सच्चा ब्राह्मण वही है जिसकी वाणी से वास्तविक आध्यात्मिक ज्ञान प्रकाशित होता रहता है। कबीर कहते है कि किसी प्रकार के अन्य उपाय की आवश्यकता नही है, केवल राम नाम के जप से जीवन सार्थक होगा।

टिप्पणी-उन्मनी ध्यान—उन्मनी अवस्था वह है जिसमें मन उत्क्रान्त हो जाता है। क्षेमराज ने 'उन्मना' की निम्नलिखित व्याख्या दी है—

मन उत्क्रम्य गता अनवच्छिन्न स्वप्रकाश स्फुरत्ता।

—श्रीनेत्रतन्त्र (भाग २, पृ० २८५)

अर्थात् उन्मना मन के ऊपर की वह स्थिति है जिसमे निर्बाध, स्वप्रकाश स्फुरण होता रहता है।

शास्त्र में इसी को उन्मना या उन्मनी अवस्था कहते है। कबीर बहुश्रुत थे। उन्होंने ज्ञानियो से 'उन्मना' शब्द अवश्य सुना था। किन्तु उन्होंने इसका प्रयोग अपने ढंग से किया है। उनके अनुसार 'उन्मनी' का अर्थ है—उनके (प्रभु के) मन में रत रहना अर्थात् भागवती चेतना मे रत रहना।

अलंकार—का सीगी' ···· लगाए—वक्रोक्ति।

राग—भैरव।

(४२)

[1]आहि मेरे ठाकुर तुम्हरा जोर।
काजी बकिबो हस्ती तोर॥ टेक॥
भुजा[2] बाँधि भेला करि डार्‌यौ, हस्ती कोपि मूंड मंहि[3] मार्‌यौ।
भाग्यौ हस्ती चीसा मारी, या[4] मूरति को हौं[5] बलिहारी।

---

१. ना० प्र०-गुस०-अहो मेरे गोव्यंद। २. ना० प्र०-गुस०-बाँधि भुजा भेलें। ३. ना० प्र०-मैं ४. ना० प्र०-वा। ५. ना० प्र०-मैं।

रे महावत तोकौं[1] मारौं साटि[2], इसहिं तुरावहु घालहु काटि[3]।
हस्ती न तोरै धरै धियांन, वाकै हृदै वसै भगवान।
क्या[4] अपराध संत है[5] कीन्हा, बाँधि पोटि कुंजर कौं[6] दीन्हा।
कुंजर पोट बहु वंदन करै, अजहूँ न सूझै काजी अंधरै।
तीनि वेर पतियारा लींन्हां, मन कठोर अजहूँ न पतीनां।
कहै कवीर हमरा[7] गोविन्द, चौथे पद महिं[8] जन की जिंद॥

शब्दार्थ—त्रकिवो=आदेश दिया। हस्ती=हाथी। तोर=नष्ट कर डालो। भेला=भेंट (दे० वृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमण्डल)। मूंड=सिर। महि=मैं। चीसा=चीखकर, चिग्घाड़ कर। साटि=डंडा, कोड़ा। तुरावहु=तोडवा डालो, नष्ट कर दो। पोटि=पोटली, गठरी। कुञ्जर=हाथी। पतियारा लीन्हा=आजमाइश की। पतीना=विश्वास, प्रतीति। जिंद=जिंदगी, जीवन। चौथापद=तुरीयावस्था ('तुरीय' शब्द चतुर+ईयट् प्रत्यय के योग से वना है। ईयट् प्रत्यय लगने पर 'च' का लोप हो गया=तुरीय)।

व्याख्या—कवीर कहते हैं कि हे मेरे प्रभु ! यह तुम्हारी ही शक्ति है कि जिसके द्वारा भयकर परिस्थिति मे भी मेरी रक्षा हो सकी। काजी ने आदेश दिया कि इसको हाथी से कुचलवा दो, नष्ट कर दो। उसके आदेश से मेरी दोनो भुजाओं को वाँधकर हाथी के सामने भेंट-स्वरूप डाल दिया गया। हाथी ने क्रोध मे आकर मेरे सिर पर प्रहार किया। किन्तु प्रभु का ऐसा अद्भुत चमत्कार हुआ कि मुझे विल्कुल चोट नहीं लगी, उल्टे उस हाथी के ही मस्तक में ऐसी वेदना पैदा हुई कि वह चीख मारकर भागा। मैं भगवान् के उस स्वरूप की वलिहारी जाता हूँ, जिसने मेरी रक्षा की। हाथी के भागने पर काजी ने समझा कि महावत उसे पूर्ण नियन्त्रण मे नही कर पा रहा है। अतः उसने रोष मे आकर कहा कि ऐ महावत ! तू इस व्यक्ति को हाथी द्वारा कुचलवा डाल और नष्ट कर दे अन्यथा मैं तुझे डंडो से पीट-पीटकर मरवा डालूँगा।

महावत के प्रयत्न करने पर भी हाथी मुझे तोड़ने या नष्ट करने के लिए तैयार नही हुआ। उसके हृदय में भगवान् वसे हुए थे। वह उन्ही का ध्यान धारण किए हुए था। तव वहाँ उपस्थित लोगो ने कहा कि इस सत ने क्या अपराध किया है कि तुमने उसकी पोटली वनाकर हाथी के सामने डाल दिया है। हाथी उस पोटली की वदना कर रहा था, फिर भी उस अंधे काजी की समझ मे रहस्य न आया। काजी ने

१. तिवारी—तुझ डरौं काटि। २. ना० प्र०—सॉटी ३. तिवारी—साटि, ना० प्र०—काटी। ४. ना० प्र०—कहा। ५ ना० प्र०—हौं। ६. ना० प्र०— कूँ। ७ ना० प्र०—हमारै गोव्यंद। ८ ना० प्र०—है जन क ज्यंद।

हाथी द्वारा आक्रमण कराने की तीन बार चेष्टा की, किन्तु वह तीनों बार विफल हुआ। फिर भी उस निष्ठुर काजी के हृदय में विश्वास न जगा।

कबीर कहते है कि मेरे गोविन्द स्वामी! तुम्हारी कृपा से इस जन (भक्त) का जीवन चौथी अवस्था (तुरीयावस्था) में पहुँचा गया है। वह अपने को तुमसे अभिन्न पाता है।

टिप्पणी—इस पद से उस जनश्रुति की पुष्टि होती है जिसके अनुसार सिकन्दर लोदी ने कबीर को हाथी के पैर के नीचे कुचलवाकर मार डालने का प्रयत्न किया था। महाराज विश्वनाथ सिंह ने 'कबीर साहब का बीजक' नामक ग्रन्थ मे इन घटना का उल्लेख इन शब्दो मे किया है—

पुनि इक मत मतग बोलायो। कचरावन हित सो बँधवायो।
गज को सिह स्वरूप सो, देखो परो कबीर।
भग्यो चिकारत नाग तब, भर्‌यो महा भय भीर॥ १०॥

(पृष्ठ २१)

राग—बिलावल।

(४३)

इह जिउ रांम नांम लिव लागै।
तौ जरा मरन छूटै भ्रम भागै॥ टेक॥
अगम द्रुगम गढ़ि रचिऔ बास, जामहि जोति करै परगास।
बिजुली चमकै होइ अनंद, तँह पउढ़े प्रभु बालगोविंद।
अबरन बरन स्यांम नहि पीत, हाहू जाइ न गावै गीत।
अनहद सबद होत झनकार, तँह पउढ़े प्रभु श्री गोपाल।
अखंड मंडल मडित मड, त्री असनांन करै त्री खंड।
अगम अगोचर अभिअंतरा, ताकौ पार न पावै धरनीधरा।
कदली पुहुप दीप परकास, ह्रिदा पंकज महि लिया निवास।
द्वादस दल अभिअंतर मंत, जहाँ पउढ़े श्री कंवलाकंत।
अरध उरध बिच लाइले अकास, सुन्नि मंडल महि करि परगासु।
ऊहां सूरज नांही चंद, आदि निरंजन करै अनंद।
जो ब्रह्मंडि पिंडि सो जांनु, मांनसरोवरि करि असनांनु।
सोहं हसा ताकौ जाप, ताहि न लिपै पुन्नि अरु पाप।
अबरन बरन[1] घांम नहि छांहां, दिवस न रात्ति कछू है तहाँ।
टार्‌यौ टरै न आवै जाइ, सहज सुन्नि महि रह्यौ समाइ।

१. तिवार—अमिलन मिलन।

मन मद्धे जानैं जे कोइ, जो बोले सो आपै होइ।
जोति मांहि मन असथिरु करै, कहै कबीर सो प्रानीं तरै॥

शब्दार्थ—लिव = लौ, ध्यान। द्रुगम = दुर्गम। परगास = प्रकाश। अवरन = अवर्ण, विना रंग का। हाहू = शोरगुल, कोलाहल। मंड = सजाना, मंडित करना। त्री = तीन (प्रात., मध्याह्न, सायं)। त्री खण्ड = त्रिकुटी। धरनीधरा = शेषनाग। कदली = केला (प्र० अ०) मेरुदण्ड। पुहुप = पुष्प (प्र० अ०) शून्य चक्र। दीप = ज्योति। द्वादस दल = (प्र० अ०) अनाहत चक्र (इसमे १२ दल होते हैं)। मत = मन्त्र। अरध = (अधर का विपर्यय) नीचे। उरध = ऊर्ध्व, ऊपर। मानसरोवर = मानस सरोवर, अमृतकुण्ड। लिपै = लिप्त होना। घांम = धूप। असथिर = स्थिर, समाहित।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने बताया है कि मानव-शरीर मे ही परम ज्योति का वास है। उसमें चित्त को समाहित करने से मनुष्य जरा-मरण से मुक्त हो सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यदि राम-नाम मे प्रेमपूर्वक ध्यान लग जाय तो जरा-मरण से मुक्ति मिल सकती है और अज्ञान निरस्त हो जाता है।

उस अगम्य एवं दुर्गम परम तत्त्व ने अपने निवास के लिए एक शरीररूपी दुर्ग रचा, जिसमे ज्योति प्रकाशित होती है। शरीर के भीतर ज्योति प्रकाशित हो रही है, जो आनन्द का स्रोत है। वही प्रभु का निवास है। वह अवर्ण वर्ण का है अर्थात् उसका कोई एक वर्ण नही है—न श्याम, न पीत। वहाँ न किसी प्रकार का कोलाहल है, न गीत है अर्थात् वहाँ पूर्ण शान्ति का साम्राज्य है। भीतर निरन्तर अनाहत ध्वनि होती रहती है, उसी मे प्रभु का संकेत मिलता है। त्रिकुटी अखण्ड मण्डलाकार है, जिसमे जीव तीन बार (प्रातः, मध्याह्न, साय) स्नान करता है अर्थात् उसमे निमग्न रहता है। वह बुद्धि और इन्द्रियो से परे है और अपने भीतर ही है, शेषनाग भी उसका पार नही पा सकते।

मेरुदण्ड के शिखर पर कमल के आकार का जो चक्र है, उसमे ज्योति का प्रकाश होता रहता है और हृदयरूपी कमल में आत्मा का निवास है। अनाहत चक्र (जिसमें द्वादश दल होते है) पर मन्त्र अभिव्यक्त होता है। (तन्त्र के अनुसार पाँच दल पर कवर्ग, पाँच दल पर चवर्ग और शेष दो दलों पर ट, ठ—ये १२ अक्षर अनाहत चक्र के कमल दल पर अभिव्यक्त होते है। इसे मन्त्र कहा गया है)। वही प्रभु का वास है।

नीचे (मूलाधार) और ऊपर (ब्रह्मरन्ध्र) के बीच मे आकाश या शून्य है, जिसका अवसान शून्य चक्र मे होता है, वहीं पर उसके प्रकाश का अनुभव होता है।

वहाँ न सूर्य है और न चन्द्र। वहाँ इन दोनो के बिना प्रकाश होता है। वह प्रकाश आदि निरजन है और आनन्दस्वरूप है।

जो ब्रह्माड मे है, वही पिण्ड में है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। पिण्ड में जो मानसरोवर (अमृतकुण्ड) है, उसीमे जीव को स्नान करना चाहिए। जो 'सोऽह्' और 'अह स.' का जप करता है, पाप-पुण्य उसका स्पर्श नही कर सकते। वह अवर्ण वर्ण का है, वहाँ न धूप है न छाया, न दिन है, न रात अर्थात् वह समस्त भौतिक और मानसिक द्वन्द्वो से परे है। जो स्वाभाविक (सहज) शून्य है, उसीमे वह तत्त्व विद्यमान है। वह न कही आता है, न जाता है और न टालने से टल सकता है। यदि कोई उसे अपने मन मे धारण करता है तो उसे पता चलता है कि बोलनेवाला अन्य कोई नही, उसी चेतन की शक्ति की अभिव्यक्ति है। कबीर कहते हैं कि जो आन्तरिक ज्योति मे मन को समाहित करता है, वह भव-सागर से पार हो जाता है।

तुलनीय—(१) ऊहाँ सूरज नाही चंद········

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं।
नेमा विद्युतो कुतोऽयमग्निः॥
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।
तस्य भासा सर्वमिद विभाति॥ —कठोपनिषद्

(२) टार्‌यो टरै न·····

तदेजति तन्नैजति। —ईशावास्योपनिषद्

(३) अवरन बरन········

तुर्फ वेरगी कि दारद रग हाये सद् हजार।
तुर्फ वेशक्ली कि दारद शक्ल हाये वेशुमार॥

"कितना आश्चर्य है कि जिसका अपना कोई रग (वर्ण) नही है, वह सहस्रो रगो का स्रोत है। कितना आश्चर्य है कि जिसकी अपनी कोई आकृति नही. वह अनन्त आकृतियो का उद्भव है।"

अलकार—(१) अवरन बरन——विरोधाभास।
(२) ऊहाँ सूरज नाही——विभावना।

राग—भैरव।

(४४)

इहि[1] ततु रांम जपहु रे[2] प्रांनी, तुम[3] बूझहु अकथ कहांनीं।
[4]जाकौ भाव होत हरि ऊपरि, जागत रैंनि बिहांनी॥ टेक॥

१ वि०-ये। २ वि०-हो। ३ ना० प्र० में 'तुम' नही है। ३. इति०-उपरि। ४. ना० प्र०-हरि कर भाव होइ जा ऊपरि।

डाइन डारै सुनहाँ डोरै, सिंघ रहै वन घेरे।
पाँच कुटुंब मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे[1]।
रोहै मिरिग ससा वन हांकै[2], पारधी[3] बांन न मेलै।
सायर जरै सकल वन दाझै[4], मंछ अहेरा खेलै।
सोई[5] पंडित सो तत ग्याता, जो इहि पदहि बिचारै।
कहै कबीर सोई गुरु मेरा, आप तिरै मोहि तारै॥

शब्दार्थ—ततु = तत्व। भाव = प्रेम। विहानी = व्यतीत हो गई। डाइन = राक्षसी (प्र० अ०) माया। सुनहां = श्वान (प्र० अ०) मन। डोरै डारै = (मुहा०) डोरा डालना, अपनी ओर आकृष्ट करना, परचाना। सिंह = (प्र० अ०) अहंकार। वन = (प्र० अ०) जीवन। पाँच कुटुंव = (प्र० अ०) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। रोहै = आरोहण करना, चढ़ाई करना। मिरिग = मृग (प्र० अ०) तृष्णा। ससा = शश, खरगोश (प्र० अ०) वासना। हाँकै = हँकवा लगाना। पारधी = शिकारी (प्र० अ०) जीवात्मा। मेलै = चलाना। सायर = सागर (प्र० अ०) शरीर। वन = (प्र० अ०) जीवन। दाझै = दग्ध होना। मंछ = मत्स्य, मछली (प्र० अ०) मन। अहेरा = शिकार।

संदर्भ—जीवन रूपी वन को कुप्रवृत्तियाँ रूपी हिंसक जन्तु नष्ट कर रहे है, परन्तु जीवात्मा रूपी शिकारी अपने कर्तव्य का पालन नही कर रहा है। कबीर इस पद मे चेतावनी देते है कि उसे अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे प्राणियो ! इस जीवन के सार तत्व राम हैं। तुम उनका स्मरण करो। जप का माहात्म्य वर्णनातीत है। इसका वर्णन नही किया जा सकता। अत. तुम स्वयं साधना करके इसे समझने का प्रयत्न करो। जिसके हृदय मे प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसको चैन कहाँ ? उसकी सारी रात जागते हुए बीतती है।

माया रूपी डाइन मन रूपी कुत्ते को डोरे डालती है अर्थात् अपनी ओर आकृष्ट करती है और इस जीवन रूपी वन पर अहंकार रूपी सिंह अधिकार जमाए हुए है। चतुर्दिक् विषयो का मनोहर घोष हो रहा है और पाँचो इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रही है।

तृष्णा रूपी मृग ने इस जीवन पर चढाई कर दी है। उसकी सारी हरियाली चरे जा रही है और वासना रूपी खरगोश चारो ओर से हँकवा लगाए हुए है ताकि जीव कही भाग कर न जाने पाए। यह सब होते हुए भी जीवात्मा रूपी शिकारी, जिसका कर्तव्य है जीवन रूपी वन की रक्षा, अनवधान है तथा उन पर बाण नही

१ ना० प्र०– संवेरै। २. ना० प्र०–बेरै। ३. वि०–पारथ बाना मेलै। ४. वि०– डाहैं। ५. वि०– कहहि कबीर सुनहु हो संतो, जो यह पद अरथावै। जो यह पद को गाय विचारै, आप तरै औ तारै।

चलाता है अर्थात् उन्हें जीवन-वन से नष्ट नही करता है। इस शरीर रूपी सागर में आग लगी है। (इसे कुप्रवृत्तियाँ नष्ट कर रही हैं)। इससे सारा जीवन रूपी वन नष्ट हो रहा है। फिर भी यह आश्चर्य है कि इस सागर मे रहने वाला मन रूपी मत्स्य, निश्चिन्त होकर शिकार खेलने मे तल्लीन है अर्थात् मन विषयो में ही लगा हुआ है। कबीर कहते है कि सच्चा पंडित और तत्व का सच्चा ज्ञाता वही है जो इस पद के मर्म को समझता हो। ऐसा ही ज्ञानी मेरा गुरु है, जो अपने को तारता है और मेरा भी उद्धार करता है।

अलंकार—विरोधाभास।

राग—गौरी।

(४५)

इहि विधि राँम सूँ लौं[1] लाइ।
चरन पासैं निरति करि, जिभ्या बिना गुन[2] गाइ॥ टेक॥
जहाँ स्वाति बूँद न सीप सायर, सहजि मोती होइ।
उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अंबर धोइ॥
जहाँ धरनि बरसै गगन भीजै, चंद सूरज मेल।
दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि॥
एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ॥
जहाँ बिछुर्यौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठो जाइ।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियो चाइ॥

शब्दार्थ—लाइ=लगाओ। पासे=पास, निकट। पवन=प्राण। साइर=सागर। अम्बर=आकाश (प्र० अ०) ब्रह्मरन्ध्र। धरनि=पृथ्वी (प्र० अ०) मूलाधार। पोयो=पिरोया है। सुअटा=शुक। गगन=(प्र० अ०) कपाल कुहर। चद सूरज (प्र० अ०) इडा-पिंगला। हंसा=(प्र० अ०) जीवात्मा। बिरष=वृक्ष (प्र० अ०) सुषुम्ना। नदी=(प्र० अ०) कुण्डलिनी। कनक कलस (प्र० अ०) सहस्रार। पच सुवटा=(प्र० अ०) पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। उदै=विकसित। बनराइ=वनराजि (प्र० अ०) अन्त करण। बटाऊवा=पथिक, बटोही। चाइ=उत्साहपूर्वक।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे आध्यात्मिक-यात्रा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रभु से इस प्रकार अनुराग करो। भगवान् के चरणो के निकट नृत्य करो और बिना जिह्वा के अर्थात् मन से उनके गुणो का स्मरण करो।

---

१. ना० प्र०-ल्यौं। २. ना प्र०-गुँण।

इसके वाद परम पद के स्वरूप का वर्णन करते हुए वह कहते हैं कि वहाँ न सागर है न स्वाति का बूंद है और न सीप है, फिर भी सहज ही मोती (प्रभु-साक्षात्कार) प्राप्त हो जाता है। इसके लिए ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने वाली प्राणशक्ति के द्वारा उस अनुभव रूपी मोती को धोकर (शुद्ध कर) उसमें नीर पिरोया अर्थात् उसको कांतिमय किया, उस अनुभव को विकसित किया। अनुभूतिदृगा के प्रादुर्भाव का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं कि इड़ा और पिंगला अर्थात् प्राण और अपान शक्तियों के मिल जाने से मूलाधार (धरनि) मे कुण्डलिनी का जागरण हुआ। फलस्वरूप प्राणशक्ति की वर्षा से सहस्रार तक भीग गया। दोनो (इडा-पिंगला) के एकाकार होने पर जीवात्मा आनन्दमग्न हो गया। सुषुम्ना (वृक्ष) के भीतर से प्राणशक्ति (नदी) प्रवाहित हुई और वह जाकर सहस्रार रूपी स्वर्ण-कलश मे समाविष्ट हो गई। प्राणशक्ति रूपी जल से अन्त-करण रूपी वनराजि विकसित हो गई और इस पर पंच-ज्ञानेन्द्रिय रूपी सुग्गे आकर वैठ गए अर्थात् वे ज्ञानेन्द्रियाँ जो पहले विषयोन्मुखी थी, अव अन्तर्मुखी हो गई। इस प्रकार जहाँ से विछुड़े थे; वही पहुँच गए अर्थात् सहस्रार स्थित परमपद मे स्थापित हो गए। भक्त कवीर ऐसे पथिक हैं जिन्होंने वड़े उत्साह से इस मार्ग को अपनाया।

अलंकार—(१) चरन पासे···· ···· ····होइ—विभावना
(२) जहाँ धरनि···· ···· ····मेल—विरोधाभास
(३) एक विरप···· ··· ····वनराइ—रूपकातिशयोक्ति

राग—सोरठ

(४६)

इहु धन मेरै हरि कै नांउँ।
गाँठि न वांधउं वेंचि न खांउँ॥
नांउँ मेरै खेती नांउँ मेरै वारी, भगति करउँ जन सरनि तुम्हारी।
नांउँ मेरै माया नांउँ मेरै पूँजी, तुमहि छांड़ि जानउं नहि दूजी।
नांउँ मेरै वंधिप नांउँ मेरै भाई, अंत की वेरियां नांउँ सहाई।
नांउं मेरै निरधन ज्यूं निधि पाई, कहै कवीर जैसे रंक मिठाई॥

शब्दार्थ—वारी = वाटिका। वंधिप = वंधु। नांउँ = नाम। माया = धन। रंक = दरिद्र।

व्याख्या—कवीर कहते हैं कि राम नाम ही सवसे वडा धन है। यह न तो गाँठ मे वाँधा जा सकता है और न वेचकर खाया जा सकता है। नाम ही मेरी खेती-वारी सव कुछ है। यह सेवक तुम्हारी शरण लेकर नाम-साधना द्वारा भक्ति करता है। मेरी सवसे वड़ी माया या धन नाम है, वही मेरी एक मात्र पूँजी है। हे प्रभु ! तुम्हारे अतिरिक्त मैं अन्य को नही जानता। नाम ही मेरा वंधु-वाधव है और अंत में नाम

ही सहायक हो सकता है। कबीर कहते है कि प्रभु का नाम मेरे लिए वैसे ही मूल्यवान् है जैसे कोई निर्धन बड़ी भारी निधि प्राप्त कर ले अथवा किसी दरिद्र को मिठाई मिल जाय।

अलंकार—(१) पूरे पद मे उल्लेख।
(२) गाँठि न बाँधउँ——व्यतिरेक।
(३) नाउँ मेरे निरधन ज्यूँ——उपमा।

राग—भैरव

(४७)

एक अचंभा ऐसा भया,
करनी[1] थैं कारन[2] मिटि गया ॥ टेक ॥
करनी[3] किया करम का नास, पावक माँहि पुहुप परकास[4]।
पुहुप माँहि पावक परजरै[5], पाप पुंन दोऊ भ्रम टरै।
प्रगटी बास वासना धोइ, कुल प्रगट्यौ कुल घाल्यौ खोइ।
उपाजी च्यंत च्यंत मिटि गई, भौ भ्रम भागा ऐसी भई।
उलटी गंग मेर कूँ चली, धरती उलटि अकासहि मिली।
दास कबीर तत ऐसा कहै, ससिहर उलटि राहु कौ गहै ॥

शब्दार्थ—अचभा = आश्चर्य। करनी = साधना। थै = से। कारन = जन्म-मरण का कारण अर्थात् अज्ञान। पावक = (प्र० अ०) कुण्डलिनी। पुहुप = पुष्प (प्र० अ०) चक्रकमल। परजरै = प्रज्वलित। च्यत = ज्ञान। च्यंत = सासारिक चिंताएँ। गंग = (प्र० अ०) कुण्डलिनी। मेरु (प्र० अ०) सहस्रार। धरती = (प्र० अ०) मूलाधार चक्र। अकासहि = (प्र० अ०) ब्रह्मरन्ध्र। तत = तत्व। ससिहर = चन्द्र (प्र० अ०) सोमरस। राहु = (प्र० अ०) विषय।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने साधना के द्वारा कुण्डलिनी के जागरण से चेतना के रूपान्तरण की स्थिति का वर्णन किया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि एक बड़े आश्चर्य की बात है। वह यह कि कर्म से कारण समाप्त हो गया अर्थात् साधना से जन्म-मरण का कारण (अज्ञान) नष्ट हो गया। प्राण शक्ति अथवा कुण्डलिनी (पावक) जब ऊपर चढती है, तब बीच मे चक्र रूपी पुष्पो का प्रकाश मिलता है। वह उनका भेदन करती हुई ऊपर चढती है। कमल-दल के समान शक्ति-चक्रो के भीतर से विद्युत् के समान चमकती हुई कुण्डलिनी सहस्रार की ओर बढती है और तब चेतना की वह स्थिति आती है जिसमे

१. ना० प्र०–करणी। २. ना० प्र०–कारण। ३. ना० प्र०–करणी। ४. ना० प्र०–प्रकास। ५ ना० प्र०–प्रजरै।

पाप-पुण्य दोनों का भ्रम समाप्त हो जाता है। पाप और पुण्य अहं को लेकर है। जब अहंभाव ही समाप्त हो जाता है, तब साधक पाप-पुण्य दोनों से परे हो जाता है। साधना के द्वारा उन पुष्पों में ऐसी शक्ति (वास) उत्पन्न होती है जिससे चित्त का रूपान्तरण हो जाता है। फलस्वरूप प्रसुप्त वासनाएँ नष्ट हो जाती है। पूर्ण का प्रकाश हो जाता है तथा समस्त कलमषों का विनाश हो जाता है। ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तथा सारी चिन्ताएँ समाप्त हो जाती है। उसका परिणाम यह होता है कि समस्त सांसारिक भ्रम दूर हो जाते हैं। कुण्डलिनी (गंगा) उलटकर सहस्रार (सुमेरुपर्वत) की ओर प्रवाहित होने लगती है। मूलाधार चक्र स्थित (धरती) कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में जाकर मिल जाती है। कबीरदास इस तत्व को स्पष्ट करते हुए कहते है कि तब सहस्रार में स्थित सोमरस (ससिहर) विषय रूपी राहु को ग्रस लेता है।

अलंकार—(१) करनी थै कारन मिटि गया—विरोधाभास।
(२) पावक·······टरै—रूपकातिशयोक्ति।
(३) कुल-कुल, च्यंत च्यंत—यमक।
(४) भौभ्रम·······भई—अनुप्रास।
(५) उलटी गंग·······गहै—विरोधाभास।

राग—भैरव।

(४८)

एक अचंभौ[1] देखा रे भाई।
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई ॥ टेक ॥
पहिलै पूत पिछै भई माई, चेला कै गुर लागै पाई।
जल की मछरी तरवरि ब्याई, कूता[2] कौं लै गई बिलाई।
बैलहि डारि गोंनि[3] घरि आई, घोरै[4] चढ़ि भैंस चरावन जाई।
तलि करि साखा[5] उपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकौं तीनिउँ त्रिभुवन सूझै ॥

शब्दार्थ—अचंभौ=आश्चर्य। सिंघ=सिंह (प्र० अ०) जीव। गाई=गाय (प्र० अ०) इन्द्रिय। पूत=पुत्र (प्र० अ०) साधक। माई=माता (प्र० अ०) साधना। चेला=शिष्य (प्र० अ०) साधक। गुरु=(प्र० अ०) अन्तरात्मा। मछरी=मछली (प्र० अ०) कुण्डलिनी। तरवरि=वृक्ष (प्र० अ०) सुषुम्ना। ब्याई=जन्म देना। कुत्ता=(प्र० अ०) विषय भोग की बाह्य प्रवृत्ति। बिलाई=(प्र० अ०) अन्तर्मुखी प्रवृत्ति। बैलहि=(प्र० अ०) अविवेक। गोनि=अनाज का थैला

१. ना० प्र०—अचंभा। २ ना० प्र०—पकरि बिलारी मुरगै खाई। ३ ना० प्र०—गूँनि। ४ ना० प्र०—कुत्ता कूँ लै गई बिलाई। ५ तिवारी—पत्ता।

(प्र० अ०) मन। घरि = घर मे (प्र० अ०) चैतन्य मे। घोरे = घोड़े (प्र० अ०) इन्द्रियाँ। भैंस = (प्र० अ०) शम। साखा = (प्र० अ०) नाडी-मंडल। मूल = (प्र० अ०) ब्रह्मरन्ध्र, चैतन्य। जड = मूल (प्र० अ०) चैतन्य, ब्रह्मरन्ध्र। फूल = (प्र० अ०) ज्ञान, मोक्ष, आनंद।

सदर्भ—इस पद मे ज्ञानोत्तर दशा का वर्णन है। जब आत्म-ज्ञान हो जाता है, तब मानव के भीतर क्या परिवर्तन होता है, उस स्थिति का यहाँ उल्लेख किया गया है।

व्याख्या—(वाच्यार्थ) कबीर कहते है कि हे भाई ! मैने एक आश्चर्य देखा कि सिंह खडा होकर गाय को चरा रहा है। पहले पुत्र हुआ और पीछे माता हुई। गुरु शिष्य का चरण स्पर्श करता है। जल मे रहने वाली मछली वृक्ष के ऊपर बच्चा देती है। बिल्ली कुत्ते को उठा ले गई। अनाज की थैली बैल को छोड़कर घर वापस आ गई। भैस घोडे पर चढकर चराने जा रही है। वृक्ष की शाखा नीचे की ओर है और जड ऊपर है। जड़ में तरह-तरह के फूल लगे हुए है। कबीरदास कहते है कि जो इस पद के रहस्य को समझता है, उसे तीनो लोको के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है।

(प्रतीकार्थ)—सामान्यत जीव इन्द्रियो के वश मे रहता है, पर सिद्धि प्राप्त होने पर इन्द्रियाँ जीव के वश मे आ जाती है, जीव का उन पर नियन्त्रण हो जाता है। वह जैसा चाहता है, इन्द्रियो की प्रवृत्ति उधर ही होती है। यही सिंह का गाय को चराना है।

पहले साधक होता है, तब साधना होती है और शिष्य या साधक जब पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी हो जाता है, विषयो से विरक्त हो जाता है, तब अन्तरात्मा उसे अपनी ओर खीचता है, आकृष्ट करता है। पहले साधक अन्तरात्मा के साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील था, किन्तु सिद्धि के निकट पहुँचने पर स्वयं अन्तरात्मा उसकी ओर उन्मुख होता है, उसे अपनी ओर लाने का प्रयत्न करता है। यही गुरु का शिष्य के पैर लगना है। कबीर ने एक साखी मे भी कहा है—

कबीर मन मिरतक भया, दुरबल भया सरीर।
पाछे लागे हरि फिरै, कहै कबीर कबीर ॥

मूलाधार मे स्थित कुण्डलिनी उत्थित होकर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र (गगन मडल) मे पहुँचकर ज्ञान को जन्म देती है। विषयोन्मुख बहिर्मुखी प्रवृत्तियो (कुत्ता) का अन्तर्मुखी प्रवृत्ति (बिलाई) अपहरण कर लेती है।

सामान्यत. मन अविवेक के वश मे रहता है, किन्तु सिद्धावस्था मे मन (गोनी) अविवेक (बैल) को चैतन्य (घर) की ओर ले जाता है। साधारणतः

इन्द्रियो की प्रवृत्ति में रजस् तत्व की प्रधानता रहती है। वे क्षोभ के वश में कार्य करती हैं। सिद्धावस्था में इन्द्रियो (घोड़े) पर क्षोभ के स्थान पर शम (भैंस) का अधिकार हो जाता है और उसके निर्देशन में इन्द्रियाँ कार्य करती हैं।

मानव का ऐसा निर्माण हुआ है कि ऊपर मूल (ब्रह्मरन्ध्र, मस्तिष्क, चैतन्य) रहता है और नीचे शाखाएँ (नाड़ी-मण्डल)। सिद्धावस्था मे इस मूल मे ज्ञान, मोक्ष या आनंद के पुष्प खिलते हैं। कबीरदास कहते है कि सिद्धावस्था के इस मर्म को जो जान लेता है, उसे तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है।

टिप्पणी—मूल—स्थूल शरीर-विज्ञान की दृष्टि से मूल का तात्पर्य 'मस्तिष्क' है, जिससे सारी नाड़ियाँ नीचे की ओर चलती है। सूक्ष्म देह-विज्ञान की दृष्टि से मूल 'ब्रह्मरन्ध्र' है और इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना आदि नाड़ियाँ 'शाखाएँ' है। तात्विक दृष्टि से चैतन्य सबका मूल है और स्थूल अभिव्यक्तियाँ उसकी शाखाएँ हैं। गीता मे भी कहा गया है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (१५।१)

अलंकार— (१) 'मूल' शब्द में श्लेष।
(२) रूपकातिशयोक्ति।
(३) यह उलटवाँसी है।
(४) 'तीनिउँ त्रिभुवन' में पुनरुक्ति दोष।

राग—गौरी।

(४९)

एक सुहागिनि जगत पियारी।
सगले जीअ[१] जंत की नारी॥ टेक॥
खसम मरै तौ[२] नारि न रोवै, उस रखवारा अउरो होवै।
रखवारे का होइ बिनास, आगै[३] नरक इहां[४] भोग बिलास।
सुहागिनि गलि सोहै हार, संत कौ बिख बिलसै[५] संसार।
करि[६] सिगार बहै पखिआरी, संत की ठिठकी फिरै बिचारी।
संत भजै[७] वा पाछै परै, गुरु के सबदनि मार्‍यौ[८] डरै।
साकत कै यहु पिंड परांइन, हमरी दृष्टि परै त्रिखि[९] डांइनि।

---

१. ना० प्र०—सकल जीव। २. ना० प्र०—त्रा। ३. ना० प्र०—उतहि। ४. ना० प्र०—इत ५. तिवारी-बिगसै। ६. ना० प्र०—पीछै लागी फिरै पनिहारी। ७. तिवारी—भागै। ८. तिवारी—मारहु। ९. ना० प्र०—जैसे।

अव हम इसका पाया भेउ, हुए क्रिपाल मिले गुर देव।
कहै कवीर अव[1] बाहरि टरी[2], संसारी कै अंचलि परी[3] ॥

शव्दार्थ—सुहागिनि = सौभाग्यवती (प्र० अ०) माया। सगले = सकल, सम्पूर्ण। खसम = पति। रखवारा रखने वाला। पखिआरी = पीछे। ठिठकी = डरी हुई, त्रस्त। मार्‌यौ = कारण। पिंड पराइन = पीछे पडी रहती है। त्रिखि = तृपित, प्यासी। भेउ = भेद, रहस्य।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे माया के सर्वव्यापी अहितकारी प्रभाव का वर्णन है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि माया एक सुदरी स्त्री है, जो एक की न होकर सारे जगत् की प्रिया है। कहने को तो वह 'सौभाग्यवती' है, किन्तु वह सभी जीव-जन्तुओ की प्रिया है। प्रिय के मरने पर वह दुःखी नही होती, वल्कि दूसरे की प्रिया हो जाती है। उसको रखनेवाला यहाँ भले ही भोग विलास करे, किन्तु मरने के वाद उसे नरक की प्राप्ति होती है।

माया रूपी सुन्दरी के गले मे आकर्पक वासना रूपी हार है, जो संतो के लिए विप-तुल्य है, किन्तु सावारण सांसारिक जनो के लिए विलास का साधन है। यह सुन्दरी पूर्ण शृगार करके लोगो के पीछे लगी रहती है, किन्तु संतो को देखकर वेचारी त्रस्त होकर लौट आती है। सत उसके आकर्पण मे नही आता, उससे दूर ही रहता है। यद्यपि वह उसे भी आर्कपित करने की चेष्टा करती है। किन्तु सद्‌गुरु के उपदेश के कारण डरती रहती है। वह शाक्तो के पिंड पडी रहती है अर्थात् वाममार्गी शाक्तों की वह सुदर सावन वन जाती है। हम सतो की दृष्टि मे वह एक प्यासी डाइन के समान अहित करने वाली प्रतीत होती है। कवीर कहते है कि सद्‌गुरु मिल गए और मुझ पर कृपा कर दी, इसलिए मैने इसका रहस्य समझ लिया है। यद्यपि वह ससारी जनो के पीछे पडी रहती है तथापि मुझसे वह दूर ही रहती है।

अलकार—(१) एक सुहागिनि जगत पियारी—विरोधाभास।
(२) 'हार' शव्द मे रूपकातिशयोक्ति।

राग—विलावल।

(५०)

एहि विधि सेइए[4] श्री नरहरी।
मन की दुविधा मन परिहरी ॥ टेक ॥
जहाँ नहीं तहाँ कछु जांनि, जहां नहीं तहां लेहु पिछानि।
नाहीं देखि न जइए भागि, जहां नहीं तहँ रहिए लागि।

१. ना० प्र०-इव। २. ना० प्र०-परी। ३. ना० प्र०-टिरी। ४. ना० प्र०-सेविए।

मन मंजन करि दसवैं द्वारि गंगा जमुनां संधि बिचारि।
विंदहि[1] नाद कि नादहिं बिंद, नादहिं बिंद मिलै गोबिंद।
देवी न देवा पूजा नहिं जाप, भाई न बंध माय नहीं बाप।
गुन[2] अतीत जस निरगुन आप, भरम[3] जेवरी जग कियौ सांप।
तन नांहीं कब जब मन नांहि, मन परतीति ब्रह्म मन मांहि।
परिहरि बकला[4] ग्रहि गुन डारि, निरखि देखि निधि वार न पार।
कहै कबीर गुर परम गियांन, सुन्नि मंडल मैं धरौ धियान।
पिंड परे जिउ जैहै जहाँ, जीवत ही लै राखौ तहाँ॥

शब्दार्थ—नरहरी=नृसिंह भगवान्। परिहरी=त्याग दे। नही=शून्य। कछु=तत्व। पिछांनि=पहचान लो। दसवैं द्वारि=कपाल कुहर के भीतर तालु मे स्थित सूक्ष्म छिद्र। गंगा=(प्र० अ०) इडा। जमुना=(प्र० अ०) पिंगला। जेवरी=रस्सी। आप=आत्मतत्व। परतीति=निष्ठा। बकल=वल्कल, छाल। पिंड=शरीर।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने यह बतलाया है कि शून्य के पीछे एक परम-तत्व है। उसे शब्दों में व्यक्त नही किया जा सकता। साधक को उसी परम तत्व में समाविष्ट होने का प्रयत्न करना चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रभु मे इस प्रकार निष्ठा लगानी चाहिए जिससे मन अपनी दुविधाओ को स्वयं त्याग दे। जहाँ तुम्हे शून्य की प्रतीति होती है, वही समझो कि उसके पीछे कुछ है। जहाँ शून्य है, वही तत्व को पहचानो। शून्य की प्रतीति होने पर विरत मत हो जाओ, वही पर अनुरक्त रहो। इड़ा-पिंगला के सधि-स्थल (आज्ञा चक्र) पर ध्यान लगाओ और मन को दसवें द्वार मे स्नान कराओ अर्थात् मन को उसमें समाहित कर दो।

विंदु अर्थात् घनीभूत सृष्टि-तत्व मे नाद अर्थात् परावाक् या सूक्ष्मभूत स्पन्द-नात्मक सृष्टि तत्व है अथवा परावाक् मे बिन्दु या घनीभूत सृष्टितत्व है ? इस विवाद से कोई लाभ नही। नाद और बिन्दु दोनो गोविन्द में मिलते है अर्थात् सभी का आधार-भूत प्रभु है। नाद और बिन्दु तो साधन है। इनके द्वारा आधारभूत गोविन्द मिलते है।

परमतत्व की उपलब्धि की स्थिति मे अर्थात् अद्वैत मे प्रतिष्ठित होने पर न कोई देवी रह जाती है, न देव; न पूजा रह जाती है, न जप। ये सब निरर्थक हो जाते है। उस स्थिति मे सारे सम्बन्धो की भी समाप्ति हो जाती है। वहाँ न कोई अपना भाई-बन्धु है और न माँ-बाप। ये सारे सम्बन्ध मन और शरीर को लेकर

१. ना० प्र०—नादहि ब्यंद कि ब्यंदहि नाद। २. ना० प्र०— गुणातीत। ३. ना० प्र०-भ्रम। ४. ना० प्र०—बकुला।

है। उस स्थिति में मन-शरीर रूपी आपा की समाप्ति हो जाती है। फिर इन सम्बन्धो की प्रतीति कहाँ रह जाएगी ?

आत्मतत्व सारे गुणो से अतीत निर्गुण रूप मे है। सारा संसार भी सिद्धावस्था की स्थिति मे आत्मतत्ववत् प्रतीत होता है। वहाँ आत्मतत्व के अतिरिक्त और कुछ नही। जैसे भ्रम की अवस्था मे रज्जु मे सर्प की प्रतीति होती है, वैसे ही अज्ञान की दशा मे ब्रह्म या आत्मतत्व मे संसार की प्रतीति होती है। किन्तु भ्रम के हट जाने पर जैसे केवल रस्सी रह जाती है, वैसे ही ज्ञान की अवस्था मे केवल ब्रह्म या आत्मतत्व का बोध रह जाता है।

जब सकल्प-विकल्पात्मक मन का विलय हो जाता है, तब तन से तादात्म्य-भाव समाप्त हो जाता है और पूर्ण मुक्त होने पर यह शरीर मिलता भी नही। शरीर द्वारा संसरण समाप्त हो जाता है। जब मन में पूर्ण निष्ठा का जागरण होता है, तब मन मे ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है।

त्रिगुणात्मक उपाधि रूपी बल्कल को छोडकर सार तत्व रूपी डाल को पकडो। ब्रह्म या आत्मा ही तात्विक डाल है। उसके अतिरिक्त सभी कुछ निस्सार छाल है। तत्व जीवन की परम निधि है। उसकी कोई सीमा नही है। उसी का साक्षात्कार करो।

कबीर कहते है कि गुरु का परम उपदेश यही है कि शून्य चक्र में ध्यान लगाओ। शरीर के छूट जाने पर जिस चैतन्य मे जीव जाएगा, जीते ही जी उस शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहो।

टिप्पणी—नाद-बिन्दु—नाद ब्रह्म की वह मूलभूत सर्जनात्मक स्पंदात्मक शक्ति है जो कि एक साथ ही ज्योति और शब्द दोनो है। उस नाद से एक घनीभूत अवस्था व्यक्त होती है जो कि सर्वसृष्टि का बीज है। उसे 'बिन्दु' कहते है। यह बिन्दु त्रिधा विभक्त होता है—बिन्दु, बीज और नाद।

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् ।
आसीच्छक्तिस्ततोनादो नादाद् बिन्दु समुद्भवः ॥७॥
परशक्तिमय. साक्षात् त्रिधाऽसौ भिद्यते पुनः ।
बिन्दुर्नादोबीजमिति तस्य भेदाः समीरिता. ॥८॥

(शारदातिलक—१)

यतः नाद से पहले बिंदु होता है और बिन्दु से फिर बिन्दु, बीज और नाद होता है, इसीलिए प्रायः यह भ्रांति होती है कि नाद से बिन्दु है अथवा बिन्दु से नाद। किन्तु इस भ्रान्ति का कोई अवकाश नही है, क्योंकि मूलभूत नाद और बिन्दु वस्तुतः

परनाद और परविन्दु से निसृत हैं और विन्दु जब त्रिधा विभक्त होता है, तब जो विन्दु और नाद उत्पन्न होता है, वह अपर विन्दु ओर अपर नाद है। कबीर ने 'विन्दुहि नाद कि नादहि विन्द' मे उपर्युक्त मतभेद का संकेत किया है। उनका कहना है कि यह विवाद व्यर्थ है। वस्तुत. नाद और विन्दु दोनो के अधिष्ठान गोविन्द हैं। उन्ही से मिलन के लिए साधक को लक्ष्य बनाना चाहिए।

अलंकार—(१) मन की दुविधा मन परिहरी—विरोधाभास।
(२) जहाँ नहीं तहाँ कछु जानि—विभावना।
(३) विन्दहि नाद कि नादहि विंद—संदेह।
(४) भरम जेवरी जग कियौ साँप—रूपक।
(५) परिहरि बकला—रूपकातिशयोक्ति।

राग—भैरव।

(५१)

ऐसा अद्भुत मेरे गुरु कथा[1], मैं रह्या[2] उमेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै॥ टेक॥
मूसा पैठा बाँबि मैं, लारै साँपिनि[3] धाई।
उलटि मूसै साँपिनि[4] गिली, यहु अचरजु भाई॥
चींटी परबत ऊखारिया[5], लै राख्यौ चौड़ै।
मुर्गा मिनकी सों लड़ै, झल पांनी[6] दौड़ै॥
सुरही चूषै बछतलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुँनी[7] भया, सारदूलहि मारै॥
भील लुका[8] बन बीझ मैं, ससा सर मारै।
कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि बिचारै॥

शब्दार्थ—कथा=कहा। उमेषै=आश्चर्यचकित रह गया। मूसा=चूहा (प्र० अ०) साधक जीव। हस्ती=हाथी (प्र० अ०) माया। पेषै=देखता है। बाँबि=साँप का बिल। साँपिनि=(प्र० अ०) विषय। लारै=पीछे लगना। गिली=निगल गई। चीटी=(प्र० अ०) साधक जीव की अन्तर्वृत्ति। पर्वत=(प्र० अ०) विषय। चौड़े=अनाज रखने का गढ्ढा। मिनकी=बिल्ली (प्र०अ०) वासना। सुरही=सुरभी, गाय। चूषै=चूसती है। बछतलि=बछड़े के नीचे। बछा=बछड़ा। गुनी=कुशल। नवल=नेवला। सारदूलहि=सिंह को (प्र०

---

१. ना० प्र०—कथ्या। २. ना० प्र०—रह्या। ३. ना० प्र०—सॉपणि। ४. ना० प्र०—सॉपणि। ५. ना० प्र०—ऊपण्याँ। ६. ना० प्र०—पाँणी। ७. ना० प्र०—गुँणो। ८. ना० प्र०—लूक्या।

अ०) उन्मत वासना । भील=शिकारी (प्र० अ०) मोह । बीझ=एकान्त, विजन । झल=विषयाग्नि । ससा=खरगोश । सर=बाण ।

संदर्भ—सामान्य जीव विषयो के वश में रहता है, किन्तु सिद्ध साधक विषयो पर नियन्त्रण कर लेता है ।

व्याख्या—मेरे गुरु ने एक ऐसा अद्भुत सत्य बताया कि मैं आश्चर्यचकित रह गया । वह आश्चर्य यह है कि चूहा हाथी से लड़ता है अर्थात् साधक माया से भिड़ता है । इसे कोई विरला पुरुष ही जान पाता है । साधक (चूहा) विषयो (बावि) की ओर उन्मुख होता है और विषय रूपी सर्पिणी उसके पीछे लग जाती है । किन्तु आश्चर्य यह है कि चूहा ही उलटकर सर्प को निगल लेता है अर्थात् साधक विषयो को वश में कर लेता है । साधक की अन्तर्वृत्ति (चीटी) विषय रूपी पर्वत को उखाड़ फेंकती है और उसे गड्ढे में डाल देती है । साधक (मुर्गी) वासना (बिल्ली) से संघर्ष करता है और विषयाग्नि भक्ति के जलाशय में मिल जाती है । गाय बछड़े के नीचे मुँह से चूसती है अर्थात् भक्ति से आत्मबोध होता है और आत्मबोध (बछड़ा) से आनन्द (दूध) की सृष्टि होती है । साधक का चित्त (नेवला) ऐसा कुशल हो गया है कि वह वासना के उन्मत्त सिंह को मार डालता है । मोह रूपी शिकारी भयभीत होकर एकान्त वन मे छिप जाता है और साधक (खरगोश) उस पर ज्ञान के बाण से प्रहार करता है । कबीर कहते है कि जो इस पद के रहस्य को समझता है, वह मेरे गुरुतुल्य है ।

अलंकार—(१) उल्लेख ।
(२) विरोधाभास ।

इस पद में उलटबाँसी है ।

राग—रामकली ।

(५२)

ऐसा ग्यांन बिचारि लै, लै लाइ, लै ध्यांनां ।
सुन्नि मंडल मैं घर किया, जैसै रहै सिचांनां ॥ टेक ॥
उलटि पवन कहां[1] राखिए, कोई मरम बिचारै ।
सांधै तीर पताल कौं[2], फिरि गगनहिं मारै ॥
कंसा नाद बजाइले, धुनि निमसिले कंसा ।
कंसा फूटा पंडिता, धुनि कहां निवासा ॥
पिंड[3] परे जिउ कहां रहै, कोई मरम लखावै ।
जीवत तिस[4] घरि जाइऐ, ऊँधै मुखि नहि आवै ॥

---

१. ना० प्र०–कह्याँ । २. ना० प्र०—कूँ । ३. ना० प्र०–प्यंड । ४. ना० प्र०–जिस ।

सतगुर मिलै त पाइऐ, ऐसी अकथ कहांनीं[1]।
कहै कबीर संसा गया, मिला सारंगपांनीं[2]॥

शब्दार्थ—लै लाइ=लौ लगाकर, ध्यान लगाकर। लैं ध्यानां=ध्यानस्थ होकर। सुन्नि मंडल=शून्यचक्र, ब्रह्मरन्ध्र। सिचानां=(सं० सचान) वाज पक्षी। राखिए=निरुद्ध कीजिए। मरम=मर्म, रहस्य। सांधे=संधान करना। पताल=(प्र० अ०) मूलाधार चक्र। गगनहि=शून्य चक्र। कांस=कांस्य, काँसा, झाँझ। निमसिले=समाप्त हो जाना, वन्द हो जाना। धुनि=ध्वनि। निवासा=समा जाना। पिंड=शरीर। परे=उपरान्त, विनाश होने पर। तिस=उस (परमतत्त्व)। ऊँधे मुखि=नीचे मुख करके गर्भ मे आना। सारंगपानी=धनुषधारी विष्णु।

संदर्भ—इस पद में कवीर ने यह वतलाया है कि जीव परमतत्त्व से आता है और पुनः उसी में समा जाता है।

व्याख्या—कवीर कहते हैं कि हे जीव! उस परमतत्त्व के रहस्य को समझो और लौ लगाकर उसी परमतत्त्व में ध्यानस्थ हो जाओ। साधना की सिद्धि यही है कि चेतना शून्यचक्र में स्थित हो जाय और साधक अपने लक्ष्य मे उसी प्रकार एकाग्र-चित्त हो जैसे वाज पक्षी अपने शिकार के लिए दत्तचित्त रहता है।

इस रहस्य पर विचार करना चाहिए कि प्राण को उलटकर कहाँ निरुद्ध किया जाता है? इसका उत्तर है कि प्राण-अपान को निरुद्ध करके सुषुम्ना में स्थिर कर देना चाहिए। यही साधना का रहस्य है। जैसा कि 'हठयोग प्रदीपिका' (तृतीयोपदेश) में कहा गया है—

इडां च पिंगलां वद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि॥ ७४॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्॥ ७५॥

तीर का नीचे की ओर लक्ष्य के प्रति संधान करके आकाश की ओर मारना चाहिए अर्थात् मूलाधार मे कुण्डलिनी को उत्थित करके शून्य चक्र (गगन मण्डल) की ओर ले जाना चाहिए।

कांस्य से वने हुए झाँझ को यदि वजाया जाय तो ध्वनि उत्पन्न होकर उसी झाँझ मे समाप्त हो जाती है। कवीर पुस्तकीय ज्ञानियो पर व्यंग्य करते हुए कहते है कि तुम विचार करके वताओ कि झाँझ फूटने पर ध्वनि कहाँ चली जाती है? इसी प्रकार कोई यह रहस्य भी नही जानता कि इस शरीर के विनष्ट होने पर जीव कहाँ जाता है? कवीर के कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार झाँझ के फूटने पर ध्वनि अपने मूल में समा जाती है, उसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर जीव अपने मूल (परमतत्त्व) मे लीन हो जाता है।

---

१. ना० प्र०–कहाँणी। २. ना० प्र०–सारंगपाँणी।

कबीर का उपदेश है कि जीव का लक्ष्य जीते जी ही उस घर मे जाने का होना चाहिए अर्थात् उस परमतत्व को प्राप्त करने का होना चाहिए जिससे उसे पुनः औधा मुँह करके गर्भ मे न आना पडे अर्थात् पुन. जन्म न लेना पडे। ('जीवत' शब्द मे जीवन्मुक्ति का सकेत है)। यह ऐसा अनिर्वाच्य रहस्य है कि सद्गुरु मिलने पर ही जाना जा सकता है। सद्गुरु मिलने पर सभी संशय समाप्त हो जाते है और प्रभु (सारगपाणि) से मिलन हो जाता है अर्थात् जीव की भागवती चेतना मे स्थिति हो जाती है।

अलंकार—(१) ऐसा ज्ञान विचारि लै, लै लाइ, लै ध्याना—यमक।
(२) जैसे रहै सिचानां—उपमा।
(३) साधे तीर…… मारै—विरोधाभास।

राग—रामकली।

(५३)

ऐसा ग्यांन बिचारु मनां[१]।
हरि किन सुमिरै दुख भंजनां ॥ टेक ॥
जब लगि मेरी[२] मेरी करै, तब लगि काजु एक नहिं सरै।
जब मेरी मेरी[३] मिटि जाइ, तब प्रभु[४] काज सँवारै आइ।
जब लगि सिंह[५] रहै बन मांहि, तब लगि यहु बन फूलै नाहि।
उलटि सियार[६] सिंह कौं खाइ, तब यहु फूलै सभ बनराइ।
जीतौ[७] बूड़ै हारौ तिरै, गुरु परसादि जीवत ही मरै।
दास कबीर कहै समझाइ, केवल रांम रहहु लिव लाई[८] ॥

शब्दार्थ—भंजनां=नष्ट करने वाले। सरै=सिद्ध होना। मेरी मेरी ममत्व। सँवारै=सम्पन्न करना। सिंघ=(प्र० अ०) अहंकार। बन=(प्र० अ०) अन्तःकरण। सियार=शृगाल (प्र० अ०) मन। तिरै=उद्धार होना। लिव=लौ, ध्यान।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए अहं और ममत्व का विनाश आवश्यक है।

व्याख्या—हे मन ! तू विवेक को धारण कर। दुःख काटने वाले प्रभु का तू सुमिरन क्यो नही करता ? तेरी आध्यात्मिक उन्नति मे अहं और ममत्व बाधक है। जब तक तू मैं और मेरे के चक्कर मे रहेगा, तब तक तेरी वास्तविक उन्नति का एक

---

१. ना० प्र०-विचारि रे मनाँ। २ ना० प्र०-मैं मैं। ३. ना० प्र०-यहु मैं मेरी। ४. ना० प्र०-हरि। ५. ना० प्र०-स्यंघ। ६. ना० प्र०-स्याल स्यंघ कूँ खाइ। ७. ना० प्र०-जीत्या डूबै हारया। ८. ना० न०-रहौ ल्यौ लाइ।

भी कार्य सिद्ध नही होगा। जब तुम्हारा 'अहं' और ममत्व का भाव मिट जाएगा, जब तुम पूर्णरूप से प्रभु को आत्म समर्पण कर दोगे, तब प्रभु स्वयं तुम्हारे जीवन के परम लक्ष्य की पूर्ति करेंगे।

जब तक अन्तःकरण रूपी वन मे अहंकार रूपी सिह अनियन्त्रित रूप मे विचरता है, तब तक यह अन्त.करण रूपी बन पुष्पित नही हो सकता अर्थात् तब तक इसमें वे शुद्ध संस्कार नही जाग सकते जिनके द्वारा जीवात्मा और परमात्मा का मिलन हो सकता है।

सामान्यत. अन्त.करण में अहंकार इतना प्रबल होता है कि वह मन को दबाए रहता है। जैसे सिह इतना प्रबल होता है कि शृगाल का साहस नही होता कि उसका सामना करे, वैसे ही प्रबल अहंकार के समक्ष सामान्य मानव का मन उस पर अपना आधिपत्य नही जमा पाता। परन्तु गुरु-कृपा से मन मे इतनी शक्ति आ जाती है कि जो मन पहले अहंकार से दबा हुआ था, वही उलटकर अब अहंकार को दबा लेता है। उसे विगलित कर देता है। (यही उलटकर सियार द्वारा सिंह को खाना है)। तब मानव का समस्त जीवन रूपी वन विकसित हो जाता है।

जब अहंकार की विजय रहती है, उसका प्राबल्य रहता है, तब जीव इस भव-सागर मे डूबा रहता है अर्थात् वह विषय-वासना आदि में आसक्त रहता है। जब अहंकार हारता है अर्थात् जब मन की अहंकार पर विजय हो जाती है, तब जीव भव-सागर पार कर जाता है अर्थात् मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। सामान्यतः जीवन में अहंकार छाया रहता है, अहंकार ही जीवन बन जाता है। किन्तु जब गुरु-कृपा से अहंकार का विनाश हो जाता है, तब वास्तविक जीवन का उदय होता है। अहंकार मर जाता है, जीव का वास्तविक जीवन प्रारम्भ होता है। 'जीवत ही मरै'—की यही व्यंजना है। कबीर समझाकर कहते हैं कि केवल राम का ध्यान और सुमिरन करो।

टिप्पणी—सूफियो ने गुरु को 'कातिल' कहा है, जैसे—

जब से सुना है
मरने का नाम जिंदगी है।
सर से कफन लपेटे,
कातिल को ढूँढते है॥

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास।

राग—भैरव।

(५४)

ऐसा ध्यान धरौ नरहरी।
सबद अनाहद चिंतन[1] करी॥ टेक॥

---

१. ना० प्र०-च्यंतन।

पहिले[1] खोजौ पंचे बाइ, बाइ बिंदु[2] ले गगन समाइ।
गगन जोति तहँ त्रिकुटी संधि, रवि ससि पवनां मेलौ बंधि।
मन थिर होइ त कँवल प्रकासै, कवँला माँहि निरंजन बासै।
सतगुर संपुट खोलि दिखावै, निगुरा होइ तो कहा[3] बतावै।
सहज लछिन ले तजो उपाधि, आसन दिढ़ मुद्रा[4] पुनि साधि[5]।
पुहुप पत्र जहँ हीरा मनीं[6], कहै कबीर तहँ त्रिभुवन धनी[7]॥

शब्दार्थ—नरहरी=प्रभु। करी=करके। पचे बाइ=पच प्राण। गगन=ब्रह्मरन्ध्र। बिंदु=वह प्रकाश जो आज्ञा चक्र मे प्रकाशित होता है। त्रिकुटी=भौंहो के मध्य का स्थान। रवि-ससि=(प्र० अ०) इडा-पिंगला, प्राण-अपान। त=तो। कवँल=हृत्कमल। निरजन=परमात्मा। संपुट=ढक्कनदार डिबिया। निगुरा=जिसका कोई गुरु नही है। लछिन=लक्षण। उपाधि=अवच्छेदक सीमाएँ। मुद्रा=शरीर के अवयवो के भिन्न विन्यास जो योग के लिए रचे जाते है। साधि=ठीक करके।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने यह बतलाया है कि प्राणशक्ति के विकसित होने पर परमात्मा का किस प्रकार साक्षात्कार किया जा सकता है।

व्याख्या—वह कहते है कि हे साधको! अनाहत शब्द पर मन केन्द्रित करके भगवान् का ध्यान करो। सर्वप्रथम पंचप्राण का अनुसधान करो। वे प्राण वायु को लेकर ब्रह्मरन्ध्र मे प्रविष्ट होते है। इडा-पिंगला नाड़ियो के भीतर प्रवाहित होने वाले प्राण और अपान त्रिकुटी मे आकर एकाकार हो जाते है। वहाँ पर ब्रह्म की ज्योति प्रकाशित होती है। यदि इस प्रकार के ध्यान से मन स्थिर हो जाय तो हृत्कमल विकसित हो जाता है। उस कमल मे परमात्मा का वास है। हृत्कमल रूपी सपुट को सद्गुरु खोल कर दिखा देता है अर्थात् उसके भीतर विद्यमान आत्मा का साक्षात्कार करा देता है। जिस साधक का कोई गुरु नही है, उसे प्रभु का साक्षात्कार कौन कराए? साधना मे सद्गुरु की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है। नाम-रूप आदि अवच्छेदक सीमाओं को पारकर दृढ आसन और शुद्ध मुद्रा द्वारा हृत्कमल मे सहज रूप से विद्यमान परमात्मा के प्रतीक आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। इस कमल-पुष्प मे प्रकाशमान परमतत्व (हीरा) विद्यमान है। वही तीनो लोको का स्वामी है।

टिप्पणी—बिंदु—प्राणशक्ति के विकसित होने पर और कुण्डलिनी के जागरण पर त्रिकुटी मे स्थित आज्ञाचक्र मे एक गोल प्रकाश का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकाश को 'बिंदु' कहते है।

अलंकार—(१) निगुरा होइ तो कहा बतावै—वक्रोक्ति।
(२) 'सपुट' शब्द मे—रूपकातिशयोक्ति।

---

१ ना० प्र०—पहली २. ना० प्र०— ब्यंद। ३ ना० प्र०—कहाँ ४. ना० प्र०—निद्रा। ५. ना० प्र०—सधि। ६. ना० प्र०— मणीं। ७ ना० प्र०—धणीं।

(५५)

ऐसा भेद विगूचनि[1] भारी।
वेद कतेब दीन अरु दुनियां[2], कौंन[3] पुरिख कौन नारी॥ टेक॥
एक[4] रुधिर एकै मल मूतर, एक चांम[5] एक गूदा।
एक बूँद[6] तैं सृष्टि रची[7] है, कौंन[8] वांह्मन कौंन[9] सूदा।
माटी[10] का पिंड सहज उतपनां, नाद अरु विंद समांनां।
विनसि[11] गया तैं का नांव धरिहौ, पढ़ि गुनि मरम न जांना[12]।
रज गुन ब्रह्मां तम गुन संकर, सत[13] गुन हरि है सोई।
कहै कबीर एक[14] रामं जपहु रे, हिन्दू तुरुक न कोई॥

शब्दार्थ—विगूचनि (सं० विकुंचन)=अड़चन। गूदा=मांस, भेजा। बूंद=वीर्य। विनसि=विनष्ट।

संदर्भ—इस पद में वताया गया है कि हिन्दू-मुस्लिम का भेद कृत्रिम है। ईश्वर ने सभी को समान रूप से मानव वनाया है।

व्याख्या—प्रभु की सृष्टि मे मानव ने जो भेद की दीवालें खडी की हैं, वह वहुत वडे असमंजस का विषय है। सभी प्रकार के भेद-भाव कृत्रिम हैं। वेद और कुरान, धर्म और सांसारिकता के भेद भी मानवकृत हैं। नर और नारी का भेद भी केवल शारीरिक है, तात्विक नही। सभी प्राणियों के शरीर में रक्त, मल-मूत्र, चर्म और मांस एक समान हैं और सभी मनुष्य एक ही प्रकार के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं। फिर ब्राह्मण और शूद्र का भेद कहाँ से आया? यह पार्थिव शरीर स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हुआ है और जिस मूल नाद और विंदु से उसकी उत्पत्ति हुई है, उसी मे वह समाविष्ट हो जाता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भेद समाप्त हो जाता है। मरणोपरान्त उस जीव का क्या नाम रखोगे? ग्रंथों का अध्ययन-मनन करने पर भी लोग जीवन के इस रहस्य को न समझ सके।

मनुष्य ने केवल मानव मे ही भेद नही किया है। ब्रह्मा को रजोगुण प्रधान, शिव को तमोगुण प्रधान और विष्णु को सत्वगुण प्रधान माना है। वस्तुतः उनमे भी एक ही ब्रह्म रम रहा है। कबीर कहते हैं कि निसर्गत. न कोई हिन्दू है, न मुसलमान। सभी में एक ही सत्य व्याप्त है—वह है राम। उसी का जप करो।

---

१. वि०—भरम-विगुरचन। २. वि०—औ दोजक। ३. वि०—को पुरुषा को नारी ४. वि०—एकै तुचा हाड मल मूत्रा। ५. वि०—रुधिर। ६. ना० प्र०—जोति थैं सव उतपनां ७. वि०—कियो। ८. वि०—को। ९. वि०—को। १०. वि०—माटी के घट साज वनाया, नादे विंदु समाना। ११. वि०—घट विनसे का नाम धरहुगे, अहमक खोज भुलाना। १२. ना० प्र०—भ्रम जाँनाँ। १३. वि०—सत गुना। १४. वि०—राम रमि रहिए।

टिप्पणी—नाद-विंदु—तंत्रशास्त्र के अनुसार सृष्टि का मूल एक शक्ति है, जिसे 'नाद' कहते है। वह शक्ति जव घनीभूत हो जाती है, तव उसे 'विंदु' कहते है। इसी 'नाद-विंदु' से सारी सृष्टि होती है और इसी 'नाद-विंदु' मे उसका लय भी हो जाता है।

अलंकार—वेद कतेव'''''''नारी—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(५६)

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै,
तेज पुंज तहाँ प्राँन उतारै ॥ टेक ॥
पाती पंच पुहुप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा।
तन मन सीस समरपन कीन्हाँ, प्रगट जोति तहाँ आतम लीनाँ।
दीपक ग्याँन सवद धुनि घंटा, परं पुरिख तहाँ देव अनंता।
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कवीर मैं दास तुम्हारा ॥

शब्दार्थ—पाती पंच=(प्र० अ०) पच ज्ञानेन्द्रियाँ। पुहुप=पुप्प (प्र० अ०) वासना।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे आध्यात्मिक आरती का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि ऐसी आरती करो जो तीनो लोक का उद्धार करने वाली होती है। प्राण रूपी आरती के द्वारा तेजपुंज प्रभु की अर्चना करो। इस आरती मे पाँचो ज्ञानेन्द्रियो की विषय-रूपी पत्ती रखो और वासना रूपी पुप्प-गंध को समर्पित करके मायारहित परव्रह्म की पूजा करो, अन्य किसी की नही। शरीर, मन और अहभाव को प्रभु के चरणों मे समर्पित कर दो। सहस्रार कमल मे प्रकट होने वाली ज्योति मे आत्मा को लीन कर दो। इस आरती में ज्ञान का दीपक वनाओ और अनाहत ध्वनि घटी का काम करेगी। इस प्रकार परम पुरुप अनंत देव, जिनके परम प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित हो रहा है, उनकी आरती उतारो। कवीर कहते है कि मैं तुम्हारा सच्चा दास हूँ। मेरी इस ज्ञान-आरती को स्वीकार करो।

अलकार—सांगरूपक।

राग—धनाश्री।

(५७)

ऐसी नगरिया मै केहि विधि रहनां।
नित उठि कलक लगावै सहनां ॥ टेक ॥
एकै कुवां पाँच पनिहारी।
एकै लेजु भरै नौ नारी ॥

फटि गया कुवां विनसि गई बारी।
बिलग भईं पांचौं पनिहारी॥
कहै कबीर छांडि मैं मेरा।
उठि गया हाकिम लुटि गया डेरा॥

शब्दार्थ—नगरिया=नगर (प्र० अ०) शरीर। सहना (अ० शहना)= साक्षी पुरुष, आत्मा। कलंक=लांछन। एकै कुआँ=(प्र० अ०) प्राणमय कोष। पाँच पनिहारी=(प्र० अ०) पंच प्राण (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) अथवा पंच ज्ञानेन्द्रियाँ। लेजु=रज्जु, रस्सी (प्र० अ०) मेरुदण्ड। नौ नारी=(१) नौ स्त्रियाँ (२) नौ नाडियाँ [इड़ा (चन्द्र नाड़ी) पिंगला (सूर्य नाडी), सुषुम्ना (मध्य नाडी), गांधारी (दाहिने नेत्र की नाड़ी), हस्ति जिह्वा (बाएँ नेत्र की नाड़ी), पूषा (दाहिने कान की नाड़ी), पस्यनी (बाएँ कान की नाडी), लकुहा (गुदा नाड़ी), अलम्बुषा (लिंग नाडी)] बारी=घेरा (प्र० अ०) स्थूल शरीर। हाकिम (अ०)=स्वामी (प्र० अ०) जीवात्मा।

संदर्भ—इस पद में कबीर ने शरीर की नश्वरता का प्रतिपादन करते हुए, उसके प्रति ममत्व-भाव को व्यर्थ बताया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि इस शरीर रूपी नगरी मे किस प्रकार रहा जाय ? यह जीव अपने कर्म से नित्य अन्तरात्मा को कलंकित करता रहता है। इस शरीर रूपी नगरी मे प्राणमय कोष रूपी एक कुआँ है जिसमे पंच प्राण अथवा पंच ज्ञानेन्द्रियाँ पानी भरने वाली है अर्थात् उससे शक्ति ग्रहण करती है। शरीर मे मेरुदण्ड रूपी एक ही रस्सी है और नौ नाड़ियाँ उससे अपनी-अपनी शक्ति ग्रहण करती रहती है। प्राणमय कोष के जर्जर होने पर स्थूल शरीर रूपी घेरा भी नष्ट हो जाता है और पंच प्राण अथवा पंच ज्ञानेन्द्रियाँ भी साथ छोड़ देती है। कबीर कहते है कि मैं और ममत्व का भाव छोड़ो। आत्मा रूपी स्वामी के चले जाने पर शरीर निरर्थक हो जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।
राग—भैरव।

(५८)

ऐसे लोगन सौं[1] का कहिए।
जे नर भए भगति तैं न्यारे[2], तिनतैं सदा डरांनै[3] रहिए॥ टेक॥
[4]हरि जस सुनहि न हरि गुन गावहि, बातन ही असमान गिरावहि।

---

१. ना० प्र०-सूँ। २. तिवारी- बाहिज। ३. ना० प्र०-डरातै। ४. यह पँक्ति ना० प्र० की प्रति में नहीं है।

आप न देही चुरुआ पांनी, तिहि निदहि जिन गंगा आंनीं।
आपु[1] गए औरन हू खोवहिं, आगि[2] लगाइ मंदिर मैं सोवहिं।
औरन[3] हँसत आप हहिं काने, तिनकौं देखि कबीर लजाने[4] ॥

शब्दार्थ—न्यारै=अलग। चुरुआ=चुल्लू भर।

सदर्भ—इस पद मे कबीर ने राम-विमुख जनो से दूर रहने की चेतावनी दी है।

व्याख्या—वह कहते है कि ऐसे लोगो से क्या कहा जाय अर्थात् उनको सम-झाना-वुझाना भी व्यर्थ है, जो भगवद्भक्ति से विमुख है। उनसे तो सदा डरते रहना चाहिए। ऐसे लोग न तो प्रभु का यश सुनना पसंद करते है और न स्वयं उनका गुणगान करते है। वे केवल लम्बी-चौडी वातो से आकाश गिराना चाहते है। ऐसे लोग दूसरो को चुल्लू भर पानी भी नही दे सकते, उल्टे उन लोगो की निन्दा करते है जो भूतल पर गंगा लाने वाले भगीरथ के समान परिश्रमी है। वे स्वय नष्ट होते है और जो उनके सम्पर्क मे आता है, उसको भी नष्ट कर देते है। वे उस मूर्ख के समान है जो घर मे आग लगाकर उसी मे सोता है। वे दूसरों की कमजोरी की हँसी उडाते है, किन्तु अपने दोषो को नही देखते। कबीर ऐसे दुर्जनो को देखकर लज्जित होते है कि संसार में ऐसे व्यक्ति भी हो सकते है।

तुलनीय—तजौ मन हरि विमुखनि कौ सग।
जिनकै सग कुमति उपजति है परत भजन मैं भंग ॥

—सूरदास।

अलंकार—लोकोक्ति।

राग—गौरी।

(५९)

ऐसैं मन लाइ लै रांम रसनां।
कपट भगति कीजै कौनं गुनां ॥ टेक ॥
ज्यूँ मृग नादैं वेध्यौ जाइ, पिंड परे वाकौ ध्यान न जाइ।
ज्यूँ जल मीन हेत करि जांनि, प्रांन तजै बिसरै नहिं बांनि।
भ्रिगी कीट रहै ल्यौ लाइ, ह्वै लौलीन भ्रिग ह्वै जाइ।
राम नांम निज अमृत सार, सुमिरि सुमिरि जन उतरे पार।
कहै कबीर दासनि को दास, अब नहीं छाड़ौं हरि के चरन निवास ॥

शब्दार्थ—लाइ लै=लीन कर दे। हेत=प्रेम।

१. ना० प्र०—आपण बूडैं और कौ बोडैं। २. ना० प्र०—अगनि। ३. ना० प्र० आपण अंध और कूँ काँनाँ। ४. ना० प्र०—डराँना।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में प्रभु की अनन्य भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—कवीर कहते हैं कि हे जीव ! तू अपनी जिह्वा और मन को राम में लीन कर दे, दिखावटी भक्ति किस प्रयोजन से करता है ? जैसे मृग नाद में अनुरक्त होकर वाण से विद्ध होता है, उसका शरीर गिर जाता है, किन्तु नाद से उसका ध्यान नहीं हटता। जिस प्रकार मछली जल से प्रेम करती है, उससे वियुक्त होने पर प्राण छोड़ देती है, किन्तु जल में रहने का स्वभाव नहीं छोड़ती। जिस प्रकार कीड़ा भ्रमर में ध्यान लगाता है और स्वयं भृंगी वन जाता है, वैसे ही सारतत्व, अमृतस्वरूप राम नाम में मन को लीन करने पर भव-सागर को पार किया जा सकता है। दासानुदास कवीर कहते हैं कि प्रभु चरण में ही मेरा मन लगा है। मैं उन्हें नहीं छोड़ सकता।

अलंकार—(१) प्रथम पंक्ति में वक्रोक्ति।
(२) दूसरी, तीसरी पंक्ति में उदाहरण।
(३) चौथी पंक्ति में दृष्टान्त।

राग—कल्याण।

(६०)

ऐसो जोगिया है वदकर्मी, जाके गगन अकास न धरनी।
हाथ न वाके पांव न वाके, रूप न वाके रेखा।
विना हाट हटवाई लावै, करै वयाई लेखा॥
करम[1] न वाके धरम[2] न वाके, जोग न वाके जुक्ती।
सींगी पात्र[3] कछू नहिं वाके, काहे को मांगै भुक्ती॥
मैं तोहि जाना तैं मोहि जाना, मैं तोहि मांह समाना।
उतपति परलय किछुवौ[4] न होते, तव कहु कौन को ध्याना॥
जोगिया[5] ने एक ठाठ[6] कियो है, राम रहा भरपूरी।
औषध मूल कछू नहिं वाके, राम सजीवन मूरी॥
नटवत[7] वाजी पेखनि[8] पेखै, वाजीगर की वाजी।
कहै कवीर सुनो हो संतो, भई सो राज विराजी॥

शब्दार्थ—जोगिया=(प्र० अ०) जीव। वदकर्मी=कुकर्मी। हाट=वाजार (प्र० अ०) शरीर। हटवाई=क्रय-विक्रय। वयाई=तौलाई, व्यापार। लेखा=हिसाव। सींगी=सींग का वाजा। पात्र=भिक्षा पात्र। भुक्ती=भोग्य पदार्थ। भरपूरी=परिपूर्ण, व्यापक। नटवत=नट के समान। पेखनि=दृश्य। वाजी=खेल, तमाशा। विराजी=स्थापित।

---

१. शुक०—कर्म। २. शुक०—धर्म। ३. वि०—सिंगि पत्र। ४. शक०—एकहु। ५. वि०—जोगी एक आनि ठाढ कियो है। ६. शुक०—ठाढ किया है। ७. शुक०—नटवर। ८. शुक०—पेखनी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में जीव को अपना स्वरूप पहचानने का उपदेश दिया गया है।

व्याख्या—वास्तव मे जीव अपने स्वरूप को भूल गया है। वह योगी का वेश धारण किए हुए इधर-उधर भोग्य-पदार्थों की भिक्षा माँगते हुए कुकर्मी बन गया है। उसके इस कुकर्म पर प्रहार करते हुए कबीर कहते हैं कि हे जीव ! तुम अपना स्वरूप पहचानो। वह न आकाश की वस्तु है, न पृथ्वी की अर्थात् वह अभौतिक है। उसके न हाथ है, न पैर; उसका न कोई रूप है, न आकार। वह बिना शरीर (हाट) के ही जीवन-व्यापार करता है और उसका हिसाब रखता है अर्थात् सारे प्रपञ्च में आसक्त है। वह अपने वास्तविक स्वरूप मे कर्म, धर्म, भोग, युक्ति (चतुराई) आदि से परे है। वह कृत्रिम योगियो के समान न सींगी बजाता है, न भिक्षा-पात्र रखता है। तू अपने इस स्वरूप को समझ। व्यर्थ मे क्यो इधर-उधर भोग्य-पदार्थों की भिक्षा माँगता फिरता है।

आत्मा परमात्मा को जानता है और परमात्मा जीव को जानता है अर्थात् स्वरूपत जीव परमात्मा ही है। जीव अन्ततः उसी में लीन हो जाता है। सृष्टि के पूर्व जब उत्पत्ति-प्रलय का कोई प्रश्न नही रहता, तब जीव नामक कोई स्वतन्त्र सत्ता नही रहती। तब कौन किसका ध्यान करता है? ध्यान-ध्येय-ध्याता की बात जीव-दशा मे ही होती है।

तथाकथित योगी विचित्र वेश-भूषा बनाकर मिथ्या प्रपञ्च करता है। वस्तुत. परमात्मा सर्वत्र परिव्याप्त है। भवरोग के विनाश के लिए किसी अन्य औषध की आवश्यकता नही है। राम ही वह सजीवन बूटी है, जो भवरोग-नाशक है। ब्रह्म नट के समान है, जो संसार रुपी नाटक का सूत्रधार है और उसका तटस्थ द्रष्टा है। यह ससार उसी का खेल है। कबीर कहते हैं कि परमतत्व नट के समान सारा खेल फैलाता है और उसका तमाशा देखता है। वही प्रभु सर्वत्र विराजमान है।

अलंकार—(१) बिना हाट हटवाई लावै—विभावना
(२) काहे को मागे भुक्ती—वक्रोक्ति
(३) नटवत बाजी—उपमा

(६१)

ऐसो देखि चरित मन मोह्यो मोर।
ताथैं निस बासुरि गुन रमौं तोर ॥ टेक ॥
इक पढ़हि पाठ इक भ्रमै उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास।
इक जोग जुगुति तन होंहि खीन, ऐसैं राम नांम सँगि रहैं न लीन।
इक होंहि दीन एक देहि दांन, इक करैं कलापी सुरा पांन।
इक तंत मंत ओषध बांन, इक सकल सिध राखैं अपांन।

६

इक तीर्थं ब्रत करि काया जीति, ऐसैं रांम नांम सूँ करैं न प्रीति।
इक धूम घोटि तन होंहि स्याम, यूँ मुकति नहीं बिन रांम नांम।
सतगुर तत्त कह्यौ बिचार, मूल गह्यौ अनभै बिसतार।
जरा मरण थैं भये धीर, राँम कृपा भइ कहि कबीर॥

शब्दार्थ—निस बासुरि=रात दिन। खीन=क्षीण। कलापी=मयूरपिच्छ धारण करने वाले जैन साधु। बाँन=स्वभाव। अपान=अपान वायु। सिध=नियन्त्रण। घोटि=घुटघुटकर। अनभै=अभय वस्तु।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में बताया गया है कि बाह्याचार से प्रभु-मिलन सम्भव नही है। उनकी प्राप्ति केवल सच्ची भक्ति से ही हो सकती है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि प्रभु का अनुग्राहक स्वभाव देखकर मेरा मन मोहित हो गया। अतः हे प्रभु! मैं दिन-रात तुम्हारे गुणों मे रमा रहता हूँ। उसी में डूबा रहता हूँ।

विभिन्न सम्प्रदायों के बाह्याचार की निरर्थकता बताते हुए वह कहते है कि कुछ लोग वेदपाठ आदि में लगे रहते है। कुछ लोग उदासीन बनकर भ्रमण करते हैं। कुछ लोग सदैव नग्न रहने को ही साधना समझते है। कुछ लोग कायायोग से अपने शरीर को क्षीण करते रहते हैं। किन्तु ऐसे लोग प्रभु में अनुरक्त नहीं रहते। कुछ लोग फकीर बनकर दान माँगते है और कुछ दानी बनते है। कुछ साधु मयूरपिच्छ धारण करते हैं और कुछ साधु मस्ती के लिए सुरापान करते हैं। कुछ लोग तन्त्र-मन्त्र के चक्कर में रहते है। कुछ लोग गाँजा-भाँग आदि का औषध के रूप में सेवन करते हैं। कुछ लोग अपान वायु पर नियन्त्रण करके सारी सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहते है। कुछ तीर्थ-व्रत करके काया को वश में करना चाहते है। ऐसे लोग राम-नाम के प्रति सच्चा अनुराग नही रखते। कुछ लोग धुएँ मे घुटघुटकर शरीर काला कर लेते हैं, पंचाग्नि तप करते हैं। इस प्रकार के सभी बाह्याचार व्यर्थ है। राम की भक्ति के बिना इन बाह्याचारों से मुक्ति सम्भव नहीं। सद्गुरु ने विचार कर सारतत्त्व बताया है। इसलिए मैंने अभय अवस्था का विस्तार करने वाले मूलतत्व को ग्रहण कर लिया है। कबीर कहते हैं कि इस प्रकार मेरे ऊपर राम की कृपा हो गई है। मेरी बुद्धि स्थिर हो गई है और जरा-मरण सम्बन्धी मेरा भय समाप्त हो गया है।

अलकार—यूँ मुकति…… ……नांम—विनोक्ति।

राग—बसन्त।

(६२)

ऐसो हरि सो जगत लरतु[1] है, पांडुर कतहूँ गरुड़ धरतु है।
मूस बिलाई कैसन हेतू, जंबुक करै केहरि सों खेतू॥

1. शु० क०—लडतु।

अचरज एक देखल[1] संसारा, सोनहा खेदे[2] कुंजर असवारा।
कहै कबीर सुनहु संतो भाई, इहै संधि केहु[3] विरलै पाई॥

शब्दार्थ—पाडुर=एक प्रकार का साँप (प्र० अ०) अज्ञान। हरि=(प्र० अ०) ज्ञान। गरुड=(प्र० अ०) ज्ञान। जगत=माया मे लिप्त, सासारिक। मूस=चूहा (प्र० अ०) विपयासक्त जीव। विलाई=विल्ली (प्र० अ०) वंचक गुरु। हेतु=प्रेम सम्बन्ध। जम्बुक=शृगाल (प्र० अ०) अज्ञानी। केहरि=सिंह (प्र० अ०) ज्ञानी। खेतू=सग्राम, युद्ध। सोनहा=श्वान (प्र० अ०) अज्ञानी। कुंजर=हाथी (प्र० अ०) ज्ञानी। सधि=भेद, मर्म।

सदर्भ—इस पद मे वताया गया है कि अज्ञानी ज्ञानी से विद्रोह करके उसका कुछ नहीं विगाड सकता। वह केवल अपना ही अहित करता है।

व्याख्या—माया मे लिप्त संसारी लोग ज्ञानी (हरि) से विद्रोह करते है। क्या भला अज्ञान (सर्प) ज्ञान (गरुड़) का पराभव कर सकता है? वचक गुरु (विल्ली) और चूहे (विपयासक्त जीव) मे मैत्री कैसे हो सकती है? ये तथाकथित गुरुवा, लोगो को अपने जाल मे फँसाकर नष्ट ही कर देते है। जम्वुक (अज्ञानी) सिंह (ज्ञानी) से सघर्ष करके विजय कैसे प्राप्त कर सकता है? मैंने ससार में एक विचित्र वात देखी। हाथी पर सवार व्यक्ति पर कुत्ता आक्रमण करना चाहता है अर्थात् ज्ञानारूढ़ व्यक्ति को अज्ञानी (श्वान) भय दिखलाता है। कवीर कहते है कि हे सन्तो भाई! सुनो। इस मर्म को कोई विरले ही समझ पाते है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

(६३)

कविरा कव से भये वैरागी, तुम्हरी सुरति कहां को लागी।*
नाथ जी हम तव के वैरागी, हमरी सुरति राम सौं लागी॥
ब्रह्मा नहीं जव टोपी दीन्हां, विष्नु नहीं जब टीका।
सिव सक्ती कै जनमहुँ नांहीं, जवै जोग हंम सीखा॥
सतजुग मै हंम पहिरि पांवरी, त्रेता झोरी डंडा।
द्वापर मैं हंम अड़वंद पहिरा, कलउ फिर्‌यौ नौ खंडा॥
गुर परताप साध की संगति, जीति अमरगढ़ आया।
कहै कवीर सुनौ हो अवधू, मैं अभै निरंतरि पाया॥

शब्दार्थ—पाँवरी=खडाऊँ। अड़वंद=कौपीन।

संदर्भ—प्रस्तुत पद 'कवीर-गोरख-सवाद' सम्बन्धी कहा जाता है, जिसमे

---

१. शुक०--अक देखो। २. शुक-खेत। ३. शुक०-काह। *. तिवारी की प्रति में प्रथम पंक्ति नहीं है।

गोरखनाथ ने प्रश्न किया है और कबीर ने उनका उत्तर दिया है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दोनो मे संवाद सम्भव नहीं है, क्योंकि दोनों के समय मे चार-पाँच सौ वर्षो का अन्तराल है। अतः यह प्रश्न किसी नाथ योगी का हो सकता है अथवा यह एक काव्य-शैली हो सकती है।

व्याख्या—तथाकथित प्रश्न यह है—"कबिरा कब से भये वैरागी, तुम्हरी सुरति कहाँ को लागी।' कबीर उत्तर देते है कि मेरा वैराग्य अनादि काल से है और मेरा प्रभु-प्रेम भी सदा से रहा है। ईश्वर की जो तीन शक्तियाँ है—ब्रह्मा, विष्णु, महेश; उनका जब अस्तित्व भी नही था अर्थात् अनादि काल से हमारी सुरति प्रभु मे लगी हुई है। (ब्रह्मा का टोपी लगाना; विष्णु का टीका लगाना और शिव-शक्ति का जन्म लेना कथन-शैली है, जिसका तात्पर्य है—अनादि काल)

आगे वह योगी की वेशभूषा का वर्णन करते हुए कहते है कि मैंने सतयुग मे खड़ाऊँ पहनी थी, त्रेता में झोली धारण की, द्वापर मे कौपीन पहना और कलियुग मे नौ खण्डों में विचरण कर रहा हूँ अर्थात् मैं विश्व मे सर्वव्यापी हूँ। सद्‌गुरु के प्रताप से और सन्तों की संगति से मैंने अमरगढ़ पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार मैं सदा से भयरहित रहा हूँ।

टिप्पणी—(१) इस पद मे 'अद्वैत' का संकेत है। भय द्वैत की स्थिति मे रहता है, दूसरे से होता है। कबीर बताते हैं कि मैंने अद्वैत का अनुभव कर लिया है। उपनिषद् में भी आया है—'द्वैतात् वै भयम् भवति।'

(२) नौ खण्ड=पृथ्वी के नौ भाग—भारत, इलावृत, किंपुरुष, भद्र, केतुमाल, हरि, हिरण्य, रम्य और कुश।

राग—सोरठ।

(६४)

कबिरा[1] तेरो घर कँदला में, यह[2] जग रहत भुलाना।
गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना॥
सकल ब्रह्म मँह[3] हंस कबीरा, कागा चोंच पसारा।
मनमथ कर्म धरै सब देही, नाद बिंदु बिस्तारा॥
सकल कबीरा बोलै बानी[4], पानी में घर छाया।
होत अनंत लूट[5] घट भीतर, घट का मर्म न पाया॥
कामिनि[6] रूपी सकल कबीरा, मृगा चरिन्दा होई।
बड़ बड़ ज्ञानी मुनिवर थाके, पकरि सकै नहिं कोई॥

१. शुक०—कबीरा। २. वि०—या। ३. शुक०—में। ४. शुक०—बीरा। ५. शुक०—अनंत लूट होत। ६. शुक०—कामिनी।

ब्रह्मा बरुन कुबेर पुरन्दर, पीपा औ प्रहलादा।
हिरनाकुस नख उदर[1] बिदारा, तिनहुँ को काल न राखा॥
गोरख ऐसे दत्त दिगम्बर, नामदेव जयदेव दासा।
तिनकी[2] खबर कहत नहि कोई, कहां कियो है बासा॥
चौपर खेल होत घट भीतर, जनम[3] का पासा डारा[4]।
दम दम की कोइ खबरि न जानै, करि न सकै निरुआरा॥
चारि दिग महि मंड[5] रचो है, रूम साम[6] बिच डिल्ली।
तेहि ऊपर कछु अजब तमासा, मारो है जम किल्ली॥
सकल अवतार जाके[7] महि मंडल, अनंत खड़ो[8] कर जोरे।
अद्भुत अगम अगाह[9] रचो है, ई सभ[10] सोभा तोरे॥
सकल कबीरा[11] बोलै बीरा, अजहूँ हो हुसियारा।
कहैं कबीरा गुरु सिकली दर्पन, हरदम करहु पुकारा॥

शब्दार्थ—कदला = कदरा, गुफा। अमहल = जो वास्तविक घर नही है। मनमथ = काम (मन. मथ्नाति इति मन्मथ.)। चरिन्दा (फा०) = चरने वाला। पुरन्दर = इन्द्र। दिगम्बर = जैन साधु। चौपर = चौसर। हंस = जीव। दम दम = एक-एक श्वास का, एक क्षण का। काग = (प्र० अ०) अविवेकी लोग। निरुआरा = निवारण। रूम = टर्की का एक नगर (प्र० अ०) पश्चिम। साम = श्याम देश, वर्तमान थाईलैण्ड (प्र० अ०) पूर्व दिशा। डिल्ली = दिल्ली (प्र० अ०) हृदय। किल्ली = कील। महिमंडल = माडलिक राजा। वीरा = जितेन्द्रिय। सिकली (अ०) = शान चढाने वाला, तेज करने वाला।

संदर्भ--जीव इस शरीर को अपना वास्तविक स्वरूप समझता है। कबीर सावधान करते है कि जीव का वास्तविक स्वरूप हृदय-गुहा मे स्थित आत्मा है। उसको न जानने से मनुष्य क्षणभंगुर विषयों मे आसक्त होता है और काल का शिकार बनता है। आत्मा अमर है, वह काल के वश मे नही है।

व्याख्या--कबीर कहते है कि हे जीवो! तुम्हारा वास्तविक घर हृदय-गुहा मे है। संसार के लोग भ्रमवश शरीर को ही वास्तविक घर समझते है। गुरु के उपदेश का कोई अनुसरण नही करता, जो वास्तविक घर नही है, उसी को सच्चा घर मानकर लोग उसमे आसक्त रहते है। कबीर कहते है कि सभी जीव (हस) ब्रह्म के अश है। अविवेकी लोग (काग) तृष्णा, आशा रूपी चोच विषयो को ग्रहण करने के लिए चारो ओर फैलाए रहते है। सभी देहाभिमानी जीव काम के वश मे होकर काम्य-कर्म मे ही

१. वि०—बोद्र। २. वि०—उनकी। ३. शुक०—जन्म। ४. वि०--ढारा। ५. शुक—मंडल। ६. शुक०—सूम। ७. शुक०—जासु। ८. वि०—खडा। ९. शुक०—औगाह। १०. शुक०--सम। ११. शुक०—कबीर।

लिप्त रहते हैं और इस प्रकार संसार का विस्तार करते रहते हैं। कबीर कहते हैं कि वंचक गुरुआ लोग मुक्ति का उपदेश देते हैं और स्वयं पानी मे घर छाये रहते हैं, संसार-सागर में डूबे रहते हैं। इसी शरीर के भीतर अनंत ब्रह्म की लूट हो रही है। इसका रहस्य किसी की समझ मे नही आया। न गुरु समझते हैं, न शिष्य। कामिनी रूपी मृग सारे ज्ञान-वन को चर जाता है। बड़े-बड़े ज्ञानी और श्रेष्ठ-मुनि भी इस मृग (कामिनी) को न पकड़ सके अर्थात् काम को वश में न कर सके।

विषयो का सुख क्षणिक है। उसको भोगने वाले भी एक दिन काल के गाल मे चले जाते हैं। ब्रह्मा, वरुणदेव, कुवेर, इन्द्र, पीपा, प्रह्लाद, हिरण्यकशिपु का अपने नख से उदर विदीर्ण करने वाले नृसिह आदि सभी काल कवलित हो गए। गोरखनाथ, दत्तात्रेय, नगे रहने वाले जैनसाधु, नामदेव, जयदेव आदि भक्तो के विषय मे कोई नही बता सकता कि मरने के बाद वे कहाँ चले गए? इसी शरीर के भीतर चौसर का खेल चलता रहता है और जीव जन्मो के हेतु—संकल्प-विकल्प-का पासा डालता रहता है। एक श्वास का भी पता नही है, काल को कोई रोक नहीं सकता, उसका कोई निवारण नहीं कर सकता।

शरीर रूपी पृथ्वी में चार दिशाएँ है—नाभि, कंठ, हृदय और त्रिकुटी। पूर्व (स्याम देश) और पश्चिम (रूम) के बीच दिल्ली नगर (हृदय) है। इन सबके ऊपर कुछ आश्चर्यजनक रहस्य है। काल ने बुद्धि मे अज्ञान की कील धँसा रखी है, जिसके कारण जीव की आयु (दिल्ली का राज्य) अल्पकालिक रहती है। सारे अवतार जिस ब्रह्म रूपी सम्राट् के मांडलिक (अधीन) हैं और जिसके समक्ष शेषनाग भी हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, उस प्रभु ने यह अद्भुत, रहस्यपूर्ण, अथाह रचना की है। हे जीवो! तुम इस वास्तविकता को समझो और क्षणभंगुर विषयों की आसक्ति को छोड़ो। बड़े-बड़े देव भी काल-कवलित हो गए। तुम भी विनष्ट होगे। केवल तुम्हारे भीतर का आत्मा अमर है। जितेन्द्रिय कबीर का यह उपदेश है कि अब भी चेत जाओ। हृदय-रूपी दर्पण को स्वच्छ करने वाला जो गुरु रूपी सिकलीगर है, उसी की निरन्तर पुकार करो अर्थात् उसकी शरण मे जाओ।

तुलनीय—तेरो घर कंदला में.................आत्मास्य निहितो गुहायाम् (कठ० १।२।२०)। 'इस जीव का आत्मा हृदय-गुहा मे निहित है।'

टिप्पणी—चौपर—इसे चौसर कहते है। यह बिसात पर चार गोटियों से खेला जाता है। गोटी को ही पासा कहते हैं। शरीर के अंदर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के द्वारा खेल होता रहता है। जीव संकल्प-विकल्प का पासा डालता है।

अलंकार—(१) अमहल महल दिवाना—विरोधाभास।
(२) कामिनि.......होई—रूपक।
(३) गुरु सिकली दर्पन—रूपक।

(६५)

कबिरा[1] तेरो बन कंदला में, मानु अहेरा खेलै।
वपु बारी[2] आनंद मीरगा, रुचि रुचि सर मेलै॥
चेतत रावल पावन खेड़ा, सहजै मूलहि[3] बांधै।
ध्यान धनुष [4]धरि ज्ञान बान करि, जोग सार सर साधै॥
षट चक्र बेधि कमल बेधि[5], जाय उजियारो[6] कीन्हा।
काम क्रोध मद लोभ मोह को, हांकि के सावज दीन्हा॥
गगन मध्ये रोकिनि द्वारा[7], जहां दिवस नहिं राती।
दास कबीरा जाय पहूँचे, बिछुरे संग के[8] साथी।

शब्दार्थ—बन=(प्र० अ०) घर। कंदला=(प्र० अ०) हृदय-गुहा। मानु=मन। अहेरा=शिकार। वपु—शरीर। बारी=वाड़ी, वाटिका। मीरगा=मृग। सर=बाण। रावल=राजा। खेड़ा=गाँव। सहजहिं=सहज योग द्वारा। मूलहिं=मूलाधार चक्र। जोग सार=योग का सार तत्व। कमल=(प्र० अ०) सहस्रार। जाय=पहुँचकर। उजियारा = ज्योति का प्रकाश। सावज = जंगली पशु।

संदर्भ—यदि मनुष्य चेत जाय और वास्तविक आत्मस्वरूप को समझ ले तो संकल्प-विकल्पात्मक मन को वश मे करके परमानन्द का अनुभव कर सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीवो! तुम्हारा वास्तविक स्वरूप हृदय-गुहा मे स्थित आत्मा है। उसे पहचानो। यह मन निरन्तर शिकार खेलता रहता है अर्थात् धमाचौकडी मचाए रहता है और जीव को आत्मस्वरूप जानने का अवसर नही देता।

यह मन शरीर रूपी वाटिका मे आनन्दस्वरूप रूपी मृग के ऊपर भोगेच्छा-रूपी बाण रुचिपूर्वक चलाता रहता है। इस पवित्र शरीर रूपी गाँव का वास्तविक राजा अन्तरात्मा है। यदि वह चेत जाय, सावधान हो जाय तो सहजयोग द्वारा मूलाधार चक्र को वश मे करके, ध्यान रूपी धनुष को उठाकर, सम्पूर्ण योग के सार-तत्व-ज्ञान का बाण सधान करके षट्चक्रो का भेदन करते हुए, ब्रह्मरन्ध्र मे पहुँचकर, सहस्रार मे प्रवेशकर परम ज्योति का अनुभव कर सकता है। इस प्रक्रिया मे वह (अन्तरात्मा) काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि जंगली पशुओ का हाँका लगाकर उनका घेराव करके नष्ट कर देता है। इस प्रकार वह गगन मडल (ब्रह्मरन्ध्र) के प्रवेश-द्वार को रोककर सकल्प-विकल्प का मार्ग अवरुद्ध कर देता है अर्थात् सकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते है, वहाँ नही पहुँच पाते। इस प्रकार वह उस स्थिति मे पहुँच

---

१. शु क०—कबीरा, २. शु क०—वफुआरो, ३. वि०—मूल, ४. वि०—ज्ञान बान, जोगेसर साधै, ५. शु क०—बेधो, ६. वि०—जा उजियारी, ७. शु क०—रोकिन सो द्वारा, ८. वि०—रु।

जाता है जो काल से परे है। वहाँ न दिन है, न रात। कबीर उसी स्थिति में पहुँच गए हैं और उनके संगी साथी (मन, इन्द्रियादि) बीच में ही छूट गए हैं।

अलंकार—सांग रूपक।

(६६)

कबीरा बिगर्‌यौ[1] रांम दुहाई।
तुम्ह जिनि बिगरौ मेरै भाई॥ टेक॥
चंदन कै ढिग बिरिख जु भैला, बिगरि बिगरि सो चंदन ह्वैला।
पारस कौं जे लोह छिवैला[2], बिगरि बिगरि सो कंचन ह्वैला।
गंगा मैं जे नीर मिलैला[3], बिगरि बिगरि गंगोदिक ह्वैला।
कहै कबीर जे रांम कहैला, बिगरि बिगरि सो रांमहि ह्वैला॥

शब्दार्थ—बिरिख=वृक्ष। भैला=होता है। ह्वैला=हो जाता है। छिवैला=स्पर्श करता है।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में कबीर ने सत्संग के महत्त्व का वर्णन किया है और व्यंग्यात्मक शैली में बताया है कि सामान्य जन सत्संग के महत्त्व को ठीक से नहीं समझते।

व्याख्या—वह कहते हैं कि मैं राम की शपथ खाकर कहता हूँ कि सत्संग से मैं सांसारिक दृष्टि में बिगड़ गया अर्थात् संसार के उपयुक्त न रहा। हे भाई! तुम अपने को सम्हालो। यदि तुम मेरे समान बनना चाहते हो तो तुम भी संसार की दृष्टि में बिगड़े समझे जाओगे।

चन्दन के निकट जो वृक्ष होते हैं, वे बिगड़कर चन्दन की सुगन्ध धारण कर लेते हैं। पारस पत्थर का स्पर्श करने वाला लोहा स्वर्ण में बदल जाता है। गंगा में मिलने वाला गंदा जल भी निर्मल और पवित्र गंगाजल में परिवर्तित हो जाता है। कबीर कहते हैं कि जो राम के भक्त हैं, वे परिवर्तित होकर राममय हो जाते हैं।

तुलनीय—सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई॥
(तुलसी-मानस)

× × ×

हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ सोई पार करौ॥
इक लोहा पूजा मैं राखत इक घर बधिक परौ।
सो दुविधा पारस नहिं जानत कंचन करत खरौ॥

---

१. ना० प्र०—बिगर्‌या। २. ना० प्र०—छिवैगा। ३. ना० प्र०—मिलैगा।

इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो ।
जब मिलि गए तब एक बरन ह्वै गंगा नाम परो ॥
—सूरदास

अलंकार—(१) दृष्टान्त, तद्गुण ।
(२) 'बिगर्‍यो' शब्द में विपरीत लक्षणा ।

राग—सोरठ ।

(६७)

कबीरा[1] संत नदी गयो बहि रे ।
ठाढ़ी माइ करारै[2] टेरै, है कोई लावै[3] गहि रे ॥ टेक ॥
बानी[4] सलिल रांम घन उनयाँ, बरिषै अंमृत धारा ।
साखी[5] नीर गंग भरि आई, पीवै प्रांन हमारा ॥
जहँ बहि लागे सनक सनंदन, रुद्र ध्यांन धरि बैठे ।
सुयं प्रकास आनंद बमेक मैं, घर[6] कबीर ह्वै पैठे ॥

शब्दार्थ—करारे = किनारे । उनयाँ = उन्नमित हुआ, छा गया, घिर आया । बमेक = विवेक ।

संदर्भ—इस पद में कबीर ने बताया है कि प्रभु का साक्षात्कार होने पर व्यक्ति मुक्त हो जाता है और उस पर माया का प्रभाव नही रहता है ।

व्याख्या—माया से उन्मुक्त सन्त जिस भागवती चेतना रूपी नदी मे रहते है, कबीर भी उसी प्रवाह मे सम्मिलित हो गए है । उस नदी के किनारे (तट) पर खडी माया रूपी माता यह क्रन्दन करती है कि मेरा पुत्र मुझसे वियुक्त होकर नदी मे बहा चला जा रहा है । क्या कोई ऐसा है जो उसे पकडकर मेरे पास ले आए ?

गुरु का उपदेश जल है, जिसके द्वारा राम रूपी बादल छा जाता है और उससे आनन्द रूपी अमृत की धारा बरसती है । आनन्दामृत की वर्षा से साक्षि रूपी गगा भर गई अर्थात् प्रभु रूपी मेघ से जो अमृत की वर्षा हुई, उससे साक्षि-चैतन्य परिपूर्ण हो गया । जीवात्मा तृप्त हो गया । इस प्रकार जिस परम पद को सनक-सनन्दन ने प्राप्त किया था और जिस स्थिति मे रुद्र ध्यान लगाकर बैठे है, उसी विवेक-व्यक्त, स्वयं प्रकाश ब्रह्मानन्द मे कबीर भी प्रवेश कर गए है अर्थात् कबीर को भी उस परम पद की अनुभूति हो गई है ।

---

१. ना० प्र०—कबीरौं । २. ना० प्र०—कराडै । ३. ना० प्र०—ल्यावै । ४. ना० प्र०—बादल बाँनी । ५. ना० प्र०—सखी । ६. ना० प्र०—घन ।

अलंकार—(१) सांग रूपक।
(२) 'माइ' शब्द में श्लेष।
राग—गौरी।

(६८)

कहहु[1] निरंजन कौने[2] वानी।
हाथ पांव मुख स्रवन जीभ बिनु[3], का कहि जपहु हो प्रानी॥
ज्योतिहि ज्योति ज्योति जो कहिए, ज्योति कवन सहिदानी।
ज्योतिहि ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहाँ ज्योति समानी॥
चारि वेद ब्रह्मै जो कहिया, तिनहुँ[4] न या गति जानी।
कहै[5] कबीर सुनो[6] हो संतो, बूझो[7] पंडित ज्ञानी॥

शब्दार्थ—निरंजन=निर्गुण। सहिदानी=पहचान, चिह्न, लक्षण।

संदर्भ—निर्गुण-निराकार ब्रह्म वाणी से परे है। वह केवल अनुभव की वस्तु है। उसके सम्बन्ध मे कोई व्यवस्था देना ठीक नहीं।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि निर्गुण-निराकार ब्रह्म वाणी से परे हैं। उसका वर्णन नही हो सकता है। उसके न हाथ है न पैर, न मुख है न कान और न जिह्वा। फिर तुम उसे क्या कहकर सम्बोधित करते हो? उसका जप कैसे करते हो? तुम उस ज्योति को सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि अन्य ज्योतियो की ज्योति कहते हो। किन्तु उस ज्योति की पहचान क्या है? वह ज्योतियों की ज्योति (परम ज्योति) अन्य ज्योतियों को अपने में लीन कर लेती है। तब यह अनात्म ज्योतियाँ कहाँ समा जाती है? सूर्य, चन्द्र आदि साकार ज्योतियाँ हैं। ये निराकार ज्योति (ब्रह्म) मे कैसे लीन हो जाती है? चारों वेदों के वक्ता ब्रह्मा भी उस परमतत्व के रहस्य को नही जानते। कबीर कहते हैं कि हे संतो! डीग हाँकने वाले तथाकथित ज्ञानी पंडितों से इस रहस्य को पूछो।

तुलनीय—(१) कहहु निरंजन कौने वानी........
यद् वाचानाभ्युदितम् (केन० १।४) अर्थात् उसका वर्णन वचन से नही हो सकता।
(२) ज्योतिहि ज्योति............
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्,
नेमा विद्युतो कुतोऽयमऽग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ कठो०

---

१. शुक०—कहो। २. शुक०—कौनी। ३. वि०—नहिं। ४. शुक०—उनहूँ। ५. वि०—कहहि। ६. वि०—सुनहु। ७. वि०—बूझहु।

(६९)

कहा करउँ कैसे तरउँ[1], भव जलनिधि भारी[2]।
राखि[3] राखि मेरै बीठुला, जन[4] सरनि तुम्हारी ॥
ग्रिह[5] तजि बनखंडि जाइऐ, खनि[6] खाइऐ कंदा।
अजहुँ[7] बिकार न छोड़ई, ऐसा मन गंदा[8] ॥
बिख बिखिया की वासनां, तजौं तजी न[9] जाई।
अनिक[10] जतन करि राखिऐ[11], फिरि फिरि लपटाई[12] ॥
जीव अछित जोवन गया, किछु किया न नीका।
यहु हीरा[13] निरमोलिका, कौड़ी लगि[14] बीका ॥
कहै कबीर मेरे माधवा, तू सरब बिआपी[15]।
तुम्ह[16] समसरि नांहीं दयालु, मोहि समसरि पापी ॥

शब्दार्थ—भौजल = भव सागर। बीठुला = विट्ठलदेव, कृष्ण, गोविंद। जन = भक्त, दास। राखि राखि = रक्षा करो। खनि = खोदकर। कंदा = कंदमूल। विखिया = विषय। अनिक = अनेक। अछित = (स०-अक्षत) विद्यमान। निरमोलिया = अमूल्य। बीका = बिक गया। समसरि = सदृश। सरब बिआपी = सर्वव्यापी।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैं क्या करूँ ? इस विशाल भवसागर से किस प्रकार पार होऊँ ? यह दास तुम्हारी शरण मे आया है। हे प्रभु ! इसकी रक्षा कीजिए। घर छोडकर वन मे जाकर निवास करने पर और केवल जमीन से कदमूल खोदकर खाने पर भी विषयो के प्रति आसक्ति समाप्त नही होती है, क्योकि मन मे वासनाओ का मैल ऐसा जम गया है कि वह शीघ्र निरस्त नही हो पाता।

विषयो के प्रति वासना रूपी विष चित्त मे इस तरह व्याप्त हो गया है कि उससे छुटकारा पाने का लाख प्रयत्न करने पर भी मैं उसे छोड नही पाता। उससे त्राण पाने की इच्छा को मैं बहुत ही यत्न से सम्हाल कर रखता हूँ, किन्तु रह-रहकर वह वासना लिपट जाती है। उससे छुटकारा नही मिलता।

यौवन, जिसमे साधना कर सकता था, अच्छे गुणो का संग्रह कर सकता था, परोपकार कर सकता था, व्यर्थ मे समाप्त हो गया। मैं कुछ कर न सका, अब तो

---

१. ना० प्र०, गुप्त- तिरौं। २. ना० प्र०, गुप्त- भौ जल अति भारी। ३. ना० प्र०, गुप्त-तुम्ह सरनागति केसवा राखि राखि मुरारी। ४. तिवारी-जनु। ५. ना० प्र०, गुप्त-घर। ६. तिवारी-चुनि। ७. ना० प्र०, गुप्त-विषै विकार न छूटई। ८. तिवारी-पापी मन मंदा। ९. ना० प्र०, गुप्त-नहीं। १०. ना० प्र०, गुप्त-अनेक ११. ना० प्र०-सुरझिहौं, गुप्त-सुरझिहूं। १२. ना० प्र०, गुप्त-फुनि फुनि उरझाई। १३. तिवारी-जियरा। १४. ना० प्र०, गुप्त-पर। १५. ना० प्र०, गुप्त-सुनि केसवा, तूँ सकल वियापी। १६ ना० प्र०, गुप्त-तुम्ह समांन दाता नहीं, हम से नहीं पापी।

केवल प्राण शेष हैं, पर वह शक्ति नहीं रही। यह अमूल्य हीरा रूपी जीवन कौड़ियों के मोल विक गया अर्थात् यह निरर्थक ही समाप्त हो गया।

कबीर कहते हैं कि हे माधव ! तुम सर्वव्यापी हो। अतः मेरे मन के विचार तुमसे छिपे नहीं हैं। मेरे सदृश कोई पापी नहीं है और तुम्हारे सदृश कोई दयालु नहीं है। इसलिए अब भी तुम अनुग्रह करो, तभी मेरा उद्धार हो सकता है। अपने कर्मों के द्वारा मेरा उद्धार संभव नहीं।

टिप्पणी—(१) विख विखिया की वासना..........

इसमें 'वासना' शब्द बहुत ही व्यंजक है। वासना वह है जिसमे चित्त वासित हो जाय। उसमें एक विचित्र स्थायित्व होता है। इसीलिए वह शीघ्र छुड़ाए नहीं छूटती।

(२) अंतिम पद में सावना में प्रभु के अनुग्रह के महत्व को दर्शाया गया है।

तुलनीय—तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी ॥१॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो ॥२॥

—तुलसी-विनयपत्रिका, पद ७९

× × ×

मेरो मन हरिजू ! हठ न तजै।
निसिदिन नाथ देउँ सिख बहु विधि, करत सुभाउ निजै ॥१॥

—विनयपत्रिका-पद ८९

को सुरझ्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यौ चहत, त्यों त्यो उरझत जात ॥

—विहारी

× × ×

रात गँवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी वदले जाय ॥

—कबीर

अलंकार—(१) कहा करउँ कैसे तरउँ—अनुप्रास।
(२) विख विखिया की वासनां, तजौं तजी न जाई —विशेषोक्ति
(३) हीरा-कौड़ी—रूपकातिशयोक्ति।
(४) यह हीरा निरमोलिया—लोकोक्ति।

राग—रामकली।

(७०)

कहा नर गरबसि थोरी बात।
मन दस नाज टका दस गांठी, ऐंड़ौ टेढ़ौ जात[1] ॥ टेक ॥
बहुत[2] प्रताप गांउं सौ पाए, दुइ लख टका बरात[3]।
दिवस चारि की करहु साहिबी[4], जैसे[5] बन हर पात ॥
नां कोऊ लै आयौ यहु धन, नां कोऊ लै जात।
रावन हूँ तें[6] अधिक छत्रपति, खिन मँहि गए बिलात।
[7]हरि के संत सदा थिर पूजौ, जो हरिनांम जपात।
जिन पर क्रिपा करत है गोविंद, ते सतसंगि मिलात ॥
मात पिता बनिता सुत संपति[8], अंति न चले संगात।
कहत[9] कबीर रांम भजु[10] बउरे, जनम अकारथ जात ॥

शब्दार्थ—गरबसि = गर्व करता है। नाज = अन्न। टका = रुपया। बरात = (ला०अ०) संचय, ढेर। खिन = क्षण। बिलात = नष्ट। बउरे = बावले।

संदर्भ—इस पद मे सांसारिक वैभव की क्षणिकता दिखलाते हुए कबीर ने यह उपदेश दिया है कि जीव को प्रभु का भजन करना चाहिए।

व्याख्या—हे मानव ! तू क्षणिक सासारिक ऐश्वर्य पर क्या गर्व करता है ? तेरे पास थोडा-सा अनाज हो गया और तूने कुछ धन सचित कर लिया, बस इतने पर ही तू गर्व मे ऐंठता चलता है। यदि बहुत प्रतापी हुए तो कुछ-सौ गाँवो के स्वामी बन गए और लाख, दो-लाख रुपयो का संचय कर लिया। जैसे जंगल मे वृक्षो के पत्ते थोड़े दिनो तक हरे रहते है, फिर मुर्झा कर गिर जाते है, वैसे ही तुम्हारा यह स्वामित्व और ऐश्वर्य क्षणिक है। सम्पत्ति को न तो कोई साथ लेकर जन्मा है और न मरने पर साथ ले जाएगा। रावण से भी अधिक समर्थ सम्राट् क्षण-भर मे नष्ट हो गए। सारा सासारिक वैभव अस्थिर है, केवल हरि का नाम जपने वाले संत ही स्थिर है। अत. उनकी संगति और समादर करो। भगवान् जिस पर अनुग्रह करता है, उसी को सत्संग मिलता है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र और संपत्ति आदि कुछ भी मरने पर साथ नही जाते। कबीर कहते हैं कि हे बावले जीव ! तू राम की उपासना कर, अन्यथा तेरा जीवन निरर्थक हो जाएगा।

---

१. ना० प्र०— गँठिया टेढो टेढ़ो जात। २. ना० प्र०–राजा भयौ। ३. ना० प्र०–टका लाख दस ब्रात। ४ ना० प्र०–है पतिसाही। ५. ना० प्र०–ज्यूँ बनि हरियल पात। ६. ना० प्र०–होत। ७ ना० प्र०–की प्रति में सातवीं-आठवीं पंक्तियाँ नहीं हैं। ८. ना० प्र०–माता पिता लोक सुत बनिता। ९. ना० प्र०– कहै। १०. ना० प्र०–भजि।

अलंकार--(१) जैसे वन हर पात—उपमा ।
(२) रावन हूँ तें—दृष्टान्त ।

राग--धनाश्री ।

(७१)

कहु पंडित सूचा[1] कवन ठांउं ।
जहां वैसि हउं भोजनु खांउं ॥ टेक ॥
माता जूठी पिता भी[2] जूठा, जूठे ही फल लागे[3] ।
आवहिं[4] जूठै जाहिं भी जूठै, जूठै मरहिं अभागे ॥
अगिनि[5] भी जूठी पांनी जूठा, जूठै वैसि पकाया ।
जूठी करछी अन्न परोसा, जूठै जूठा खाया ॥
गोवरु जूठा चउका जूठा, जूठै दीनीं कारा[6] ।
कहै कवीर तेई जन सूचे, जे हरि भजि तजहिं विकारा ॥

शव्दार्थ--सूचा = शुचि, पवित्र, शुद्ध । वैसि = वैठकर । हउँ = मैं । कारा = रेखा का वंधन ।

संदर्भ--कवीर कहते हैं कि वास्तविक पवित्रता मानसिक विकारों का त्याग है, शेष सव दिखावा है ।

व्याख्या--हे पंडित ! तुम पवित्रता या शुद्धता का व्यर्थ पाषंड करते हो । भला वह स्थान तो वताओ जो सर्वथा पवित्र हो । मैं वहीं वैठकर भोजन करूँ । इस संसार में सभी अपवित्र है । पिता के संभोग में अपवित्रता रहती है, माता का गर्भ भी अपवित्र रहता है और सद्य-जात शिशु भी अपवित्र होता है । मानव जन्म की सारी प्रक्रिया अपवित्रता से जुड़ी हुई है । जन्म मे भी अपवित्रता है और मरण में भी ।

भोजन वनाने के सभी साधन भी अपवित्र हैं—अग्नि भी और पानी भी । जिस स्थान पर वैठकर भोजन पकाते हैं, वह भी अपवित्र रहता है । अपवित्र कलछी से अपवित्र भोजन परोसकर अपवित्र स्थान पर खाया जाता है । जिस गोवर से लीपकर चौका पवित्र किया जाता है, वह गोवर स्वयं अपवित्र होता है, चौका भी अपवित्र होता है और उसके निमित्त वनाई गई सीमा-रेखा भी अपवित्र होती है । कवीर कहते हैं कि वास्तव मे पवित्र वही है जो मानसिक विकार त्यागकर भगवान् की भक्ति करता है । वाहरी पवित्रता दिखावा मात्र है ।

---

१. ना० प्र०-सुचि । २. ना० प्र०-पुनि । ३. ना० प्र०-फल चित लागे । ४. ना० प्र०-जूठा आँवन जूठा जाँनाँ, चेतहु क्यों न अभागे । ५. ना० प्र०-अंन जूठा पाँनी पुनि जूठा । ६. ना० प्र०-जूठी का डीकारा ।

अलंकार--वक्रोक्ति ।

राग--आसावरी ।

(७२)

कहु रे मुल्ला बांग निवाजा[१] ।
एक मसीति दसो दरवाजा ॥ टेक ॥
मनु करि मका किवला करि देही, बोलनहारु परम[२] गुर एही[३] ।
बिसमिल तांमसु भरम कंदूरी,[४] भखि लै पंचै होइ सबूरी[५] ।
कहै कबीर मै भया दिवांनां, मुसि मुसि मनुवा सहजि समांनां ॥

शब्दार्थ—मुल्ला = मौलवी । वाग = नमाज की अजान । निवाजा = (फा० नेवाज) वजाने वाला, करने वाला । मसीति = मस्जिद । किवला = (अ० किब्लः) मक्के मे वह स्थान जहाँ काला पत्थर स्थापित है और जिसकी ओर मुंह करके मुसलमान नमाज पढते हैं, पूजनीय । देही = देह में रहने वाला, आत्मा । वोलनहारु = वोलने वाला, चेतन । विसमिल (फा०) = आहत, घायल । तांमस = तमस् से युक्त । भरमु = भ्रम । कदूरी (फा०) = खाना खाने का कपडा, दस्तरखान । सवूरी (अ०) = शान्ति, धैर्य । मुसि मुसि = धीरे-धीरे, चुपके से । दिवानां = तन्मय, आनन्दमग्न ।

संदर्भ—इस पद मे वाह्य साधना को निरर्थक वताते हुए शरीर को मस्जिद मानकर आन्तरिक साधना का उपदेश दिया गया है ।

व्याख्या—कबीरदास कहते हैं कि ऐ नमाज़ की अज़ान लगाने वाले मौलवी ! वतलाओ तो सही कि वास्तविक मस्जिद है क्या ? ईंट पत्थर का मकान वास्तविक मस्जिद नही है । मानव का शरीर ही सच्ची मस्जिद है जिसमे दस दरवाजे (शरीर के नौ छिद्र तथा ब्रह्मरन्ध्र) है ।

कवीर वाह्याचार की अपेक्षा इसी शरीर मे स्थित देव की पूजा का उपदेश देते हुए कहते है कि मन को मक्का बनाओ और आत्मा को किब्लः (पूज्य) मानो । यही वोलनेवाला चेतन जीव का परम गुरु है ।

मुसलमानो मे यह प्रथा है कि भोजन के समय पशु को विस्मिल (आहत) करके पवित्र करते हैं और तव दस्तरखान पर रखकर भोजन करते है । कबीर इस रूपक के द्वारा उपदेश देते हैं कि अपनी तामसिक वृत्तियो का हनन कर उन्हें पवित्र करो और अज्ञान के दस्तरखान पर काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह का भक्षण करके

---

१. ना० प्र०—पढि ले कार्जी वंग निवाजा । २. ना० प्र०—जगत । ३. ना० प्र०—की प्रति में तीसरी पंक्ति के वाद एक पंक्ति और है—उहाँ न दोजग भिस्त मुकामाँ, इहाँ ही रॉम इहाँ रहिमाना । ४. प्र०—कँ दूरी । ५. ना० प्र०— पँचू भषि ज्यूँ होइ सवूरी ।

शान्ति और सन्तोष का अनुभव करो। यहाँ अज्ञान के दस्तरखान का तात्पर्य है—उसको नीचे बिछाकर समाप्त कर देना।

कबीर कहते है कि उपर्युक्त प्रकार से शरीर रूपी मस्जिद मे नमाज़ पढ़कर मैं आत्मतत्व मे तन्मय हो गया और मेरा मन धीरे-धीरे सहज (परमतत्व) मे समाविष्ट हो गया।

अलंकार—सांग रूपक।

राग—गौरी।

(७३)

कहूँ रे जे कहिवे की होइ।
नाँ को जानैं नाँ को मानैं, तार्थें अचिरज मोहि॥ टेक॥
अपने अपने रंग के राजा, माँनत नाहीं कोइ।
अति अभिमान लोभ के घाले, चले अपनपौ खोइ॥
मैं मेरी करि यहु तन खोयो, समझत नहीं गँवार।
भौजलि अधघर थाकि रहे हैं, बूड़े बहुत अपार॥
मोहि आज्ञा दई दयाल दया करि, काहू कूँ समझाइ।
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्‌यौ, अब मोहि दोस न लाइ॥

शब्दार्थः—रंग=रुचि। घाले=मारे हुए। अपनपौ=आत्मस्वरूप। भौजलि=संसार-सागर। अधघर=बीच मे ही। अपार=असंख्य।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में कबीर ने संसार के अज्ञानी जीवो के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया है।

व्याख्या—वह कहते है कि मैं जो कुछ कहने योग्य है उसे कहता हूँ। लेकिन मेरी बात को न कोई समझता है और न मानता है। इसलिए मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। सभी लोग अपने-अपने रंग में मस्त है। कोई मेरी बात सुनने को तैयार नहीं। अभिमान और लोभ के मारे हुए लोग शुद्ध आत्मस्वरूप को भूल गए है। अहंता और ममत्व मे सारा जीवन नष्ट हो गया, किन्तु मूर्ख इस तथ्य को समझते नहीं। न जाने कितने लोग इस भवसागर में बीच में ही थककर, हार मानकर बैठ गए और असंख्य लोग इसमें डूब ही गए है। प्रभु ने मुझे कृपाकर संसार का उद्धार करने के लिए उपदेश देने की आज्ञा दी थी कि लोगों को समझाओ। कबीर कहते है कि मैं कह-कह कर हार गया। किन्तु कोई मेरी सुनता नही। अतः मुझपर कर्तव्य-च्युति का दोष नही लगाया जा सकता।

राग—केदार।

(७४)

कहौ[1] भइया अंबर कासौं लागा।
कोई बूझै बूझनहार सभागा[2] ॥ टेक ॥
अंबर[3] मद्धे दीसै तारा, कौन चतुर ऐसा चितरनहारा[4]।
जो खोजहु सो उहवाँ नांहीं[5], सो तौ आहि अमर पद मांहो[6]।
कहै कबीर जांनैगा सोइ,[7] ह्रिदै रांम मुखि रांमैं होइ[8] ॥

शब्दार्थ—अम्बर=आकाश । सभागा=भाग्यशाली । बूझनहार=ज्ञानी । मद्धे=मध्य । चितरनहारा=चित्रकार, रचने वाला ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि जीवन का निर्भ्रान्त परम इष्ट आकाश मे स्थित स्वर्ग नही है, बल्कि उस परमार्थ मे है जिस पर आकाश भी प्रतिष्ठित है ।

व्याख्या—साधारण जन का यह विश्वास है कि स्वर्ग कही ऊपर आकाश मे है और उसी की प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य है। इस पद मे कबीर कहते है कि हे भाई ! यह बताओ कि जिस आकाश को तुम सर्वोच्च पद मान बैठे हो, उसका आधार क्या है ? वह किस पर प्रतिष्ठित है ? कोई भाग्यशाली ज्ञानी ही इस रहस्य को समझ सकता है। उस आकाश मे नाना नक्षत्र दिखलाई देते है। उनका चित्रण करनेवाला कौन समर्थ, प्रवीण चित्रकार है ? जीवन के जिस परम लक्ष्य को तुम आकाश या स्वर्ग मे खोजते हो, वह वहाँ नही उपलब्ध हो सकता। वह उसी अमर सत्ता में उपलब्ध हो सकता है, जो उस नक्षत्र खचित आकाश का चित्रकार है और तुम्हारी अन्तरात्मा मे विद्यमान है। कबीर कहते है कि उसको पूर्णत. वही समझ सकता है जिसके हृदय और मुख मे राम विद्यमान है अर्थात् जो केवल एक यान्त्रिक साधक नही है प्रत्युत राम मे सर्वथा समाविष्ट है ।

अलंकार—कहौ भइया… …सभागा—वक्रोक्ति ।

राग—गौरी

---

१. वि०–कहु हो अंमर । २. वि०–चेतनि हारे चेतु सभागा। ३. ना० प्र०–अंबरि दीसै केता तारा । ४. वि०–इक केतै दुजे चेतवनि हारा। ५. ना० प्र०–जो तुम्ह देखौ सो यहु नाँहीं । ६. ना० प्र०–यहु पद अगम अगोचर मॉही ।

*चौथी पँक्ति के बाद ना० प्र० में एक पंक्ति और है–तीनि हाथ एक अरधाई, ऐसा अंबर चीन्हौ रे भाई ।

७. वि०–पद बूझै सोई, ना० प्र०–जे अंबर जानै, ताही सूँ मेरा मन मॉने। ८. मुख हृदया जाके एकै होई ।

(७५)

काको रोऊँ[1] गल वहुतेरा, वहुतक मुअल फिरल नहिं फेरा।
हम रोया तव तुम[2] न सँभारा, गर्भ वास की वात विचारा॥
अव तैं रोया क्या तैं पाया, केहि कारन तैं[3] मोहि रोवाया।
कहैं कवीर सुनहु नर लोई[4], काल के वसहि परै[5] मति कोई॥

शब्दार्थ—गल=चले गए। मुअल=मर गए। फिरल=वापस। लोई=लोगो। वसहि=वश में।

संदर्भ—जो लोग कुकर्म करते है, वे आवागमन से मुक्त नहीं हो पाते। उन्हें वार-वार जन्म लेना पड़ता है। अतः मनुष्यों को सद्कर्म करना चाहिए।

व्याख्या—कवीर कहते हैं कि किस किसके लिए रोया जाय? न जाने कितने लोग इस संसार से चले गए। और जो चले गए, वे वापस नही आये। जव हमने तुम्हें युवावस्था में आर्तस्वर से समझाया, तव तुमने अपने को सम्हाला नही और ऐसे आचरण करने लगे, ऐसी वातों में विश्वास किया, जिससे तुम्हारा पुनः गर्भ में वास हो अर्थात् आवागमन वना रहे। अव वृद्धावस्था में रोने से क्या लाभ? अपने कुकर्म से तुम मुझे क्यों रुला रहे हो? कवीर कहते है कि हे मनुष्यो! ऐसा सद्कर्म करो जिससे काल के वन्धन में न पड़ो अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाओ।

(७६)

काजी तैं कवन कतेव वखांनीं।
पढ़त[6] पढ़त केते दिन वीते, गति एकौ नहिं जांनीं[7]॥ टेक॥
[8]सकति सनेह[9] पकरि करि सूनति, मैं न वदउँगा भाई[10]।
जौ रे खुदाइ तुरुक मोहि करता[11], तौ आपहि कटि किन जाई॥
सुनति[12] कराइ तुरुक जौ होनां, तौ औरति कौं[13] का कहिए।
अरध सरीरी नारि न[14] छूटै, तातैं[15] हिन्दू रहिए॥
[16]घालि जनेऊ वाह्मन होता, मेहरिहिं का पहिराया।
वै जनम की सूद्रि परोसै, तुम पाँड़े क्यों खाया॥

१. शुक०—रोओगे। २. वि०—तैं न। ३. शुक०—अव। ४. शुक०—भई संतो। ५. शुक०—परो। ६. वि०—झकंत वकत रहहु निसु वासर, मति एकौ नहिं जानी। ७ ना० प्र०—एकै नहीं जाँनैं। ८. वि०—सकति अनुमाने सुनति करतु हो। ९. ना० प्र०—से नेह। १०. ना प्र०—यहु नवदूं रे भाई। ११. वि०—तेरि सुनति करतु है, १२. ना० प्र०—हौं तो तुरुक किया करि सुनति। १३. ना० प्र०—सौं। १४. वि०—वखानी। १५. ना० प्र०—आधा। १६ ये दो पंक्तियाँ तिवारी तथा ना० प्र० की प्रति में नहीं हैं। ना० प्र० की प्रति में केवल निम्नलिखित दो पंक्तियाँ है— छाँडि कतेव राम कहि काजी, खून करत हौ भारी। पकरी टेक कवीर भगति की, काजी रहे झष मारी॥

हिन्दू तुरुक कहाँ तैं आए[1], किन एह राह चलाई[2]।
दिल महिं खोजि देखि खोजा दे, भिस्ति कहाँ तैं आई॥
छांड़ि[3] कतेब राम भजु बउरे, जुलुम करत है भारी।
कबीर पकरी टेक राम की, तुरुक रहे पचि हारी॥

शब्दार्थ—कतेब (अ०-किताब)=ग्रंथ, कुरान शरीफ। गति=मर्म रहस्य। सकति (फा० सख्ती)=जबर्दस्ती। बदउँगा=स्वीकार करूँगा। सुनति (अ०)=सुन्नति, खतना, मुसलमानी। अरध सरीरी=अर्धांगिनी। खोज दे=गवेषणा-पूर्वक। भिस्ति (फा० बिहिश्त)=स्वर्ग। जुलुम (अ० जुल्म)=अपराध, पाप, अत्याचार। घालि=डालकर। पचि=प्रयास करके।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम दोनो सम्प्रदायो मे प्रचलित बाह्याचार को व्यर्थ बतलाते हुए उपदेश दिया है कि प्रभु को हृदय मे ही खोजो, अन्यत्र नही।

व्याख्या—वह कहते है कि हे काजी! तुम किस धर्म-ग्रन्थ की प्रशसा करते हो? उसका अध्ययन करते हुए तुम्हारे जीवन के न जाने कितने वर्ष बीत गए, किन्तु मर्म तुम्हारी समझ मे न आया। इससे स्पष्ट है कि प्रभु का रहस्य ग्रन्थो के अध्ययन से नही जाना जा सकता है।

मानव को प्रभु के दरबार मे स्वीकृत होने के लिए (जैसा कि मुसलमानों का विश्वास है) सुन्नति की आवश्यकता को मैं कभी स्वीकार नही कर सकता, वह चाहे जबर्दस्ती की गई हो अथवा स्नेह से। यदि तुरुक (अनुयायो) होने के लिए प्रभु सुन्नति को आवश्यक समझते तो खतना निसर्गत आप से आप क्यो नही हो जाता? यदि 'सुन्नति' ही तुर्क का लक्षण है तो फिर स्त्रियो को तुर्क कैसे माना जाय? स्त्री अर्धांगिनी होती है, उसकी सुन्नति हो नही सकती। अत. सुन्नति कराने पर तुम्हारा आधा समाज हिन्दू ही बना रह जाता है।

इसी प्रकार हिन्दुओ के बह्याचार पर व्यंग्य करते हुए वह कहते है कि यदि यज्ञोपवीत धारण करना ही द्विज का चिन्ह है तो स्त्रियों को क्या पहनाया गया है, जिससे वे द्विजो मे गिनी जा सके। वह तो जन्म से अन्त तक शूद्र ही बनी रहती है। फिर उनका परोसा भोजन तुम कैसे खाते हो?

हिन्दू और मुसलमान कहाँ से पैदा हो गए? यह प्रथा किसने चलाई? यह भेद नैसर्गिक नही है, मानवकृत है। मानव केवल मानव है—न हिन्दू, न मुसलमान।

---

१. वि०—आया। २. वि०—किन्हि पाई। ३. वि० में ये पक्तियाँ हैं—कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, जोर करत है भाई। कबिरन्ह ओट राम की पकरी, अंत चले पछिताई॥

गवेषणापूर्वक दिल में ढूंढ़ो, प्रभु का वास कहीं सातवें आसमान पर नहीं है। वह घट में ही विद्यमान है। जीवन में तू घोर पाप-कर्म करता है और समझता है कि वाह्याचार से मुक्ति मिल जायगी। यह नितान्त भ्रम है। रे वावले! ग्रन्थों आदि का भरोसा छोड़कर राम की भक्ति कर। कबीर ने राम का आश्रय ले लिया। इससे वह सभी पापों से मुक्त हो गया है और 'कितेब' तथा 'सुन्नति' का आश्रय ग्रहण करने वाले भव-जाल में ही पड़े हैं। वे प्रयत्न करके हार गए, किन्तु मुक्त न हो सके!

अलंकार—(१) पढ़त पढ़त·······जानी—विशेषोक्ति।
(२) जौ रे······· जाई—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(७७)

का नांगे का बाँधें चाँम।
जौ नहिं चीन्हसि आतमरांम॥ टेक॥
नांगे फिरें जोग जौ होई, बन का मिरिग मुकुति गया कोई।
मूंड मुडाएं जौ सिधि होई, सरगहि[1] भेंड़ न पहुँचो कोई॥
बिदु राखि जौ तरिऐ[2] भाई, तौ खुसरैं क्यू[3] न परम गति पाई।
कहै[4] कबीर सुनौं रे भाई, रांम नांम बिनु किन सिधि पाई॥

शब्दार्थ—नांगे=नग्न। चांम=व्याघ्रचर्म या मृगछाला। खुसरैं=(अ० खुसियः=अडकोश, खुस=हानि पहुँचाना)=बाधीया करना।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में वाह्याडम्बर की निरर्थकता वताते हुए कबीर कहते हैं कि प्रभु-भक्ति से ही सच्ची सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

व्याख्या—वह कहते हैं कि यदि आत्मतत्त्व को नहीं पहचाना है तो नग्न रहने अथवा मृगछाला धारण करने से क्या लाभ? यदि नंगे फिरने से मोक्ष प्राप्त हो जाता तो जंगल का कोई भी पशु मोक्ष को प्राप्त हो गया होता। यदि सिर मुँडाने से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती तो भेंड़, जिसके पूरे शरीर के बाल मुड़ जाते हैं, अवश्य ही सीधे स्वर्ग को पहुँच जाती। यदि केवल वीर्य-रक्षा से मोक्ष प्राप्त हो जाता तो घोड़ा और बैल, जिनका वधिया किया जाता है, मोक्ष को क्यों नहीं प्राप्त कर लेते। कबीर कहते हैं कि हे भाई! सुनो। प्रभु की भक्ति के विना किसने सिद्धि पाई है?

---

१. ना० प्र०—स्वर्ग हों। २. खेलै है। ३. ना० प्र०—कौण। ४. ना०प्र० में इसके पूर्व एक पंक्ति और है— पढ़े गुनें उपजै अहंकारा, अधधर डूबे वार न पारा।

तुलनीय—सिद्ध सरहपाद ने भी बाह्याडम्बर का खण्डन करते हुए लिखा है—

जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह ।
लोमुपाडणें अत्थि सिद्धि, ता जुवइ णिअम्वह ॥
पिच्छीगहणे दिट्ठ मोक्ख, ता मोरह चमरह ।
उच्छे भोअणे होइ जांण, ता करिह तुरगह ॥

(दोहा कोश, पृ० २)

अलंकार—अंतिम पक्ति मे वक्रोक्ति ।

राग—गौरी ।

(७८)

काया बौरी चलत प्रांन काहे रोई ।
कहत हंस सुन काया बौरी, मोर तोर संग न होई ॥ टेक ॥
काया पाइ बहुत सुख कीन्हां, नित उठि मलि मलि धोई ।
सो तन छिया छार होइ जैहै, नांउं न लेइहै कोई ॥
सिव सनकादि आदि ब्रह्मादिक, सेस सहस मुख जोई ।
जिन जिन देह धरी त्रिभुवन मै, थिर न रहा है कोई ॥
पाप पुन्नि दोइ जनम संघाती, समुझि देखु नर लोई ।
कहै कबीर प्रभु पूरन की गति, बूझै बिरला कोई ॥

शब्दार्थ—बौरी=पागल । छिया (सं० क्षिया)=मलिन, घृणित वस्तु । छार (सं० क्षार)=राख । जोई=देखते है । लोई=लोग । पूरन=पूर्ण । बिरला=(स० विरल)=कोई कोई । संघाती=साथी ।

संदर्भ— इस पद मे बताया गया है कि काया का कोई महत्व नही है । मृत्यु के समय इसका जीव से कोई सम्बन्ध नही रह जाता । यह या तो भस्म हो जाती है या मिट्टी मे मिल जाती है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्राण निकलने पर यह बावली काया क्यों रोती है ? जीव कहता है कि हे बावली काया ! अब मेरा तेरा साथ नही रहेगा । जब तक मैं शरीर मे रहा, तब तक उसके द्वारा बहुत सुख का भोग किया और नित्य प्रति उसको स्वच्छ करते रहे । अब वही शरीर अंत समय मे एक घृणित वस्तु के समान हो जायगा और जलाने पर भस्म में परिणत हो जायगा तथा इसका कोई नाम तक न लेगा । शिव, सनक, सनन्दन, ब्रह्मा तथा हजार नेत्रो से देखने वाले शेषनाग आदि जिन लोगो ने तीनो लोको मे शरीर धारण किया है, वे जीवित न रह सके । सभी को शरीर छोड़ना पडा । हे मानव ! अच्छी तरह समझ कर देख लो । अपने साथ जाने वाले

केवल पाप और पुण्य ही हैं, जो जीव के सदा के साथी हैं। कबीर कहते हैं कि पूर्ण अर्थात् परमात्मा के मर्म को विरले ही समझ पाते हैं।

राग—बिहागड़ा।

(७९)

काया मांजसि कौन गुनां।
घट भीतरि है मलनां ॥ टेक ॥
ह्रिदै कपट मुखि ग्यांनीं, झूठै कहा बिलोवसि पांनीं[1]।
तूंबी अठसठि तीरथ न्हाई, कड़ुवापन तऊ न जाई।
कहै कबीर बिचारी, भव सागर तारि मुरारी ॥

शब्दार्थ—गुनां = गुण के लिए, उपयोग के किए। मलनां = गन्दगी। मुखि = मुख में। बिलोवसि = बिलोता है, मथता है। पानी बिलोना (मुहा०) = निरर्थक श्रम करना। तूंबी = कड़वी लौकी। अठसठि = अड़सठ अर्थात् अनेक।

संदर्भ—बाह्य स्वच्छता से कोई लाभ नही, आंतरिक पवित्रता होनी चाहिए। वह केवल प्रभु-भक्ति से ही प्राप्त हो सकती है।

व्याख्या—बाह्याडम्बर की निरर्थकता का प्रतिपादन करते हुए कबीर कहते हैं कि हे मनुष्यो! तुम्हारे शरीर के भीतर अनेक प्रकार के विकार विद्यमान हैं और तुम केवल बाहरी शरीर को मल-मल कर धोते हो। इससे क्या लाभ होगा? तुम्हारे हृदय में कपट भरा है, किन्तु मुख से ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करते हो। ऐसा वाक्यज्ञान पानी मथ-कर मक्खन निकालने के प्रयास के समान निरर्थक है। कड़वी लौकी चाहे अनेक तीर्थों में डुबकी लगाए, फिर भी उसका कड़ुवापन दूर नही हो सकता अर्थात् बाहरी मज्जन से आन्तरिक विकार नही दूर हो सकता। कबीर विचारकर कहते हैं कि केवल प्रभु में ही भव-सागर से उद्धार करने की शक्ति है। अतः चित्त का मल दूर कर उनकी भक्ति करो।

तुलनीय—हृदय कपट वर वेष धरि, बचन कहहिं गढि छोलि।
अब के लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिए मन खोलि ॥
—(तुलसी-दोहावली)

× × ×

वाक्य ग्यान अत्यन्त निपुन, भव पार न पावइ कोई।
जिमि गृह मध्य दीप की बातनि, तम निवृत्त नहिं होई ॥

---

१. ना० प्र०—जौ तूं हिरदै सुध मन ग्यांनी, तौ कहा बिरोलै पानीं।

अलंकार—(१) तूंबी·······न जाई—दृष्टान्त ।
(२) मुरारी··· परिकराकुर ।

राग—सोरठ ।

(८०)

काहे कूँ भीति बनाऊँ टाटी, का जानूं कहाँ परिहै माटी ॥ टेक ॥
काहे कूं मंदिर महल चिनाऊँ, मुंवां पीछैं घड़ी एक रहन न पाऊँ।
काहे कूँ छाऊँ ऊँच उँचेरा, साढ़े तीनि हाथ घर मेरा।
कहै कबीर नर गरब न कीजे, जेता तन तेतो भुँइ लीजैं ॥

शदार्थ—भीति = दीवाल । टाटी = टट्टी । माटी=शरीर की मिट्टी । चिनाऊँ= बनवाऊँ । भुइँ =जमीन ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे शरीर की नश्वरता का प्रतिपादन किया गया है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यह जीवन क्षणिक है, नश्वर है । अत इसके लिए ऊँची-ऊँची दीवालो के बड़े-बड़े महल और पर्दे के लिए टट्टियां बनाने मे क्या लाभ ? इस शरीर की मिट्टी कहां गिरेगी ? इसे कौन जानता है ? बडे-बडे महल बनाने से क्या लाभ ? मरने के बाद उसमें एक घडी भी रहना संभव न होगा । ऊँची-ऊँची छत छाने से क्या लाभ ? यह शरीर केवल साढे तीन हाथ का है । कबीर कहते हैं कि इस नश्वर शरीर पर गर्व नही करना चाहिए । साढे तीन हाथ के इस शरीर के लिए उतनी ही भूमि पर्याप्त है ।

राग—भैरव ।

(८१)

काहे बीहो मेरे साथी, हूँ हाथी हरि केरा।
चौरासी लख जाके मुख में, सो च्यंत करैगा मेरा ॥ टेक ॥
कहौ कौन षिवै कहौ कौन गाजै, कहाँ थै पाँनी निसरै ।
ऐसी कला अनंत है जाकै, सो हँम कौं क्यूं बिसरै ॥
जिनि ब्रह्मण्ड रच्यौ बहु रचना, बाव बरन ससि सूरा ।
पाइक पंच पुहमि जाकै प्रकटै, सो क्यूं कहिए दूरा ॥
नैन नासिका जिनि हरि सिरजैं, दसन बसन बिधि काया ।
साधू जन कौं सो क्यूं बिसरै, ऐसा है रॉम राया ॥
को काहू का मरम न जानैं, मै सरनांगति तेरी ।
कहै कबीर बाप राँम राया, हुरमति राखहु मेरी ॥

शब्दार्थ—बीहो=डरते हो। हायी=हाथ का सहारा। च्यत=चिंता। पिवै=नष्ट होता है। गाजै=गर्जन करता है। बाव=वायु। बरन=वरुण। ससि=चन्द्र। सूरा=सूर्य। पाइक=पावक। पुहुमि=पृथ्वी। दसन=दाँत। बसन=वस्त्र। काया=शरीर। विधि=व्यवस्थ। हुरमति (फा०)=प्रतिष्ठा।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे प्रभु के अनुग्रह मे विश्वास का उपदेश दिया गया है।

व्याख्या—जीवों को सम्बोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि हे मेरे साथियो! तुम क्यो भयभीत होते हो? मैं हरि के हाथ का सहारा हूँ अर्थात् सद्गुरु के द्वारा जीव को प्रभु की सहायता मिलती रहती है। जिसके भीतर चौरासी लाख योनियाँ हैं अर्थात् जो सर्वव्यापी है, वह मेरी (जीव की) चिन्ता स्वयं करेगा।

प्रभु की दया के दृष्टान्त चतुर्दिक विद्यमान है। यह जल कहाँ से आता है? कौन नष्ट होता है, कौन गर्जन करता है और कहाँ से वर्षा का जल आता है? अर्थात् जलाशय से जल भाप बनकर ऊपर जाता है, वही मेघ के रूप मे गर्जन करता है और फिर वर्षा के रूप में पृथ्वी पर आता है। यह सब प्रभु-कृपा का ही फल है। जो प्रभु अनंतकला-सम्पन्न है, वह हमें क्यो भूल जाएगा? जिस ईश्वर ने ब्रह्माण्ड मे नाना प्रकार की सृष्टि की है तथा वायु, वरुण, चन्द्र, सूर्य, पंच-पावक, पृथ्वी आदि का निर्माण किया है, उसे अपने से दूर क्यों समझते हो? जिस प्रभु ने नेत्र, नासिका, दाँत आदि शरीर के अंगों को बनाया है और जिसके द्वारा हमे वस्त्र प्राप्त होता है, वह जगत् का स्वामी राम संतजनो को कैसे विस्मृत कर सकता है? कबीर कहते हैं कि कोई किसी का मर्म नही जानता है। हे प्रभु! मैं आपकी शरण मे हूँ। आप मेरी प्रतिष्ठा की रक्षा कीजिए।

राग—आसावरी।

(८२)

काहे मेरै बांम्हन हरि न कहहि।
रांम न बोलहि पांडे दोजक भरहि॥ टेक॥
जिहि मुख वेदु गाइत्री उचरै, सो क्यूं बांह्मन बिसरु करै।
जाकै पाइं जगत सभ लागै, सो पंडित जिउ घात करै॥
आपन ऊँच नीच घरि भोजनु, घींन करम करि उदर भरहि।
ग्रहन अमावस रुचि रुचि मांगहि, कर दीपकु लै कूप परहि॥
तूं बाम्हन मैं कासी क जुलहा, मोहि तोहि बराबरी कैसे कै बनहि।
कहै कबीर हमं रांम लगि उबरे, बेदु भरोसे पांडे डूबि मरहि॥

शब्दार्थ—दोजक (फा० दोज़ख)=नरक। बिसरु=भूलना। जिउघात=जीववध। घीन=घृणित, घिनौना।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करते हुए कबीर कहते है कि जातिगत श्रेष्ठता तथा बाह्याचार से उद्धार सभव नही है, केवल भक्ति से ही भव-सागर पार किया जा सकता है।

व्याख्या—वह कहते है कि हे ब्राह्मणो! उच्च जाति मे जन्म लेने के गर्व मे प्रभु की भक्ति क्यो भूल जाते हो? जो हृदय से राम-भक्त नही है, वह नि संदेह नरक मे जाता है? जिस मुख से तुम वेद-गायत्री आदि का उच्चार करते हो, उस मुख से राम नाम का जप और अच्छे ढग मे होना चाहिए। आश्चर्य है कि उससे प्रभु-नाम क्यो नही लेते? उसे कैसे भूल जाते हो?

जिनको श्रेष्ठ और महान् समझकर लोग चरणस्पर्श करते है, आश्चर्य है कि वही ब्राह्मण बलिदान के लिए जीव-वध करते है। स्वय श्रेष्ठ बनते है, किन्तु सामान्य से सामान्य यजमान के यहाँ बलिदान आदि घृणित कर्म करके, उसी के यहाँ अपना उदर पोषण करते है। ग्रहण, अमावस्या आदि विशेष पर्वो पर तथाकथित नीच कहे जाने वाले यजमानो के यहाँ भी प्रसन्नतापूर्वक दान ग्रहण करते है। इस प्रकार ज्ञानी बनते हुए भी वे भव-कूप मे गिरते है।

तुम अपने को श्रेष्ठ ब्राह्मण कहते हो और मै साधारण जुलाहा हूँ। भला मेरी और तुम्हारी बराबरी कैसे हो सकती है? हाँ, इतना न भूल जाना कि मैं हूँ तो जुलाहा, किन्तु उस काशी का, जिसके विषय में तुम्हारी धारणा और घोषणा है कि वहाँ का प्रत्येक निवासी मोक्ष का अधिकारी है। कबीर कहते है कि मुझे वेद का ज्ञान नही है, किन्तु राम के भरोसे मैं भव-सागर पार कर जाऊँगा और वेद (कर्म-काण्ड) का आश्रय लिए हुए तुम डूब मरोगे।

अलंकार—(१) जाकै पाइ...... ..करै—वक्रोक्ति।
(२) घर दीपक लै कूप परहि—लोकोक्ति।

राग—आसावरी।

(८३)

काहे रे नलिनी तूँ कुम्हिलानी।
तेरे हो नालि सरोवर पॉनी ॥ टेक ॥
जल मै उतपति जल मै वास, जल मै नलिनी तोर निवास।
ना तल तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लाग ॥
कहै कबीर जे उदिक समॉन, ते नहि मुए हमॉरे जान ॥

शब्दार्थ—नलिनी=कमलिनी (प्र० अ०) जीव। नालि=जड (प्र० अ०) सम्पर्क। सरोवर=(प्र० अ०) आत्मिक चेतना का प्रसार। हेतु=प्रेम। उदिक=जल।

संदर्भ—जीव का मूल अर्थात् आत्म-चैतन्य आनंदस्वरूप है। जीव उससे सम्पर्क स्थापित न रखकर, वाह्य विषयो मे अनुरक्त रहता है। उसके दुःख का यही कारण है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव ! तू क्यो म्लान है ? सांसारिक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद के द्वन्द्व मे पड़ा रहना ही जीव का अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति अनभिज्ञ होना है। इस तथ्य को कमलिनी के प्रतीक द्वारा स्पष्ट करते हुए वह कहते हैं कि कमलिनी के नाल का मूल सरोवर में रहता है, जहाँ से उसे सदैव तरलता प्राप्त होती रहती है तथा उसकी उत्पत्ति सरोवर से होती है, उसके जल मे ही उसका वास रहता है। न तो उसके तल में ताप है और न ऊपर आग है। फिर उसके कुम्हलाने का क्या कारण हो सकता है ? कवि पूछता है कि इन सारी अनुकूल परि-स्थितियों के होते हुए भी तू क्यो मुरझाई हुई है ? तेरा प्रेम किससे हो गया है ? वस्तुत. तेरा स्नेह उस मूल स्रोत से नही है जो तेरे जीवन का आधार है। तू किसी अन्य मे अनुरक्त है, यही तेरे मुरझाने का कारण हो सकता है।

जीव का मूल आत्मा है, जो सच्चिदानन्द है। जीव उससे संयुक्त न होकर सांसारिक विषयों में अनुरक्त रहता है। यही उसकी म्लानता का कारण है। जिसके मूल में आनन्द का अगाध सागर है, वह तभी म्लान हो सकता है, जब वह उससे सम्पर्क स्थापित न करके, उससे प्रेरणा न ग्रहण करके वाह्य विषयो मे आनन्द खोजता है। कबीर कहते हैं कि जो जीव उस आनन्द रूपी जल के समान है, जो सबको तरल करता रहता है और शान्ति पहुँचाता रहता है तथा जिस जीव ने उससे पूर्ण सम्पर्क स्थापित कर लिया है, वह हमारी समझ से अमर है। उसने अमृतत्व का पान कर लिया है।

टिप्पणी—उदिक—उदक का तद्भव। यह शब्द 'उन्दी' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है—क्लेदन, भिगो कर रखना। 'उदक' से आनन्द की उपमा बहुत व्यञ्जक है। जिस प्रकार उदक अपनी तरलता से सबको शान्त और प्रसन्न रखता है, उसी प्रकार मूल चैतन्य, जो आनन्दस्वरूप है, अपने प्रभाव से सबको शांति और आनन्द प्रदान करता रहता है। म्लानता तभी आती है जब हम उससे सम्पर्क न रखकर विषयों में अनुरक्त हो जाते है।

तैत्तिरीय उपनिषद् (३।६।१) में कहा गया है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादानन्दाद्धि खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्त्यानन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥'

'आनन्द ब्रह्म है। आनन्द से सभी प्राणी उत्पन्न होते है। उसी आनन्द के द्वारा जीवित रहते हैं। आनन्द की ओर ही सब प्राणी जाते है अर्थात् उसी की खोज में रहते हैं और उसी मे अन्ततोगत्वा लीन हो जाते है।

अलंकार—अन्योक्ति ।

राग—गौरी ।

(८४)

कुसल खेम अरु सही सलामति, ए दोइ काकौं दीन्हां रे ।
आवत जात दुहूधां लूटे, सरब तत्त[1] हरि लीन्हा रे ॥ टेक ॥
सुरनर मुनि जति[2] पीर अवलिया, मीरां पैदा कीन्हां रे* ।
कोटिक भए कहाँ लगि बरनौं, सभनि पयांनां दीन्हां रे ॥
धरती पवन अकास जाहिगे[3], चंद जाहिगे[4] सूरा रे ।
हंम नांहीं तुम नांही रे भाई, रहै रांम भरपूरा रे ॥
कुसलहि कुसल करत जग खींनां, पड़ै काल भौ[5] पासी रे ।
कहै कबीर सबै जग बिनसैं[6], रहै रांम अबिनासी रे ॥

शब्दार्थ—खेम = क्षेम । सही (फा०) = सरल, अरुग्ण । सलामति (अ०) = स्वस्थ, सुरक्षित । दुहुँधा = दोनो ओर । सरब तत्त = सर्व तत्व, चैतन्य तत्व । जति = यती, साधक । पीर (फा०) = धर्मगुरु । अवलिया (अ०) = साधक, सत । मीरां (फा० 'मीर' का बहुवचन) = बडे लोग । पयानां = प्रयाण । सूरा = सूर्य । खीना = क्षीण । भरपूरा = परिपूर्ण, व्याप्त । पासी = पाश, फदा । भौ = ससार ।

संदर्भ—ससार मे सभी पदार्थ नश्वर है, केवल राम अविनाशी है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि इस ससार मे भला ऐसा कौन है जिसको प्रभु ने पूर्ण रूप से प्रसन्नता, सम्पन्नता, अरुग्णता और स्वास्थ्य प्रदान किया हो । इस ससार मे जन्म और मृत्यु दोनो के समय हम लूटे जाते हैं अर्थात् दोनो अवस्थाओ मे हम मोह-ग्रस्त रहते है और अपने चैतन्य-तत्व से, जो हमारा सब कुछ है, अलग हो जाते है । इस संसार मे सुर, नर, मुनि, यती, पीर, औलिया और बड़े-बडे सरदार आदि करोड़ों की सख्या मे पैदा हुए । मैं उनका कहाँ तक वर्णन करूँ ? उन सबको भी इस संसार से जाना पडा । फिर साधारण जन की क्या बात है ? इस संसार मे पृथ्वी, वायु, आकाश, चन्द्र और सूर्य आदि सभी नश्वर है । हे भाई ! न हम रहेंगे, न तुम रहोगे । केवल एक राम अविनाशी है, शेष सभी विनश्वर है । 'कुशल कुशल' कहते हुए संसार का प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है । सारा ससार काल के फंदे मे है । कबीर

---

१. ना प्र०—सर्व तत ।

*ना० प्र० की प्रति में यहाँ निम्न दो पंक्तियाँ और है—माया मोह मद मैं पाया, मुगुध कहै यहु मेरी रे । दिवस चारि भलै मन रंजै, यहु नाहीं किस केरी रे ।।

२. ना० प्र०—जन । ३. ना० प्र०—जाइगा ४. ना० प्र०—जाइगा । ५. तिवारी—भैं ६. ना० प्र०— बिनस्या ।

कहते हैं कि सारा संसार विनश्वर है, केवल एक राम अविनाशी हैं। अतः नश्वर पदार्थों को छोड़कर अविनाशी प्रभु की शरण में जाओ।

अलंकार—कुसल खेम—वक्रोक्ति।

राग—विलावल।

(८५)

कैसे तरो नाथ कैसे तरो, अब बहु कुटिल भरो।
कैसी तेरी सेवा पूजा, कैसो तेरो ध्यान।
ऊपर उजर देखो बक[1] अनुमान॥
भाव तो भुवँग देखो, अति विविचारी।
सुरति सचान तेरी मति तौ मँजारी॥
अति रे विरोध देखो, अति रे अयाना[2]।
छव दरसन देखो, भेख लपटाना॥
कहैं कबीर सुनो नर[3] वन्दा।
डाइनि डिंभ सकल जग खंदा॥

शब्दार्थ—तरो=उद्धार। नाथ = नाथ योगी। कुटिल = कपट, छल। उजर = उज्वल, निर्मल। भुवँग = सर्प। विविचारी = व्यभिचारी, भ्रष्ट। सचान = वाज। मँजारी = बिल्ली। अयान = अज्ञान। वन्दा = सेवक। सुरति = स्वरूप, आकार। डाइनि = डाकिनी (प्र० अ०) माया। डिंभ = पाखंड। खंदा = खा जाने वाली।

सदर्भ—इस पद में कबीर ने वाह्याडम्बर का विरोध किया है और यह सकेत किया है कि आत्मसाक्षात्कार इससे सर्वथा भिन्न है।

व्याख्या—पाखंडी नाथयोगियो को सम्बोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि हे योगियो! तुम्हारा उद्धार कैसे हो सकता है? तुम कपट से भरे हुए हो। तुम्हारी कथनी-करनी मे बहुत बड़ा अंतर है। तुम्हारे द्वारा की जाने वाली प्रभु-सेवा, पूजा और ध्यान कपटाचरण के कारण निरर्थक है। तुम बगुले की तरह ऊपर से उज्वल बने रहते हो, किन्तु भीतर से कुटिल हो। तुम्हारा हृदय सर्प के समान कुटिल है। तुम मार्गभ्रष्ट हो। तुम्हारा रूप और आकार वाज के समान है और तुम्हारी बुद्धि बिल्ली के समान है। तुम्हारी कथनी-करनी मे अत्यधिक विरोध है। तुम लोग अत्यंत अज्ञानी हो। षड् दर्शन (जोगी, जगम, शेवड़ा, संन्यासी, दरवेश, ब्राह्मण) केवल वेश तक सीमित है अर्थात् तुम लोग विशिष्ट सम्प्रदाय के अनुसार केवल वेश-भूषा धारण

१. वि०—वग। २. शुक०— सयाना, वि०—दिवाना। ३. वि०—नल।

करते हो। उससे सम्बद्ध तत्व-दर्शन से अनभिज्ञ हो। कबीर कहते हैं कि हे भक्त जनो! सुनो। माया रूपी डाकिनी और पाषंड ने सारे संसार का भक्षण कर डाला है।

अलंकार—(१) तीसरी पंक्ति में रूपक।
(२) डाइनि में रूपकातिशयोक्ति।

(८६)

कैसें नगर करौ कुटवारी[1]।
मांसु[2] पसारि गीध[3] रखवारी॥ टेक॥
बैल बियाइ गाइ भई बांझ, बछरहिं दूहै तीनिउं[4] सांझ।
मूसा[5] खेवट नाव बिलइया, सोवै दादुर सर्प[6] पहरिया।
नित उठि स्यार सिंघ सौं जूझै[7], कहैं कबीर कोई बिरला बूझै[8]॥

शब्दार्थ—नगर = (प्र० अ०) शरीर। कुटवारी = कोतवाली, रखवाली, रक्षा (सं० कोटपाल)। मांसु = (प्र० अ०) विषय। गीध = (प्र० अ०) लोभ। बैल = (प्र० अ०) अविवेक। बियाइ = जन्म देना। बछरहिं = बछड़े को (प्र० अ०) इन्द्रियाँ। तीनिउँ सांझ = तीन संध्या (प्रात, मध्याह्न, साय)। मूसा = चूहा (प्र० अ०) काम। खेवट = मल्लाह। बिलइया = बिल्ली (प्र० अ०) प्रज्ञा। दादुर = मेढक (प्र० अ०) मोह, अविद्या। सर्प=(प्र० अ०) शास्त्रीय ज्ञान। पहरिया = रक्षक, पहरेदार। स्यार = श्रृगाल (प्र० अ०) तृष्णा। सिंघ = (प्र० अ०) जीव।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे उलटबाँसी के माध्यम से कबीर ने यह बतलाया है कि मानव जीवन की यही विडम्बना है कि उसकी दुर्बलताओ के विनाशकारी तत्व ही उसके रक्षक बन गए हैं। इस रहस्य को समझे बिना कल्याण संभव नही।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैं (जीव) इस शरीर रूपी नगर की रखवाली कैसे करूँ? यहाँ विचित्र वैषम्य है। मास (विषय) फैला हुआ है और उसकी रखवाली करने वाला है—गीध (लोभ), जिसके कारण मनुष्य बराबर विषयो मे आसक्त रहता है। यहाँ बैल बियाता है अर्थात् अविवेक के द्वारा सभी कर्म सम्पन्न होते हैं और गाय वंध्या है अर्थात् विवेक कार्य करने मे असमर्थ है। बछडो का तीन प्रहर (प्रात, दोपहर, साय) अर्थात् सदा दोहन होता है अर्थात् इन्द्रियो के द्वारा सदा विषय-रस का भोग होता रहता है। यहाँ मूसा 'खेने वाला' है और बिलार 'नाव' है। तात्पर्य है कि काम प्रज्ञा रूपी नाव को बहा ले जाता है। गीता में भी कहा गया

---

१ वि०—को अस करइ नगर कोटवलिया। २. ना० प्र०—चंचल पुरिष बिचषन नारी। ३. वि०—फैलाय ४. वि०—तिनि तिनि। ५. वि०—मुस भौ नाव मँजार कँडिहरिया। ६. वि०—सरप ७ ना० प्र०—स्यँघ सूँ जूझै। ८. वि०—कबिर का पद जन बिरला बूझै।

है कि जिस प्रकार जल में वायु नाव का हरण कर लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियानुगामी मन वाले पुरुष की वुद्धि को एक ही इन्द्रिय हरण कर लेती है :—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ (२।६७)

सामान्यतः सर्प दादुर का भक्षक होता है, किन्तु यहाँ मेंढक सो रहा है और सर्प उसका पहरेदार वना है अर्थात् मोह विना किसी वाधा के विश्राम कर रहा है और शास्त्रीय ज्ञान उसके विश्राम में सहायक वनकर उसकी रखवाली करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्र-ज्ञान के कारण मोह-निद्रा का भंग नहीं होने पाता। शास्त्र-ज्ञान से मोह को सहारा मिलता रहता है! सियार (तृष्णा) नित्य सिंह (जीव) से युद्ध करता रहता है। कवीर कहते हैं कि इस वैपरीत्य के रहस्य को कोई विरला ही समझ सकता है।

राग—गौरी ।

(८७)

कोई पीवै रे रस राँम नाँम का, जो पीवै सो जोगी रे ।
संतौ सेवा करौ राँम की, और न दूजा भोगी रे ॥ टेक ॥
यहु रस तौ सब फीका भया, ब्रह्म अगनि परजारी रे ।
ईश्वर गौरी पीवन लागे, राम तनीं मतिवारो रे ।
चंद सूर दोइ भाठी कीन्हीं, सुषमनि चिगवा लागी रे ।
अंमृत कूँपी साँचा पुरया, मेरी त्रिष्णां भागी रे ।
यहु रस पीवै गूगाँ गहिला, ताकी कोई न वूझै सार रे ।
कहै कवीर महारस महँगा, कोई पीवेगा पीवनहार[1] रे ॥

शब्दार्थ—परजारी=प्रज्वलित । ईश्वर=शिव । गौरी=पार्वती । तनी=के लिए । चंद=(प्र० अ०) इड़ा । सूर=सूर्य (प्र० अ०) पिंगला । चिगवा=नालिका । पुरया=पूरा हो गया । साँचा=सचमुच । गहिला=पागल, वावला । सार=रहस्य ।

संदर्भ—इस पद मे कवीर ने वताया है कि यदि कोई ऐसा रस है जिससे तृष्णा सदा के लिए चली जाय तो वह केवल राम रस है ।

व्याख्या—कवीर कहते है कि क्या कोई ऐसा पुरुष है जो राम रस का पान कर सके ? यदि है तो वास्तव मे वही योगी है ।

१. ना० प्र०—पीवणहार

हे संतो ! राम की भक्ति करो। राम का भक्त ही वास्तविक भोगी है अर्थात् वास्तविक आनन्द का भोक्ता है। ब्रह्माग्नि प्रज्वलित होने पर अर्थात् चित् स्वरूप का अनुभव होने पर राम रस का आनन्द मिलता है। तब उसके सामने अन्य सब रस फीके हो जाते हैं। राम के लिए मतवाले होकर उस रस का पान शंकर और पार्वती भी करते हैं।

मैंने इडा-पिंगला की भट्ठी बनाई और सुषुम्ना की नालिका से राम रस टपकाया। इस अमृत रस का पान कर मैं सचमुच पूर्ण हो गया और मेरी सारी तृष्णा सदा के लिए समाप्त हो गई। इस रस को पीनेवाला (सांसारिक दृष्टि से) गूँगा और बावला हो जाता है। उसका रहस्य कोई समझ नही पाता। कबीर कहते है कि यह रस अलभ्य और अमूल्य है। कोई विरला पुरुष ही इस रस के पीने का अधिकारी हो सकता है।

अलंकार—(१) कोई पीवै रे—काकु वक्रोक्ति।
(२) चन्द सूर...... 'लागी रे—रूपक।
(३) कोई पीवेगा—काकु वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(८८)

कोई राम रसिक रस पियहुगे, पियहुगे सुख[1] जियहुगे।
फल अलंकृत[2] बीज नहिं[3] बोकला, सुख पंछी रस खायो।
चुवै न बूँद अंग नहिं भीजै, दास भँवर संग लायो[4]॥
निगम रिसाल चारि फल लागे, तामे तीन समाई।
एक दूरि चाहै सभ कोई, जतन जतन कहु बिरले पाई॥
गए बसंत ग्रीसम रितु आई, बहुरि न तरु तर[5] आवै।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर, राम मगन सो पावै॥

शब्दार्थ—फल = (प्र० अ०) मोक्ष। अलंकृत = सुन्दर। बीज = (प्र० अ०) अविद्या। बोकला = छिलका, आवरण। सुख = (१) शुक (२) शुकदेव मुनि। भंवर = भ्रमर (प्र० अ०) भक्त लोग। रिसाल = रसाल, आम। निगम = वेद। समाई = लगे हुए है, पीछे पडे है, समाए हुए है, अनुरक्त। कहु = कोई। बसन्त = (प्र० अ०) युवावस्था। ग्रीसम = (प्र० अ०) वृद्धावस्था। तरु = वृक्ष (प्र० अ०) संसार। तर = नीचे। मगन = निमज्जित, डुबकी लगाना।

---

१. शुक०–युग। २ शुक०–अंकित। ३. शुक०–नहीं। ४. वि०–लाई ५. शुक०–तरवर, वि०–बहुरिन तरिवर तर।

संदर्भ—मानव शरीर दुर्लभ है। वह साधन - धाम और मोक्ष का द्वार है। जो इस तन को पाकर राम रस का पान करते हैं, वही मोक्ष के अधिकारी हैं।

व्याख्या—कबीर कहते है कि राम रस का पान करने वाले विरले ही होते हैं, किन्तु जो उसका पान करते है, वे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते है और आवागमन से मुक्त हो जाते हैं।

मोक्ष रूपी फल ऐसा सुन्दर और विचित्र है कि उसमें न तो बीज होता है और न छिलका अर्थात् मोक्ष की स्थिति मे अविद्या रूपी बीज और आवरण रूपी उसका छिलका नही रह जाता है। उस फल का रसास्वादन शुकदेव मुनि जैसा शुक पक्षी ही करता है। यह फल ऐसा विशिष्ट है कि उसके रसास्वादन में न तो एक बूंद रस टपकता है और न अंग भीगता है। तात्पर्य यह है कि मोक्ष का आनन्द आन्तरिक है, स्वरूप में ही भासता है। भक्त जन (सिद्ध-महात्मा) अपने साथ सत् पुरुषों (भ्रमर) का भी उद्धार करते है। वेद रूपी आम्रवृक्ष में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी चार फल लगते हैं। सामान्यतः मनुष्य उनमें से तीन (धर्म, अर्थ, काम) में अनुरक्त कहता है। चौथा फल (मोक्ष) बहुत दूर है अर्थात् वह प्रत्यक्ष नही है। उसको चाहते सभी हैं, किन्तु विरले पुरुष ही प्रयत्न से उसे प्राप्त कर पाते हैं।

अंत मे कबीर चेतावनी देते हैं कि वसंत रूपी युवावस्था के बीत जाने पर ग्रीष्म ऋतु रूपी वृद्धावस्था आती हैं, तब इस संसार से चला जाना होगा और पुनः इस संसार रूपी वृक्ष के नीचे आना सम्भव न होगा अर्थात् मानव शरीर बार-बार नही मिलेगा। अत. प्रभु की भक्ति करो। वह स्वामी (राम) सुख के सागर है। उनमे जो निमज्जित होता है, वही मोक्ष-फल को प्राप्त करता है।

टिप्पणी—अविद्या (माया) ही संसार का बीज है। उसके दो कार्य होते हैं—आवरण और विक्षेप। स्वरूप का आवरण हो जाता है और जगत् की सृष्टि हो जाती है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति, व्यतिरेक।

(८९)

को न मुवा[1] कहु पंडित जनां।
सो समुझाइ कहहु मोहि[2] सनां ॥ टेक ॥
मूए ब्रह्मा बिस्नु महेसा, पारवती सुत मुए गनेसा।
मूए चंद मुए रवि सेसा, मुए हनुमत जिन्हि बांधल सेता।
मूए कृस्न मुए करतारा, एक न मुवा जो सिरजनहारा।
कहै कबीर मुवा नहिं सोई, जाके आवागवन न होई ॥

१. ना० प्र०—कौन मरै। २. ना० प्र०—हम।

शब्दार्थ—जनां=जन, लोग। मोहि सना=मुझसे। मूए=मर गए। सेसा=शेषनाग। सेता=सेतु, पुल। करतारा=ब्रह्मा। सिरजनहारा=सृष्टि का मूल, शुद्ध चैतन्य।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे पण्डित जनो! तुम बड़े विद्वान् बनते हो। मुझे समझाकर यह बताओ कि ऐसा कौन हैं जिसकी मृत्यु नही हुई है? ब्रह्मा, विष्णु, महेश का भी एक कल्प के अनन्तर अन्त हो गया और पार्वती के पुत्र गणेश भी न रहे। प्रलय के समय चन्द्र, सूर्य और शेष का भी अन्त हो गया। बहुत बडे वीर हनुमान, जिन्होंने समुद्र पर पुल बांधा था, वह भी न रहे। कृष्ण भी चले गए और ब्रह्मा का भी अवसान हो गया। एक शुद्ध चैतन्य का, जो सारी सृष्टि का मूल हैं, कभी अन्त नही होता। वह अविनाशी है। कबीर कहते हैं कि जो मुक्त हो गया है और संसार के आवागमन के चक्कर से छूट गया है, वह मृत्यु के अधिकार क्षेत्र मे नही है।

अलंकार—को न मुवा—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(९०)

कौन बिचारि करत हौ पूजा,
आतमरॉम अवर नहि दूजा॥ टेक॥
बिनु परतीतैं पाती तोरै, ग्यान बिना देवलि सिर फोरै।
लुचरी लपसी आप सँघारै, द्वारै ठाढ़ा राम पुकारै।
पर आतम जौ तत्त बिचारै, कहि कबीर ताकै बलिहारै॥

शब्दार्थ—परतीतैं=प्रतीति, श्रद्धा। देवलि=देवालय मे। लुचरी=पूडी। लपसी=पतला हलुवा। संघारै=खा जाना। बलिहारै=न्यौछावर होना।

सदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि अन्तरात्मा की उपासना ही सच्ची भक्ति है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि क्या समझकर पूजा करते हो? तुम्हारा आत्मा ही ईश्वर है, दूसरा कोई ईश्वर नही है। परमात्मा का वास शरीर मे ही है। इधर-उधर मन्दिर आदि मे उसे खोजना व्यर्थ है। प्राय. लोग बिना श्रद्धा के ही देवताओं पर चढाने के लिए फूल-पत्ती तोडते है और बिना ज्ञान के ही मन्दिर मे जाकर माथा-पच्ची करते है। ऐसे लोग पूडी-हलुवा आदि स्वादिष्ट व्यञ्जन स्वयं खा जाते है और द्वार पर खडे राम नाम की पुकार करने वाले भिक्षुक की उपेक्षा करते है अथवा इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि इस शरीर रूपी मदिर के द्वार पर स्थित आत्माराम, जो आह्वान कर रहा है, उसकी उपेक्षा करते है। कबीर करते है कि जो इस तत्व को समझता है कि आत्मा ही परमात्मा है, मैं उसपर बलिहारी जाता हूं।

राग—गौरी।

(९१)

कौन मरै कौन जनमैं आई ।
सरग नरक कौंने गति पाई ॥ टेक ॥
पंच तत अविगत तैं[1] उतपनां एकै किया निवासा ।
बिछरे तत फिरि सहजि समांनां रेख रही नहिं आसा ॥
जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहरि भीतरि पानीं ।
फूटा कुंभ जल जल ह समांनां यह तत कथौ गियानी ॥
आदै गगनां अंतै गगनां मद्धे गगनां भाई ।
कहै कबीर करम किस लागै झूठो संक उपाई ॥

शब्दार्थ—अविगत = अज्ञेय, चैतन्य । उतपनां = उत्पन्न हुआ । सहजि = सदा सिद्ध चैतन्य में । रेख = चिह्न । जल = (प्र० अ०) चैतन्य । कुम्भ = घट (प्र० अ०) शरीर । तत = तत्त्व, रहस्य, वास्तविकता । आदै = आदि में । गगनां = (प्र० अ०) चैतन्य । संक = शंका । उपाई = उत्पन्न किया । किस लागै = किसको लगता है, किससे सम्बन्ध हो सकता है ।

संदर्भ—इस पद में कबीर ने यह प्रतिपादित किया है कि यद्यपि सारी सृष्टि, स्थिति और संहार के मूल में शुद्ध चैतन्य रहता है तथापि उसका न जन्म होता है, न मरण । उसका कर्म से भी कोई सम्बन्ध नहीं है । ये बातें शरीरधारी जीव पर लागू होती हैं ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि लोगों का यह भ्रम है कि चैतन्य का जन्म और मरण होता है । वस्तुत: उस शाश्वत चैतन्य का न जन्म होता है, न मरण । वह न स्वर्ग जाता है, न नरक । परमतत्व चैतन्य के अतिरिक्त है क्या ? फिर कौन जन्म लेता है, कौन मृत्यु को प्राप्त होता है, कौन स्वर्ग-नरक जाता है ? यह सब भ्रम मात्र है ।

पाँचो तत्व (पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, पवन) एक अज्ञेय, अविकारी चैतन्य से उत्पन्न हुए हैं । उसी से सब सृष्टि है और उसी में सब निवास करते हैं अर्थात् उसी में सबकी स्थिति है । वही पाँच तत्व जिस सहज चैतन्य से आए थे, पुन: उसीमें इस प्रकार समा जाते हैं कि उनकी पृथक्‌ता का न कोई चिह्न (रेखा) रह जाता है और न उनके अलग अस्तित्व की सम्भावना । कहने का तात्पर्य यह है कि परम चैतन्य से ही सृष्टि, स्थिति और संहार तीनों होते हैं ।

जैसे सागर या नदी में डुबोए गए घट के भीतर जल रहता है और उसके बाहर भी चारों ओर जल व्याप्त रहता है, उसी प्रकार शरीर के भीतर भी चैतन्य है

---

1. ना० प्र०—थैं ।

और बाहर भी। घट के समान शरीर उपाधि मात्र है। जैसे घट के फूटने से उसके भीतर का जल, उसी जलाशय मे मिल जाता है, उसी प्रकार शरीर रूपी उपाधि के विनष्ट होने पर भीतर का व्यष्टि चैतन्य उसी समष्टि चैतन्य में मिल जाता है। हे ज्ञानी मन्यमानी लोगो! इस रहस्य को यदि समझते हो तो स्पष्ट करो।

जैसे आकाश अविच्छिन्न है, वह विभु है, सर्वव्यापी है; उसी प्रकार चैतन्य आदि, मध्य और अन्त सर्वत्र व्याप्त है। वह अखण्ड है। कबीर कहते हैं कि कर्म का सम्बन्ध किससे है? इस विषय मे बड़ी भ्रान्ति है। वस्तुतः शुद्ध चैतन्य का कर्म से कोई सम्बन्ध नही है। लोग उसके सम्बन्ध मे यह शंका व्यर्थ में उत्पन्न करते हैं। केवल शरीरधारी जीव का अपने कर्मानुसार जन्म-मरण और स्वर्ग-नरक होता है, निष्कर्म चैतन्य का नही।

टिप्पणी— इस पद मे कबीर ने पूर्ण अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। सांख्य-वादियो की तरह वह यह नही मानते कि पाँचो तत्व प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं। उनके अनुसार परम चैतन्य से ही उनकी सृष्टि है, उन्ही मे उनकी स्थिति है और उसी में उनका विलय होता है।

तुलनीय—कौन मरै कौन जनमै आई…… ……श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्,
नाय भूत्वा भविता वा न भूय।
अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (२।२०)

अर्थात् आत्मा किसी काल मे भी न जन्मता है, न मरता है और न यह होकर पुनः होने वाला है। आत्मा अगर, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नष्ट होने पर यह नाश नही होता है।

अलंकार—वक्रोक्ति, रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(९२)

क्या मागौं[1] किछु थिर न रहाई।
देखत नैन चला[2] जग जाई॥ टेक॥
इक लख पूत सवा लख नाती, तिहि रावन घर दिवा न बाती।
लंका सा कोट समुंद सी खाई, तिहि[3] रावन की खबरि न पाई॥

१. ना० प्र०-का मांगूँ। २. ना० प्र०-चल्या। ३. ना० प्र०-ता।

आवत संग न जात संगाती, कहा भयौ दरि बाँधे हाथी।
कहै कबीर अंत की बारी, हाथ झारि जैसे चला[1] जुवारी॥

शब्दार्थ थिर = स्थिर। कोट = दुर्ग, गढ़। दरि = द्वार पर (सप्तमी प्रयोग)।

व्याख्या—संसार की नश्वरता का वर्णन करते हुए कबीरदास कहते हैं कि मैं प्रभु से सांसारिक ऐश्वर्य क्या मागूँ? संसार मे कुछ भी तो स्थिर नहीं है। आँखो के सामने ही संसार की सभी वस्तुएँ नष्ट होती चली जाती है। जिस रावण के एक लाख पुत्र और सवा लाख पौत्र थे अर्थात् जिसका परिवार बहुत बड़ा था, उसके घर में भी दीपक जलाने वाला तक न रहा अर्थात् सभी कालग्रस्त हो गए। जिस रावण का लंका जैसा विशाल दुर्ग था, जिसके चारो ओर समुद्र की खाई लहलहाती थी, ऐसे ऐश्वर्यसम्पन्न रावण का अंत इस प्रकार हुआ कि उसका कुछ भी ऐसा अवशेष न रहा, जो उसका पता दे। चाहे कोई कितना ही ऐश्वर्यवान् क्यो न हो, उसके द्वार पर चाहे भी जितने हाथी क्यो न बँधे हो, साधारण मानव के समान उसे भी इस संसार में अकेले ही आना होता है और सबको छोड़कर अकेले ही जाना पड़ता है। कबीर कहते हैं कि अंत मे सबको उसी प्रकार खाली हाथ जाना पडता है जैसे हारा हुआ जुआरी हाथझाड़कर द्यूतस्थल से चला जाता है।

अलंकार—(१) इकलख पूत—निदर्शना, लोकोक्ति।
(२) हाथ झारि जैसे—उपमा।

राग—गौरी।

(९३)

क्यौं[2] लीजै गढ़ बंका भाई।
दोवर कोट अरु तेवर[3] खाई॥ टेक॥
कांमु किवार[4] दुख सुख दरवानी पाप पुन्नि दरवाजा।
क्रोध प्रधांन लोभ बड़ दुंदर मनु मैवासी राजा॥
स्वाद सनांह टोप ममिता कौ[5] कुबुद्धि कमांन[6] चढ़ाई।
तिसनां तीर रहैं घट[7] भीतरि यहु[8] गढ़ु लिऔ न जाई॥
प्रेम पलीता सुरति नालि करि गोला ग्यांन चलाया।
ब्रह्म अगिनि सहजैं[9] परजाली एकहि[10] चोट ढहाया॥
सतु संतोखु लै लरनैं लागा तोरे दुइ[11] दरवाजा।
साध संगति अरु गुर की क्रिपा तैं[12] पकर्‌यौ गढ़ कौ राजा।

१. ना० प्र०—चले। २. ना० प्र०—क्यूँ। ३. ना० प्र०—तेवड। ४. ना० प्र०—किवाड। ५. ना० प्र०—का। ६. ना० प्र०—कमाण। ७. ना० प्र०—तन। ८. ना० प्र०—सुबुधि हाथि नहीं आई। ९. ना० प्र०—ले दिया पलीता। १०. ना० प्र०—एकै। ११. ना० प्र०—दस। १२. ना० प्र०—थैं।

भगवंत भीरि सकति सुमिरन की काटि काल की फांसी[1]।
दास कबीर चढ़्यौ[2] गढ़ ऊपरि राज लियौ[3] अविनासी ।।

शब्दार्थ—वका = वक्र, टेढा, दुर्गम । दोवर = दोहरा । कोट = प्राचीर, किले की रक्षा के लिए बनाई गई चहारदीवारी । तेवर = तेहरा । दरवानी = पहरेदारी । दुंदर = द्वन्द्व करने वाला, संघर्ष करने वाला । मैवासी = गढपति । संनाह = सन्नाह, कवच । टोप = शिरस्त्राण । कमान = धनुष । तिसना = तृष्णा । तीर = बाण । पलीता = तोप मे आग लगाने की मोटी बत्ती । स्वाद = विषय सुख । नालि = नली । परजाली = प्रज्वलित हुई । सतु = सत्य । भीरि = पुञ्ज, समूह । सकति - शक्ति । फाँसी = बंधन ।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने रूपक शैली मे शरीर को एक दुर्गम किला बताया है और उस पर विजय प्राप्त करने की कठिनाइयो का उल्लेख करते हुए विजय-प्राप्ति का उपाय भी बताया है ।

व्याख्या—वह कहते हैं कि हे भाई ! इस शरीर रूपी दुर्गम गढ पर विजय कैसे प्राप्त हो सकती है ? यह दो प्राचीरो (आनंदमय और विज्ञानमय कोष) मे घिरा हुआ है । इस शरीर रूपी दुर्ग मे काम ही किवाड़ है अर्थात् इच्छा से ही चित्तवृत्तियाँ बाहर जाती है और विषयो का आकर्षण भीतर आता है । काम ही आने-जाने का मार्ग है और दु ख तथा सुख इसके दो पहरेदार है । जीव जिनसे अपना सुख समझता है, उन्हे भीतर आने देता है और जिनमे अपना दु ख समझता है, उन्हें भीतर नही आने देता है अर्थात् जीव की सभी प्रवृत्तियाँ राग-द्वेष से प्रेरित होती है । इस किवाड मे दो पट लगे है—एक पुण्य अर्थात् शुभ कर्मो का और दूसरा पाप अर्थात् अशुभ कर्मो का ।

गीता मे कहा गया है 'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव·' अर्थात् साधारण जीव की प्रवृत्तियाँ रजोगुण मे उत्पन्न काम और क्रोध से ही प्रेरित होती है । क्रोध काम की ही अतृप्ति का प्ररूप (Aspect) है । यत काम की पूर्ति सदैव नही होती, अत अधिकतर प्रधानता क्रोध की रहती है । इसीलिए कबीर ने कहा है कि इस गढ का 'प्रधान' क्रोध है । इसमे लोभ अपनी तृप्ति के लिए सघर्ष करता रहता है । अहकारी मन इस गढ का स्वामी है ।

यहाँ तक कबीर ने शरीर रूपी दुर्ग का चित्रण किया है । अब वह इस पर विजय प्राप्त करने की कठिनाइयो का उल्लेख कर रहे है । वह कहते है कि प्रबल अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित मन रूपी गढपति के द्वारा अधिकृत शरीर रूपी दुर्ग पर विजय प्राप्त

---

१. ना० प्र०—पासी । २. ना० प्र०—चढे । ३. ना० प्र०—दियौ ।

करना इसलिए कठिन है क्योंकि उसने स्वाद अर्थात् विषय सुखरूपी कवच धारण कर रखा है, ममत्व का शिरस्त्राण बाँधे हुए है, कुबुद्धि का धनुष चढ़ा रखा है और भीतर से तृष्णा के तीर चलाता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस गढ के भीतर राज्य करने वाला मन प्रायः निम्न प्रवृत्तियो को ही अपना इष्ट समझता है। उसमे विवेक नही होता, वह दुर्बुद्धि से प्रेरित रहता है, विषय-सुख को ही जीवन का लक्ष्य समझता है। स्वाद रूपी कवच धारण करने का भाव यह है कि जिनसे इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती, मन उन विचारो और आदर्शो को भीतर प्रविष्ट नही होने देता। ममत्व के टोप या शिरस्त्राण का भाव यह है कि जीव जिन निम्न प्रवृत्तियों के 'मेरेपन' से घिरा हुआ है, उन पर सद्वृत्तियो का आघात नही होने देना चाहता है। वह भीतर से विषय-सुख के प्राप्त्यर्थ कामनाओं के तीर निरन्तर चलाता रहता है। इसलिए इस दुर्ग पर अधिकार करना कठिन है।

ऐसे शरीर रूपी दुर्ग पर विजय-प्राप्ति का उपाय बताते हुए कबीर कहते हैं कि सुरति रूपी तोप की नली मे ज्ञान का गोला रखकर उसमे प्रेम रूपी बत्ती लगानी चाहिए, तब सरलतापूर्वक ब्रह्माग्नि प्रज्वलित हो जाएगी और एक ही प्रहार मे यह गढ़ ध्वस्त हो जाएगा। यहाँ सुरति अर्थात् ध्यान नाल है, गोला ज्ञान है, प्रेम पलीता है अर्थात् ध्यान, ज्ञान और प्रेम या भक्ति के समन्वित उपाय से ही परम चैतन्य ज्योति का साक्षात्कार होता है (ब्रह्म अगिनि सहजैं परजाली) और शरीर मे जीव का अध्यास विनष्ट हो जाता है।

कबीर कहते हैं कि मैं सत्य और संतोष की सेना लेकर युद्ध करने लगा और पाप तथा पुण्य रूपी दोनो दरवाजों को तोड़ डाला अर्थात् शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के कर्मों से परे हो गया। सत्संग और गुरु-कृपा से मैंने इस गढ़ के राजा अहंकारी मन को वश मे कर लिया। भागवत कर्मो के पुञ्ज और प्रभु-स्मरण की शक्ति से मैंने काल के पाश को काट डाला और इस गढ़ पर अधिकार प्राप्त कर अविनाशी साम्राज्य अर्थात् अमर पद को प्राप्त कर लिया।

अलंकार—सांग रूपक।
राग—भैरव।

(९४)

खसम बिनु तेली को बैल भयो।
बैठत नाहिं साधु की संगति, नाधे जनम गयो॥
वहि वहि मरहु पचहु निज स्वारथ, जम कौं[1] दंड सह्यो।
धन दारा सुत राज काज हित, माथे भार[2] गह्यो॥

---

१. शुक०-के। २. शुक०-मार।

खसमहिं छाँड़ि विषय रंग राते, पाप के वीज वयो।
झूठि मुक्ति नर आस जिवन[1] की, प्रेत को जूठन खायो॥
लख चौरासी जीव जन्तु में, सायर जात वह्यो।
कहैं कवीर सुनहु हो संतो, स्वान की पूँछ गह्यो॥

शब्दार्थ—खसम = ईश्वर, स्वामी। नाधे = जुते हुए। पचहु = हैरान होना। दण्ड = यातना। दारा = पत्नी। हित = लिए। सायर = सागर (प्र० अ०) ससार।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में वताया गया है कि मनुष्य वास्तविक प्रभु की सेवा न करके अपने स्वार्थवश विषयो में अनुरक्त रहता है और प्रेत-पूजा करता है। अत. वह जन्म-मरण से मुक्त नही हो पाता।

व्याख्या—कवीर कहते हैं कि प्रभु की उपेक्षा करके तेली के वैल के समान निरन्तर सासारिक कर्मो मे जुते रहे। लोग सत्सग नही करते, सारा जीवन सकाम कर्म मे वीत जाता है। मनुष्य स्वार्थ के वश मे होकर जीवन भर भटकता हुआ व्याकुल रहता है और यम की यातना सहता है। वह स्त्री, पुत्र, धन तथा राजकार्य के लिए अपने सिर पर काम का वोझ लिए रहता है। प्रभु को छोड़कर विषयो मे अनुरक्त रहता है तथा स्वार्थवश नाना प्रकार के अशुभ कर्म करके पाप का वीज वोता है। वह मुक्ति को असत्य समझते हुए, जीवन के प्रति ममत्व रखते हुए प्रेत को भोग लगाकर उसका जूठा प्रसाद खाता है। इस प्रकार चौरासी लाख योनियो के ससार-सागर मे वहता रहता है अर्थात् नाना प्रकार की योनियो मे जन्म लेता रहता है। कवीर कहते हैं कि हे सतो सुनो! मनुष्य स्वान की पूँछ पकड़कर इस भव-सागर को पार करना चाहता है अर्थात् निर्वल आश्रय से मुक्ति चाहता है।

विशेष—(१) तेली को वैल भयो—मुहाविरा।
(२) स्वान की पूँछ गह्यो—मुहाविरा।

(९५)

गुर विन दाता कोइ नहीं, जग मांगनहारा।
तीनि लोक ब्रह्मंड मै, सव के भरतारा॥ टेक॥
अपराधी तीरथ चले, तीरथ कहा तारै।
कांम क्रोध मल भरि रहे, कहा देह पखारै॥
कागद की नौका वनी, विचि लोहा भारा।
सवद भेद वूझे विनां, वूड़ै मझधारा॥

---

[1] शुक०-जिनन।

कहै कबीर भूलौ कहा, कहं ढूंढ़त डोलै।
बिन सतगुर नहिं पाइए, घट ही मैं बोलै।।

शब्दार्थ—भरतारा = कर्ता, स्वामी। तारै = उद्धार करना। पखारै = प्रक्षालन करना, धोना, स्वच्छ करना। भेद = रहस्य।

व्याख्या—आध्यात्मिक दृष्टि से संसार में सभी भिक्षुक हैं, दाता एक मात्र गुरु हैं। वही अखिल ब्रह्माण्ड, तीनो लोकों मे सभी का आध्यात्मिक भरण-पोषण करने वाले हैं। प्रायः पापी मानव अपने पाप से मुक्त होने के लिए तीर्थ-यात्रा करते है। किन्तु तीर्थो में यह क्षमता कहाँ हैं कि उनका उद्धार कर सकें। मानव के भीतर काम-क्रोध आदि अनेक विकार भरे पड़े है। शरीर के धोने मात्र से क्या लाभ ?

यह पार्थिव शरीर कागज की नौका के समान अशक्त और भंगुर है और इस पर पाप-कर्म रूपी लोहे का भार लदा हुआ है। शब्द का रहस्य जाने बिना यह नौका भव-सागर की बीच धारा मे ही डूब जाएगी। कबीर चेतावनी देते हुए कहते है कि हे जीव ! तुम भ्रमवश अपने रक्षक को खोजते हुए इधर-उधर कहाँ भटक रहे हो ? वह तो तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। किन्तु सद्गुरु के उपदेश के बिना उससे तुम्हारा सम्पर्क नही हो सकता।

टिप्पणी—(१) कबीर ने अन्यत्र तन को कागद की नौका कहा है—

मन रे तन कागद का पुतला।
लागै बूंद बिनसि जाइ छिन मे गरब करै क्या इतना।।

(२) गुरु को दाता बताते हुए जैन कवि द्यानतराय ने कहा है कि—

गुरु समान दाता नहिं कोई।
भानु प्रकास न नासत जाको, सो अँधियारा डारै खोई।।

(द्यानत पद संग्रह, पृ०-१०)

(३) शरीर के प्रक्षालन से मन का पाप नही मिट सकता। इस संदर्भ मे जैन कवि मुनि रामसिंह का कथन है—

तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पावमलेण।।

(दोहापाहुड--पद १६३)

(४) बिन सतगुर नहिं पाइए घट ही मैं बोलै—

मानव का जीवन शरीर, प्राण और मन का योग है। प्राण के दो रूप हैं—एक सामान्य तथा सर्वव्यापी और दूसरा विशेष जैसे प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान- जो पंच-प्राण कहलाते हैं। ये शरीर को सचेष्ट रखते है। प्राण शरीर और मन को

जोडने की कडी है। प्राण का स्वभाव है—उच्चार। यह उच्चार दो प्रकार का होता है—व्यक्त और अव्यक्त। हम मुख से जो ध्वनि करते हैं, वह व्यक्त और आहत नाद या उच्चार है। सर्वव्यापी प्राण मे 'हं स ' का जो निरन्तर अव्यक्त नाद होता रहता है, वह अनाहत नाद है। (हं स का ही 'हस' रह गया। सन्तो ने जीव को 'हंस' कहा है)। यह नाद प्रत्येक व्यक्ति के घट के भीतर होता रहता है। किन्तु सामान्यत' उसकी जानकारी नही होती। गुरु जब उपदेश द्वारा मन को उस अनाहत नाद मे स्थापित कर देता है, तब जीव अपने वास्तविक स्वरूप को समझकर मुक्त हो जाता है। इसी को कबीर ने कहा है—'बिन सतगुर नहि पाइए घट ही मैं बोलै।'

राग—बिलावल।

(९६)

गुणां का भेद न्यारौ न्यारौ।
कोई जानैं जांननहारौ ॥ टेक ॥
सोइ गजराज राजकुल मंडन, जाके मस्तकि मोती।
और सकल ए भार लदाऊ, महिषी सुत कै गोती ॥
सोई भुवंग जाकै मस्तकि मनि है, जोति उजालै खेलै।
और सबै सावन कै भुनगा, जगत पगां तलि पेलै ॥
सोई सुमेर उदात उजागर, जामैं धातु निवासा।
अर सकल पाखांन बराबरि, टांकी अगिनि प्रकासा ॥
सोइ तिरिया जाकै पातिव्रत, आग्यांकार न लोपै।
और सकल ए कूकरि सूकरि, सुंदरि नांउं न ओपै ॥
कहै कबीर सोई जन गरुवा, रांम भगति ब्रतधारी।
और सकल ए पेट भरन कौं, बहुबिधि बांनां धारी ॥

शब्दार्थ—गुणा=गुणो का। महिषी=भैस। गोती=गोत्रवाले। भुनगा=कीड़े, पतिंगे। पगा=पैरो के। पेलै=कुचला जाता है। उदात=विशद, बडा; उजागर=प्रसिद्ध, प्रकाशित। टाकी=छेनी। ओपै=उसका। गरुवा=भारी, महान्। बाना=वेष।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने बताया है कि श्रेष्ठता या महत्ता का लक्षण गुण है, वेश नही। सत का लक्षण भक्ति है, बाह्याडम्बर नही।

व्याख्या—कबीर कहते है कि गुणो का भेद बाहरी दिखावे से भिन्न है। गुणो का महत्व बिरले पारखी ही जानते है। वह बाहरी रूप और वेश से भिन्न होता है।

सच्चा गजराज वह है जो राजकुल की शोभा हो और जिसके मस्तक मे मोती

हो। इसके अतिरिक्त और सभी हाथी भार लादने वाले भैंसे के समान होते हैं। सच्चा सर्प वही है जिसके मस्तक में मणि होती है, जिसके प्रकाश में वह विचरण करता है, अन्य सभी सर्प सावन के पतिंगो के समान है जिनको लोग पैरों के नीचे कुचलते रहते हैं। वही सुमेर पर्वत विशाल और प्रकाशित है जिसमें बहुमूल्य धातुएँ रहती है, अन्य सब साधारण पत्थर हैं जिनको छेनी से काटने से आग निकलती हैं। उनमे केवल आग की चमक रहती है, धातु की नही। सच्ची नारी वही है जो पातिव्रत धर्म का पालन करती है और कभी पति की आज्ञा का उल्लंघन नही करती, अन्य सभी स्त्रियाँ कुतिया और शूकरी के समान हैं। उनके लिए 'सुन्दरी' शब्द का प्रयोग नही किया जा सकता। कबीर कहते हैं कि वही जन महान् है जिन्होने प्रभु की भक्ति का व्रत धारण कर रखा है। और सभी केवल उदरपूर्ति के लिए नाना प्रकार के वेश धारण करते हैं।

अलंकार—दृष्टान्त।

राग—आसावरी।

(९७)

गोकुल नाइक बीठुला, मेरा[1] मनु लागा[2] तोंहि रे।
बहुतक दिन बिछुरें भए, तेरी औसेरि आवै मोहि रे॥ टेक॥
करम कोटि कौ ग्रेह रच्यौ रे, नेह गए[3] की आस रे।
आपहिं आप बंधाइया, दोइ[4] लोचन मरहिं पियास रे॥
आपा पर संमि चीन्हिए, तब दीसै सरब समांन।
इहि पद नरहरि भेंटिए, तू छाँड़ि कपट अभिमान रे॥
नां कतहूं चलि जाइए, नां लीजै सिरि भार।
रसना रसहिं बिचारिए, सारंग श्रीरंग धार रे॥
साधन[5] तैं सिधि पाइए, किंवा होइम होइ।
जे दिढ़ ग्यान न ऊपजै, तौ अहटि मरै[6] जनि कोइ रे॥
एक जुगुति एकै मिलै, किंवा जोग कि भोग।
इन दोनिउँ[7] फल पाइए, रांम नांम सिधि जोग रे॥
तुम्ह[8] जिनि जांनौं गीत है, यह निज ब्रह्म बिचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे॥

---

१. ना० प्र०-मेरो। २ ना० प्र०-लागौं। ३. ना० प्र०-कए। ४. ना० प्र०-द्वै। ५. ना० प्र०-साधैं सिधि ऐसी पाइए। ६ ना० प्र०-रहैं। ७. ना० प्र०-द न्यूँ। ८. इस चरण के बाद ना० प्र० की प्रति में दो पंक्तियाँ और हैं—

प्रेम भगति ऐसी कीजिए, मुखि अंमृत बरिषै चंद।
आपही आप बिचारिए, तब केता होइ अनंद रे॥

चरन कंवल चित लाइए, रांम नांम गुन गाइ।
कहै कबीर संसा नहीं, भुगुति[1] मुकुति गति पाइ रे॥

शब्दार्थ—नाइक=नायक, स्वामी। बीठुला=विट्ठल, कृष्ण। औसेरि=चिंतन, बेचैनी, उचाट। आस=आशा, कामना। समि=बराबर। सारंग स्रीरंग=सारंगपाणि विष्णु। पद=स्थिति। किवा=अथवा। जे=यदि। अहुटि=दुःखित होकर। होइम=होने वाला। जुगुति=युक्ति, उपाय। सार=निचोड़। भुगुति=भोग। मुकुति=मोक्ष।

व्याख्या—हे गोकुल के स्वामी विट्ठल (कृष्ण)! मेरा हृदय तुममें अनुरक्त है। जब से तुमसे वियुक्त होकर मैं जीव-भाव में आया हूं, तब से न जाने कितने युग बीत गए। वियोग के कारण मुझे तुम्हारी याद में बड़ी बेचैनी रहती है।

जब से जीव इस शरीर में आया, तब से वह तुमसे वियुक्त ही नहीं हो गया, अपितु तुम्हारे प्रति विद्यमान स्वाभाविक स्नेह को भी भुला दिया और वह स्नेह संसार के प्रति उन्मुख हो गया। किंतु उसके पुनर्जागरण की आशा बनी हुई है। मेरे बंधन का अन्य कोई कारण नहीं है। मैंने स्वयं ही अपने अज्ञान और राग-द्वेष से अपने को बंधन में डाल रखा है। परंतु अब तुम्हारे प्रति प्रेम जग गया है और मेरे नेत्र तुम्हारे दर्शन के लिए प्यासे हैं।

हे जीव! तू अपने और पराए को सम रूप से देख, तभी तुझको सब कुछ एक समान प्रतीत होगा। कपट और अहंता को छोड़कर जब तू समत्व-भाव की स्थिति को पहुँचेगा, तभी तू प्रभु से मिलने का पात्र बनेगा। इस स्थिति को पहुँचने के लिए तुझे न तो कहीं तीर्थादि जाने की आवश्यकता है और न कष्ट-साध्य साधनाओं का भार सिर पर लादने की आवश्यकता है। इसके लिए तो केवल सारंगपाणि विष्णु, जो रस-स्वरूप हैं (रसो वै स), उनका अपनी रसना से आस्वादन कर और उन्हें हृदय में धारण कर। इसी साधन से तुझे सिद्धि प्राप्त होगी अथवा दूसरे शब्दों में जो होने वाला है, वह होकर रहेगा। यदि तुझमे प्रारंभ में दृढ़ ज्ञान नहीं उत्पन्न होता तो दुःखी और निराश होने की आवश्यकता नहीं है।

सामान्यतः एक उपाय मे एक ही वस्तु की प्राप्ति होती है—भोग या योग। किंतु राम नाम की सिद्धि होने पर—भोग और योग—दोनों फल प्राप्त होंगे।

तुम लोग यह न समझो कि यह पद केवल गाने के आनंद के लिए बनाया गया है। इसमें अपने अनुभव से प्राप्त ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। इसमें आत्म-ज्ञान के साधन का सार समझाया गया है। प्रभु के चरण-कमल में चित्त को

1. ना० प्र०–भगति।

केन्द्रित कर राम-नाम का निरंतर जप करो। कवीर कहते हैं कि इससे भुक्ति और मुक्ति दोनों की प्राप्ति होगी, इसमे तृणमात्र सदेह नही हैं।

टिप्पणी—(१) आपा पर संमि चीन्हिए............

एकत्व-बुद्धि सम्बंबी यही भाव ईशावास्योपनिषद् मे सुन्दर ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि
आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेपु चात्मानं
ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
आत्मैवाभूद्विजानत.।
तत्र को मोह. क. शोक
एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

'जो निरन्तर आत्मा मे ही समस्त प्राणियो और समस्त प्राणियो मे आत्मा को देखता है, वह किसी से जुगुप्सा नही करता।"

"जिसकी दृष्टि मे आत्मा ही सर्वभूत हो गया है, उस निरंतर एकत्व देखने वाले विज्ञानी पुरुष को मोह कहाँ, शोक कहाँ।"

(२) रसनां रसहि विचारिए............

आँख, कान आदि इन्द्रियो द्वारा हम जो कुछ ग्रहण करते है, उसमे ग्राहक और ग्राह्य का भेद वना रहता है। किंतु रसना द्वारा जिस रस का आस्वादन करते है, वह हमारे शरीर का अंग बन जाता है, उसे हम आत्मसात् कर लेते है। यहाँ प्रेम रूपी रसना द्वारा राम-रस को आत्मसात् करने का सकेत है।

(३) इन दोनिउँ फल पाइए ....

समस्त सासारिक भोगो में इन्द्रियाँ किसी विपय के प्रति आकृष्ट होती हैं। इसी को भोग कहते है। किंतु यह वास्तविक भोग नही है, क्योकि यहाँ हम विवश होकर उनके प्रति खिंच जाते है। अतएव हम स्वयं भोग्य वन जाते है। वास्तविक भोग वही है जहाँ विषय के द्वारा खिंच जाने की विवशता नही रहती। यह स्थिति राम-रस की तृप्ति से ही प्राप्त होती है। इसीलिए कवीर ने कहा है कि वहाँ योग और भोग दोनों फल प्राप्त होते है। राम-रस से युक्त होना योग है और विवशता के विना आनंद की प्राप्ति भोग है।

(४) तुम्ह जिनि जानौ गीत है............ .. ।

इन पक्तियो के द्वारा कबीर ने यह स्पष्ट किया है कि उनका काव्य मनोरंजन के लिए नही है। उसका उद्देश्य है—लोक मंगल। उन्होंने यह भी बताया है कि उनकी कविता निजी अनुभूति का निचोड है। वह कल्पना-प्रसूत नही है।

राग—गौरी।

(९८)

गोविंद हम ऐसें अपराधी[1]।
जिन[2] प्रभु जीउ पिंडु था दीया, तिसकी भाव भगति नहिं साधी ॥ टेक ॥
कवन[3] काज सिरजे जग भीतरि, जनमि कवन फल[4] पाया।
भवनिधि[5] तरन चरन[6] चितामनि, इक[7] निमिख न यहु मनु लाया ॥
पर निंदा पर धन पर दारा, पर अपवादहिं सूरा।
आवागवन[8] होत है फुनि फुनि, तापर[9] संग न चूरा ॥
कांम क्रोध माया मद मंछर, ए संतति मो[10] मांही।
दाया धरम ग्यांन गुर सेवा, ए सुपनंतरि[11] नांही ॥
दीनदयाल[12] क्रिपाल दमोदर, भगत वछल भैं हारी।
कहै[13] कबीर धीर मति राखहु, सांसति करौ हमारी ॥

शब्दार्थ—पिंडु = शरीर। साधी = सम्पन्न किया। सिरजे = सम्पादित किया। तरन = उद्धार करने के लिए। दारा = स्त्री। अपवादहिं = निंदा। सूरा = वीर। फुनि फुनि = पुन पुनः। तापर = फिर भी। चूरा = विचूर्ण होना, नष्ट होना। मछर = मत्सर। सतत = सतत, निरन्तर। सुपनतरि = स्वप्न में भी। दामोदर = कृष्ण। भैं हारी = भवसागर का हरण करने वाले, आवागमन से छुटकारा देनेवाले। राखहु = रक्षा करो। धीर = स्थिर। सासति = शासित, अनुशासित।

व्याख्या—हे गोविन्द ! हम ऐसे अपराधी है कि जिस प्रभु ने यह शरीर और प्राण दिया, उसके प्रति हम इतने कृतघ्न रहे कि हमने कभी उसको उपासना नही की। हमने ससार मे कौन-सा अच्छा कार्य सम्पादित किया और जन्म लेकर कौन-सा

---

१ ना० प्र०, गुप्त—माधव मैं ऐसा अपराधी। २. ना० प्र०, गुप्त—तेरी भगति होत (हेत) नहि साधी। ३ ना० प्र०, गुप्त—कारनि कवन आइ जग जनम्यां। ४. ना० प्र०, गुप्त—सचु। ५. ना० प्र०, गुप्त— भौ जल। ६. तिवारी —तारन। ७. ना० प्र०, गुप्त—ता चित घड़ न लाया। ८. ना० प्र०, गुप्त—तायें आवागवन होइ। ९. तिवारी-यहु परसग। १०. ना० प्र०, गुप्त—हँम। ११. ना० प्र०, गुप्त-प्रभू सुपिनैं। १२. ना० प्र०, गुप्त—तुम्ह कृपाल दयाल। १३. तिवारी—कहत कबीर भोर जन।

पुरुषार्थ सिद्ध किया। संसार रूपी सागर से पार ले जाने वाले चरण रूपी चितामणि मे मैंने एक क्षण भी मन नही लगाया। दूसरे की निंदा करने मे, दूसरे का धन अपहृत करने मे, दूसरे की स्त्री के प्रति आसक्ति का भाव रखने मे तथा दूसरे की बुराई करने में ही मैं अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता रहा। जिन कर्मो से ससार मे बार-बार आना-जाना लगा रहता है, मैं उनको छोड न सका। काम, क्रोध, माया, मद, मत्सर आदि अवगुण मेरे भीतर स्थायी रूप से निवास करते है और दया, धर्म, ज्ञान, गुरु की सेवा आदि गुण स्वप्न मे भी मेरे भीतर नहीं आ सके है।

कबीर कहते है कि हे प्रभु! आप दीनों पर दया करने वाले, कृपाल, भक्त-वत्सल तथा भव का हरण करनेवाले अर्थात् आवागमन से छुटकारा दिलाने वाले है। अत: अपनी भक्ति में मेरी बुद्धि को स्थिर कीजिए और मेरे जीवन को अपने अनुशासन में लाइए।

अलंकार—(१) कवन काज सिरजे—वक्रोक्ति।
(२) चरन चितामनि—रूपक।

राग—रामकली।

(९९)

गोविंदे[1] तुम्ह थैं डरपौं भारी।
सरनाई[2] आयौ क्यूँ गहिये, यह कौंन बात तुम्हारी॥ टेक॥
धूप दाझतैं छाँह तकाई, मति तरवर सच पाऊँ।
तरवर माँहै ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊँ॥
जे वन जलै त जल कूँ धावै, मति जल सीतल होई।
जलही माँहि अगिनि जे निकसै, और न दूजा कोई॥
तारन[3] तिरन तिरन तूँ तारन, और न दूजा जाँनौं।
कहै कबीर सरनाई आयौं, आँन[4] देव नहि मानौं॥

शब्दार्थ—धूप = सांसारिक ताप। दाझतै = दग्ध होते हुए। छाँह = भक्ति की छाया। तकाई = खोजा। मति = यह इच्छा कि। सच = सुख। जे=यदि। तारन = तारनेवाला, उद्धार करनेवाला। तिरन = उद्धार करने का साधन।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे प्रपत्तिमूला भक्ति पर जोर दिया गया है।

व्याख्या—हे गोविंद! मैं तुमसे बहुत डरता हूँ। मैं आपकी शरण मे आया

---

१. ना० प्र०—गोव्यंदे। २. ना० प्र०—सरणाइँ। ३. ना० प्र०—तारण तिरण तिरण तूँ तारण। ४. ना० प्र०— अपनों।

हूँ। आप उपेक्षा से क्यों ग्रहण कर रहे है ? आपका यह कैसा व्यवहार है ? सांसारिक ताप से जलते हुए मैंने भक्ति रूपी वृक्ष की छाया को इस विश्वास के साथ खोजा था कि उसके सानिध्य में सुख और शांति मिलेगी। यदि उस वृक्ष से ही ज्वाला निकलने लगे तो फिर किस साधन से ताप को शांत किया जाय ? यदि संसार रूपी वन का पथिक उसे जलता हुआ देखता है तो वह जल (प्रभु की शरण) की ओर इस आशा से भागता है कि उसे वहाँ शीतलता मिलेगी। किन्तु यदि उस जल (शरणागति) मे ही अग्नि निकलने लगे तो फिर उसका दूसरा आश्रय क्या हो सकता है ? हे प्रभु ! तू ही उद्धार करने वाला है और तू ही उद्धार का साधन भी है अर्थात् तू ही करण और कारण दोनो है। तेरे अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रयदाता नही है। कबीर कहते है कि मैं तेरी शरण मे आया हूँ, अन्य किसी देव को नही जानता।

अलंकार—(१) तीसरी पंक्ति मे दृष्टान्त।
(२) चौथी पंक्ति मे वक्रोक्ति।
(३) छठी पंक्ति में विरोधाभास।

राग—गौरी।

(१००)

गोविंदे तुम्हारे वनि कदली मेरो मन अहेरा खेलै।
वपु वारी अनंगु मिरगा[1] रुचि रुचि सर मेलै[2] ॥ टेक ॥
चित्त तरउवा पवन खेदा सहज मूल बांधा।
ध्यांन धनुख जोग करम ग्यांन बांन सांधा।
खट चक्र कंवल बेधा जारि उजारा कीन्हां।
कांम क्रोध लोभ मोह हाँकि सावज[3] दीन्हाँ ॥
गगन मंडल रोकि बारा तहां दिवस न राती।
कहै कबीर छांड़ि चले बिछुरे सब साथी ॥

शब्दार्थ—वनि कदली=कदली वन मे (प्र० अ०) शरीर मे। अहेरा=शिकार। वपु=शरीर। वारी=वाटिका। अनंगु=कामदेव। मिरगा=मृग, पशु। मेलै=चला रहा है। तरउवा=खेदा करनेवालो के सहयोगी पदाति। खेदा=हाँका करने वाले। साँधा=संधान किया। गगन मण्डल=ब्रह्मरध्र। बेधा=भेदन किया। सावज=जगली जानवर। बारा=बाडा।

संदर्भ—इस पद मे साधना द्वारा साधक के चित्त के विकारो की पराजय दिखाई गई है।

---

१. ना० प्र०—मृग। २. ना० प्र०—रुचिहीं रुचि मेलै। ३. ना० प्र०—स्यावज।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आपके कदली वन (शरीर) में मेरा साधक मन शिकार खेल रहा है। यह शरीर ही वाटिका है, काम जंगली पशु है, जिन पर मन शक्ति-भर बाण चलाता है। इस आखेट में चित्त के सहयोग से प्राणायाम हँकवा लगाकर विकारों को सहज स्वरूप की जड़ से बाँध देता है। यह मन ध्यान का धनुष लेकर योग की क्रिया द्वारा ज्ञान-बाण लक्ष्य की ओर सधान करता है। तब कुण्डलिनी का जागरण होता है। वह षट्चक्रों का भेदन करती हुई ज्ञानाग्नि जलाकर आन्तरिक प्रकाश विकीर्ण कर देती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार रूपी जंगली जानवर हँकवा लगाकर शिकारी (साधक मन) की ओर कर दिए जाते हैं। ये सभी विकार ब्रह्मरन्ध्र रूपी बाड़े मे बंद कर दिए जाते है। वह पद काल और देश से परे है। कबीर कहते है कि इस साधक मन के शिकार द्वारा सभी विकार (साथी) छोड़कर चले जाते है।

विशेष—षट्चक्रो की स्थिति और उनका आकार इस प्रकार बताया गया है—

चक्र	स्थान	कमल दल (आकार)
(१) मूलाधार	जननेन्दिय के नीचे मेरुदण्ड का प्रदेश	४ दल
(२) स्वाधिष्ठान	जननेन्द्रिय के ऊपर मेरुदण्ड का प्रदेश	६ दल
(३) मणिपूर	नाभि का प्रदेश	१० दल
(४) अनाहत	हृदय का प्रदेश	१२ दल
(५) विशुद्ध	कण्ठ के नीचे	१६ दल
(६) आज्ञा	भ्रूमध्य का प्रदेश	२ दल

अलंकार—सांग रूपक।

राग—आसावरी।

(१०१)

चतुराई न चतुरभुज पइऐ।
जब लगि मन माधौं न लगइऐ ॥ टेक ॥
क्या जपु क्या तपु क्या व्रत पूजा, जाकै हृदै भाव है दूजा।
परिहरु लोभ अरु लोकाचारु, परिहरु कांम, क्रोध, हंकारु।
करम करत बंधे अहंमेउ, मिलि पाथर की करहीं सेउ।
कहै कबीर जौ रहै सुभाइ, भोरै भाइ मिलै रघुराइ ॥

शब्दार्थ—चतुरभुज=विष्णु। दूजा (१) द्वैत भाव (२) अनन्यता का भाव। परिहरु=छोडो। हंकारु=अहंकार। अहंमेउ = अहंता। सुभाइ=सुंदर सहज भाव। भोरै=भोले, सरल, सीधे। भाइ=भाव।

व्याख्या—कबीर कहते है कि जब तक मन पूर्ण रूप से प्रभु में लीन न हो जाय, तब तक केवल बौद्धिक पाण्डित्य से प्रभु को नही प्राप्त किया जा सकता, चाहे कोई बहुत बडा विद्वान् ही क्यो न हो ? जिसके हृदय मे द्वैत-भाव बना हुआ है और प्रेम की अनन्यता विद्यमान नही है, वह चाहे जितना जप, तप, व्रत, पूजा आदि करे, किन्तु प्रभु का साक्षात्कार नही कर सकता। लोगो मे प्रचलित वाह्याचार तथा लोभ, काम, क्रोध, अहकार आदि का परित्याग करो। लोग अपनी अहंता के साथ कर्म करते हुए बधन मे पडे रहते है और मुक्ति के लिए सब लोग मिलकर मूर्ति की पूजा करते है। मनुष्य चाहे यज्ञादि का अनुष्ठान करे, चाहे देव-देवी की पूजा करे, जब तक उसमें अहता का भाव बना हुआ है, वह बधन मे ही रहेगा, उसकी मुक्ति नही हो सकती। कबीर कहते हैं कि यदि हृदय मे सुन्दर सहज भाव से प्रभु के प्रति अनन्य लगन है तो बहुत ही सरल रीति से राम मिल जाएँगे।

अलंकार—(१) प्रथम पक्ति मे यमक की ध्वनि।
(२) 'दूजा' शब्द मे श्लेष।

राग—गौरी

(१०२)

चलत कत टेढ़े टेढ़े टेढ़े[1]।
नऊँ दुवार नरक धरि मूँदे दुरगंधि ही के बेढ़े[2] ॥ टेक ॥
जे[3] जारै तौ होइ भसम तन गाड़े[4] क्रिमि कीट खाई।
सूकर स्वांन काग कौ भखिन तामै कहा भलाई ॥
फूटे नैन हिरदै नहिं[5] सूझै मति एकौ नहिं जांनीं।
कांम[6] क्रोध तिसनां के मारे बूड़ि मुएहु बिनु पांनीं ॥
रांम[7] न जपहु कवन भ्रम भूले तुम तैं काल न दूरी।
कोटि जतन करि यहु तन राखहु अंत अवस्था धूरी ॥
बालू के घरवा मंहि बैसे[8] चेतत नांहि अयांनां।
कहै कबीर एक रांम भजे बिनु[9] बूड़े बहुत सियांनां[10] ॥

शब्दार्थ—नऊँ दुवार=नव द्वार (दो नेत्र, दो कान, दो नासा द्वार, मुख और मल-मूत्र के द्वार।

१. ना० प्र०—टेढो टेढो रे। २. ना० प्र०—को वैढौ रे। ३. हंस०—ज। ४. ना० प्र०—रहित किरम जल खाई। ५. ना० प्र०—नाहीं। . ना० प्र०—माया मोह ममिता सूँ बाँध्यो। ७. ना० प्र०—ये दो पँक्तियाँ ना० प्र० की प्रति में नहीं हैं। ८. ना० प्र०—मैं वैठो। ९. ना० प्र०—भगती विन। १०. ना० प्र०—सयाना।

वेढ़े=घिरा हुआ स्थान। क्रिमि=कृमि, कीड़ा। कीट=कीडा। भक्खिन=भक्षण, भोजन। स्वांन=कुत्ता। तिसनां=तृष्णा। धूरी=धूलि। अयानां=अज्ञानी।

संदर्भ—इस पद में शरीर की नश्वरता का प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे मानव! तू गर्व मे क्यो ऐंठा हुआ चलता है? तू किस बात पर गर्व करता है? इस शरीर के नवो छिद्रो को नरक मे रखकर मुद्रित कर दिया गया है अर्थात् वे गंदगी से लबालब भरे हुए है। वे केवल दुर्गंधि ही के स्थान है। यदि इस शरीर को जला दिया जाय तो भस्ममात्र अवशेष रह जाता है और यदि उसको गाड़ा जाय तो कीडे-मकोडे खा जाते है। यह शरीर शूकर, श्वान और कौए का भोजन है। ऐसे शरीर से क्या भलाई हो सकती है? तुम्हारी आँखे अज्ञानवश फूट गई है। तुमको तथ्य नही दिखाई पडता। तुम्हारा हृदय भाव-शून्य हो गया है। अतः तुम्हे सत्य की अनुभूति नहीं होती। तुम्हे सद्बुद्धि भी नही है अर्थात् तुम न तो प्रत्यक्ष से सत्य को जान पाते हो, न भाव से और न बुद्धि से। काम, क्रोध और तृष्णा के वश में आकर तुम अंधकार के गर्त मे इतना पड़ गए कि बिना पानी के डूब गए अर्थात् विषयो की तृष्णा मे तुम विनष्ट हो गए। तुम राम का स्मरण नही करते, किस भ्रम में पड़े हो? क्या तुम समझते हो कि अमर हो? याद रखो कि काल तुमसे दूर नही है। चाहे करोड़ो प्रयत्न करके तुम इस तन को सुरक्षित रखो, इसकी अंतिम अवस्था तो धूल में मिल जाना ही है। हे अज्ञानी! तुम यह नही समझते हो कि तुम रेत के महल मे बैठे हो। यह शरीर वैसे ही नश्वर है जैसे बालू का घर। कबीर कहते है कि राम की भक्ति के बिना बडे-बड़े तथाकथित ज्ञानी भी इस भव-सागर में डूब मरे।

अलंकार—(१) सूकर स्वान ...... भलाई—वक्रोक्ति।
(२) बूडि मुएहु बिनु पानी—विभावना।
(३) कहै कबीर ...... सियांनां—विनोक्ति, विरोधाभास।

राग—केदार।

(१०३)

चलन चलन सब[1] कोइ कहत है।
नां जांनौं बैकुण्ठ कहाँ है॥ टेक॥
जोजन एक परमिति[2] नहिं जानैं, बातनि ही बैकुण्ठ बखानैं।
जब लग मनि[3] बैकुण्ठ का[4] आसा, तब लग नहिं हरि[5] चरन निवासा।
कहे सुने कैसे पतिअइऐं, जब लग तहाँ आप नहिं जइऐं।
कहै कबीर यहु कहिऐ काहि, साध संगति बैकुण्ठहि आहि॥

१. ना० प्र०—सबको। २. ना० प्र०—प्रमिति। ३. ना० प्र०—है। ४. ना० प्र०, गुप्त—की। ५. गुप्त—नहीं हरि के।

शब्दार्थ—वैकुंठ=स्वर्ग, विलास का लोक। परमिति=सीमा। मनि=मन मे। पतिअइयै=प्रतीति करना, विश्वास करना।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में कबीर ने साधारण लोगों के इस विश्वास पर प्रहार किया है कि कही 'वैकुण्ठ' नामक विशेप आनंद का लोक है और यह बतलाया है कि सत्संग ही वास्तविक वैकुण्ठ है। उसी मे पूरा आनंद है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सभी लोग जीवन का परम लक्ष्य वैकुण्ठ या स्वर्ग मानते है और वही पहुँचने की बात करते है। परन्तु न जाने यह वैकुण्ठ या स्वर्ग है कहाँ? प्राय. लोगो को तो एक योजन की सीमा तक का ज्ञान नही होता, किन्तु वे लम्बी-चौड़ी बाते करते है वैकुण्ठ की, जिसके ठौर-ठिकाने का कोई पता ही नही है। जब तक वैकुण्ठ मे निवास कर उसके सुखोपभोग की कामना बनी हुई है, तब तक प्रभु के चरणो मे निवास नही हो सकता अर्थात् उनमे अनुराग नही हो सकता। जब तक वैकुण्ठ मे जाकर उसके सुख का किसी ने अनुभव न किया हो, तब तक शास्त्रो के कहने और सुनने से उसका कैसे विश्वास किया जा सकता है? कबीर कहते है कि यह किसे समझाया जाय कि सत्सग ही वास्तविक वैकुण्ठ है।

तुलनीय—नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनाम् हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

अलंकार—(१) चलन चलन—पुनरुक्तिवदाभास।
(२) कहिए काहि—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(१०४)

चलहु[1] विचारी रहहु संभारी कहता हूँ जु पुकारी।
रांम नांम अंतर गति नांहीं तौ जनम जुवा ज्यौं हारी॥ टेक॥
मूंड मुड़ाइ फूलि का बैठे, कांननि पहिरि मंजूसा।
बाहरि देह खेह लपटानीं, भीतरि तौ घर मूसा॥
गालिब नगरी गांउँ बसाया, हांम कांम हंकारी।
घालि रसरिया जब जम खैंचै, तब का पति रहै तुम्हारी॥
छांड़ि कपूर गांठि विख बांधा[2], मूल हुवा नहिं[3] लाहा।
मेरे रांम की अभै पद नगरी, कहै कबीर जुलाहा॥

शब्दार्थ—अंतर=भीतर, हृदय में। जुवा=बाजी। मंजूसा=मुद्रा, शीशे की

---

१. ना० प्र०—चलौ। २. ना० प्र०—बाँध्यौं। ३. ना० प्र०—ना।

बालियाँ। खेह=राख। मूसा=अपहृत। गालिब (अ०)=शक्तिशाली। हांमं=अहंभाव। हंकारी=अहंकारयुक्त। घालि=डालकर। पति=प्रतिष्ठा। कपूर=(प्र० अ०) रामभक्ति। विप=(प्र० अ०) दम्भ। लाहा=लाभ। मूल=आत्मतत्व।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में बाह्याडम्बर की निरर्थकता बताते हुए भक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—कबीर चेतावनी देते हुए कहते है कि मैं पुकार करके कहता हूँ कि हे जीवो ! जीवन में विचार करके रहो और विषय वासना, माया आदि के प्रभाव से बचकर चलो। यदि तुम्हारे हृदय मे राम नाम के प्रति भक्ति नही है तो तुम जन्म-रूपी दाँव हार गए अर्थात् तुम्हारा जीवन व्यर्थ गया।

बाह्य वेशभूषा की निरर्थकता बताते हुए वह कहते है कि सिर मुँडाकर और कानो में मुद्रा धारण कर व्यर्थ ही गर्व मे फूले बैठे हो। बाह्य शरीर में तुम भस्म लपेटे हुए हो, किन्तु भीतर विषय-वासनाओ ने तुम्हारे हृदय-धन को लूट लिया है।

तुम इस शरीर रूपी नगरी को शक्तिशाली समझकर, अहंभाव एवं काम-वासना से उन्मत्त रहते हो, किन्तु जब यमराज उसमे रस्सी डालकर खीचेंगे, तब तुम्हारी क्या शान रह जाएगी ?

तुमने राम भक्ति रूपी कपूर को त्यागकर दम्भ रूपी विप को अपनी गाँठ मे बांध लिया है। इससे तुम्हें आत्मतत्व रूपी मूल धन भी नहीं प्राप्त हुआ। कबीर कहते है कि राम भक्ति से अभय पद मिलता है। अतएव राम की सच्ची भक्ति करो, बाह्याडम्बर से कोई लाभ नही।

अलंकार—(१) जनम जुवा ज्यों हारी—उपमा।
(२) घालि रसरिया'''तुम्हारी—वक्रोक्ति।
(३) कपूर, विख में रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(१०५)

चारि दिन अपनी नौबति चले बजाइ।
उतानैं खटिया गड़िले मटिया, संगि न कछु लै जाइ॥ टेक॥
देहरी बैठी मेहरी रोवै, द्वारै लगि सगी माइ।
मरहट लौं सब लोग कुटुम्ब मिलि, हंस अकेला जाइ॥
वहि सुत वहि बित वहि पुर पाटन, बहुरि न देखै आइ।
कहत कबीर भजन बिनु बंदे, जनम अकारथ जाइ॥

शब्दार्थ—नौवति = उत्सव पर बजने वाला मंगलसूचक बाजा, शहनाई। उतानै (सं० उत्तान)=पीठ के बल लेटा हुआ। खटिया = चारपाई, टिकठी। देहरी = देहली, द्वार। मेहरी = पत्नी। मरहट = श्मशान। वित = वित्त, धन। हंस = जीव। पाटन (सं० पट्टन) = नगर। बंदे (फा०) = दास, उपासक।

संदर्भ—ससार की नश्वरता का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मनुष्य अल्पकाल के लिए ऐश्वर्य भोगकर इस ससार से चला जाता है। उसका ऐश्वर्य नश्वर है और वह भी नश्वर है। शव को टिकठी (त्रिकाष्ठी) पर उतान लिटाकर लोग उसे मिट्टी में गाड़ देते हैं। वह साथ मे कुछ भी नही ले जाता। जीवन-सहचरी पत्नी देहली तक शव के साथ जाती है और वही बैठकर रोती है तथा सगी माता दरवाजे से लगकर रोती है। स्वजन-परिजन श्मशान तक शव ले जाते है। बेचारा जीव संसार से अकेला ही जाता है और फिर अपने पुत्र, धन, गाँव और नगर को देखने के लिए लौटकर नही आता। कबीर कहते है कि हे उपासक साधुओ ! राम की भक्ति के बिना यह सारा जीवन निरर्थक चला जाता है।

अलकार—अतिम पक्ति मे विनोक्ति।

राग—केदार।

(१०६)

चलि चलि रे भँवरा कंवल पास।
तेरी भँवरी बोलै अति उदास ॥ टेक ॥
मैं[1] तोहि बरजेउँ बार बार, तैं बन बन सोध्यो डार डार।
तैं अनेक पुहुप का[2] लियौ है भोग, सुख न भयौ तन[3] बढ़्यौ रोग।
दिनां चारि के सुरंग फूल, तेहि[4] लखि भँवरा रह्यौ भूल।
बनसपती[5] जब लागै आगि, तब[6] भँवरा कहाँ जैहौ भागि।
पुहुप पुरानें गए सूख[7], तब भँवरहि लागी अधिक भूख।
उड़ि न सकत[8] बल गयौ छूटि, तब भँवरी रोवै[9] सीस कूटि।
दह दिसि जोवै मधुपराइ, तब भँवरी लै चली सिर चढ़ाइ।
कहै कबीर मन कौ सुभाव, इक[10] नांम बिना सब जम कौ दाव ॥

१. ना० प्र०–हौं ज कहत तोसूँ बार बार, मैं सब बन सोध्यौ डार डार। २. ना० प्र०–कौ। ३. ना० प्र०–तब बढ्यौ है रोग। ४. ना० प्र०–तिनहि देखि कहा रह्यो है भूल। ५. ना० प्र०–या बनासपती मैं लागैगी आगि। ६. ना० प्र०–अब तूँ जैहौ कहा भागि। ७. ना० प्र०–भए सूक। ८. ना० प्र०–जाइ। ९. ना० प्र०– रुँनां। १०. ना० प्र०–रॉमभगति बिन जम कौ डाव।

शब्दार्थ—भंवरा = भ्रमर (प्र०अ०) मन। कंवल = कमल (प्र०अ०) प्रभु। भंवरी = भ्रमरी (प्र०अ०) विवेक-बुद्धि, ऋतम्भरा प्रज्ञा। वन-वन = (प्र० अ०) विषय वासना। सोध्यो = खोजा। वरजेउँ = मना किया। सुरंग = सुंदर रंग वाले। लखि = देखकर। वनसपती = जंगल (प्र०अ०) संसार। दह दिसि = दस दिशाएँ (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, वायव्य (उत्तर + पश्चिम) ईशान (उत्तर + पूर्व) नैऋत (दक्षिण + पश्चिम) आग्नेय (पूर्व + दक्षिण) ऊपर और नीचे) (ला०अ०) चारो ओर।

व्याख्या—मानव की उच्चतर विवेक-बुद्धि मन को संबोधित करते हुए कहती है कि हे भ्रमर रूपी मन ! तू विषय-पुष्पो को छोडकर प्रभु के चरण रूपी कमल-पुष्प के पास जा। विवेक-बुद्धि रूपी भ्रमरी खिन्न होकर कहती है कि रे मन ! मैंने तुझे अनेक बार मना किया, किन्तु तू लोभ मे पड़कर जंगल-जंगल मे प्रत्येक वृक्ष की शाखा पर पुष्पो का रस खोजता रहा अर्थात् तू कंचन, कामिनी, कादम्ब मे अनुरक्त रहा। तूने नाना प्रकार के विषय-पुष्पो का रस-पान किया है। किन्तु तुझे वास्तविक आनंद न मिला, प्रत्युत तेरा तन क्षीण होता गया और तू रोग का शिकार होता गया। विषय रूपी रंग-बिरंगे पुष्पो का सौंदर्य केवल चार दिन का है, क्षणिक है। किन्तु हे मन रूपी भ्रमर ! तू उनके बाह्य, दिखावटी सौंदर्य को देखकर मोहवश आसक्त रहता है। हे भ्रमर ! जब पूरे जगल में आग लगेगी, तब तुम भागकर कहाँ जाओगे ? अर्थात् हे मन ! जब काल रूपी अग्नि विषयो का विनाश कर देगी, तब तुम किसका आश्रय लेकर सुख भोगोगे ?

मन रूपी भ्रमर विवेक-बुद्धि रूपी भ्रमरी की चेतावनी पर ध्यान नही देता। एक ओर तो धीरे-धीरे विषय-पुष्प कुम्हलाकर सूख जाते हैं और दूसरी ओर भ्रमर की तृष्णा बलवती होती जाती है। किन्तु वार्धक्य के कारण, शक्तिहीन होने मे वह उड़कर पुष्पो तक नही पहुँच पाता। इस विषम परिस्थिति मे भ्रमरी अपना सिर धुनकर रोती है कि मैंने इसको इतना अधिक समझाया, किन्तु इसने मेरी एक न मानी। अब इसकी कितनी दुर्दशा हो रही है। इस प्रकार विषय अर्थात् भोग्यपदार्थो का चाकचिक्य धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है, दूसरी ओर मन की वासना और बलवती होती जाती है। किन्तु वार्धक्य के कारण भोग सभव नही हो पाता। इस विषम परिस्थिति के कारण विवेक-बुद्धि खिन्न हो जाती है। मन रूपी भ्रमर भी विषाद को प्राप्त होकर विवशता का अनुभव करते हुए चारो ओर असहाय होकर भटकता फिरता है। तब वह विवेक-बुद्धि की शरण लेता है। वह उसे प्रभु की ओर उन्मुख करती है। कबीर कहते हैं कि साधारणत. विषयो की ओर प्रवृत्त होना मन का स्वभाव है। किन्तु जब तक वह विषयो में आसक्त रहता है, तब तक यमराज के चंगुल से छुटकारा

नही प्राप्त कर सकता अर्थात् आवागमन का चक्कर लगा रहता है। जब मन विषयों से विमुख होकर प्रभु की ओर उन्मुख होता है और उनका सुमिरन करता है, तब यमराज का दाँव नही लगता।

टिप्पणी (१) साधारणत. मन इन्द्रियो के पीछे चलता रहता है। इसीलिए वह विषयो के आकर्षण से प्रभावित होता रहता है। ऐसी स्थिति मे उसकी बुद्धि उसी प्रकार अपहृत हो जाती है जैसे जल मे वायु के द्वारा नौका अपहृत हो जाती है।

इन्द्रियाणा हि चरता यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ (२।६७)

—श्रीमद्भगवद्गीता

(२) मानव मे मन से ऊपर विवेक-बुद्धि या विमला प्रज्ञा है। वह प्रभु की ओर ले जाने वाली है। मन जब उससे युक्त होता है, तब उसको 'बुद्धियोग' कहते है। 'बुद्धियोग' ब्रह्म से तादात्म्य कराता है:—

दूरेण ह्यवर कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतव ॥ (२।४९)

—श्रीमद्भगवतगीता

इसीलिए कबीर ने कहा है कि मन विवेक-बुद्धि की शरण लेने पर ही ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है।

अलंकार—(१) रूपकातिशयोक्ति।
(२) तै अनेक पुहुप—विशेषोक्ति।
(३) इक नाम बिना—विनोक्ति।

राग—बसंत।

(१०७)

चातक कहाँ पुकारै[1] दूरी, सो जल जगत रहा भरपूरी।
जेहि जल नाद बिंदु को[2] भेदा, षट कर्म सहित उपानेउ बेदा।
जेहि जल जीव सीव को[3] बासा, सो जल धरती[4] अमर परगासा।
जेहि[5] जल उपजल सकल सरीरा, सो जल भेद न जानु[6] कबीरा॥

शब्दार्थ—चातक = (प्र० अ०) जीव। जल = (प्र० अ०) ब्रह्म। उपानेउ = उत्पन्न हुए। सीव=शिव। धरती=मृत्यु लोक। अमर = देवलोक। उपजल=पैदा हुए।

---

१. वि०—पुकारौ। २. वि०—का। ३. वि०—का। ४. शुक०—धरनी। ५. व्रि०—जिहि। ६. वि०—जाने।

संदर्भ—चैतन्य परम तत्व सर्वत्र विद्यमान है। उसे कही अन्यत्र एक स्थान पर खोजने की आवश्यकता नहीं है। उसे अपने भीतर खोजना चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव ! तू ब्रह्म रूपी जल को दूर समझकर क्यों पुकार करता है ? ब्रह्म सकल ब्रह्माण्ड-व्यापी है। जिस जल से नाद-बिंदु का भेद हुआ है तथा जिससे षट् कर्म सहित वेद भी उत्पन्न हुए है, जिस जल रूपी ब्रह्म मे उपहित (जीव) और अनुपहित (शिव) दोनो प्रकार की आत्माएँ निवास करती हैं, वही चैतन्य मृत्युलोक और देवलोक दोनो मे प्रकाशित है। जिस चैतन्य से सभी प्राणी उत्पन्न हुए है, अज्ञानी जीव उसके मर्म को नही जानता है।

तुलनीय— आत्मान चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुष.।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥
(बृहद्०-४।४।१२)

यदि पुरुष यह जान जाय कि मैं आत्मा हूँ तो फिर उसको क्या इच्छा रह जाएगी और फिर किस काम के लिए इस शरीर को तृप्त करेगा ?

टिप्पणी—(१) नाद-बिंदु

परम तत्व की अभिव्यक्ति की मूल अव्यक्त ध्वनि के रूप मे विद्यमान शक्ति को 'नाद' कहते है। वही शक्ति जब सृष्टि के लिए घनीभूत होती है, तब 'बिंदु' कहलाती है। चैतन्य रूपी नाद से पहले बिंदु की अभिव्यक्ति होती है। फिर वही सृष्टि के रूप में प्रसरित होता है।

(२) षट् कर्म—यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(१०८)

छाकि पर्यो आतम मतिवारा।
पियत[1] रॉम रस करत बिचारा ॥ टेक ॥
बहुत मोलि महँगे गुड़ पावा, लै कसाव रस रॉम चुवावा।
तन पाटन मै कीन्ह पसारा, माँगि माँगि रस पिऐ[2] बिचारा।
कहै कबीर फाबी मतिवारी, पियत[3] राँम रस लगी खुमारी ॥

शब्दार्थ—छाकि पर्यो = तृप्त हो गया। कसाव = कसैलापन। पाटन = छत। मैं (फा०) = शराब। फाबी = अच्छा लगा। खुमारी (अ०) = नशा।

---

१. ना० प्र०-पीवत। २. ना० प्र०-पीवै। ३. ना० प्र०-पीवत।

संदर्भ—इस पद मे भक्ति-रस के आनंद का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रभु का भक्ति-रस पीकर आत्मा तृप्त हो गया। वह राम-रस पीते हुए उसी के आनद मे मग्न है।

गुरु-कृपा से बडी कठिनाई से मुझे गुड रूपी भक्ति की प्राप्ति हुई, साधना रूपी कपाय से मैने उसमे से राम-रस टपकाया। राम-रस रूपी वारुणी का प्रसार सारे तन मे ऊपर से नीचे तक हो गया, फिर भी साधक उससे अघाता नहीं और बार-बार उसे पीने की इच्छा प्रकट करता है। कबीर कहते है कि उस रसास्वाद का उद्रेक बहुत प्रिय लगा। उस भक्ति-रस के पान की मस्ती मे मै घूम रहा हूँ।

अलंकार—(१) तन पाटन—रूपक।

(२) पूरे पद मे रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(१०९)

जंत्री जंत्र अनूपम बाजै, वाके अस्ट गगन मुख गाजै।
तूही बाजै तूही गाजै, तुही[1] लिए कर डोलै।
एक सबद मँह[2] राग छतीसौ, अनहद बानी बोलै॥
मुख के[3] नाल स्रवन के तुम्बा[4], सतगुरु साज बनाया।
जिभ्या[5] तार नासिका चरई, माया मोम लगाया॥
गगन मँडल मँह भौ[6] उजियारा, उलटा फेर लगाया।
कहैं कबिर जन भए विवेकी, जिन्ह जंत्री[7] मन लाया॥

शब्दार्थ—जंत्री = वादक (प्र० अ०) चेतन देव। जंत्र=वाद्य (प्र० अ०) शरीर। अस्ट गगन=सुरति कमल, सातवे चक्र के ऊपर। गाजै=गरजता रहता है। नाल=वीणा की डाँडी। तुवा=लौकी का बना तुवा। फेर=फेरा। गगन मंडल= सहस्रार। चरई=तार की खूँटी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे वीणा के रूपक द्वारा शरीर मे निरन्तर निनादित होने वाली अनहद बानी का उल्लेख किया गया है। यह शरीर ही वीणा है, जिसमे चेतन देव (आत्मा) वादक के रूप मे ध्वनि उत्पन्न करते रहते है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि इस शरीर रूपी वाद्य मे एक वादक (चेतन देव) है, जो विचित्र नाद करते रहते है। उस चेतन देव (आत्मा) के द्वारा सुरति-

---

१. वि०–तूहि। २. शुक०–में। ३. वि०–को। ४. वि०–को तुंमा। ५. वि०–जीभि के। ६. शुक०–मँदिल में भयो ७. वि०–जंत्री सौं।

कमल रूपी मुख मे ध्वनि होती रहती है। वही वाद्य है, वही वादक है और वही प्राण रूपी हाथ मे यंत्र लिए रहता है। एक ही सार शब्द मे संगीत के छत्तीसो रागों की व्यञ्जकता विद्यमान है। वह वाणी अनाहत है, विना आघात के उत्पन्न है।

वीणा मे एक लम्बी डाँड़ी होती है। उसके ऊपर सारिकाएँ (पर्दे) होती है, जो मोम के द्वारा चिपकाई रहती है जिससे वे अपने स्थान पर स्थिर रहे। उन पर्दो के ऊपर से तार दौड़ाए जाते है। तार को उतारने-चढाने के लिए किनारे-किनारे खूँटियाँ लगी रहती है। नीचे एक वड़ा-सा लौकी का तुवा होता है जिसके द्वारा स्वर प्रतिध्वनित होता रहता है।

इसी रूपक के माध्यम से वह कहते है कि शरीर रूपी वीणा मे मुख ही डाँड़ी है, कान तुंवा है, जिह्वा तार है, नासिका तार की खूँटी है और माया ही वह मोम है जिससे सारिकाएँ चिपकी रहती है। सद्‌गुरु के द्वारा ही इस वाद्य का प्रयोग हो सकता है। जव साधना मे उदान शक्ति के द्वारा प्राण मूलाधार से ऊपर उलटकर ब्रह्मरन्ध्र की ओर चलता है, तव ब्रह्मरन्ध्र मे एक ज्योति उत्पन्न होती है। कवीर कहते है कि जो इस यत्री (चेतन देव) मे मन लगाता है, वास्तव मे वही ज्ञानी है।

टिप्पणी—कुण्डलिनी के जागरण पर पहले नाद होता है, फिर वह ज्योति मे परिणत हो जाता है। यह चैतन्य का प्रकाश है, यह सूर्य-चन्द्र से रहित प्रकाश है। यही कवीर का सुरतिशब्दयोग है।

अलंकार—साग रूपक।

(११०)

जहं सतगुर खेलत रितु वसंत।
परम जोति जहं साध संत ॥ टेक ॥
तीन लोक तैं भिन्न राज, अनहद धुनि जहँ वजै वाज।
चहुँ दिसि जोति की वहै धार, विरला जन कोइ उतरै पार।
कोटि क्रिस्न जहँ जोरै हाथ, कोटि विष्नु जहँ नावैं माथ।
कोटिक व्रह्मा पढ़ैं पुरांन, कोटि महेस जहँ धरै ध्यांन।
कोटि सरसती धारैं राग, कोटि इन्द्र जहं गवन[1] लाग।
सुर गंध्रव मुनि गने न जाइ, जहाँ साहेव प्रगटे आप आइ।
जव वसंत गहि राग लीन्ह, सतगुर सवद उचार कीन्ह।
कहै कवीर मन हृदय लाइ, नरक उधारन नाँउँ आहि ॥

१. तिवारी-गगन।

कलस = घड़ा। पवन = प्राणवायु। विनर = विना। जानि = जाने हुए। परनऊँ = परिणय किया, विवाह किया। रँगि राता = प्रेम में अनुरक्त।

संदर्भ—इस पद मे यह बताया गया है कि अनाहत नाद में ध्यान लगाने से परम चैतन्य का साक्षात्कार हो जाता है।

व्याख्या—परम चैतन्य अनाहत नाद के रूप मे भीतर ध्वनित हो रहा है। साधक का ध्यान उसी शाश्वत नाद मे लग जाता है। साधक अपना ध्यान त्रिकुटी मे जमाता है अर्थात् जब उसका चित्त त्रिकुटी मे स्थित हो जाता है, तब कपाल कुहर में उसे सीगी का नाद सुनाई पड़ता है। उसी गगन मंडल मे साधक ने अपनी दूकान बनाई है अर्थात् वहाँ वह साधना करता है और निराकार की भक्ति का निर्वाह करता है।

आध्यात्मिक सुरा के निर्माण की प्रक्रिया बताते हुए कबीर कहते हैं कि कपाल कुहर ही भट्ठी है, नाद-श्रवण रस टपकाने वाली नली है और तन्मयता एक कलश है। इसी कलश मे चिदानंद रूपी सुरा टपकती रहती है। यह महारस टपककर भक्ति-रस मे मिल जाता है। इस प्रक्रिया मे एक विचित्र बात यह होती है कि प्राणशक्ति उस रस का पान करने के लिए एक प्याला बन जाती है। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय नामक तीन भवन है। इनमे एक परम-चैतन्य योगी (जिसका मिलन हो गया है) का वास है। साधना के पूर्व यहाँ जो अहंकार रूपी राजा रहता था, वह अब कहाँ चला गया ? अर्थात् उसका अस्तित्व समाप्त हो गया। कबीर कहते है कि मैंने पूर्व-परिचय के बिना ही पुरुषोत्तम से विवाह कर लिया और अब उन्ही के प्रेम मे पूर्ण अनुरक्त हो गया हूँ। संसार के लोग न जाने किस भ्रम में भूले हुए है। मैं तो राम मे अनुरक्त हूँ, जो कि पूर्ण रसायन है।

टिप्पणी—रसायन—यह आयुर्वेद का शब्द है। रसायन वह औषधि है जो एक धातु को दूसरी धातु मे बदल देती है—जैसे ताँबे को सोना कर देना। इसी को योरोप मे 'आलकेमी', अरब देशो मे 'कीमिया' और भारत मे 'रसायन' कहते है। आयुर्वेद मे लक्षणा द्वारा रसायन उस औषध को कहते है जो शरीर की धातुओं को रूपान्तरित कर देती है। कबीर राम को ऐसा रसायन कहते है जो जीव को परम चैतन्य मे बदल देता है।

अलंकार—(१) सांग रूपक।

(२) कहाँ कहाँ बसै राजा—वक्रोक्ति।

राग—रामकली।

(११३)

जतन विनु मिरगनि खेत उजारे।
टारे टरत नहीं निस वासुरि, विडरत नांहि विडारे ॥ टेक ॥
अपनैं अपनैं रस के लोभी, करतव न्यारे न्यारे।
अति अभिमांन वदत नहिं[1] काहू, वहुत लोग पचि हारे ॥
वुधि मेरी किरषी गुर मेरो विझुका, अखिर दोइ रखवारे।
कहै कवीर अव चरन[2] न देइहौं, वेरियाँ[3] भली संभारे ॥

शब्दार्थ—मिरगनि = मृग, पशु (प्र०अ०) पाशविक वृत्तियाँ—काम, क्रोध आदि। खेत = (प्र०अ०) जीवन-क्षेत्र। विडरत = भागते। विडारे = भगाने से। वदत नहि काहू = किसी को कुछ समझते नहीं। पचि = प्रयत्न करके। किरषी = कृषि, किसानी। विझुका = खेत में जन्तुओं को डराने के लिए खड़ा किया गया पुतला। अखिर दोइ = दो अक्षर—र म। वेरिया = वेला, अवसर।

संदर्भ—इस पद में कवीर चेतावनी देते हैं कि पाशविक वृत्तियों से वचना वहुत कठिन है। उनसे गुरु की सहायता और राम की भक्ति से ही वचा जा सकता है।

व्याख्या—कवीरदास कहते हैं कि सावधानी और साधना के अभाव में काम, क्रोध आदि पाशविक वृत्तियों ने जीवन-क्षेत्र को नष्ट कर डाला है। ये वृत्तियाँ इतनी प्रवल होती हैं कि दिन-रात अपना प्रभाव वनाए रहती हैं और किसी प्रकार भी हटाने से नहीं हटती और भगाने से नहीं भागती अर्थात् जीवन में उनका संस्कार इतना प्रवल है कि उनसे मुक्ति नहीं मिलती। प्रत्येक वृत्ति का विषय अलग-अलग होता है और उस विषय-स्वाद के प्रति उसका सहज अनुराग रहता है। प्रत्येक वृत्ति का कार्य भी भिन्न है, जैसे काम की वृत्ति है—विषय को अपने अधिकार में करके उसका आस्वादन करना, क्रोध की वृत्ति है—प्रतिकूल का विनाश करना आदि। ये वृत्तियाँ इतनी प्रवल होती हैं कि वे अपने आगे किसी को कुछ नहीं समझती। वे विचार, विवेक आदि को धक्का देकर अलग कर देती हैं। वड़े-वड़े ऋषि-मुनियों ने भी प्रयत्न करके अन्ततः इनसे हार मान ली है।

कवीर कहते हैं कि मेरे जीवन-क्षेत्र में वुद्धि द्वारा कुशल कृषि-कार्य हुआ है। मेरे गुरु ऐसे उद्धारक हैं, जिनके भय से पाशविक वृत्तियाँ दूर भागती हैं, जैसे 'विझुका' देखकर भयाक्रान्त पशु-पक्षी खेत से भाग जाते हैं। 'र' और 'म' ये दो अक्षर (राम)

---

१. ना० प्र०—नहीं। २. ना० प्र०—खान न देहू। ३. ना० प्र०—वरियाँ।

मेरे संरक्षक हैं। काम, क्रोध आदि वृत्तियो रूपी पशुओ के द्वारा अब मैं किसी भी प्रकार से अपने जीवन-क्षेत्र को चरने न दूँगा अर्थात् इनसे पूर्णरूपेण अपने को बचा कर रखूँगा। इस प्रकार समय या अवसर के रहते हुए मैं अपने जीवन-क्षेत्र को सम्हाल कर रखूँगा।

अलंकार—(१) प्रारम्भ की चार पक्तियो मे रूपकातिशयोक्ति।

(२) अतिम दो पक्तियो मे सांग रूपक।

(३) अति अभिमान·······हारे—विशेषोक्ति।

राग—मल्लार।

(११४)

जब थैं आतम तत्त विचारा।
तब निरबैर भया सबहिन थैं, कॉम क्रोध गहि डारा ॥ टेक ॥
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी।
राणाँ राव कवन सूँ कहिए, कवन बैद को रोगी ॥
इनमैं आप आप सबहिन मैं, आप आपसूँ खेलै।
नाँनाँ भाँति गढ़े सब भाँड़े, रूप धरे धरि मेलै ॥
सोचि विचारि सबै जग देखा,[1] निरगुन कोई न बतावै।
कहै कबीर गुँनी[2] अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै ॥

शब्दार्थ—निरबैर=द्वेषरहित। भाँडै=बर्तन (प्र० अ०) जीव।

संदर्भ—परमतत्व सब मे समान रूप से विद्यमान हैं। परन्तु वह ज्ञेय के रूप मे नही जाना जा सकता, केवल ज्ञाता के रूप मे उसका साक्षात्कार हो सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि जब से मैंने आतम-तत्व को विचारपूर्वक समझ लिया है, तब से सभी के प्रति द्वेषभाव समाप्त हो गया है और काम, क्रोध को पकड़कर मैंने फेंक दिया है। तत्व की दृष्टि से सभी एक हैं। एक ही व्यापक ब्रह्म सबमे विद्यमान है। सांसारिक दृष्टि से पंडित और योगी होते है। तात्विक दृष्टि से न कोई पडित है, न योगी। किसे राणा कहे, किसे राव ? किसे वैद्य कहे, किसे रोगी ? तात्विक दृष्टि से सभी एक समान हैं। इन सबमे एक ही परम तत्व विद्यमान है, वही सबमे है। वह परमतत्व स्वयं से क्रीडा कर रहा है। सारा संसार उसी की लीला है। जैसे एक ही मिट्टी से नाना प्रकार के बर्तन बनते हैं, वैसे ही एक ही भागवती शक्ति से नाना प्रकार के जीव तैयार होते है। इस प्रकार आकार अनेक है, किन्तु सबके भीतर तत्व एक ही

१. ना० प्र०–देख्या। २. ना० प्र०–गुँणी।

है। मैंने सारे संसार को छान मारा है और अच्छी तरह से विचार करके देखा है कि निर्गुण तत्व का पता किसी को नही है। उसकी लीला का यशोगान तो सभी गुणी और पंडित करते है। किन्तु वह स्वयं क्या है ? यह कोई नही वता पाता।

टिप्पणी—यहाँ 'लीला' शब्द का अर्थ है—विश्व मे परमतत्व की अभिव्यक्ति। इसका सम्बन्ध सगुण राम या कृष्ण की लीला से नही है।

अलंकार—(१) तीसरी, चौथी पक्ति मे वक्रोक्ति।

(२) छठी पक्ति मे दृष्टान्त।

राग—रामकली।

(११५)

जस मांसु पसु की तस मांसु नर[१] की, रुधिर रुधिर एक सारा जी।
पसु के मांसु भखै[२] सब कोई, नरहि[३] न भखै[४] सियारा जी।
ब्रह्म कुलाल मेदिनी भइया, उपजि विनसि कित गइया जी।
मासु मछरिया तब[५] तुम खइयो, जो खेतन में बोइया जी।
माटी के करि देवी देवा, काटि काटि जिव देइया जी।
जो[६] तोहरो है साँची देवी, खेत चरत क्यों न लेइया जी।
कहैं कबीर सुनो हो संतो, राम नाम नित[७] लेइया जी।
जो कछु किएउ जीभ[८] के स्वारथ, बदल पराया देइया जी॥

शब्दार्थ—एक सारा=एक समान, एक सरीखा। कुलाल = कुम्भकार। मेदिनी = भूमि। भइया = हुई। कित = कितने ही।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा और मांस-भक्षण का विरोध किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि वस्तुत. पशु और मानव का मांस और रुधिर एक समान है। पशु का मांस सभी लोग खाते है, किन्तु नर के मांस को जल्दी सियार भी नही खाता। ब्रह्म रूपी कुम्भकार पृथ्वी रूपी मिट्टी से जीवों का निर्माण करता है। ऐसे न जाने कितने जीव उत्पन्न हुए और नष्ट हो गए। मास-मछली के भोजन का तभी औचित्य हो सकता है, यदि वह शाक-भाजी की तरह खेत मे वोया जाता हो। प्राय लोग मिट्टी की देव-देवी की मूर्तियाँ बनाते है और उनके सामने पशुओ को काटकर वलि चढ़ाते है। यदि देवी मे वास्तव के कुछ शक्ति है तो उन पशुओ को,

१. वि०—नल। २. शुक०—भच्छे। ३. वि०—नलहिं। ४. शुक०—भच्छे। ५. शुक०, वि०—तें पै। ६. वि०—जो तोहरा है साँचा देवा। ७. वि०—निज। ८. शुक०—जिभ्या।

खेत मे चरते समय ही, वह पकडकर क्यो नही खा लेती ? कबीर कहते है कि नित्य-प्रति राम का भजन करना चाहिए। जो कोई जिह्वा के स्वाद के लिए मास-मछली का भोजन करता है, उसे एक दिन बदला चुकाना पडेगा।

अलंकार—(१) तीसरी पक्ति मे रूपक।
(२) छठी पक्ति मे वक्रोक्ति।

(११६)

जाइ पूछौ गोविंद पढ़िया पंडिता, तेरा कौंन गुरू कौन चेला।
अपनैं रूप कौ आपहिं जांनै, आपै रहै अकेला।। टेक।।
बाँझ का पूत बाप बिनु जाया, बिना[1] पांउँ तरवर चढ़िया।
अस बिनु पाखर गज बिनु गुड़िया, बिनु षंडै संग्रामहि जुड़िया।।
बीज बिनु अंकुर पेड़ बिनु तरुवर, बिनु साखा तरवर फलिया।
रूप बिनु नारी पुहुप बिनु परिमल, बिनु नीरैं सरवर भरिया।।
देव बिनु देहुरा पत्र बिनु पूजा, बिनु पंखा[2] भंवरा बिलंबिया।
सूरा होइ सु परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया।।
दीपक बिनु जोति जोति बिनु दीपक, हद बिन अनाहद सबद बागा।
चेतनां होइ सु चेत लीजौ, कबीर हरि के अंगि लागा।।

शब्दार्थ—पढिया पडिता = शास्त्रज्ञ पडित। पाउँ = पैर। अकेला = कैवल्य। अस = अश्व। तरवर = वृक्ष (प्र०अ०) शरीर। पाखर = कवच, लोहे का झूल। षडै = तलवार। पेड = तना। गुडिया = हौदा। परिमल = सुगध। सरवर = सरोवर, तालाब। जुडिया = जुटा रहता है। देहुरा = देवालय, मन्दिर। हद बिन = बिना सीमा के, निरन्तर। पखा = पख। बिलबिया = मँडरा रहा है। बागा = गूँजता है।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि परमात्मा सांसारिक कार्य-कारण-भाव तथा साधनो के बिना सब कुछ करने मे समर्थ है और बिना सासारिक माध्यमो के उसमे असीम सौंदर्य और ज्योति विद्यमान है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे शास्त्र के ज्ञाता पडितो ! जाकर गोविंद से पूछो कि तुम्हारा कौन गुरु है और कौन चेला ? गुरु-शिष्य का सम्बन्ध केवल व्यावहारिक साधना मे होता है। तत्वत न कोई गुरु है, न कोई चेला। आत्मतत्व अपने स्वरूप को स्वय जानता है। वह कैवल्य मे प्रतिष्ठित है। वह किसी पर आश्रित नही।

---

१. ना० प्र०–बिन पाँऊँ। २. ना० प्र०–पाँपाँ।

वह (परम तत्व) वंध्या का पुत्र है और विना बाप के उत्पन्न हुआ है अर्थात् वह उत्पाद्य नहीं है। वह विना पैर के वृक्ष पर चढता है अर्थात् वह शरीर में किसी सहारे के विना प्रतिष्ठित होता है। उसकी स्थिति वैसी ही है जैसे घोड़े की विना झूल की तथा हाथी की विना हौदे की और विना अस्त्र के योद्धा की। वह विना किसी उपकरण के जीवन-संग्राम मे तत्पर रहता है।

वह विना अंकुर का बीज है, विना तने का वृक्ष है और वह ऐसा वृक्ष है जो विना शाखा के फल देता है अर्थात् उसमे सासारिक कार्य-कारण-भाव नही है। उसमे विना किसी रूप के सौंदर्य है, विना पुष्प के सुगंध है और विना जल के वह सरोवर है। अर्थात् सासारिक साधनों के विना उसमें अनुपम सौंदर्य, सुगंध, शांति एवं शीतलता है।

वह विना देवालय के ही अन्त करण मे देव रूप मे विद्यमान है, उसकी पूजा विना पत्र-पुष्प के होती है। वह विना पंखों के भ्रमर के समान अन्त करण पर मँडराता रहता है।

जो जीव शूर होते है, अपनी निर्वलताओं पर आधिपत्य जमा सकते है, वे ही उपर्युक्त आत्म-पद को प्राप्त करते हैं। अन्य सब लोग कीट-पतंग के समान विषय-दीप मे जल जाते है। वह परम पद दीपक (आश्रय) के विना ही प्रकाशमान है। वहाँ निरन्तर अनाहत ध्वनि गूँजती रहती है। कवीरदास कहते है कि जिसमे समझ हो, वह इस रहस्य को जान ले। कबीर भगवान् मे लीन हो गया है।

तुलसीदास ने भी कहा है—

> बिनु पद चलै सुनै बिनु काना,
> 　　　　कर बिनु करम करै विधि नाना।
> आनन रहित सकल रस भोगी,
> 　　　　बिनु बानी वकता बड़ जोगी।
> तन बिनु परस नयन बिनु देखा,
> 　　　　ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा।
> असि सब भाँति अलौकिक करनी,
> 　　　　महिमा जासु जाइ नहि बरनी॥
> 　　　　　　　　　　　　(मानस)

अलंकार—विभावना, उल्लेख।

राग—रामकली।

(११७)

जाइ रे दिन ही दिन देहा।
करि लै बौरी रांम सनेहा ॥ टेक ॥
बालापन गयौ जोबन जासी, जरा[1] मरन भौ संकट आसी।
पलटे केस नैंन जल छाया, मूरिख चेत बुढ़ापा आया।
राम कहत लज्जा[2] क्यूँ कीजै, पल पल आउ घटै तन छीजै।
लज्जा कहै मैं[3] जम की दासी, एक[4] हाथि मुदिगर दूजै हाथि पासी।
कहै कबीर तिन[5] सरबस हार्‌यौ, राम नांम जिन मनहूँ बिसार्‌यौ[6] ॥

शब्दार्थ—जाइ रे=क्षीण हो रहा है। जासी (प०)=जाएगी। भौ=भय। आसी (प०)=आ जाएगा। पलटे=बदल गया। छीजै=क्षीण होना। पासी=पाश, फंदा। मनहूँ=मन से भी।

संदर्भ—इस पद में कबीरदास चेतावनी देते हैं कि शरीर नश्वर है। अत. समय रहते हुए भगवान् का स्मरण करो।

व्याख्या—वह कहते हैं कि यह शरीर दिन प्रतिदिन क्षीण हो रहा है। अतएव हे बावले जीव ! राम से प्रेम कर लो। बाल्यकाल बीत गया, उसी प्रकार युवावस्था भी बीत जाएगी। तब वृद्धावस्था और मृत्यु का संकट आ जाएगा। यही संसार का स्वभाव है। वृद्धावस्था आने पर बाल काले से श्वेत हो जाते हैं और आँखो मे पानी डबडबाया रहता है। हे मूढ जीव ! तू अब भी चेत जा। बुढापे के लक्षण दिखाई देने लगे। राम नाम का उच्चारण करते हुए तुझे सकोच क्यों हो रहा है ? प्रत्येक क्षण तेरी आयु घट रही है और शरीर क्षीण हो रहा है। तू यदि अब भी राम का भजन नही करता है तो सारा अवसर निकल जाएगा। लज्जा कहती है कि मै यमराज की दासी हूँ। मेरे प्रभाव से ही मूढ जीव राम नाम का जप नही कर पाता। मेरे एक हाथ मे मुग्दर रहता है और दूसरे हाथ मे फदा। इसी मुग्दर से जीव मारा जाता है और फदे से बांधा जाता है। कबीर कहते है कि जिन्होंने मन से भी राम नाम को भुला दिया, उनका सम्पूर्ण जीवन निरर्थक हो गया।

अलंकार—लज्जा कहै—मानवीकरण।

राग—आसावरी।

---

१. ना० प्र०—जुरा। २. ना० प्र०—लज्या। ३. ना० प्र०—हूँ। ४. ना० प्र०—एकै। ५. ना० प्र०—तिनहूँ सब हार्‌या। ६. ना० प्र०—बिसार्‌या।

(११८)

जागि रे जीव जागि रे।
चोरन कौ डर बहुत कहत हैं, उठि उठि पहरै लागि रे ॥ टेक ॥
ररा करि टोप ममाँ करि बखतर, ग्यान रतन करि षाग रे।
ऐसैं जो अजराइल मारै, मस्तकि आवै भाग रे ॥
ऐसी जागनी जे को जागै, ता हरि देइ सुहाग रे।
कहै कबीर जग्या ही चाहिए, क्या गृह क्या बैराग रे ॥

शब्दार्थ—टोप = शिरस्त्राण। बखतर = कवच। षाग = खड्ग, तलवार। अजराइल = जीर्ण न होने वाला, टिकाऊ।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने बताया है कि इसी शरीर मे स्थित काम, क्रोध, मद, लोभ आदि चोरो से निरन्तर सावधान रहना चाहिए।

व्याख्या—हे जीव ! सदा सावधान रह। सभी कहते है कि काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि चोर है। इनसे निरन्तर सावधान रहना चाहिए। रकार का शिरस्त्राण और मकार का कवच बनाओ तथा हाथ मे ज्ञान-रत्न रूपी तलवार धारण करो। इस पद्धति से साधारणत जीर्ण न होने वाले अज्ञान के ऊपर इस प्रकार प्रहार करो कि उसका अहंकार रूपी मस्तक तुम्हारे अधिकार मे आ जाए। इस प्रकार जगकर जो सावधान रहता है, उसे ही प्रभु सौभाग्य प्रदान करते है। कबीर कहते है कि चाहे गृहस्थ हो या विरक्त, सभी को उपर्युक्त चोरो से सावधान रहना चाहिए।

तुलनीय—मैं केहि कहौं बिपति अति भारी,
श्रीरघुबीर धीर हितकारी।
मम हृदय भवन प्रभु तोरा,
तहँ बसे आइ बहु चोरा।
अति कठिन करहिं बरजोरा,
मानहिं नहिं बिनय निहोरा ॥ १२५ ॥
—विनयपत्रिका

राग—भैरव।

(११९)

जांनौं जांनौं रे राजा रांम की कहांनीं।
अंतरि जोति रांम परकासै, गुरमुखि बिरलै जांनीं ॥ टेक ॥
तरवर एक अनंत डार, साखा पुहुप पत्र रस भरिया।
यहु अंम्रित की बाड़ी है रे, तिनि हरि पूरी करिया ॥

पुहुप बास भंवरा इक राता, बारह लै उर धरिया।
सोरह मंझै पवन झकोरै, आकासै फरु फरिया॥
सहज समाधि बिरिख यहु सींचा, धरती जलहरु सोखा।
कहै कबीर तासु मै चेला, जिनि यहु बिरवा पेखा॥

शब्दार्थ—कहानी = कृति, रहस्य। तरवर = वृक्ष (प्र० अ०) शरीर। भवँरा = भ्रमर (प्र० अ०) जीवात्मा। पुहुप = पुष्प (प्र० अ०) कमलदल चक्र। राता = अनुरक्त। बारह = अनाहत चक्र के दल (प्रत्येक दल मे एक अक्षर की कल्पना की गई है। इस चक्र मे 'क' से 'ठ' तक)। सोलह = विशुद्धाख्य चक्र (इसमे सभी स्वर होते है—अ से अः तक)। पवन = प्राणवायु। आकासे = शून्य चक्र। फरु = फल। फरिया = फलता है। धरती = मूलाधार चक्र। जलहरु = जलधर, जलाशय (प्र० अ०) शक्तिपुञ्ज। सोखा = खीचा। पेखा = देखा, अनुभव किया।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने सहज समाधि के द्वारा आन्तरिक ज्योति के साक्षात्कार का वर्णन किया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैंने प्रभु द्वारा की गई मानव-सृष्टि का रहस्य समझ लिया है। मानव शरीर के अन्तस् मे परमात्मा की एक ज्योति प्रकाशित हो रही है जो कि अन्तरात्मा या प्रत्यगात्मा है। गुरु-कृपा से कोई विरला ही उसका अनुभव कर पाता है।

वृक्ष के रूपक द्वारा कबीर मानव शरीर की आन्तरिक रचना का उल्लेख करते हुए कहते है कि इस शरीर रूपी वृक्ष मे एक सुषुम्ना रूपी तना है और उसमे अनेक नाडियाँ रूपी शाखाएँ तथा चक्र रूपी पुष्प है। वह प्राण रूपी रस से परिपूरित है। इस शरीर रूपी वृक्ष के पत्र-पुष्पादि अमृत के उद्यान के समान है, जिन्हे प्रभु ने ही पूर्णता प्रदान की है।

इन चक्रो मे एक बारह दल वाला अनाहत चक्र रूपी कमल है, जिस पर जीवात्मा रूपी भ्रमर मँडराता रहता है अर्थात् उसमे समाविष्ट होता है। सोलह दल वाले विशुद्धाख्य चक्र रूपी कमल मे प्राण सचरित होता रहता है और शून्य चक्र मे पूर्णता का फल लगता है। सहस्रार अथवा शून्य चक्र मे कुण्डलिनी के पहुँचने पर जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव करता है अर्थात् अपनी अन्तर्ज्योति का साक्षात्कार करता है। मूलाधार (धरती) मे स्थित शक्तिपुञ्ज जलाशय के समान है, जिसके द्वारा यह वृक्ष सिंचित होता है। साधना द्वारा प्राण (इड़ा) और अपान (पिंगला) वायु के तुल्यबल हो जाने पर उदान वायु के प्रतिघात से कुण्डलिनी का जागरण होता है। यह सहज समाधि है। इसमे कुण्डलिनी सुषुम्ना

मार्ग से ऊर्ध्वमुख प्रसरण करती हुई सहस्रार अथवा शून्यचक्र मे जा मिलती है। इसके आनंद-रस से सारा वृक्ष सिंचित होता है। कबीर कहते है कि इस विचित्र वृक्ष का जिसने अनुभव कर लिया है, मैं उसको गुरुवत् मानने को तैयार हूँ।

टिप्पणी—सहज समाधि

चित्त का आन्तरिक, स्वाभाविक स्थिति मे लीन हो जाना सहज समाधि है। इसका एक साधन है—इड़ा और पिंगला के तुल्यबल हो जाने पर कुण्डलिनी का जागरण और उसका सहस्रार मे मिलन। तांत्रिक सहजयानियो और नाथपंथियों की की यही विशेष साधना-पद्धति है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—रामकली।

(१२०)

जारौ मैं या जग की चतुराई।
रांम भजन नहिं करत बावरे, जिनि यहु जुगुति बनाई ॥ टेक ॥
माया जोरि जोरि करै इकठी, हंम खैहैं लरिका ब्यौसाई।
सो धन चोर मूसि लै जावै, रहा सहा लै जाइ जंवाई ॥
यहु माया जैसे कलवारिनि, मद पियाइ राखै बौराई।
एक तौ पड़े धरनि पर लोटैं, एक[1] कहै चोखी दे माई ॥
या माया सुर नर मुनि डंहके, पीर पयंबर कौ धरि खाई।
जे जन रहैं राम कै सरनैं, हाथ मलै तिनकौं पछिताई ॥
कहै कबीर सुनौ भाई साधौ, लै फांसी हमहूँ पै आई।
गुर परताप साध की संगति, हरि भजि चल्यौ निसांन बजाई ॥

शब्दार्थ—जुगुति = युक्ति। ब्यौसाई = व्यवसाय करेगा। जँवाई = जामाता, दामाद। चोखी = तले-भुने पदार्थ। डंहके = ठगा। निसान = डका।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने माया के मादक और मोहक रूप का चित्रण किया है और यह बताया है कि प्रभु के भक्तों पर इसका प्रभाव नही पड़ता।

व्याख्या—कबीर कहते है कि संसार के लोग भौतिक प्रगति के चक्कर मे पड़े रहते है। यह माया का खेल है। इससे सावधान रहने की अपेक्षा है। लोग धन कमाने और भौतिक उन्नति मे पड़े रहकर, उस प्रभु का स्मरण नही करते, जिसने यह कौतुक रचा है।

---

१. तिवारी—एकन कौं देखत छलि जाई।

लोग इस दृष्टि से धन एकत्र करने मे लगे रहते है कि हम अपने जीवन में इसका भोग करेंगे और हमारे बाद लडके इससे व्यवसाय करेंगे। परिश्रम से एकत्र किए गए उस धन को चोर चुरा ले जाते हैं और शेष सम्पत्ति दामाद उडा ले जाता है।

माया का कार्य कलवारिन के सदृश होता है, जो मद पिलाकर लोगों को उन्मत्त कर देती है। उसके प्रभाव से कुछ लोग जमीन पर बेहोश पडे रहते हैं और कुछ और अधिक पीने के लिए चटपटे पदार्थ खाने को माँगते है। इस माया ने देवो और मुनियो को ठगा है तथा पीर-पैगम्बर को भी इसने नष्ट कर डाला है। जो राम के भक्त हैं, यह माया उनको वश मे नहीं कर पाती। अत' हाथ मल-मलकर पछताकर रह जाती है। कबीर कहते हैं कि हे संतो! वह अपना मोहक फंदा लेकर मेरे पास भी आई थी। लेकिन मैं गुरु के प्रताप एवं सत्संग के बल से डके की चोट निकल गया। उसके बधन मे नही आया।

अलंकार—यह माया जैसे कलवारिन—उपमा।

राग—कनडी।

(१२१)

जिअत न मारि[1] मुवा मति लावै।
मांस विहूँनां घरि मति आवै हो कंता॥ टेक॥
उर बिनु खुर बिनु चंचु बिनु बपु बिहूनां सोई रे।
सो सावज[2] किन[3] मारै कंता जाकै रगत मास नां होई रे।
पैली पार कै पारधी ताकी धनुही पनच नहीं रे।
होत[4] पात चुगि जात मिरगवा ता म्रिग कै सीस नहीं रे।
मारा म्रिगा जीवता राखा यहु गुरु ग्यांन सही[5] रे।
कहै कबीर स्वांमीं तुम्हरै मिलन कौं बेली है पर पात नहीं रे॥

शब्दार्थ—कंता = (प्र० अ०) साधक। मुवा = मरा हुआ। बिहूनां = विहीन, रहित। बपु = शरीर। सावज = मृग, शिकार। रगत = रक्त। पैली पार = श्रेष्ठ। पारधी = शिकारी। पनच = प्रत्यञ्चा।

संदर्भ—इस पद मे सद्गुरु ने उपदेश दिया है कि मन को वश मे करने के लिए ऐसी कृच्छ साधना नही करनी चाहिए जिससे मन सर्वथा निश्चेष्ट, निश्शक्त और

---

१. ना० प्र०–जिनि मारै। २. ना० प्र०–स्यावज। ३. ना० प्र०–जिनि। ४. ना० प्र०–ता बेली को ढूँक्यौ मृग लौ, ता मृग कैसी सनहीं रे। ५. ना प्र०–मही।

निष्प्राण हो जाय, क्योंकि उसी के द्वारा साधना में आगे बढ़ना है। मन को केवल शुद्ध और रूपान्तरित कर दो।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मन रूपी पशु का ऐसा शिकार करो कि वह जीवित रहे, सर्वथा नष्ट न हो जाय। उसका शिकार अवश्य करो अर्थात् उसे वश मे करो। किन्तु उसे मृत रूप मे मत लाओ अर्थात् उसे सर्वथा निष्प्राण, निर्जीव मत बनाओ। और साथ ही साथ ऐसा भी न हो कि तुम बिना मांस के चले आओ, उसे बिना मारे हुए उसका मांस ले आओ अर्थात् मन को सर्वथा नष्ट व निष्प्राण न करो, किन्तु उसमे चेतनता द्वारा आगे बढने का जो सामर्थ्य है, वह शेष रह जाय, जिससे उसका उपयोग हो सके।

हे साधक ! तुम उस पशु का शिकार क्यो नही करते जिसके न उर है, न खुर हैं; न चंचु है, न शरीर है और न रक्त-मांस है। जो अत्यन्त सूक्ष्म है, फिर भी है वह पशु। श्रेष्ठ शिकारी वह है जिसके पास न धनुष है और न प्रत्यञ्चा, किन्तु फिर भी वह शिकार करने मे दक्ष है। हे साधक ! तुम ऐसे ही शिकारी बनो।

मानव मे ऊर्ध्व की ओर चढ़ने की एक गुप्त आकांक्षा रूपी बेलि विद्यमान है, किन्तु उस बेलि मे अन्तर्मुखता, शुद्धता आदि पत्ते लगने नही पाते, क्योंकि विषयासक्त मन रूपी पशु उसको चर जाता है। हमे इसका पता भी नही चल पाता, क्योंकि उस मृग के सीग नहीं हैं अर्थात् वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म है। सद्गुरु ने यह सच्चा ज्ञान बतलाया है कि इस मृग को ऐसा मारो कि वह जीवित रहे अर्थात् उसकी पूर्व अवस्था समाप्त हो जाय और वह एक नवीन, पवित्र रूप मे परिणत हो जाय। कबीर कहते हैं कि हे स्वामी ! मानव मे तुम्हारे मिलन के लिए आकांक्षा रूपी बेलि तो विद्यमान है, परन्तु उसमे शुद्धता, पवित्रता, अन्तर्मुखता आदि पत्ते विषयासक्त मन रूपी मृग के कारण नही रहने पाते।

टिप्पणी—साधना मे मन को वशीभूत करने की तीन प्रक्रियाएँ है—

(१) कृच्छ्र तपस्या, उपवास, व्रत आदि के द्वारा मन को सर्वथा शुष्क, नीरस और निष्प्राण बना देना।

(२) मन का मार्गान्तरीकरण के द्वारा उदात्तीकरण।

(३) मन को रूपान्तरित कर देना, जिसमे मन मरता नही, केवल उसका स्वभाव बदल जाता है। साधना की यह एक रासायनिक प्रक्रिया है। इसी को कबीर ने अन्यत्र 'मारन' और 'जारन' कहा है, जो अलकीमिया के द्वारा सिद्ध किया जाता है। कबीर इसी तीसरी प्रक्रिया के पक्ष मे है। मन को सर्वथा शुष्क और असमर्थ बना देने से भक्ति किसके द्वारा होगी ?

अलंकार—(१) उर विनु खुर विनु—विभावना ।
(२) सो सावज''' होई रे—विशेषोक्ति ।
(३) मारा भ्रगा जीवता राखा—विरोधाभास ।

राग—आसावरी ।

(१२२)

जिअ रे जाहिगा[1] मैं जांनां ।
जो[2] देख्या सो बहुरि न पेख्या, माटी सूँ लपटाना ।। टेक ।।
बलकल[3] बस्तर किता पहिरवा, क्या[4] बन मद्धे बासा ।
कहा मुगध रे पाहन पूजे, क्या जल[5] डारे गाता ।
ग्यांनी[6] ध्यांनी बहु उपदेसी, इहु जगु सगलो धंधा ।
कह कबीर इक रांम नांम विनु, या जगु माया अंधा ।।

शब्दार्थ—जिअ=जीव । जाहिगा=चला जाएगा । पेख्या=देखा । बस्तर=वस्त्र । बलकल=वल्कल, पेड की छाल । पहिरवा=पहनावा । मुगध=मुग्ध, मूर्ख । गाता=गात्र,शरीर । सगलो=सकल ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि कोई व्यक्ति चाहे जितना तप, पूजा करे, किन्तु संसार से जीव का जाना अनिवार्य है । प्रभु-भक्ति से ही वह ससार के आवागमन से बच सकता है ?

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैंने अच्छी तरह से समझ लिया है कि इस जीव को एक दिन संसार छोडकर जाना है । सभी की मृत्यु अवश्यंभावी है । मैंने जिस किसी को यहाँ से जाते देखा है, उसे फिर यहाँ वापस आते नही देखा । शरीर मिट्टी मे मिल जाता है और जीव यहाँ से चला जाता है ।

मनुष्य चाहे जितनी घोर तपस्या और अर्चना करे, किन्तु वह मृत्यु से छुटकारा नही प्राप्त कर सकता । वह चाहे वृक्ष की छाल पहनकर तपस्या करे अथवा जगल मे जाकर वास करे, किन्तु उसे इस संसार से जाना ही होगा । हे मूर्ख मानव ! तू चाहे कितना ही प्रस्तर-विग्रह की पूजा करे और चाहे जितना जल मे स्नान करके अपने को स्वच्छ करे, किंतु मृत्यु से बच नही सकता । कबीर कहते हैं कि बड़े-बड़े ज्ञानियों, योगियो और उपदेशको के बाह्याचार केवल सासारिक धंधे है । इनसे आत्म-

---

१. ना० प्र०–जियरा जाहिगो । २. तिवारी–जत तत देखउँ बहुरि न पेखउँ संगि माया लपटांनां । ३. ना० प्र०–बाकुल । ४. ना० प्र०–का तप बनखंडि वासा । ५. ना० प्र०–काजल । ६. ना० प्र०–कहै कबीर सुर मुनि उपदेसा, लोका पंथि लगाई । सुनौ संतौ सुमिरौ भगत जन, हरि बिन जनम गवाई ।।

लाभ नही हो सकता और न व्यक्ति मृत्यु से बच सकता है। अतः भगवान् की भक्ति करो, जिससे इस मरणशील संसार मे आना ही न पड़े। राम नाम के जप के बिना यह सारा संसार माया द्वारा प्रवृत्त अंधकार मे भटक रहा है।

तुलनीय—जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचै नाचै वृथा, साँचै राँचै राम॥ —बिहारी

अलंकार—(१) वलकल.......वासा—वक्रोक्ति।
(२) कह कबीर ...अंधा—विनोक्ति।

राग—गौरी।

(१२३)

जियरा जाहुगे हंम जांनीं।
आवैगी कोई लहरि लोभ की बूड़ैगा बिनु पांनीं॥ टेक॥
राज करंता राजा जाइगा रूप दिपंती रांनीं।
जोग करंता जोगी जाइगा कथा सुनंता ग्यांनी।
चंद जाइगा सूर जाइगा जाइगा पवन औ पांनीं।
कहै कबीर तेरा संत न जाइगा रांम भगति ठहरांनी॥

शब्दार्थ—दिपंती=चमकती हुई, दीप्तिमती। ठहरानी=प्रतिष्ठित।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे यह बतलाया गया है कि संसार मे लोभ की प्रबलता रहती है। इससे कोई नही बच सकता और संसार मे सब कुछ परिवर्तनशील है। राम का भक्त इन दोनो मे बच सकता है।

व्याख्या—कबीर चेतावनी देते है कि हे जीव! हम जानते है कि तेरा हृदय लोभ की एक तरग मे बह जाएगा और तू बिना पानी के ही डूब जाएगा अर्थात् लोभ के एक साधारण झटके से नष्ट हो जाएगा।

लोभ के प्रवाह मे बडे-बड़े ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा बह जाते है और अपने सौंदर्य की कांति पर गर्व करने वाली रानी का भी पैर उसके आगे नही टिकता, वह भी बह जाती है। बडे-बडे योगियो का योगबल भी उसका सामना नही कर पाता है। उनकी भी च्युति हो जाती है और वे ज्ञानी जो निरंतर वेद-शास्त्रो की कथा सुनकर अपने को प्रबुद्ध मान बैठे है, लोभ की धारा मे बह जाते है।

संसार में कोई इतना शक्तिशाली नही है, जो परिवर्तन से बच सके। सूर्य, चंद्र, पवन और जल आदि सभी का एक दिन अंत होने वाला है। केवल वेही संत, जो राम की भक्ति में प्रतिष्ठित है, विनाश से बच सकेंगे।

अलंकार—बूड़ैगा बिनु पानी—विभावना।

राग—गौरी।

(१२४)

जिहि नर[1] रांम भगति नहिं साधी।
सो जनमत कस[2] न मुओ अपराधी ॥ टेक ॥
जिहि कुल पूत न ग्यांन विचारी, वाकी विधवा कस[3] न भई महतारी।
मुचि मुचि गरभ[4] भई किन बांझ, सूकर[5] रूप फिरै कलि मांझ।
कहै कबीर नर सुन्दर रूप[6], राम भगति बिनु कुचिल कुरूप ॥

शब्दार्थ—साधी = सम्पन्न किया। मुआ = मर गया। महतारी = माता। मुचि मुचि = मोचन करके, गिराकर। कुचिल = कुचैला, गंदा। भई = थी।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि प्रभु-भक्ति के बिना मानव जीवन व्यर्थ है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि जिसने राम-भक्ति नही की, वह पापी जन्मते ही क्यों न मर गया ? जिस कुल मे उत्पन्न पुत्र ने मानव जीवन की सार्थकता पर ध्यान नही दिया, उसकी माँ विधवा ही होती तो अच्छा होता। उसके विधवा रहने से सन्तान ही न होती। यदि ऐसी माँ गर्भवती ही हो गई तो गर्भ गिराकर वह बाँझ ही क्यों न हो गई ? भक्ति-विहीन नर कलिकाल मे सुअर के समान फिरता रहता है। कबीर कहते है कि कोई भी मनुष्य देखने मे चाहे जितना सुन्दर और रूपवान क्यो न हो, किन्तु राम-भक्ति के बिना वह मलिन और कुरूप ही समझा जाएगा।

तुलनीय—पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई ॥

—मानस

× × ×

तुलसी अस बालक सो नहि नेहु, कहा जप जोग समाधि किए।
नर ते खर सूकर स्वान समान, कहौ जग मे फलु कौन जिए ॥

—कवितावली

अलंकार—अन्तिम पंक्ति मे विनोक्ति।

राग—गौरी।

(१२५)

जोगिया के नगर बसो मति कोई[7], जो रे बसै सो जोगिया होई[8]।
वहिं जोगिया के उलटा ज्ञाना, कारा चोला नाहि मियाना[10]।

---

१. ना० प्र०—जा नरि। २. ना० प्र०—काहे। ३. ना० प्र०—काहे। ४. ना० प्र०—गरभ मुचे मुचि। ५. तिवारी—कूकुर। ६. ना० प्र०—सरूप। ७. वि०—कोय। ८. वि०—होय। ९. शुक०—मे। १०. शुक०—नहीं म्याना।

प्रगट सो कंथा गुप्ताधारी, तामें मूल सजीवन भारी।
वहि[1] जोगिया की जुगुति[2] जो बूझे, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै।
अम्रित[3] वेली छिन छिन पीवै, कहै कबीर सो[4] जुग जुग जीवै ॥

शब्दार्थ—जोगिया=अज्ञानी योगी। कारा=काला (प्र० अ०) अज्ञान। चोला=वस्त्र। मियाना (फा० मियानः)=मध्यम आकार का। कथा=गुदड़ी (प्र०अ०) त्याग। अधारी=लकडी की टेक (प्र०अ०) लोभ या काम। मूल सजीवन=सार-वस्तु। जुगुति=रहस्य। अम्रित वेलि=सहस्रार से टपकने वाला अमर रस।

संदर्भ—इस पद मे योगियों के पाषंड पर प्रहार करते हुए कबीर ने वास्तविक योग अथवा साक्षि-चैतन्य का सकेत किया है।

व्याख्या—वह कहते है कि अज्ञानी योगियो के नगर मे कोई न बसे अर्थात् कोई उनके चक्कर में न पड़े, क्योकि जो उनके प्रभाव मे आ जाएगा, वह भी उसी प्रकार अज्ञान से घिरा रहेगा। इन योगियो मे विपरीत ज्ञान होता है। वे अज्ञान के वस्त्र से आपाद मस्तक ढँके रहते है। वह वस्त्र कही से छोटा नही पड़ता (नाहि मियाना) अर्थात् वे अज्ञान से पूर्ण रूप से आवृत है। वे लोग बाहर से त्याग की प्रतीक गुदड़ी पहने रहते है और गुप्त रूप से भीतर काम, लोभ को अधारी (आश्रय) लिए रहते है। वास्तविक सजीवन मूल (साक्षि चैतन्य) उसके कही भीतर है जिसकी जानकारी उनको नही है। ऐसे तथाकथित योगियो के भेद या बनावटी रहस्य को जो जान लेता है, वह राम मे रमण करने लगता है अर्थात् वह योग के वास्तविक लक्ष्य साक्षि-चैतन्य का साक्षात्कार कर लेता है और तीनो लोको को साक्षिरूप में देखने लगता है, किसी मे आसक्त नही होता। वह सिद्ध हो जाता है और सहस्रार से टपकने वाले अमृत-रस का प्रत्येक क्षण पान करते हुए अमर हो जाता है।

टिप्पणी—वहि जोगिया के उलटा ज्ञाना—अविद्या के कारण ज्ञान उल्टा हो जाता है। उसे योग की पारिभाषिक शब्दावली में 'विपर्यास' कहते है। इस 'विपर्यास' का 'पातंजल योग सूत्र' मे इस प्रकार वर्णन है—

'अनित्याऽशुचिदुःखानात्मसु, नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या' ॥ २/५ ॥

(१२६)

जोगिया फिरि गयौ गगन[5] मझारी।
रह्यौ[6] समाइ पंच तजि नारी ॥ टेक ॥

---

१. शुक०—वो। २. शुक०—जुक्ति। ३. शुक०—अमृत। ४. शुक० की प्रति में 'सो' नहीं है। ५. वि०—नगर। ६. वि०—जाइ समान पाँच जहाँ नारी।

गयौ दिसावरि कौन[1] बतावै, जोगिया बहुरि गुफा नहिं आवै।
जरि गौ कंथा धजा गयौ टूटी, भजि गौ डंड खपर गयौ फूटी।
कहै[2] कबीर जोगी जुगुति कमाई, गगन गया सो आवै न जाई ॥

शब्दार्थ--जोगिया=योगी, साधक। गगन=आकाश, चिदाकाश। मझारी=मध्य। पच नारी=(प्र०अ०) पंच प्राण। दिसावरि=अन्य देश। गुफा=(प्र० अ०) शरीर। धजा=ध्वजा (प्र०अ०) नाम। भजिगो=भग्न हो गया। डड=दण्ड, मेरुदण्ड। खपर=खप्पर, खोपड़ी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि सच्चा साधक संसार से मुक्त हो जाता है। वह नाम-रूप दोनों को छोडकर इस संसार में चला जाता है, पुनः यहाँ लौटकर नही आता है।

व्याख्या—साधक जिस चिदाकाश से आया था, वही फिर वापस चला गया। पंच प्राणो को छोडकर वह चिदाकाश मे समा गया। वह किस देश मे गया, इसे कौन बता सकता है? अब वह साधक पुन' शरीर रूपी गुफा मे लौटकर नही आएगा। संसार से जाने के पश्चात् कथा रूपी शरीर जल जाता है, ध्वजा रूपी परिचयात्मक नाम समाप्त हो जाता है, मेरुदण्ड भग्न हो जाता है और खप्पर रूपी खोपड़ी भी फूट जाती है। कबीर कहते हैं कि योगी अपनी साधना के बल से ऐसे मुक्तपद को प्राप्त हो जाता है कि उसका आवागमन समाप्त हो जाता है।

तुलनीय—इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने कहा था :—

अच्ची यथा वात वेगेन खित्तो,
अत्थं पलेति न उपेति संखम्।
एवं मुनीनाम काया विमुत्तो,
अत्थं पलेति न उपेति सखम् ॥
(सुत्तनिपात)

"जिस प्रकार अग्नि की चिनगारी वात-वेग से फेंकी जाकर मूलस्थान को चली जाती है, उसे कोई बता नही सकता कि वह कहाँ गई? उसी प्रकार मुनि भी नाम और काया को छोड़कर अपने धाम को चला जाता है। कोई नही बतला सकता कि वह कहाँ गया?"

अलंकार—(१) गयी दिसावरि कौन बतावै—वक्रोक्ति।
(२) जरिगौ कंथा.......फूटी—रूपकातिशयोक्ति।

राग—आसावरी।

---

१. वि०-कोइ न। २. वि०-कहँहि कबीर इ कलिहै खोटा। जो रहै करवा (सो) निकरै टोटी ॥

(१२७)

जोलहा बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर नर मुनि धरैं ध्याना।
ताना तनै को अहुठा लीन्हा, चरखी चारो वेदा।
सर खूटी एक राम नरायन, पूरन प्रगटे भेदा[1]॥
भवसागर एक कठवत कीन्हा, तामें[2] माँड़ी साना।
मांड़ी का[3] तन माड़ि रहो है, माड़ी बिरलै जाना॥
चांद सुरुज[4] दुइ गोड़ा कीन्हा, माँझदीप माँझा कीन्हा[5]।
त्रिभुवननाथ जो माँजन लागे, स्याम मरोरिया दीन्हा॥
पाई करि[6] जब भरना लीन्हो, वै बाँधन को रामा।
वै भरा[7] तिहु लोकहि बाँधे, कोइ न रहत उबाना॥
तीनि लोक एक करिगह कीन्हो, दिगमग कीन्हों ताना।
आदि पुरुष बैठावन बैठे, कबिरा जोति[8] समाना॥

शब्दार्थ—जोलहा = (प्र० अ०) जीव । ताना = (प्र० अ०) शरीर। अहुठा (सं० अध्युष्ट) = माढ़े तीन हाथ का साधन। सर = सरकंडे या बांस की छड़ी, जिसे ताना ठीक करने के लिए जुलाहे प्रयोग मे लाते है। खूटी = एक पतली लकड़ी जिसके सिरे पर काँच का चुल्ला फोड़कर बाँध देते है। इसी चुल्ले मे रेशम के महीन तागे डालकर ताना बुनते है। नरायन = सभी नरों का आश्रय (नराणां समूहो नार: तस्य अयन नारायणं)। कठवत = काष्ठपात्र (प्र० अ०) ससार। माँडी = (प्र० अ०) पंचभूत। माँडि रहो = मण्डित करना, सुसज्जित करना। माँड़ी = (प्र० अ०) प्राणिमात्र। गोडा = पाया, कैंची की तरह बँधी हुई ताने के दोनो ओर की लकडियाँ, जो ताने को रोके रहती है। चाँद = (प्र० अ०) इड़ा। सुरुज = सूर्य (प्र० अ०) पिंगला। माँझ दीप = (प्र० अ०) सुषुम्ना। माँझा = एक प्रकार का ढाँचा जो गोड़ई के बीच रहता है और पाई को जमीन पर गिरने से रोकता है। त्रिभुवननाथ = (प्र० अ०) मन। मरोरिया = दो तागो को आपस मे जोड़ने की क्रिया, जिसमे गाँठ का प्रयोग नही होता, केवल दोनो सिरो को मिलाकर मरोड देते है। (प्र० अ०) नाम का योग। पाई = पतली छड़ियो का बेत का ढाँचा, जिस पर तागे के सूत को फैलाकर खूब माँजते है। वै = जुलाहो के करघे मे सूत का एक जाल। भरना = करघे की ढरकी। उबाना = कपड़ा बुनने मे राछ के बाहर जो सूत रह जाता है, तात्पर्य है अलग रहना। करिगह = करघा (फा०-कारगाह)

---

१. शुक०, वि०– कामा। २. वि०–तामँह। ३. वि०–के तन माडि रहा है। ४. शक०–सर्य। ५. शक०, वि०–कियो माँझा। ६. शक०–कै। ७. शक०–वा भरि। ८. शक०–ज्योति।

काम करने का स्थान (प्र० अ०) संसार। दिगमग=दिग् मंडल। वैठावन= लकडी का वह औजार जिससे बाना वैठाया जाता है।

संदर्भ—इस पद के प्रथम अंश मे सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन है और दूसरे अंश मे राम नाम की भक्ति द्वारा जीव के उद्धार का उपाय बताया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीवो! (जुलाहा) तुम उस हरिनाम का पट बीनो अर्थात् हरि-स्मरण करो जिसका ध्यान सुर, नर, मुनि सभी लोग करते है।

प्राणियो की रचना की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कबीर कहते है कि प्रभु ने शरीर रूपी वस्त्र का निर्माण करने के लिए साढे तीन हाथ का साधन अपनाया, चारो वेदो को चरखा बनाया और सभी नरो के आश्रय राम की सरकडी और खूँटी बनाई। इससे सभी भेद पूर्ण रूप से प्रकट हो गए अर्थात् विभिन्न जीव-जन्तुओ की सृष्टि हुई। उन्होने इस ससार को काष्ठपात्र बनाया, उसमे पच महाभूत (पृथ्वी, जल, पावक गगन, समीर) की माँडी सानी। उसी माँडी का कार्य रूप तन निर्मित हुआ है। ससार के प्राणी यह नही समझते कि यह शरीर पंचभूत का वना हुआ है और उसमे स्थित आत्मा भिन्न है।

अगली पक्तियो मे वह जीव के उद्धार का उपाय वताते हुए कहते है कि इडा (चाँद), पिंगला (सुरुज) का गोडा या पाया बनाया गया और उसके मध्य मे सुषुम्ना (दीप) का माँझा तैयार किया गया। मन (त्रिभुवन नाथ) उसी के भीतर अनाहत नाद या राम नाम का अभ्यास करने लगा और स्याम के नाम द्वारा जीवन के धागो को एकसूत्र मे बँट दिया। तागे का जाल वुनने के लिए (बै) सूत को भाँजकर (पाई) ढरकी को उससे भर दिया अर्थात् राम नाम का अभ्यास कर भीतर सुषुम्ना मे उदान वायु को भर दिया, जिससे कुण्डलिनी का जागरण हो सके। तागे के इस जाल के भरने से अर्थात् सुषुम्ना मे रामनाम के द्वारा उदान वायु के भरने से साधको मे जागरण हो जाता है। उससे कोई अलग नही रह जाता अर्थात् सभी साधको का उद्धार हो जाता है। यह सारा ससार ही वस्त्र वुनने का कारखाना है, सभी दिशाओं मे ताना तैयार होते है अर्थात् प्राणियो की सृष्टि होती है। प्रभु इस सृष्टि का निर्माण करते है और साधना द्वारा जीव ज्योति मे पुन समा जाता है।

टिप्पणी—बै बाँधन को रामा—

'बै' शब्द 'द्वै' का तद्भव भी है। 'राम' नाम मे दो अक्षर होते है—र, म। तात्पर्य यह है कि राम नाम के दो अक्षरो से जीव का उद्धार होता है।

अलंकार—(१) 'माँडी' शब्द मे यमक ।
(२) 'बै' शब्द मे श्लेष।
(३) पूरे पद मे रूपकातिशयोक्ति।

(१२८)

जौ जाचउँ तौ केवल रांम ।
आंन देव सौं नांहीं कांम ।। टेक ।।
जाकै सूरिज कोटि करहिं[1] परकास, कोटि महादेव गिरि[2] कविलास ।
दुरगा कोटि जाकै मरदनु करैं, ब्रह्मा कोटि वेद ऊचरैं ।
कोटि चन्द्रमां करहिं[3] चिराक, सुर तैंतीसउ जेवहिं[4] पाक ।
नवग्रह कोटि ठाढ़े दरवार, धरमराइ पौली प्रतिहार ।
पवन कोटि चउबारे फिरहिं, वासिग कोटि सेज विसतरहिं ।
समुद कोटि[5] जाके पनिहार[6], रोमावलि कोटि अठारह भार ।
कोटि कुवेर जाकै भरहि भंडार, कोटिक लखमी करैं सिंगार ।
कोटिक पाप पुन्नि ब्यौहरैं, इन्द्र कोटि जाकी सेवा करैं ।
वावन कोटि जाकै कुटवार, नगरी नगरी खिअत अपार[7] ।
लटछूटी खेलैं विकराल, अनंत कला नटवर गोपाल ।
कोटि जग्गि जाकै दरवार, गंध्रव कोटि करहि जैकार ।
विद्या कोटि सभै गुन कहैं, तऊ[8] पारब्रह्म का अंत न लहैं ।
असंखि कोटि जाकै जमावली, रावन सैनां जिहि तैं छली[9] ।
सहसवांह कै हरे परांन, जरजोधन का[10] मथिआ मांन ।
कंद्रप कोटि जाके लावन करै, घट घट भीतरि मनसा हरैं ।
कहै[11] कवीर सुनि सारंगपांनि, देहि अभै पदु मांगउ दांन ।।

शब्दार्थ—जाचउँ=याचना करूँ । आंन=अन्य । कविलास=कैलास । चिराक (फा०-चिराग) दीपक, प्रकाश । पाक=भोजन । पौली=प्रतोली, ड्योढी । प्रतिहार=द्वारपाल । चउवारे=खुला कमरा, बँगला । वासिग=वासुकि । विसतरहिं=विछाते हैं । रोमावलि=रोम पंक्ति । लखमी=लक्ष्मी । कुटवार=कोट्टपाल, कोतवाल । खिअत=क्षेत्रपाल, प्रसिद्ध ४९ भैरव जो पश्चिम के द्वारपाल माने जाते हैं । लटछूटी=वालों की लट विखेर कर । जग्गि=यज्ञ । जमावली=यमावली, यमपंक्ति । भार=वजन, वह वोझ जो वहँगी के दोनो ओर लादकर ले जाया जाता है । मनसा=इच्छा । जरजोधन=दुर्योधन । कंद्रप=कंदर्प, कामदेव । लावन=लावण्य, शृंगार ।

---

१. ना० प्र०-करैं । २. तिवारी-अरु । ३. ना० प्र०-गहै । ४. ना० प्र०-जीमैं । ५. ना० प्र०--कोटि समुद्र । ६. ना० प्र०-पणिहारा । ७. ना० प्र०-खेत्रपाल । ८. ना० प्र०-पारब्रह्म कौ पार न लहै । ९. ना० प्र०-जायँ चली । १०. ना० प्र०-घाल्यौ खै मान । ११. ना० प्र०-दास कवीर भजि सारंगपान ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में कबीर उस निर्गुण, निरंजन, अनंतशक्ति-सम्पन्न प्रभु की वंदना करते है, जिसकी सेवा और आराधना करोडो देव-देवी भी करते हैं।

व्याख्या—वह कहते है कि यदि मै याचना करता हूँ तो केवल राम से; अन्य देवो से मेरा कोई संबंध नही है। कबीर के राम ऐसे प्रभुतासम्पन्न है कि जिनके अधिकार मे करोडों सूर्य प्रकाश करते है, जिनके कैलास पर्वत पर करोडो महादेव है, जिनकी आज्ञा से करोड़ो दुर्गा दुष्टो का दमन करती है, करोडो ब्रह्मा वेद का उच्चारण करते है, करोडो चन्द्रमा प्रकाश करते है, तैतीसो करोड देवता जिनके यहाँ भोजन करते है, करोडों नवग्रह जिनके दरबार मे खडे रहते है, यमराज जिनकी डयोढी के द्वारपाल है, करोडो पवन जिनके बँगले मे हवा करते है, करोडो वासुकि जिनकी शय्या सजाते है, करोडो समुद्रदेव जिनके यहाँ पानी भरते है, सम्पूर्ण वनराजि ही जिनकी रोमावली है, करोडों कुबेर जिनका भाण्डार भरते रहते है, करोडो लक्ष्मी जिनका शृंगार करती रहती है, जिनके राज्य मे करोडो पाप-पुण्य का व्यवहार होता रहता है अर्थात् जिनके राज्य मे करोडो पापी और पुण्यात्मा लोग है, करोडो इन्द्र जिनकी सेवा करते रहते है, जिनके बावन करोड कोतवाल है, जिनके प्रत्येक नगर मे असंख्य भैरव क्षेत्रपाल का कार्य करते है, जिनके दरबार मे अनत नटवर गोपाल (कृष्ण) विकराल बाल बिखेरे हुए नृत्य करते रहते है, जिनके दरबार मे करोडों यज्ञ होते रहते है, करोडो गधर्व जिनका जयगान करते रहते है, विद्या की करोड़ो देवियाँ जिनका गुणगान करती रहती है, फिर भी परब्रह्म राम का पार नही पाती अर्थात् उनके गुणों का पूरा गान नही कर पाती, जिनके एक यमराज के द्वारा रावण की सेना छली गई अर्थात् नष्ट की गई, ऐसे असख्य करोड यमराजों की पँक्ति जिनकी सेवा मे प्रस्तुत रहती है, जिनकी आज्ञा से सहस्रबाहु का वध हुआ और दुर्योधन का मानमर्दन हुआ, करोडो कामदेव जिनका शृंगार प्रसाधन करते है और करोडों जीवो के अभिलाप को प्रेरित करते है। ऐसे शक्तिसम्पन्न राम से कबीर याचना करते है कि वह अभय (अद्वैत) पद प्रदान करे।

तुलनीय—गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'राम' के इसी स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित शब्दो मे किया है—

> रामु काम सत कोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरिमर्दन ॥
> सक्रकोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा ॥
>
> दो०—मरुत कोटि सत बिपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास।
> ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भव त्रास ॥ ९१ ॥ (क)

काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरन्त।
धूमकेतु सत कोटि सम, दुरावरष भगवन्त ॥ ९१ ॥ (ख)
—(मानस—उत्तरकाण्ड)

अलंकार—विद्या कोटि……न लहैं—सम्बंधातिशयोक्ति ।

राग—भैरव ।

(१२९)

जौ पै करता बरन विचारै ।
***तौ जनतैं तीनि डांडि किन सारै ॥ टेक ॥**
जे तूं बाभन बभनीं जाया, तौ आंन बाट होइ काहे न आया ।
जे तूं तुरुक तुरकिनी जाया, तौ भीतरि खतनां क्यूं न कराया ।
कहै कबीर मद्धिम नहि कोई, सो मद्धिम जा मुखि रांम न होई ॥

शब्दार्थ—करता=स्रष्टा । बरन=वर्ण, जाति । जनतैं=उत्पन्न करते ही । डांडि=दण्ड, चिह्न, तिलक । सारै=पूरा करता है, लगाता है । जाया=उत्पन्न किया । आंन=अन्य, भिन्न । बाट=मार्ग ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में कबीर ने बताया है कि जन्मना न कोई श्रेष्ठ है, न नीच । नीच वही है जो प्रभु का भक्त नही है ।

व्याख्या—वह कहते है कि यदि स्रष्टा के मन में वर्ण-व्यवस्था होती तो वह मानव को जन्म देते ही उसके मस्तक पर तीन चिह्नों का तिलक क्यो नही लगा देता ? अतः वर्ण-व्यवस्था नैसर्गिक नहीं है । वह मानव-कृत है । यदि ब्राह्मण जन्मना ही श्रेष्ठ है अर्थात् यदि निसर्गतः वह ब्राह्मणी से ही उत्पन्न है तो वह अन्य जातियो से भिन्न किसी विशिष्ट मार्ग से क्यों नहीं उत्पन्न हुआ ? यदि तुर्क तुर्किनी से जन्म लेने के कारण ही अपने को विशेष वर्ग का समझता है तो गर्भ मे ही उसका खतना क्यों न हो गया ? कबीर कहते है कि जन्म से कोई नीच नही है । वस्तुतः नीच वह है जो राम का भक्त नहीं है ।

राग—गौरी ।

(१३०)

जौ पै पिय के मनि नाहीं भाए ।
तौ का परोसनि कैं हुलराए ॥ टेक ॥

---

* इसके बाद ना० प्र० की प्रति में दो पंक्तियाँ और है—
उतपति व्यंद कहाँ थैं आया, जौ धरी अर लागी माया ।
नहीं को ऊँचा नहीं को नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा ॥

का चूरा पाइल झमकाए, कहा भयो बिछुवा ठमकाए।
का काजल सिंदूर[1] के दीयें, सोलह सिंगार[2] कहा भयो कीयें।
अंजन मंजन करै ठगौरी, का पचि मरै निगोड़ी बौरी।
जौ पै पतिव्रता ह्वै नारी, कैसे ही रहै सो पियहि पियारी।
तन मन जोवन[3] सौंपि सरीरा, ताहि सुहागिनि कहै कबीरा॥

शब्दार्थ—भाए = प्रिय लगना। हुलराए = प्रसन्न करना। चूरा = चूड़ी। पाइल = पायल। ठमकाए = बजाने से। झमकाए = चमकाने से। मंजन = मज्जन, स्नान। ठगौरी = मोहित करनेवाली क्रिया। पचि मरै = हैरान होना। निगोड़ी = अभागिन। बौरी = बावली, पगली। सुहागिनि = सौभाग्यवती।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे पतिव्रता नारी के प्रतीक द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के प्रेम का सकेत किया गया है।

सामान्य अर्थ—कबीर कहते है कि यदि कोई स्त्री अपने पति के लिए प्रिय नही है तो उसके लिए पड़ोसियो को प्रसन्न करने से क्या लाभ? कोई भी स्त्री केवल बाह्य शृगार से पति को प्रसन्न नही कर सकती। ऐसी स्त्री द्वारा चूड़ी और पायल चमकाने और बिछुवा बजाने मे क्या लाभ? उसके द्वारा काजल-सिंदूर लगाना तथा सोलह शृगार करना भी व्यर्थ है। उस अभागिन बावली का अंजन लगाना, मल-मलकर स्नान करना तथा उसकी मोहित करने वाली अन्य क्रियाएँ अपने को ही व्यर्थ मे हैरान करने वाली है। यदि नारी पतिव्रता है तो वह चाहे जैसे रहे, अपने पति को प्यारी होगी। कबीर कहते है कि सच्ची सौभाग्यवती स्त्री वही है, जो अपने तन, मन और यौवन को पति के लिए पूर्णतया समर्पित कर देती है।

प्रतीकात्मक अर्थ—यहाँ नारी जीवात्मा का प्रतीक है और पति परमात्मा का प्रतीक है। जिस प्रकार स्त्री केवल बाह्य शृगार से पति को प्रसन्न नही कर सकती। वह केवल आत्मसमर्पण द्वारा पातिव्रत्य से ही पति को रिझा सकती है, उसी प्रकार जीवात्मा नाना प्रकार के बाह्य आडम्बरो से परमात्मा को नही प्रसन्न कर सकता। प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण से ही उसे प्रसन्न कर सकता है।

टिप्पणी—सोलह शृंगार—उबटन लगाना, स्नान करना, वस्त्र धारण करना, बाल सवाँरना, अजन लगाना, सिंदूर भरना, महावर लगाना, भाल पर तिलक लगाना, ठोढी पर तिल बनाना, मेंहदी रचना, सुगंधित द्रव्यो का प्रयोग, आभूषण पहनना, पुष्पहार पहनना, पान खाना, होंठ रँगना, मिस्सी लगाना।

अलकार—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

---

१. ना० प्र०—स्यंदूर। २. ना० प्र०—स्यंगार। ३. ना० प्र०—जोवन।

(१३१)

जौ पै बीज रूप भगवांन[1] ।
तौ पंडित का कथसि[2] गियांन[3] ॥ टेक ॥
नहिं[4] तन नहिं मन नहिं हंकार, नहिं सत रज तम तीनि प्रकार ।
विख अंम्रित फर फरे अनेक[5], वेद[6] अरु बोध[7] कहैं तरु एक ।
कहैं कबीर इहै[8] मन मांनां, कोधौं[9] छूट कवन[10] अरुझाना ॥

शब्दार्थ—हंकार = अहंकार । बोध = ज्ञान । इहै = यह संसार । मनमांनां = मन की कल्पना । अरुझाना = बंधन । छूट = मुक्त ।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने सांख्य, योग आदि के दार्शनिकों का विरोध करते हुए यह बतलाया है कि जीवन का मूल कारण प्रकृति नही है, प्रभु है । वही प्रभु अन्तरात्मा के रूप मे प्रत्येक घट मे विद्यमान है । अतः बंधन-मोक्ष का प्रश्न व्यर्थ है ।

व्याख्या—वह कहते हैं कि वस्तुतः प्रभु ही संसार का बीज अर्थात् मूल कारण है । इसलिए दार्शनिक पंडित लोग व्यर्थ में जीवन के मूल के सम्बंध मे लम्बी-चौड़ी बाते करते है । सांख्यवादी यह मानते हैं कि शरीर, मन, अहंकार का मूल कारण सत्व, रजस् तमस् रूपी त्रिगुणात्मक प्रकृति है । किन्तु सच बात तो यह है कि शरीर, मन, अहंकार तथा त्रिगुणात्मक प्रकृति जीवन का मूल नही है । केवल प्रभु जीवन का मूल कारण है ।

ईश्वर जीवन का मूल कारण अवश्य है, किन्तु व्यक्ति के सुख-दु.ख का कारण नही है । सुख-दु ख कर्मानुसार होते हैं और कर्म का कारण व्यक्ति है, प्रभु नही । सत्-असत् कर्म रूपी वृक्ष से ही अमृत और विप रूपी मधुर या कटु फल प्राप्त होते है । इस विषय मे सभी वेद और दर्शन एकमत है । कबीर कहते हैं कि भगवान् अन्तरात्मा रूप मे घट में ही विद्यमान है । संसरण, बंधन और मुक्ति मन की कल्पना है । अन्तरात्मा की दृष्टि से न बंधन है, न मुक्ति । वास्तविक बंधन और मुक्ति जीव की है । अन्तरात्मा साक्षी मात्र है ।

टिप्पणी—इस पद में कबीर ने सांख्य मत का खंडन और वेदान्त मत का समर्थन किया है ।

---

१ ना० प्र०—भगवाना । २. वि०—पूछहु आन । ३. ना० प्र०-गियाना । ४. वि०—कँह मन कँह बुधि कँह हँकार सत रज तम गुन तीनि प्रकार । ५. वि०—अनेका । ६. वि०—बाँधा बेद । ७. ना० प्र०—बोधक है । ८. वि०—तैं मैं का ज्ञान । ९. ना० प्र०—कहि धूँ । १०. वि०—छूटल को ।

तुलनीय—

अपुनपौ आपुन ही विसर्‌यौ।
जैसे स्वान कांच मंदिर मैं भ्रमि भ्रमि भूकि पर्‌यो॥
ज्यों सौरभ मृग नाभि बसत है द्रुम तृन सूँघि फिर्‌यो।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ तसकर अरि पकर्‌यौ॥
ज्यौं केहरि प्रतिविंब देखिकै आपुन कूप पर्‌यौ।
जैसे गज लखि फटिकसिला मैं दसननि जाइ अर्‌यो॥
मर्कट मूँठि छाँडि नहि दीनी घर घर द्वार फिर्‌यो।
सूरदास नलिनी को सुवटा कहि कौनैं पकर्‌यौ॥

—सूरदास

अलंकार—(१) बिख अंम्रित......एक—रूपकातिशयोक्ति।
(२) कोधौं छूट......अरुझाना—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(१३२)

जौं पै रसनां रामुं न कहिबौ[1], तौ उपजत विनसत भरमत रहिबौ[2]।
कंधि[3] काल सुखि कोइ न सोवै, राजा रंकु दोऊ मिलि रोवैं।
जस देखिए[4] तरवर की छाया, प्रांन गए कहु काकी माया।
जीवत कछू न किया प्रवांनां, मुएं[5] मरम को काकर जांनां।
हंसा सरवर[6] कंवल सरीर, रांम रसांइन पिउ[7] रे कबीर॥

शब्दार्थ—रसना = जिह्वा। उपजत = जन्म। विनसत = मरण। भरमत = भटकते हुए। कधि = कधे पर। माया = धन-सम्पत्ति। प्रवानां = प्रमाण, दृढ धारणा।

सदर्भ—मानव जीवन की नश्वरता दर्शाते हुए कबीर उपदेश देते हैं कि राम नाम का सुमिरन करके जीवन को सफल बनाना चाहिए।

व्याख्या—कबीरदास उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे मानव! यदि तू अपनी जिह्वा से राम का सुमिरन नही करेगा तो जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहेगा और भिन्न-भिन्न योनियो मे भटकता फिरेगा। काल तेरे कधे पर है अर्थात् तेरे सिर पर मंडरा रहा है। इसलिए पूर्ण सुख से कोई जीवन यापन नही कर सकता। निद्रा मे भी मृत्यु का भय बना रहता है। राजा हो या रंक दोनों परेशानी की स्थिति मे रहते है। यह जीवन वृक्ष की छाया के समान अस्थिर है। जिस धन-सम्पत्ति पर तू गर्व

१. ना० प्र०—कहियौं। २. ना० प्र०—रहियौ, ३. ना० प्र०—संधि। ४. ना० प्र०—जैसी देखि। ५. ना० प्र०— मूवा। ६. ना० प्र०—हंस सरोवर। ७. ना० प्र०—पीवै।

करता है, प्राण निकल जाने पर वह किसकी है ? तूने जीवन में किसी दृढ़ आदर्श को लेकर सुकृत या पुण्य कर्म नही किया। मरने पर किसी की क्या गति होती है ? इस रहस्य को कौन जानता हैं ? अतः मरने पर तेरी क्या गति होगी ? इसे कौन जानता है ? शरीर रूपी सरोवर में जीवात्मा रूपी हंस विद्यमान है। सहस्रार कमल से जो रस झरता रहता है, वह राम-रसायन है। हे जीव ! तुम उसको पीकर पुष्ट हो। विषय-वासना, धन-सम्पत्ति के चक्कर में मत पडो।

अलंकार—(१) जस देखिए तरवर की छाया—उपमा
(२) कहु काकी माया—वक्रोक्ति।
(३) हंसा सरवर कंवल सरीर—रूपक

राग—गौरी।

(१३३)

झगरा एक निबेरहु[1] राम।
जे[2] तुम्ह अपनैं जन सौं[3] कांम॥ टेक॥
ब्रह्मा बड़ा कि जिन[3] रे उपाया, वेद बड़ा कि जहाँ[4] तैं[5] आया।
यहु[6] मन बड़ा कि जेहि[7] मन मांनै[8], रांम बड़ा[9] कि रांमहि जांनैं।
कहै[10] कबीर हौं भया[11] उदास, तीरथ बड़ा कि हरि[12] का दास॥

शब्दार्थ—झगरा = समस्या, संशय। निबेरहु = निपटारा कीजिए, सुलझाइए। काम = प्रेम। उपाया = उत्पन्न किया। मांनै = आदर करना, स्वीकार करना, श्रद्धा करना। उदास = चिंतित।

व्याख्या—कबीरदास बाह्याचार की अपेक्षा आन्तरिक साधना या अनुभूति को अधिक महत्व देते थे। इसी तथ्य को वह प्रस्तुत पद मे बड़े कौशल से व्यक्त कर रहे हैं।

वह कहते है कि हे प्रभु ! यदि आपका भक्त आपको प्रिय है तो उसके सामने उपस्थित एक समस्या का समाधान कीजिए। वह संशय यह है कि जगत् का स्रष्टा

---

१. ना० प्र०—नबेरो, शु० वि०—बड़ो राजा राम। २. वि०—जे निरुवारे सो निरवान, शु० जो निरुवारे सो निर्वान। ३. ना० प्र०—सूं ३. शु० वि०—जँह से आया, ना० प्र०—जिनि रु उपाया। ४. शु० वि०—जिन उपजाया। ५ ना० प्र०—थैं। ६. शु० वि०—ई मन बड़ो। ७. ना० प्र०—जहाँ। ८. शु० वि०—माना। ९. शु०—बड़ो। १०. शु० वि०—भ्रमि भ्रमि कबिरा फिरत उदास ११. ना० प्र०, गुप्त—हूँ रहा। १२. शु०—तीर्थ का दास, वि०—तीरथद स, ना० प्र०—हरि के दास।

ब्रह्मा बडा है या वह परमतत्व जिसने ब्रह्मा को भी उत्पन्न किया है, वह बडा है ? वेद बडा है अथवा जिसके द्वारा वेद प्रकट हुआ ? यह मन बडा है अथवा वह तत्व बडा है जिसकी महत्ता स्वीकार करके मन श्रद्धा करता है ? राम बडा है या राम-तत्व को जाननेवाला ? तीर्थ बडा है या प्रभु का भक्त, जो किसी भी स्थान को तीर्थ बना देता है ? कबीर कहते है कि मैं इन समस्याओ से चिंतित हूँ।

टिप्पणी—(१) यहु मन बडा..........

केनोपनिषद् मे भी कहा गया है कि वह तत्व मन के द्वारा नही जाना जाता। मन स्वयं उसी तत्व के द्वारा जाना जाता है। उसी को ब्रह्म जान। जिस देश-कालावच्छिन्न वस्तु की लोग उपासना करते है, वह ब्रह्म नही है—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥ (केन० १/५)

(२) राम बडा कि रामहि.........

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम ते अधिक राम कर दासा ॥ —तुलसी

(३) पूरे पद का सार यह है कि परमतत्व राम ही सबका मूलभूत स्रोत है। उसकी उपासना करने वाला सत ही चैतन्य को जानता है और उसी के सत्सग से लाभ हो सकता है।

अलंकार—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(१३४)

झूठा लोग कहैं घर मेरा।
जा घर मांही[1] भूला डोलै, सो[2] घर नाहीं तेरा ॥ टेक ॥
हाथी घोड़ा बैल वाहनो[3], संग्रह किया घनेरा।
बस्ती मांहि[4] तै दियौ खदेरा, जंगल किएहु बसेरा ॥
घर कौं खरच खबर नहि पठयौ, बहुरि न कीन्हौं फेरा।
बीबी[6] बाहर हरम महल मै, बीच मियां का डेरा ॥
नौ मन सूत अरुझि नहि सुरझै, जनमि जनमि उरझेरा।
कहै कबीर एक रांम भजहु, ज्यौं[8] सहज होइ सुरझेरा ॥

---

१. ना० प्र०—माहै बोलै डोलै। २. ना० प्र०—सोई नहीं तन तेरा। ३. ना० प्र०—बाँहणी। ४. ना० प्र०—मैं पै मारि चलाया। ५. ना० प्र०—भेजी, आप न कीया फेरा। ६. ना० प्र०—भीतरि बीवी। ७ ना० प्र०—साल। ८. ना० प्र०—बहुरि न हूँगा फेरा।

शब्दार्थ—वाहनौं = सवारी। घनेरा = बहुत। खदेरा = भगा देना। फेरा = वापस आना, लौटना। हरम (अ०) = अन्तःपुर, जनाना, रखैल (प्र० अ०) कुमति। बीबी = (प्र० अ०) सुमति। मियाँ = (प्र० अ०) जीव। महल = (प्र० अ०) हृदय। नौ मन सूत = तागा, बंधन (पंच विषय—शब्द, स्पर्श रूप, रस, गंध + तीन गुण—सत्व, रजस्, तमस् + मन)।

व्याख्या—कबीर कहते है कि घर के प्रति ममत्व का भाव व्यर्थ है। तुम जिस घर को भ्रमवश अपना समझकर निवास करते हो, वह तुम्हारा नही है। उसके प्रति ममत्व का भाव मिथ्या है। तुम्हारे पूर्व वह किसी और का था और तुम्हारे बाद भी किसी और का हो जाएगा। तुमने जीवन भर हाथी, घोड़ा, बैल आदि वाहनों का संग्रह किया। यह संग्रह का कार्य भी व्यर्थ है। तुम सांसारिक अर्थ के संग्रह मे लगे रहे। जो तुम्हारी वास्तविक बस्ती अथवा निवासस्थान (अर्थात् प्रभु) है, उससे तुम दूर हो गए हो और संसार रूपी जंगल मे बस गए हो। सांसारिक माया, मोह मे फँस गए हो। तुमने अपने वास्तविक निवासस्थान अर्थात् प्रभु से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है—वहाँ न खर्च भेजते हो, न खबर अर्थात् न तो पुण्यकर्म करते हो और न उसका स्मरण करते हो। वहाँ लौटकर पुनः जाने का प्रयत्न भी नही करते हो। तुमने सुमति रूपी परिणीता पत्नी को बाहर निकाल दिया है और कुमति रूपी रक्षिता को हृदय रूपी महल मे स्थान दे रखा है। जीव रूपी मियाँ (पति) कुमति के प्रभाव मे आ गया है। फलस्वरूप वह नौ मन सूत अर्थात् पंच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) तीन गुण (सत्व, रजस्, तमस्) और मन के बंधन मे फँस गया है। वह उनसे पृथक् नही हो पाता अपितु उल्टे जन्म-जन्मातर के चक्कर मे और उलझता जाता है। कबीर कहते है कि केवल राम की भक्ति से ही इस बंधन से मुक्ति मिलेगी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—आसावरी।

(१३५)

झूठे जनि पतियाहु हो, सुनु संत सुजाना।
तेरे घट में ही ठग पूर[1] है, मति खोवहु अपाना[2]॥
झूठहि की मंडान है, धरती असमाना।
दसहूँ दिसा वाके फंद हैं, जिव[3] घेरिन आना॥
जोग जप तप संजमा, तीरथ व्रत दाना।
नौधा वेद किंतेब[4] है, झूठे का बाना॥

---

१. शुक०—पूर। २. वि०—अपना। ३. शुक०—जीव। ४. शुक०—किताब।

काहू के बचनहि फुरे, काहू के करामाती।
मान बड़ाई ले रहे, हिन्दू तुरुक दोऊ जाती॥
बात ब्यौंतै[1] असमान की, मुद्दति नियरानी।
बहुत खुदी दिल राखते, बूड़े बिनु पानी॥
कहै कबीर कासों कहौं, सकलो जग अंधा।
साँचा सों भागा फिरै, झूठे का बंदा[2]॥

शब्दार्थ—पतियाहु = विश्वास करना। सुजाना = समझदार। मडान = विस्तार, घेरा। नौधा = नवधा भक्ति। बाना = वेश। फुरे = सत्य। करामाती = आश्चर्यजनक क्रियाएँ दिखानेवाला। ब्यौंतै = कहते है। मुद्दति (अ०) = अवधि, आयु। खुदी = स्वार्थ। बंदा (फा०) = दास।

सदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि मन और माया बडे ठग है। बड़े-बड़े योगी और तपस्वी भी उनके वश मे रहते है और अपनी करामात द्वारा समाज मे धाक जमाए रहते है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे समझदार सतो! सुनो। इस झूठे मन का विश्वास न करो। तुम्हारे भीतर ही मन रूपी ठग का सम्यक् निवास है। आत्मस्वरूप को न भूलो। चारो ओर धरती और आकाश मे असत्य रूप माया का विस्तार है। उसका फंदा दशो दिशाओ मे फैला हुआ है। वह आकर जीव को घेर लेती हैं। योग, जप, तप, सयम, तीर्थ, व्रत, दान, नवधा भक्ति, वेद और कुरान आदि सभी निरर्थक हैं, झूठे है। ससार मे बहुत से पाखडी है। उनमे से कुछ आशीर्वाद या शाप को सत्य सिद्ध करने का दावा करते है। कुछ लोग आश्चर्यजनक क्रियाएँ दिखाते है। हिन्दू और मुसलमान दोनो जातियो मे ऐसे लोग है, जो शब्दजाल अथवा करामात के द्वारा समाज मे प्रतिष्ठा प्राप्त करते है। वे स्वर्ग की बाते करते हुए भी काल से अपने को बचा नही पाते। नियत समय पर वे भी काल के शिकार हो जाते हैं। ऐसे लोग बहुत स्वार्थी होते है और स्वत नष्ट हो जाते है। कबीर कहते है कि मैं किसे समझाऊँ? ससार के सभ लोग अन्धे है। ने सत्य से भागते हैं और असत्य के दास बने रहते है।

अलंकार—बूडे विनु पानी—विभावना।

(१२६)

झूठे तन कौं क्या गरबावै[3]।
मरै तौ पल भरि रहन न पावै[4]॥ टेक॥

---

१. शुक०—बोवत। २. शुक०—बंधा। ३. ना० प्र०—कहा रखइये। ४. ना० प्र०—रहण न पाइए।

खीर खांड घृत पिंड[1] संवारा, प्रांन गए लै बाहरि जारा।
जिहि[2] सिरि रचि रचि बांधत पागा, सो सिर चंचु संवारहि कागा।
हाड़ जरै जैसे लकड़ी झूरी, केस जरै जैसे त्रिन कै कूरी।
कहै कबीर नर अजहुं न जागै, जम का डंड मूंड महि लागै॥

शब्दार्थ—गरवावै=गर्व करना। खीर=क्षीर, दूध। खांड=मीठा। पिंड=शरीर। जारा=जलाया। झूरी=सूखी। कूरी=ढेर।

संदर्भ—इस पद में देहाभिमान की निस्सारता का वर्णन करते हुए उससे मुक्त रहने की चेतावनी दी गई है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे मानव! तू इस क्षणभंगुर और अस्थायी शरीर पर क्यों अभिमान करता है? लोग मरणोपरान्त इस शरीर को क्षण भर भी रहने नही देते। जिस शरीर का दूध, शक्कर, घी आदि से पोषण करके सँवारा जाता है, प्राण निकल जाने पर वही शरीर इतना निकृष्ट समझा जाता है कि लोग उसे तत्काल घर से बाहर ले जाकर जला देते है। जिस सिर पर सुरुचिपूर्ण ढंग से पगड़ी बाँधी जाती थी, उसी को अब कौए अपने चंचु से खोद-खोदकर खाते है। हड्डियाँ सूखी लकड़ी के समान जलती है और केश तृण के ढेर के समान जल जाते है। कबीर कहते है कि शरीर की नश्वरता को जानते हुए और यह समझते हुए भी कि यम का डंडा सिर पर अवश्य लगेगा, प्राणी उससे मोह नही छोडते। वास्तविक स्थिति मे उनका जागरण नहीं होता।

कबीर की साखियों मे 'चितावणी को अग' मे इसी प्रकार की चेतावनी अनेक दृष्टातो द्वारा दी गई है जैसे :—

हाड़ जरै ज्यों लाकडी, केस जरै ज्यों घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास॥ १६॥

अलंकार—(१) सँवारे, सँवारहि—यमक।
(२) हाड़ जरै जस लाकडी—उपमा।
'सँव.रहि' में विपरीत लक्षणा।

राग—गौरी।

---

१ ना०प्र०-प्यंड। २ ना०प्र० की प्रति में इनके स्थान पर निम्नलिखित दो पंक्तियाँ है—

चोवा चंदन चरचत अंगा, सो तन जरै काठ के संगा।
दास कबीर यह कीन्ह विचारा, इकदिन ह्वै है हाल हमारा॥

(१३७)

डगमग छांडि दे मन बौरा ।
अब तौ जरें मरें[1] बनि आवै, लीन्हौं हाथि सिंधौरा ॥ टेक ॥
होइ निसंक मगन होइ नाचै[2], लोभ मोह भ्रम छांड़ै[3] ।
सूरा[4] कहा मरन तैं[5] डरपै, सती न सचै भांड़ै[6] ॥
लोक बेद कुल की मरजादा, इहै गले मैं फांसी[7] ।
आधा चलि करि पाछैं फिरिहौ, होइ जगत[8] मै हांसी ॥
यहु संसार सकल है मैला, रांम कहै ते सूचा ।
कहै कबीर नांउं नहिं छाड़ौ, गिरत परत चढ़ि ऊंचा ॥

शब्दार्थ—डगमग=अस्थिरता । वौरा=पागल, बावला । सिंधौरा=सिंदूर-पात्र । सूरा=शूरवीर । सचै=सचित करना । भाडै=बर्तन । सूचा=शुचि, पवित्र ।

सदर्भ—कबीर साधक को चेतावनी देते हुए कहते हैं कि प्रभु-प्रेम के पथ पर आगे बढते ही जाना चाहिए, पीछे नही हटना चाहिए ।

व्याख्या—वह कहते है कि हे बावले मन ! तू प्रभु की साधना मे संशय-विकल्प को छोडकर आगे वढता चल । जिन प्रकार मृत पति की चिता के साथ जलने के लिए कृत-सकल्प सती स्त्री हाथ मे सिंदूर-पात्र लेकर मरने के लिए तैयार हो जाती है, उस समय वह आगा-पीछा नही सोचती, केवल जलकर मर जाना ही उसका ध्येय रहता है, उसी प्रकार साधक जब प्रेम-पथ का पथिक बनता है तो उसे आपा समाप्त कर देना पड़ता है, मोह का बधन छिन्न-भिन्न करना पड़ता है ।

हे मन ! अब तू सारी शकाओ को त्याग दे, प्रभु के प्रेम मे मग्न होकर आनद का अनुभव कर और लोभ, मोह भ्रम आदि को निरस्त कर दे । प्रभु-भक्त मे शूर और सती दोनो के गुण होते है । शूर को मृत्यु का भय नही होता । ठीक इसी प्रकार साधक के चाहे प्राण चले जायँ, किन्तु वह अपने पथ से विचलित नही होता । सती भाँडा-बर्तन अर्थात् सासारिक वैभव का संचय नही करती । उसे तो प्रेम की चिता मे अपने को भस्म करना है । ठीक इसी प्रकार साधक भी सम्पत्ति, मान, वैभव आदि के संचय का विचार छोड देता है और अपने प्रिय के मिलन के लिए अग्रसर रहता है ।

प्राय साधना मे लौकिक, वैदिक और कुल सम्बंधी मर्यादाएँ व्यवधान बन जाती है । इन अवरोधो के कारण यदि साधक बीच मे ही अपना पथ छोड देता है तो वह हँसी का पात्र बनता है । यह संसार अपवित्र है, केवल राम का भक्त पवित्र है ।

---

१. ना० प्र०–बरे । २. ना० प्र०–नाचौ । ३. ना० प्र०–छाडौ । ४. ना० प्र०–सुरौ । ५. ना० प्र०–थें । ६. ना० प्र०–भाडौ । ७. ना० प्र०–पासो । ८. ना० प्र०–है है जग ।

कबीर कहते हैं कि मैं एक बार निश्चय कर लेने पर किसी प्रकार राम-नाम का त्याग नही करूँगा और गिरते-पड़ते अर्थात् सभी प्रकार की बाधाओं का सामना करते हुए अपने गन्तव्य स्थान को अवश्य पहुँचूंगा।

तुलनीय—मैं अपने सैंया संग साँची।

अब काहे की लाज सजनी, परगट ह्वै नाची।
दिवस भूख न चैन कबही, न नींद निसु जागी।
वेध वार को पार ह्वैगो, ज्ञान गुंहगासी।
कुल कुटुम्ब सब आनि बैठे, जैसे मधुमासी।
दास मीरां लाल गिरधर, मिटी सब जग हाँसी।
(मीरा : व्यक्तित्व और कृतित्व—पृ० २४२)

अलंकार—सूरा कहा मरन तैं डरपैं—दृष्टान्त।

राग—गौरी।

(१३८)

तन धरि सुखिया कोइ[1] न देखा जो देखा सो दुखिया हो।
उदै अस्त की बात कहतु हौं, सबका[2] किया विवेका हो॥ टेक॥
घाटे[3] वाटै सब जग दुखिया, क्या गिरही वैरागी हो।
सुकदेव[4] अचारज दुःख कै कारनि, गरभ[5] सौं माया त्यागी हो॥
जोगी[6] दुखिया जंगम दुखिया, तपसी को दुःख दूनां हो।
आसा त्रिसनां सब कौं[7] ब्यापै, कोई महल न सूनां हो॥
सांच कहौं तौ कोई न मांनै[8], झूठ कहा नहि जाई हो।
ब्रह्मां बिस्नु महेसुर दुखिया, जिन यहु राह चलाई हो॥
अवधू दुखिया भूपति दुखिया, रंक दुखी बिपरीती हो।
कहै[10] कबीर सकल जग दुखिया, संत सुखी मन जीती हो॥

शब्दार्थ—उदै अस्त=आदि-अंत। विवेका=विचार। घाटै वाटै=स्थित तथा गतिशील। गिरही=गृहस्थ। जंगम=दाक्षिणात्य लिंगायत शैव संप्रदाय।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में यह उपदेश दिया गया है कि केवल मन पर विजय प्राप्त करने से सुख प्राप्त हो सकता है, अन्यथा संसार में सब दुःख ही दुःख है।

---

१. वि०—काहुँ। २. वि०—त कर कन्हु। ३. वि०—दाटे वाटे। ४. वि०—सुखाचार्ज। ५. वि०—गरभहि। ६. वि०—जोगी जंगम ते अति दुखिया। ७. वि०—घट। ८. वि०—सभ जग खीझै। ९. वि० में आठवीं-नवीं पंक्तियाँ नहीं हैं। १. वि०—कहँहि कबीर तेई भी दुखिया, जिन्हि यह राह चलाई।

व्याख्या—कबीर कहते है कि शरीरधारी कोई भी जीव कभी पूर्ण सुखी नही हो सकता। सभी दु खो दिखलाई देते है। हमने सबका आदि और अत विचार लिया है, कही भी सुख नही है। जन्म से मरण तक दु ख है। दु ख हो संसार के सभी लोग चाहे वे एक जगह स्थित हो, चाहे भ्रमण करते हो, गृहस्थ हो या वैरागी, सभी दुःख से आक्रान्त है। वेदव्यास के पुत्र शुकदेव जी ने संसार को दुःखमय समझते हुए, बाल्य-काल से ही मोह त्यागकर वैराग्य धारण कर लिया था। जोगी दुःखी रहता है, शैव मतावलम्बी बडे-बडे ध्यानी और सयमी दु खी रहते है और तपस्वी तो शरीर और मन दोनो से दु खी हो जाते है। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नही है जो वासना और तृष्णा से मुक्त हो। मुझसे झूठ कहते नही बनता और सत्य की किसी को प्रतीति नही होती। ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी, जिन्होने ससार का क्रम चलाया है, दु ख से छुटकारा नही पाते। चाहे त्यागी अवधूत हो या संग्रही सम्राट् हो अथवा उनके विप-रीत कोई रक हो, सबको दुःख भोगना पडता है। कबीर कहते है कि संसार के सभी लोग दु खी है, केवल वे सत सुखी रहते है, जिन्होने मन पर विजय प्राप्त कर लिया है।

अलंकार—सुकदेव अचारज—दृष्टान्त।

राग—गौरी।

(१३९)

तननां बुननां तज्यौ[1] कबीर।
रांम नांम लिखि लियौ[2] सरीर॥ टेक॥
मुसि[3] मुसि रोवै कबीर की माई, ए बारिक[4] कैसे जीवहि खुदाई।
जब लगि तागा[5] बाहौं बेही, तब लगि बिसरै[6] रांम सनेही।
कहत[7] कबीर सुनहु मेरी[8] माई, पूरनहारा[9] त्रिभुवनराई॥

शब्दार्थ—मुसि मुसि = (सं० मुषित) ठगी-सी। ए = यह। बारिक = बालक, लडका। बाही = भरूँ। बेही = बेध, छिद्र। पूरनहारा = आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाला।

व्याख्या—कबीर ने वस्त्र बुनने का कार्य छोड दिया। उनके रोम-रोम मे राम नाम भर गया। इस कारण कबीर की माँ ठगी-सी रोती है और कहती है कि हे प्रभु! यह बालक कैसे जीवन निर्वाह करेगा? कबीर माँ को समझाते हुए कहते

१. ना० प्र०—तज्या। २. ना० प्र०—लिया। ३. ना० प्र०—की प्रति में तीसरी-चौथी पंक्ति का क्रम उल्टा है। ३. ठाढी रोवै। ४. ना० प्र०—ए लरिका क्यूँ जीवै। ५. ना० प्र०—भरौ नली का वेह। ६. ना० प्र०—टूटै राँम सनेह। ७. ना० प्र० कहै। ८. ना० प्र०—री। ९. ना० प्र०—पूरणहारा।

है कि मैं एक क्षण भी प्रिय राम को नहीं भुला सकता। मैं जब तक नली के छेद मे तागा भरता रहूँगा, तब तक राम नाम विसरा रहेगा। ऐ माँ! तू मेरे लिए चिंता मत कर। प्रभु सब की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला है।

टिप्पणी—यह पद कबीर के जीवन पर प्रकाश डालता है। कपड़ा बुनना उनका व्यवसाय था। किन्तु उनके ऊपर राम नाम की ऐसी धुन सवार थी कि वह एक क्षण भी उस नाम को विसार कर कपड़ा बुनने में नहीं लगाना चाहते थे। उन्होंने अपनी माता को आश्वासन भी दिलाया था कि वह उनके लिए चिन्ता न करे। प्रभु उनके योग-क्षेम का ध्यान रखेगा।

राग—गौरी।

(१४०)

तहाँ जौ रांम नांम लौ लागै।
तौ जरा मरण छूटै भ्रम भागै ॥ टेक।
अगम निगम गढ़ रचि ले अवास, तहवाँ जोति करै परकास।
चमकै बिजुरी तार अनंत, तहाँ प्रभू बैठे कवलाकंत।
अखंड मंडल[1] मंडित मंड, त्रि स्नान करै त्रीखण्ड।
अगम अगोचर अभिअंतरा, ताकौ पार न पावै धरनीधरा।
अरध उरध बिचि छाइ ले अकास, तहँवा जोति करै परकास।
टार्‌यौ टरै न आवै जाइ, सहज सुंनि मैं रह्यौ समाइ।
अबरन बरन स्यांम नहि पति, हा[2] हू जाइ न गावै गीत।
अनहद सबद उठै झनकार, तहाँ प्रभू बैठे समरथ सार।
कदली पुहुप दीप परकास, रिदा पंकज मैं लिया निवास।
द्वादस दल अभिअंतरि स्यंत, तहाँ प्रभू पाइसि करिलै च्यंत।
अमलिन मलिन घाम नहि छाँहाँ, दिवस न राति नहीं हैं ताहाँ।
तहाँ न ऊगै सूर न चंद, आदि निरंजन करै अनंद।
ब्रह्मंडे से पिंडे[3] जाँन, माँनसरोवर करि असनाँन।
सोहं हंसा ताकौ जाप, ताहि न लिपै पुन्य न पाप।
काया माँहै जाँनै सोई, जो बोलै सो आपै होई।
जोति माँहि जे मन थिर करै, कहै कबीर सो प्राँणी तिरै ॥

शब्दार्थ—तहाँ = सहस्रार। लौ = ध्यान। जरा = वृद्धावस्था। अवास = आवास। तार = तारा, नक्षत्र। अगम = दुर्गम। निगम = पथ। कवलाकंत = लक्ष्मी

---

१. ना० प्र०–मंडिल। २. ना० प्र०–हाहू। ३. ना०प्र०–प्यंडे।

के पति, विष्णु। मडलमडित=मंडलो से सजे हुए। मड=मडप। त्रि स्नान=तीन समय का स्नान। त्रीखण्ड = त्रिभुवन, तीन लोक। अरघ उरध=अधर-ऊर्ध, ऊपर-नीचे। लाइ ले = लगा ले। अकाश=शून्य। हा हू = कोलालह। कदली = (प्र० अ०) सुषुम्ना। रिदा = हृदय। द्वादस दल = अनाहत चक्र (इसमें १२ दल होते है) म्यंत = बीच मे। पाइसि = प्राप्ति हो जाएगी। च्यंत = ध्यान। अमलिन = स्वच्छ। घाम = धूप। लिपै = व्याप्त होना। थिर = स्थिर।

संदर्भ—इस पद मे कबीर शरीर के भीतर विद्यमान दिव्य तत्व की अनुभूति का वर्णन करते है।

व्याख्या—वह कहते है कि यदि सहस्रार मे राम नाम मे ध्यान लग जाय तो मनुष्य जरा-मरण से मुक्त हो जाय और उसका सब भ्रम दूर हो जाय। सहस्रार रूपी गढ तक पहुँचने का मार्ग दुर्गम है। वहाँ पर स्थित हो जाओ। वहाँ दिव्य ज्योति प्रकाशित है। वहाँ पर विद्युत और अनंत नक्षत्रो का प्रकाश विद्यमान है। वहाँ परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। वह एक ऐसा मडप है जो असंख्य नक्षत्रो से सजाया हुआ है। उस ज्योति में तीन लोक सदैव विद्यमान रहते है। वह आभ्यतर तत्व बुद्धि, वाणी और इन्द्रियो से परे है। शेष भी उसको नही समझ पाते। इडा-पिगला (अरध-उरध) के बीच मे अर्थात् सुषुम्ना मे जो शून्य (आकाश) है, वहाँ पर ध्यान लगाओ। वही पर दिव्य ज्योति प्रकाशित है। वह ज्योति वहाँ सदैव विद्यमान है। वह न आती है न जाती है, न किसी के हटाने से हट सकती है। ऐसे नैसर्गिक शून्य मे चैतन्य तत्व समाया रहता है। वह तत्व सभी वर्णो से परे है—वह न श्याम है, न पीत। वहाँ बाहरी कोलाहल भी नही है और न वहाँ कोई लौकिक शब्द है। वहाँ निरन्तर अनाहत ध्वनि होती रहती है। वहाँ समर्थ सारभूत तत्व प्रभु विद्यमान है। उस आत्म-तत्व का निवास हृदय-कमल में है। वह हृदय-कमल कदली-पुष्प(के समान है, जिसमें ज्योति प्रकाशित रहती है। वहाँ पर स्थित द्वादश कमल दल के आकार वाले अनाहत चक्र के बीच मे ध्यान करने पर प्रभु की प्राप्ति हो जाएगी। उस तत्व को न हम स्वच्छ कह सकते है, न मलिन। वहाँ न धूप है, न छाया, न दिन है, न रात अर्थात् वहाँ न सूर्यादय होता है, न चन्द्रोदय। वह मायातीत तत्व आनंदस्वरूप है और वहाँ सदा विद्यमान है। जो सत्य ब्रह्माण्ड मे है, वही पिण्ड मे है। आत्मस्वरूप रूपी मानसरोवर मे स्नान कर लो। उस तत्व का जाप 'सोऽहं' अथवा 'अहं स' के द्वारा करना चाहिए। ऐसा जप करने वाला साधक पाप-पुण्य से परे हो जाता है। उस तत्व को इसी शरीर के भीतर समझो। इस शरीर मे जो शक्ति बोल रही है, वह आत्मा ही है। कबीर कहते है कि जो प्राणी उस ज्योति मे मन को स्थिर करता है, वह भवसागर से पार हो जाता है।

तुलनीय—तहाँ न ऊगे सूर..........

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावक ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम ॥
(श्रीमद्भगवद् गीता–१५/१६)

अलंकार—(१) ताको पार न पावै धरनीधरा—सम्बंधातिशयोक्ति ।
(२) टारयो टरै न—विशेपोक्ति ।
(३) रिदा पकज—रूपक ।

राग—भैरव ।

(१४१)

तहाँ मो[1] गरीब की को गुदरावै ।
मजलिसि दूरि महल को पावै ।। टेक ॥
सत्तरि सहस सलार हैं जाके, सवा[2] लाख पैगंवर ताकै ।
सेख जु कहिं अहिं[3] कोटि अठासी, छप्पन कोटि जाकै खेलखासी[4] ।
कोटि[5] तेतीसूँ अरु खिलखाँनाँ, चौरासी लख फिरैं दिवानां ।
बाबा आदम पै नजरि दिलाई, उन[6] भी भिस्ति घनेरी पाई ।
तुम[7] दाते हंम सदा[8] भिखारी, देउँ[9] जवाव होइ बजगारी ।
दासु[11] कबीर तेरी पनह समांनां, भिस्ति नजीकि[12] राखि रहिमांनां ॥

शब्दार्थ—गुदरावै (फा० गुज़रान)=पेश करना, प्रस्तुत करना, सामने रखना । मजलिसि (अ० मज्लिस)=सभा । सलार (फा० सालार)=सिपहसालार, सरदार । पैगम्बर (फा०)=ईश्वर के दूत । सेख (अ० शैख)=प्रतिष्ठित नायक । खेलखासी=खेल (विनोद)+खासी (अ०—खवास, खास का बहुवचन)=वे विशेष विश्वसनीय अन्तरंग महल मे कार्य करने वाले सेवक जिन्हे राजाओं के मनोविनोद के समय उपस्थित रहकर कार्य करने का अधिकार रहता है । खिलखाना (अ०)=खिल (मित्र)+खाना (घर), मित्रों के घर (ला० अ०) मित्र । दिवानां (फा० दीवान)=मंत्री । आदम (अ०)=सृष्टि का प्रथम पुरुष । नजरि (अ०)=दृष्टि । भिस्ति (फा० बिहिश्त)=स्वर्ग । दाते=दानी । बजगारी (फा० बहकारी)=अशिष्टता, बुरा काम । पनह (फा० पनाह)=शरण । नजीकि (फा० नजदीक)=निकट, पास । रहिमाना (अ० रहमान)=रहम करने वाला, दयालु ।

---

१. ना० प्र०, गुप्त-मुझ । २. ना०प्र०, गुप्त-अर्सा । ३. ना० प्र०, गुप्त कहिय सहस अठ्यासी । ४ ना०प्र०, गुप्त-खेलिवे ग्वासी । ५ तिवारी-तेतीस करोडी है खेलखाना । ६ ना०प्र०, गुप्त-नवी ७ ना० प्र०, गुप्त-तुम्ह साहिब । ८. ना० प्र०, गुप्त-कहा । ९. ना० प्र०, गुप्त-देत १०. ना०प्र०, गुप्त-होत । ११. ना० प्र०; गुप्त–जन १२. ना० प्र०, गुप्त–नजीक ।

संदर्भ— इस पद में कबीर प्रभु की महत्ता और अपनी लघुता का प्रदर्शन करते हुए शरणागति की कामना करते हैं।

व्याख्या—वह कहते हैं कि वहाँ अर्थात् भगवान् के दरबार में मेरे जैसे दीन, असहाय व्यक्ति की प्रार्थना कौन पहुँचायेगा ? प्रभु की सभा अत्यन्त दूर है, उसके महल तक कौन पहुँच सकता है ? उस प्रभु के सत्तर हजार सरदार हैं, सवा लाख पैगम्बर हैं, अट्ठासी करोड़ प्रतिष्ठित नायक हैं, मनोरंजन के समय अन्तरंग महल में उपस्थित रहने वाले छप्पन करोड़ विश्वसनीय सेवक हैं, तैंतीस करोड़ विशिष्ट मित्र हैं और चौरासी लाख मन्त्री घूमते रहते हैं। बाबा आदम पर उस प्रभु की कृपादृष्टि पड़ी। फलस्वरूप उनको भी उत्कृष्ट स्वर्ग प्राप्त हुआ।

कबीर कहते हैं कि हे प्रभु ! आप सर्वदा दाता हैं और मैं सदा भिखारी हूँ। यदि मैं आपसे तर्क-वितर्क करूँ तो यह मेरी अशिष्टता होगी। मैं आपकी शरण मे आया हूँ। हे दयालु प्रभु ! आप मुझे स्वर्ग मे अर्थात् अपने पास रख लीजिए, अपनी शरण में ले लीजिए।

अलंकार—प्रथम पक्ति मे वक्रोक्ति।

राग—भैरव।

(१४२)

तातैं[1] सेइए नाराइनां।
रसनां[2] रांम नांम हितु जाकै कहा करै जमनां॥ टेक॥
जौ तुम्ह पंडित आगम जानौं[3] विद्या व्याकरनां।
तंत मंत सब औखधि[4] जानौ अंति तऊ मरनां॥
राज पाट अरु[5] छत्र सिंघासन बहु सुन्दरि रमनां।
पांन[6] कपूर सुबासिक चंदन अंति तऊ मरनां॥
जोगी जती तपी संन्यासी बहु तीरथि भ्रमनां[7]।
लुंचित मुंडित मोनि जटाधर अंति तऊ मरनां॥
सोचि बिचारि सबै जग देखा कहूँ न ऊबरनां।
कहै कबीर सरनाई आयौ मेटि जनम[8] मरनां॥

शब्दार्थ—सेइए=सेवा कीजिए, भजन कीजिए। नाराइना=नारायण, प्रभु। हितु=हितैषी। जमना=यमराज। आगम=आप्तवचनाश्रित परम्परागत ज्ञान, वेदशास्त्र। तत=तन्त्र। मत=मंत्र। सुन्दरि=सुन्दरी स्त्री। लुंचित=केश नोचने

१. ना० प्र०–तायैं सेविए। २. ना० प्र०–प्रभू मेरो दीनदयाल दया करणां। ३. ना० प्र०–जाणौं। ४. ना० प्र०–ओषदि। ५. ना० प्र०–स्यंघासण आसण। ६. ना० प्र०–चंदन चीर कपूर बिराजत। ७. ना० प्र०–भरमणां। ८. ना० प्र०–जामन मरण।

वाले जैन साधु। मुंडित=सिर मुंडाने वाले संन्यासी। मोनि=मौनी। जटाधर=जटाधारी। मेटि=मिटा दो। निगम=पुराण आदि। जनम मरनां=आवागमन, जन्म-मरण का चक्र।

संदर्भ—इस पद मे संसार की नश्वरता का वर्णन करते हुए ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया गया है।

व्याख्या—ससार मरणशील है। अतः प्रभु की उपासना करो। जिसकी जिह्वा पर हितैषी राम का नाम है, यमराज उसका क्या कर सकता है? वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाएगा। यमराज के अधिकार से बाहर हो जाएगा।

चाहे कोई कितना बड़ा पंडित हो, वेदशास्त्र का ज्ञाता हो, सभी विद्याओं और व्याकरण मे पारंगत हो, तन्त्र-मन्त्र मे निष्णात हो और आयुर्वेद का ज्ञाता हो, किन्तु तो भी अन्तत उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। किसी का चाहे जितना विशाल राज्य हो, वह चाहे जितना बड़ा छत्रधारी शासक हो और उसके भोग के लिए चाहे जितनी सुन्दरी स्त्रियाँ हों, उसके पास पान, कपूर, चंदन आदि सुगंधित पदार्थो की प्रचुर विलास-सामग्री हो, अंत मे उसका भी मरण अवश्यंभावी है।

इसी प्रकार योगी, यती, तपस्वी, संन्यासी, तीर्थो में भ्रमण करने वाले पुण्यात्मा जीव, जैन-साधु, संन्यासी, मौनी, जटाधारी साधक आदि सभी अंत मे मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

कबीरदास कहते है कि मैंने अच्छी तरह विचार करके सारा संसार छानकर देख लिया है, किसी प्रकार मृत्यु से छुटकारा संभव नही है। अतः हे प्रभु! मैं आपकी शरण मे आया हूँ। आप अनुग्रह करके मुझे जन्म-मरण के चक्र से मुक्त कीजिए।

टिप्पणी—इस पद में विद्वान्, ऐश्वर्यसम्पन्न शासक और साधक तीनो के उदाहरण देकर कबीर ने यह बतलाया है कि मृत्यु से किसी को छुटकारा नही मिल सकता।

राग—आसावरी।

(१४३)

ता मन कौं खोजहु रे भाई[१]।
तन छूटे मन कहाँ समाई॥ टेक॥
सनक सनंदन जैदेउ नांमां, भगति[२] करी मन उनहुँ नं जांनां।
सिव[३] बिरंचि नारद मुनि ग्यांनी, मन[४] की गति उनहूँ नहिं जांनीं।

१. शुक०, विचार०–को चीन्हहु मोरे भाई। २. शुक०, विचार०–भक्ति हेतु। ३. शुक० वि०–अम्बरीख प्रहलाद सुदामा। ४. शुक०–भक्ति सहित मन उनहुं न जाना, वि०– भगति, नही।

धू प्रहलाद विभीखन सेखा, तन भीतर मन उनहूँ न पेखा।
ता मन का कोई जांनै न[1] भेउ, ता मनि[2] लीन भया सुखदेउ।
गोरख भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं[3] मिलि करैं अनंदा।
अकल[4] निरंजन सकल सरीरा, ता[5] मन सौं मिलि रह्यौ[6] कबीरा॥

शब्दार्थ—धू = ध्रुव, भगवान् के एक भक्त। सेखा = शेष। पेखा = देखा। भेउ = भेद, रहस्य। सुखदेउ=शुकदेव, वेदव्यास के पुत्र। भरथरी = भर्तृहरि, प्रसिद्ध नाथ योगी। अकल = असीम, निराकार। निरंजन = निर्दोष, परमात्मा, जो किसी सीमा से परिसीमित नही है। सकल = (१) सम्पूर्ण (२) क्रिया सहित।

संदर्भ—इस पद मे कबीर मन के ऐसे धरातल या स्तर का संकेत करते हैं जो कि मानव की सीमाओं से अवच्छिन्न नही है, जो दिव्य है।

व्याख्या—वह कहते हैं कि हे भाई! मानव के भीतर जो क्रियाशील मन है, वह सविकल्पक है। उससे परे मन की एक और अवस्था है, जो दिव्य है, निर्विकल्पक है! हे भाई! यह पता लगाओ कि इस शरीर के छूटने पर वह मन कहाँ जाता है? सनक-सनंदन, जयदेव और नामदेव बहुत बड़े भक्त थे। किन्तु उस उच्च दिव्य मन के रहस्य को वे भी न जान सके। शिव, ब्रह्मा और नारद जैसे ज्ञानी भी उस मन की गति को जान न सके। ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण, शेषनाग आदि साधक भी उस मन को जान न पाए, जो कि मानव के तन में विद्यमान है। उस मन का रहस्य कोई नही जानता। शुकदेव उस मन मे लीन हो गये थे अर्थात् उस मन की उन्हें अनुभूति थी। गोरखनाथ, भर्तृहरि और गोपीचन्द जैसे योगियो को उस मन का परिचय था, जिससे सयुक्त होकर वे आनद का अनुभव करते थे। वह निष्कल, असीम, सस्कारो से रहित (निरजन) मन सब के शरीर मे व्याप्त है। वह दिव्य है। किन्तु किसी को उसका परिचय नही है। कबीर कहते है कि मैं उस मन से सर्वथा सयुक्त हूँ।

टिप्पणी—(१) मन के दो मुख्य भेद है—समना और उन्मना। समना मन वह है जहाँ वह सीमाओ के भीतर कार्य करता है। यह सविकल्पक मन होता है। सविकल्पात्मक मन केवल सांसारिक व्यवहार के लिए है। उससे चिन्तन हो सकता है, गणित और विज्ञान के बडे-बडे सिद्धान्तों को वह मन समझ सकता है। परन्तु सत्य, परमार्थ को ग्रहण करने मे वह मन असमर्थ होता है। इसी मन के सम्बंध में उपनिषदो ने कहा है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह—' अर्थात् जहाँ से वचन, मन के साथ बिना अपने लक्ष्य को प्राप्त किए हुए लौट आते है।

---

१. ना० प्र०, गुप्त में 'न' नहीं है। २. ना० प्र० गुप्त—रंचक। ३. शुक०, वि०—मिलि मिलि। ४. शुक०, वि०—एकल। ५. शुक०, वि०—तामें अभि अमि रहल कबीरा। ६. ना० प्र०—रह्या।

इस 'समना' के भी कई स्तर होते है। कवीर ने यही संकेत किया है कि अधिकांश साधक 'समना' के उच्च स्तर तक पहुँच सके है, किन्तु वे 'उन्मनी' अवस्था में प्रवेश नही कर सके है, जो 'समना' की सीमा से परे है। 'समना' मन के द्वारा उस परम सत्य की जानकारी नही हो सकती। उसकी गति वहाँ तक नहीं है। परन्तु यह 'समना' अवस्था सब कुछ नही है। इसमे ऊपर एक 'उन्मना अथवा उन्मनी' अवस्था भी है। 'समना' अवस्था तक चित्त प्राचीन संस्कारों से कलुषित रहता है। 'उन्मनी' वह ऊँची अवस्था है जो कि संस्कारो से रहित होती है। साधना में एक ऐसी अवस्था आती है जब प्रभु के अनुग्रह से भीतर से एक शक्ति उद्भासित होती है, जो 'समना' को निगल जाती है। उसका कार्य समाप्त हो जाता है और मानव का मन प्रभु की चेतना से संयुक्त हो जाता है अर्थात् समना अवस्था 'उन्मना' मे परिणत हो जाती है। कवीर ने अपने ढंग से इसका अर्थ लगाया है—उनके (प्रभु के) मन मे रूपान्तरित अवस्था। यही दिव्य मन है और इसे विरले ही प्राप्त कर पाते है।

(२) ध्रुव—राजा उत्तानपाद के पुत्र, माता का नाम सुनीति। विमाता सुरुचि की प्रताड़ना से दु:खी होकर पाँच वर्ष की आयु मे ही यमुना तट पर मधुवन में तप करके भगवान् को प्रसन्न किया और अचल ध्रुवलोक प्राप्त किया।

(३) प्रह्लाद—हिरण्यकशिपु के पुत्र। दैत्यराज के पुत्र होते हुए भी बाल्यकाल से ही भगवद्भक्त। हिरण्यकशिपु ने उन्हे भक्ति से विचलित करने के लिए नाना प्रकार की यातनाएँ दी। पर वह अपने निश्चय में अडिग रहे। अंत मे भगवान् ने नृसिंह रूप मे अवतार लेकर हिरण्यकशिपु का वध किया और अपने भक्त की रक्षा की।

(४) विभीषण—कैकसी के गर्भ से उत्पन्न, रावण का अनुज, भगवद्भक्त। रावण से अपमानित होकर राम की शरण आए।

(५) शेषनाग—ये साक्षात् नारायण के स्वरूप है एवं उनके लिए शय्या रूप हो, उन्हे धारण करते है। इनकी धर्म मे अटल श्रद्धा है।

(६) गोरखनाथ—प्रसिद्ध नाथ योगी, समय विक्रम की १० वीं शताब्दी।

(७) गोपीचद—रंगपुर (बंगाल) के एक राजा, भर्तृहरि की बहिन मैनावती के पुत्र, माता के उपदेश से वैराग्य लिया था। ये जलंधरनाथ के शिष्य थे। इनके बनाए-हुए गीत 'जोगियो' द्वारा गाए जाते है।

(८) भर्तृहरि—विक्रमादित्य के छोटे भाई, बाद मे संसार से विरक्त हो गए थे।

अलंकार—(१) अंतिम पंक्ति मे विरोधाभास ।
(२) 'सकल' शब्द में श्लेप ।

राग—गौरी ।

(१४४)

तुम यहि विधि समुझहु[1] लोई, गोरी मुख मंदर[2] बाजै ।
एक सगुन षट चक्रहि बेधै, बिन वृषभ[3] कोल्हू माचा ।
ब्रह्महि पकरि अगिनि[4] महँ होमै, मच्छ गगन चढ़ि गाजा[5] ॥
नित्त[6] अमावस नित्त[7] ग्रहन ह्वै, राहु ग्रास नित दीजै ।
सुरभी[8] भच्छन करत वेद मुख, घन बरिसै तन छीजै ॥
त्रिकुटि कुंडल मधे मंदर[9] बाजै, औघट अंमर भीजै[10] ।
पुहुमी क[11] पानी अंमर भरिया, ई अचरज को बूझै ॥
कहैं कबीर सुनो हो संतो, जोगिन सिद्धि पियारी ।
सदा रहै सुख संजम अपने[12], वसुधा आदि कुमारी ॥

शब्दार्थ—लोई = लोग । गोरी = (प्र० अ०) कुण्डलिनी । मंदर = मन्द्र, गम्भीर ध्वनि । वृषभ = बैल । कोल्हू = (प्र० अ०) कुण्डलिनी । माचा = आरम्भ होता है, संचालित होता है । ब्रह्महि = (प्र० अ०) रजोगुण । अग्नि = (प्र० अ०) कुण्डलिनी । मच्छ = (प्र० अ०) कुण्डलिनी की प्राण-शक्ति । गाजा = अनाहत ध्वनि करता है । सुरभी = गाय । वेदमुख = श्रेष्ठ मुख से । घन = (प्र० अ०) सहस्रार । तन = शरीर । छीजै = क्षीण होता है । त्रिकुटी = दोनो भौहों के मध्य का स्थान । कुण्डल = मडल, घेरा । औघट = दुर्गम घाट । अंमर = गगन गुफा । पुहुमी = पृथ्वी (प्र० अ०) पार्थिव शरीर । पानी = (प्र० अ०) वायु ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे तान्त्रिक योगियो की सिद्धि का वर्णन करते हुए कबीर कहते है कि इस सिद्धि की आध्यात्मिक अर्हा उतनी नही है जितना अपने मन को वश मे करना ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे लोगो ! तुम हठयोगियो की सिद्धि को इस प्रकार समझो । उनकी साधना से कुण्डलिनी का जागरण होता है और उसमे गम्भीर ध्वनि होती हे । वह त्रिगुणात्मक (सत्व, रजस्, तमस्) कुण्डलिनी षट्चक्रों को भेदती हुई ऊपर चलती है । उसका चलना वैसे ही है, जैसे बिना वृषभ के कोल्हू का चलना । योगी जीव के रजोगुण को कुण्डलिनी की अग्नि मे जला देता है अर्थात् रजोगुण का

१. शु०–समुझो । २. शुक०, वि०–मंदर । ३. शुक०–वृख कोल्हू मचै । ४. शु०–अग्नि मा । ५. वि०–गाजै । ६. वि०–नितै । ७ वि०–नितै । ८. वि सुरही । ९. शुक०–मदिर । १०. शुक०, वि०–छजै । ११. शुक०–का, वि०–के । १२. शुक०–अपनी ।

ज्ञान और सत्व गुण का आधिक्य होने लगता है। प्राणशक्ति गगनगुफा (ब्रह्मरन्ध्र) मे पहुँच कर अनाहत ध्वनि करती है। उस स्थिति मे योगियों के भीतर नित्य अमावस्या रहती है और नित्य ग्रहण रहता है। जव सूर्य और चन्द्र एक साथ होते है, तव अमावस्या होती है। इसी प्रकार साधना मे जव सूर्य और चन्द्र (इड़ा और पिंगला) सुषुम्ना नाडी मे समाविष्ट हो जाते है, तव अमावस्या होती है। कुण्ड-लिनी के जागरण मे दोनो प्राण सुषुम्ना मे समाविष्ट हो जाते है। वहाँ नित्य ग्रहण लगा रहता है। इडा नाडी (चन्द्र) का प्राण सुषुम्ना मे आता है, तव चन्द्र ग्रहण होता है और जव पिंगला (सूर्य) का प्राण सुषुम्ना मे आ जाता है तव सूर्य ग्रहण होता है। इस प्रकार वहाँ नित्य ग्रहण लगा रहता है और राहु को नित्य भोजन मिलता रहता है।

हठयोगी अपनी यौगिक प्रक्रिया को गुह्य वनाने के लिए प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग करते थे। इसी शैली मे वह खेचरी मुद्रा का वर्णन 'गोमास भक्षण' की शब्दा-वली मे करते थे। इस मुद्रा मे जिह्वा को उलट कर तालु मे लगाते है। यही 'गोमांस भक्षण' है। इसी वात को कवीर इन शब्दों मे कहते है कि तांत्रिक योगी आतरिक श्रेष्ठ मुख से गोमांस-भक्षण करते है। सहस्रार (घन) से अमृत रस वरसता रहता है। तान्त्रिक योगी का शरीर साधना के कारण कृश हो जाता है। आज्ञाचक्र के ऊपर त्रिकुटी मे गम्भीर अनाहत ध्वनि होती रहती है और वह गगन गुफा के दुर्गम घाट से टपकते रस से भीजता रहता है। इस पार्थिव शरीर की वायु से ब्रह्मरन्ध्र भर जाता है। इस आश्चर्यपूर्ण सिद्धि को कौन समझ सकता है? कवीर कहते है कि हे संतो! सुनो। योगियों को इस प्रकार की सिद्धियाँ प्रिय होती है। किन्तु यह वास्तविक सुख नहीं है। अपने मन का सयम शाश्वत सुख है। योगी लोग सिद्धि के वल से सारे विश्व को अपने वश मे करना चाहते है। किन्तु यह वसुधा सदैव से कुमारी रही है। यह किसी के वश में नही रहती है।

टिप्पणी (१) षट्चक्र

चक्रनाम	स्थान
(१) मूलाधार	गुदा और लिंग के वीच
(२) स्वाधिष्ठान	लिंग के ऊपर
(३) मणिपूर	नाभि
(४) अनाहत	हृदय
(५) विशुद्ध	कण्ठ
(६) आज्ञा	भ्रू मध्य।

(२) **अमावस** (सं० अमावस्या) इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

अमा (अव्यय)=साथ, अमा (सह) वसतः चन्द्रार्कौ अस्यां सा अमावस्या ।

'जिस रात्रि को सूर्य और चन्द्र एक साथ रहते हैं, वह अमावस्या है ।'

(३) **राहु ग्रास**—पौराणिक कथा के अनुसार समुद्र मंथन के बाद अमृत पीने के लिए राहु देवताओ की पक्ति में बैठ गया था । वह थोड़ा अमृत पी सका था, तभी सूर्य-चन्द्र ने विष्णु को संकेत कर दिया । विष्णु ने अपने चक्र से उसका मस्तक छिन्न कर दिया । तभी से राहु चन्द्र और सूर्य को ग्रसता है ।

(४) **सुरभी भच्छन**—हठयोगप्रदीपिका (तृतीयोपदेश) में कहा गया है—

गोमासं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातका ॥ ४७ ॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षण तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

'जो नित्य गोमास का भक्षण करता है और अमर वारुणी का पान करता है, उसे मैं कुलीन समझता हूँ, अन्य कुलघातक है । यहाँ 'गो' शब्द का अर्थ 'जिह्वा' है, उसका तालु में प्रवेश करना 'गोमांस भक्षण' है । यह भक्षण महापातक-नाशक है ।'

(५) **तन छीजै**—हठयोग की सिद्धि के निम्नलिखित लक्षण बताए गए है :—

'वपु. कृशत्व वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता विंदुजयोऽग्निदीपन नाडी विशुद्धिर्हठसिद्धिलक्षणम् ॥ ७८ ॥

(हठयोगप्रदीपिका—द्वितीयोपदेश)

'शरीर की कृशता, मुख की प्रसन्नता, ध्वनि का प्राकट्य, नेत्रो की निर्मलता, आरोग्य, धातु का वश मे होना, उदराग्नि का बढना और नाड़ी की शुद्धि हठयोग की सिद्धि के लक्षण है ।'

(६) **औघट अंमर भीजै**—गगनगुफा मे एक दुर्गम घाट है, जहाँ से अमृत-रस टपकता रहता है । साधक इसी का पान करता है :—

(२) **अमावस** (सं० अमावस्या) इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—
अमा (अव्यय)=साथ, अमा (सह) वसत. चन्द्रार्कौ अस्यां सा अमावस्या ।
'जिस रात्रि को सूर्य और चन्द्र एक साथ रहते है, वह अमावस्या है ।'

(३) **राहु ग्रास**—पौराणिक कथा के अनुसार समुद्र मथन के वाद अमृत पीने के लिए राहु देवताओ की पक्ति मे वैठ गया था। वह थोडा अमृत पी सका था, तभी सूर्य-चन्द्र ने विष्णु को सकेत कर दिया। विष्णु ने अपने चक्र से उसका मस्तक छिन्न कर दिया। तभी से राहु चन्द्र और सूर्य को ग्रसता है।

(४) **सुरभी भच्छन**—हठयोगप्रदीपिका (तृतीयोपदेश) में कहा गया है—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम् ।
कुलीन तमह मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥
गोशव्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमासभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

'जो नित्य गोमांस का भक्षण करता है और अमर वारुणी का पान करता है, उसे मैं कुलीन समझता हूँ, अन्य कुलघातक है। यहाँ 'गो' शव्द का अर्थ 'जिह्वा' है, उसका तालु मे प्रवेश करना 'गोमांस भक्षण' है। यह भक्षण महापातक-नाशक है।'

(५) **तन छीजे**—हठयोग की सिद्धि के निम्नलिखित लक्षण वताए गए है —

'वपु कृशत्व वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता विंदुजयोऽग्निदीपन नाडी विशुद्धिर्हठसिद्धिलक्षणम् ॥ ७८ ॥
(हठयोगप्रदीपिका—द्वितीयोपदेश)

'शरीर की कृशता, मुख की प्रसन्नता, ध्वनि का प्राकट्य, नेत्रो की निर्मलता, आरोग्य, धातु का वश मे होना, उदराग्नि का बढना और नाडी की शुद्धि हठयोग की सिद्धि के लक्षण है।'

(६) **औघट अमर पीजे**—गगनगुफा मे एक दुर्गम घाट है, जहाँ से अमृत-रस टपकता रहता है। साधक इसी का पान करता है '—

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात् स्रवति यः सार. सा स्यादमरवारुणी ॥
(हठ० प्र०–३।४९)

'लम्बिका (कौवा) के ऊपर के विवर मे जिह्वा के प्रवेश से एक गर्मी पैदा होती है । उससे भौंह के वाम भाग मे स्थित चन्द्र से जो रस टपकता है, उसे अमर वारुणी कहते है ।'

अलंकार—(१) बिन वृषभ कोल्हू माचै—विभावना ।
(२) घन बरिसै तन छीजै—विषम ।
(३) ई अचरज को बूझै—वक्रोक्ति ।

(१४५)

तुम्ह गारडू मै विष का माता,
काहे न जिवावौ मेरे अमृतदाता ॥ टेक ॥
संसार भवंगम डसिले काया, अरु दुखदारन ब्यापै तेरी माया ।
सापिनि[1] एक पिटारै जागै, अहनिसि सोवै[2] ताकूँ फिरि फिरि लागै ।
कहै कबीर को को नहीं राखैं, राम रसांइन जिनि जिनि चाखैं ॥

शब्दार्थ—गारडू (सं० गारुड)=मंत्र द्वारा विष को उतारने वाला । भवगम=भुजग, सर्प । काया=शरीर ।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने यह बतलाया है कि माया के कारण अज्ञानवश मानव दुःखी रहता है । उससे त्राण का एक ही उपाय है—राम की भक्ति ।

व्याख्या—हे प्रभु ! मैं माया के विष से मूच्छित हो रहा हूँ । आप ही उस विष को उतार सकते है । इसलिए हे प्रभु ! अपने ज्ञान रूपी अमृत के दान से क्यो मेरे जीवन की रक्षा नही करते ? आपकी माया के कारण मेरे भीतर दारुण दु.ख व्याप्त है और उसी के कारण इस संसार रूपी सर्प ने मुझे डस लिया है । इस संसार रूपी पिटारे मे माया रूपी सर्पिणी निरन्तर क्रियाशील है । जो दिन-रात अज्ञान मे पडे रहते है, उनको वह बार-बार काटती है । कवीर कहते है कि जिन्होने राम-रसायन का आस्वादन किया है, ऐसे किन-किन लोगों की आपने रक्षा नही की है ?

अलंकार—(१) काहे न जिवावै—वक्रोक्ति ।
(२) सापिनि……लागै—रूपकातिशयोक्ति ।
(३) कहै कवीर……चाखै—वक्राक्ति ।
(४) ससार……भवगम—रूपक ।

राग—गौरी ।

---

१ ना० प्र०–सापनि । २. ना० प्र०-रोवै ।

(१४६)

तेरा जनु एक आध है कोई।
काम क्रोध लोभ[1] मोह विवरजित, हरि पद चीन्है सोई॥ टेक॥
असतुति निंदा दोउ[2] विवरजित, तजहि[3] मानु अभिमानां।
लोहा कंचन सम[4] करि जानहिं, ते मूरति भगवांनां॥
रज[5] गुन तम गुन सत गुन कहियै, यह सभ तेरी माया।
चउथै पद कौं जो[6] जन चीन्हैं, तिनहि परमपदु पाया॥
चिंतै[7] तौ माधव चिंतामनि, हरिपद रमैं उदासा।
चिंता[8] अरु अभिमान रहित है, कहै कबीर सो दासा॥

शब्दार्थ—जनु=भक्त। विवरजित=रहित, मुक्त। असतुति=प्रशंसा। कचन=सोना। चिंतै=चिंतन करता है। चिंतामणि=एक ऐसा रत्न जिसके प्राप्त करने पर सभी अभिलाषाओ की पूर्ति हो जाती है। चिंता=अभिलाप।

व्याख्या—प्रस्तुत पद मे कबीर ने सच्चे भक्त का लक्षण बताया है। वह कहते है कि हे प्रभु! आपका कोई विरला ही ऐसा भक्त होता है जो काम, क्रोध, लोभ और मोह से मुक्त होकर भागवतीय स्थिति को पहचानता हो। ऐसा भक्त जो प्रशंसा और निन्दा से परे होता है, जिसमे मानापमान की भावना नही रह जाती है तथा जो लोहे और सोने को समान भाव से देखता है अर्थात् लोभ से परे हो जाता है, वह मानो साकार भगवान् ही है। हे प्रभु! सत्व, रजस् और तमस् ये तीनो गुण तेरी माया के है। इनसे ऊर्ध्व उठकर जो चौथी अर्थात् तुरीय अवस्था का अनुभव करता है, वही वास्तविक सर्वोत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त करता है। यदि वह किसी वस्तु की प्राप्ति का चिंतन करता है तो केवल उस प्रभु की जो ऐसी मणि है जो समस्त चिंताओ अर्थात् अभिलाषाओ की पूर्ति कर देता है। वह विषयो के प्रति उदासीन होकर प्रभु-चरणो मे अनुरक्त रहता है। कबीर कहते है कि वही वास्तविक भक्त है जो अभिलाप और अभिमान दोनो से रहित हो।

टिप्पणी—गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस मे संतो का लक्षण बताते हुए ठीक इसी प्रकार कहा है—

---

१ ना० प्र० गुप्त–अरु लोभ। २. ना० प्र०, गुप्त–आसा छोडै। ३. ना० प्र०–तजै मान। ४. ना० प्र०–समि करि देखै। ५. ना० प्र०–राजस तॉमस सातिग तीन्यूॅ, ये सब। ६. ना० प्र०-जे ७ ना० प्र०–च्यंतै तौ माधौ च्यंतामणि। ८. ना० प्र०–त्रिस्ना।

टि०—ना० प्र० तथा गुप्त की प्रतियों में प्रस्तुत पाठ की तीसरी पंक्ति पॉचवे स्थान पर, चौथी पंक्ति छठे स्थान पर, पॉंचवी पंक्ति तीसरे स्थान पर और छठी पंक्ति चौथे स्थान पर आई है।

विपय अलपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरप हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया।
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
निंदा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुन मंदिर सुख पुंज॥ ३८

—उत्तरकाण्ड

अलंकार—(१) माधव चितामणि—रूपक।
(२) रमै उदास—विरोधाभास।

राग—रामकली।

(१४७)

ते हरि के आवहि केहि कांमां।
जे नहि चीन्हैं आतम रांमॉ॥ टेक॥
थोरी भगति बहुत अहंकारा[1], ऐसे भगता मिलैं अपारा।
भाव न चीन्हैं हरि गोपाला, जानि क अरहट कै गलि माला।
कहैं कबीर जिनि गया अभिमाना, सो भगता भगवंत समानां॥

शब्दार्थ—अपारा=अनंत। अरहट=रहँट। भाव=सच्चा स्वरूप।

संदर्भ—सच्ची भक्ति के लिए अहं का परित्याग अनिवार्य है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि जिन्होने आत्मतत्व को नही पहचाना, वे भगवान् के किस काम के है? प्राय ऐसे भक्त वहुत मिलते है, जिनमें भक्ति वहुत थोड़ी है, किन्तु अहकार वहुत अधिक है। जो भगवान् के सच्चे स्वरूप को नही समझते और गले मे माला धारण करते है। उनकी माला कुएँ के रहँट की माला के समान समझो। कवीर कहते है कि जिन्होने अहंकार का पूर्णतया त्याग कर दिया है, उन्हे भगवान् के तुल्य समझो।

तुलनीय— पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
एक म्यान मे दो खडग, देखा सुना न कान॥
—कबीर

अलंकार—जानि क अरहट कै गलि माला—उत्प्रेक्षा।

राग—गौरी।

---

१. ना० प्र०–अलंकारा।

(१४८)

दरमांदा ठाढौ दरबारि ।
तुम बिन सुरति करै को मेरी, दरसन दीजै खोलि किवार ॥ टेक ॥
तुम सम धनो उदार न कोऊ, स्रवनन सुनियत सुजस तुम्हार ।
मांगौं काहि रंक सभ देखौं, तुम ही तैं मेरो निस्तार ॥
जैदेउ नामां विप्र सुदामां, तिनकौं क्रिपा भई है अपार ।
कहै कबीर तुम समरथ दाता, चारि पदारथ देत न बार ॥

शब्दार्थ—दरमादा=(फा० दरमाद) दुखित, दीन । सुरति=ध्यान, ख्याल । रक=दरिद्र । सभ=सब । जैदेउ=जयदेव । नामां=नामदेव । बार= विलम्ब ।

संदर्भ—इस पद में कबीर प्रभु की कृपा-दृष्टि की याचना करते हैं ।

व्याख्या—वह कहते है कि आपके दरबार मे यह दुःखी व्यक्ति आपकी कृपा-दृष्टि के लिए खडा है । हे प्रभु ! आपके बिना मेरा ख्याल और कौन करेगा ? हमारे और आपके बीच जो व्यवधान है उसे निरस्त कर दर्शन देने की कृपा कीजिए । प्रभु प्रत्येक व्यक्ति के भीतर विद्यमान है, किन्तु जीव के नाना प्रकार के कुसस्कारो के कारण उनसे सम्पर्क नही हो पाता । यही कुसस्कार 'किवाड़' के रूप मे प्रभु और जीव के बीच मे व्यवधान बनकर आते है ।

तुम्हारे समान अन्य कोई न धनी है और न उदार । मैंने लोगो से आपका यश सुन रखा है । यहाँ कबीर ने 'धनी' और 'उदार' ये दो विशेषण एक साथ बहुत विचार कर रखे है । कोई हृदय का उदार हो सकता है, किन्तु यदि वह धनी नही है, उसके पास देने को कुछ नही है, तो उदार होते हुए भी वह सहायता नही कर सकता । और यदि कोई धनी है, सब प्रकार से सम्पन्न है, किन्तु उदार-हृदय नही है तो भी वह किसी की सहायता नही कर सकता । कबीर कहते है कि हे प्रभु ! आप धनी और उदार दोनो है । इसलिए आप सम्यक् रूप से मेरी सहायता कर सकते है । मैं अन्य देव-देवी से क्या याचना करूँ ? वे सभी दरिद्र है । आपकी ही शक्ति और ऐश्वर्य से वे शक्तिमान् और ऐश्वर्य-सम्पन्न है । उनमे अपनी शक्ति क्या है ? इसलिए केवल आप से ही मेरा उद्धार हो सकता है । आपने जयदेव, नामदेव और सुदामा ब्राह्मण पर कृपा की है । कबीर कहते है कि आप समर्थ दानी है । आप जो चाहें दे सकते है । आपको चारो पदार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) देने मे विलम्ब नही लग सकता ।

टिप्पणी—(१) जयदेव—'गीत गोविंद' के प्रसिद्ध रचयिता संत जयदेव बंगाल के सेन वंशी राजा लक्ष्मणसेन के सभाकवि थे । इनका समम १२वी शताब्दी

माना जाता है। नाभादास ने 'भक्तमाल' मे इनकी प्रशस्ति की है। 'गुरु ग्रंथ साहब' मे इनके दो पद पाए जाते है जिससे अनुमान लगाया जाता है कि ये उच्च कोटि के साधक और संत थे। ये उडीसा निवासी बताए जाते है। इन्हे कुछ लोग निंबार्क सम्प्रदाय का और कुछ लोग विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का अनुयायी बताते है।

(२) **सत नामदेव**—महाराष्ट्र मे नामदेव नामक छः संत हुए है। उनमे सर्वाधिक लोकप्रिय नामदेव वह थे जिन्होने उत्तर भारत मे कबीर के पहले भागवत धर्म का प्रचार किया था और हिन्दी मे भी काव्य रचना की थी। इनका जन्म सं० १३२७ में सतारा जिले के नरसी वमनी नामक गाँव मे हुआ था। ये प्रसिद्ध सत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे और सत विसोबा खेचर के शिष्य थे। इन्होने मराठी मे 'अभंगो' की रचना की ही है, हिन्दी मे भी पदों की रचना की है। 'गुरु ग्रंथ साहब' मे इनके ६१ पद पाए जाते है। इनकी उपलब्ध रचनाओ को डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'सत नामदेव की हिन्दी पदावली' नाम से प्रकाशित कराया है, जिसमे २३० पद और १३ साखियाँ है। ये उच्च कोटि के भक्त थे।

(३) **सुदामा**—श्रीकृष्ण के सहपाठी एक दरिद्र ब्राह्मण, जो उनके मित्र थे और उन्ही की कृपा से सम्पन्न हो गए थे।

अलंकार— जैदेउ नामा विप्र सुदामा—दृष्टान्त।

राग—बिलावल।

(१४९)

दुलहिनीं गावहु मंगलचार।
हम घरि आए[1] राजा राम भरतार॥
तन रत करि मैं मन रति[2] करिहौं पांचउ तत्त[3] बराती।
रांम देव मोरैं पाहुनैं आए मैं जोबन मैंमाती॥
सरीर सरोवर बेदी करिहौं[4] ब्रह्मा बेद उचारा[5]।
रांम देव संगि भांवरि लेइहौं[6] धंनि धंनि भाग हमारा[7]॥
सुर तैंतीसों कोटिक[8] आए मुनिवर[9] सहस अठासी[10]।
कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं पुरिख एक अबिनासी॥

शब्दार्थ—दुलहिनी = सौभाग्यवती वधू। मंगलचार = मगलाचार, मागलिक कृत्य के समय गाया जाने वाला गान। पाँचउ तत्त = पचतत्व (पृथ्वी, आकाश, पावक, समीर, जल)। मैंमाती = मदमत्त।

---

१. ना० प्र०-आए हो। २. ना० प्र०-रत करिहू। ३. ना० प्र०-पंचतत। ४. ना० प्र०-करिहूं। ५. ना० प्र०-उचार। ६. ना० प्र०-लैहूं। ७. ना० प्र०-हमार। ८. ना० प्र०-तेतीसूं कौतिग। ९. ना० प्र०-मुनियर। १०. ना० प्र०-अठ्यासी।

संदर्भ—कबीरदास ने जीवात्मा-परमात्मा के सम्बंध को पति-पत्नी के प्रतीक के द्वारा प्रस्तुत किया है। उन्होंने जीवात्मा को स्त्री और परमात्मा को पुरुष माना है।

साधना की एक ऐसी उत्कृष्ट अवस्था आती है जब जीवात्मा रूपी प्रिया परमात्मा रूपी प्रिय से मिलन के लिए योग्यता प्राप्त कर लेती है और प्रभु उसका वरण करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। इसी तथ्य को कबीरदास ने विवाह के रूपक के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है—

व्याख्या—वह कहते हैं कि हे सौभाग्यवती बहुओ ! तुम विवाह के अवसर पर गाए जाने वाले मंगल गीत गाओ। मेरे घर राजा राम पति रूप मे पधारे हैं। उनके साथ पाँचो तत्व भी सजधज कर बराती के रूप मे आए हैं। मेरा तन और मन दोनो उनमे रत है, लवलीन है, प्रेम से अर्पित है। मैं अपने यौवन मे मदमत्त हूँ अर्थात् मेरी साधना की पक्वावस्था पहुँच गई है और प्रभु से मिलन का क्षण आ गया है। अतः प्रभु आज मेरे यहाँ मेरा वरण करने के लिए पति के रूप मे पधारे हैं। मैं उनके स्वागत के लिए शरीर रूपी सरोवर के तट पर वेदी बनाऊँगी और ब्रह्मा पुरोहित के रूप मे वेद का उच्चारण करेंगे। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैं प्रभु राम के साथ भाँवर लूँगी। तैंतीस कोटि देवता और अट्ठासी हजार ऋषि इस अद्भुत सम्बध को देखने के लिए आए हैं। मुझे एक अविनाशी पुरुष व्याह कर ले जा रहे हैं।

अलंकार—साग रूपक, व्यतिरेक।

राग—गौरी।

(१५०)

दूभर पनियाँ भरा[1] न जाई।
अधिक त्रिषा हरि बिन न बुझाई ॥ टेक ॥
ऊपरि नीर लेज तलिहारी, कैसे नीर भरै पनिहारी।
ऊध्यौ कूप घाट भयौ भारी, चली निरास पंच पनिहारी।
गुर उपदेस भरो ले नीरा, हरषि हरषि जल पीवै कबीरा ॥

शब्दार्थ—दूभर = दु साध्य। त्रिपा = तृष्णा, प्यास। लेज = रज्जु, रस्सी। तलिहारी = नीचे की ओर वर्तमान। ऊध्यौ कूप = औंधा कुआँ। भारी = दुर्गम। पच पनिहारी = पच ज्ञानेन्द्रियाँ !

संदर्भ—गुरु उपदिष्ट मार्ग के अवलम्बन के बिना शरीर के भीतर विद्यमान अमृत-रस की प्राप्ति सभव नही है।

---

१. ना० प्र०-भर्‌या।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मानव के भीतर एक कूप है, किन्तु उसका जल दुष्प्राप्य है, वह भरा नही जा सकता और बिना उस जल के प्यास मिट नही सकती अर्थात् औंधे कुएँ के समान सहस्रार मे अमृत-रस विद्यमान है। किन्तु उसकी प्राप्ति कठिन है और बिना उस दिव्य-रस के विषयो की तृष्णा मिट नही सकती। वह जल (रस) ऊपर सहस्रार मे है और रज्जु (कुण्डलिनी) नीचे मूलाधार मे विद्यमान है। इसलिए पनिहारी (प्राण शक्ति) उस जल (अमृत रस) को कैसे प्राप्त करे ? कुआँ औंधा है, उसका मुख नीचे की ओर है और घाट (पहुँचने का स्थान) दुर्गम है। अतएव बेचारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ निराश होकर वापस आ जाती है। वे केवल विषय-रस का पान करती है, उस महारस से वञ्चित रहती है। परन्तु कबीर ने अपने गुरु-उपदिष्ट मार्ग से उस अमृतरस को प्राप्त कर लिया है और आनंदपूर्वक उसका पान कर रहे है।

तुलनीय— विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता २।५९)

'इन्द्रियो के द्वारा विषयो को न ग्रहण करने वाले पुरुष के विषय तो निवृत हो जाते है, किन्तु उनके प्रति राग बना रहता है। किन्तु स्थिरधी. पुरुष का राग भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाता है।'

अलकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(१५१)

देखहु लोगो[1] हरि की सगाई, माय धरी[2] पूत धिये संग जाई।
सासु ननद मिलि अदल[3] चलाई, मादरिया ग्रिह बैठी जाई।
हम बहनोई राम मोर सारा, हमहि बाप हरि पूत[4] हमारा।
कहै कबीर ई हरि[5] के बूता, राम रमे ते कुकरि[6] के पूता ॥

शब्दार्थ—हरि = मनुष्य। सगाई = सम्बंध। माय = माता (प्र० अ०) माया। पूत = (प्र० अ०) जीव। धिये = दुहिता, कन्या (प्र० अ०) असत् रूपी धी। सासु = (प्र० अ०) अविद्या। ननद = (प्र० अ०) कुमति। अदल (अ०) = न्याय (ला० अ०) शासन। मादरिया = मदारी (प्र० अ०) मन। बूता = शक्ति। कुकरि = वनमुर्गी। पूता = बच्चा।

---

१. वि०-लोगा। २. वि०-धरै। ३. शुक०-अचल। ४. शुक०-पुत्र। ५. शुक०-हरी। ६. शुक०-कुकुरी।

संदर्भ—उलटबाँसी के माध्यम से कबीर ने यह बताया है कि मनुष्य अविद्या के कारण नाना प्रकार के सासारिक सम्बंध जोड़ता है, जो क्षणिक है। उसका वास्तविक सम्बध होना चाहिए—प्रभु के प्रति।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे लोगो! देखो। मनुष्य कैसे विचित्र सम्बंध करता है। पुत्र अपनी ही माता को भोग करने के लिए पकड़ता है और अपनी ही कन्या के साथ रमण करता है अर्थात् जीव माया रूपी माता का भोग करता है और असद् रूपी धी को अपनाता है। अविद्या (सासु) और कुमति (ननद) मिलकर अपना शासन चलाती हैं और मन रूपी मदारी के घर मे भी घुसकर बैठ जाती है अर्थात् मन पर अपना अधिकार जमा लेती हैं। अविद्या के प्रभाव से लोग अवतार को ईश्वर मानकर उनसे बहनोई और साले तथा पिता-पुत्र के सम्बन्ध जोडते हैं। शृंगी ऋषि को लोग राम का बहनोई कहते हैं। इस प्रकार राम उनके साले हुए। दशरथ राम रूपी भगवान् को अपना पुत्र मानते थे। कबीर कहते हैं कि यह सारा वैचित्र्य प्रभु की शक्ति का खेल है। जो प्रभु में रमण करते हैं, वे वनमुर्गी के बच्चे के समान देह से निर्लिप्त रहते हैं।

अलंकार—(१) 'धी' शब्द मे श्लेष।
(२) विरोधाभास।

(१५२)

देखि देखि जिय अचरज होई[1], यह पद बूझै विरला कोई[2]।
धरती उलटि अकासै जाई[3], चिउँटी के मुख हस्ति समाई[4]।
बिना[5] पवन जहँ पर्वत उड़ै, जीव जंतु सब बिरछा[6] बूड़ै।
सूखे सरवर उठै हिलोर, बिनु जल चकवा करत कलोर[7]।
बैठा पंडित पढ़ै पुरान, बिनु देखे का करत बखान।
कहैं कबीर जो[8] पद को जान, सोई संत सदा परमान[9]॥

शब्दार्थ—धरती=(प्र० अ०) मूलाधार चक्र। अकासे=ब्रह्मरन्ध्र। चिउँटी=(प्र० अ०) सुरति। हस्ती=हाथी (प्र० अ०) मन। पवन=प्राण। पर्वत=(प्र० अ०) मन। सरवर=सरोवर, तालाब। चकवा=(प्र० अ०) जीवात्मा, कलोर=आनद, किलोल। परमान=प्रमाण।

संदर्भ—साधना के दो प्रमुख मार्ग बताए गए हैं—पिपीलिका मार्ग और विहगम मार्ग। इस पद मे कबीर ने विहंगम मार्ग की उत्कृष्टता का सकेत किया है।

---

१. वि—होय। २. वि—कोय। ३. वि०—जाय। ४. वि०—समाय। ५. वि०—बिनु पवने जो। ६. शुक०-वृक्षा चढै। ७. वि०— किलोल। ८. शुक०—जे। ९. वि०—परवान।

व्याख्या—वह कहते है कि विहंगम मार्ग के द्वारा जीव के आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया और उपलब्धि बडी अद्भुत है। इस अवस्था को कोई बिरला ही समझ सकता है। इस साधना मे धरती उलटकर आकाश मे पहुँच जाती है और चीटी के मुख मे हाथी समा जाता है अर्थात् मूलाधार मे स्थित कुण्डलिनी उत्थित होकर ब्रह्मरन्ध्र मे पहुँच जाती है और चीटी रूपी सूक्ष्म तत्व (सुरति) में हाथी जैसा विशाल तत्व (मन) लीन हो जाता है। पिपीलिका मार्ग मे प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी का जागरण होता है, किन्तु विहगम मार्ग मे बिना प्राणायाम के ही मन उच्च अवस्था को प्राप्त हो जाता है और उस स्थिति मे सभी बाह्य पदार्थ (जीव, जन्तु, वृक्षादि) लुप्त हो जाते है अर्थात् समाधि की अवस्था मे मन इन विषयों से अलग हो जाता है। परम पद आनंद की अवस्था है। वहाँ बिना सरोवर के ही आनंद की तरंगें उठा करती है। और आत्मा (चकवा) बिना जल के ही किलोल करता रहता है। इस स्थिति का वही संत वर्णन कर सकता है, जिसने गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग का अवलम्बन करके आत्म-साक्षात्कार किया है। इसके अतिरिक्त जो केवल पुस्तकीय ज्ञान मे लगा है, वह इस आनद का अनुभव नही कर सकता है और अनुभव के बिना केवल शास्त्र के आधार पर उसका वर्णन कैसे हो सकता है? जिसको इस अवस्था की जानकारी है, वही संत सदैव प्रमाण रहेगा।

अलंकार—(१) धरती उलटि····समाई—विरोधाभास।
(२) बिना पवन····कलोर—विभावना।
(३) बिनु देखे का करत वखान—वक्रोक्ति।

(१५३)

देव[१] करहु दया[२] मोहि मारगि लावहु जितु[३] भव बंधन टूटै[४]।
जरन मरन दुख घेरि करम[५] सुख जीअ जनम तैं[६] छूटै॥ टेक॥
सतगुर चरन लागि यौं बिनवौं जीवनि कहाँ तैं[६] पाई।
कवन[७] काजि जगु उपजै बिनसै कहहु मोहि समुझाई॥
आसा पास खंड नहि पाड़ै यहु मन सुन्नि न लूटै।
आपा पद[८] निरबानु न चीन्हां बिनु अनभै क्यूँ छूटै॥
कही न उपजै उपजी नहि जांनै भाव अभाव बिहूनां।
उदै अस्त की मति बुधि नासी[९] तउ सदा सहजि लिव लीना॥

---

१. ना० प्र०–बाबा। २. ना० प्र०–कृपा। ३. ना० प्र०–ज्यूँ। ४. ना० प्र०–षूटै। ५. ना० प्र०–करँन। ६. ना० प्र०–थैं। ७. ना० प्र०–जा कारनि हम उपजैं बिनसैं, क्यूँ न कहौ। ८. ना० प्र०–पर आनंद न बूझै। ९. ना० प्र०–नाही सहजि रॉम ल्यौ लीनां।

ज्यौं बिंबहि प्रतिबिंब समांनां उदकि कुम्भ बिगरांनां।
कहै कबीर जांनि भ्रम भागा तउ[1] मन सुन्नि समांनां ॥

शब्दार्थ—जितु = जिससे । जरन = जीर्ण हो जाना, जरावस्था । पास = बंधन । आसा = तृष्णा । पाडै = समर्थ । अनभै = भयरहित हो जाना । विहूना = रहित, विहीन । उदकि = जल मे । विगराना = विगलित होना, नष्ट होना । जानि = ज्ञान से । तउ = तव ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कवीर ने यह वतलाया है कि वास्तव मे अन्तरात्मा-परमात्मा मे अभेद है तथा अन्तरात्मा अमर है । तृष्णा और वासना के कारण यह जीव जन्म-मरण के चक्र मे पडा रहता है ।

व्याख्या—कवीर कहते है कि हे प्रभु ! मेरे ऊपर दया करके उस सन्मार्ग पर लगाओ, जिससे भव-वधन टूट जाय, जरा-मरण, दु ख-सुख, कर्म और जन्म के चक्र से मुक्ति मिल जाय । हे सद्गुरु ! मैं आपके चरणो मे नतमस्तक होकर यह प्रश्न पूछता हूँ कि यह जीव कहाँ से आया ? आप मुझे समझाकर वतलाइए कि यह ससार किस कारण से उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है ? मैंने जहाँ तक समझा है, तृष्णा और वासना के पाश को खडित करने मे यह जीव समर्थ नही होता । इसीलिए उसका वार-बार जन्म-मरण होता रहता है और वह सहज-शून्य के आनद का भोग नही कर पाता । जीव वास्तविक आत्मतत्व को, जो निर्वाण पद है, नही पहचानता । द्वैत के भय से रहित हुए विना उसे मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ?

अन्तर्निहित परम तत्व न उत्पन्न होता है, न विनष्ट होता है । वह भावाभाव-विवर्जित है । उदय-अस्त की गति भी उसमे नष्ट हो जाती है अर्थात् उसका न उदय होता है और न अस्त । वह अन्तस् मे सदा सहज रूप मे विद्यमान है, उसी मे ध्यान लगाना चाहिए ।

जिस प्रकार प्रतिविम्व विम्व से भिन्न नही है, उसी प्रकार अन्तरात्मा, परमात्मा से भिन्न नही है और जिस प्रकार घडे के फूट जाने पर उसका जल, जल मे ही समा जाता है, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म आदि उपाधियो के सर्वथा नष्ट हो जाने पर अन्तरात्मा, परमात्मा मे लीन हो जाता है । कवीर कहते है कि इस ज्ञान के उत्पन्न होने पर भ्रम नष्ट हो जाता है और तव चित्त सहज शून्य मे लीन हो जाता है ।

टिप्पणी—ज्यौं बिंबहि ··

इस चरण में कबीर ने अन्तरात्मा और परमात्मा की एकता को वेदान्त के दो प्रसिद्ध दृष्टान्तो द्वारा प्रतिपादित किया है । एक दृष्टान्त को विम्वप्रतिविम्व वाद कहते

---

१ ना० प्र०–जीवहि जीव समाना ।

है, जिसमे परमात्मा बिम्ब माना गया है और अन्तरात्मा प्रतिबिम्ब। दूसरे दृष्टान्त को अवच्छेदवाद कहते है, जिसके द्वारा यह बतलाया जाता है कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि शरीर अन्तरात्मा को परमात्मा से अवच्छिन्न (Limited) कर देते है। इन अवच्छेदो अथवा उपाधियो के सर्वथा नष्ट होने पर अन्तरात्मा परमात्मा मे लीन हो जाता है।

तुलनीय—(२) उदकि कुभ बिगराना····

जल मे कुंभ कुभ मे जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुभ जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी॥
—कबीर

अलकार—ज्यौ बिबहि प्रतिबिम्ब—उदाहरण।

राग—रामकली।

१५४

धागा ज्यूॅ टूटै त्यूॅ जोरि।
तूटै तूटनि होयगी, नॉ ऊँ मिलै बहोरि॥
उरझ्यो सूत पाँन नहि लागै, कूच फिरै सब लाई।
छिटकै पवन तार जब छूटै, तब मेरो कहा बसाई॥
सुरझ्यो सूत गुढ़ी सब भागी, पवन राखि मन धीरा।
पचूॅ भइया भए सनमुखा, तब यहु पान करीला॥
नॉन्हीं मैदा पीसि लई है, छॉनि लई द्वै बारा।
कहैं कबीर तेल जब मेल्हा, बुनत न लागी बारा॥

शब्दार्थ—धागा = प्रेम की डोर। ऊँ = वह। पाँन = माँडी। कूच = कूची। गुढी = गाँठे, गुत्थियाँ। पचूॅ = पच ज्ञानेन्द्रियाँ। बारा = विलम्ब। करीला (अ० करीना) = क्रम।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने कपड़ा बुनने के उपमानों द्वारा भक्ति का प्रतिपादन किया हे।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रेम की डोर प्रभु से सदैव लगी रहनी चाहिए। यदि कदाचित् वह टूट जाय तो उसे तत्काल जोड़ लेना चाहिए। उसके टूटने पर पूर्ण विच्छेद हो जाएगा। फिर उससे मिलना कठिन हो जाएगा। विषयो मे उलझे हुए तागे पर प्रभु-प्रेम की माँड़ी नही लग पाएगी, चाहे स धना रूपी कूँची चतुर्दिक क्यों न लगाई जाय। विषयो के झोंके से जब प्रेम का तागा प्रभु से विच्छिन्न हो जाएगा, तब जीव का क्या वश चलेगा? जव प्रेम का तागा विषय-विमुक्त हो जाएगा, सुलझ

(१५६)

नर[1] को नहि परतीति[2] हमारी ।
झूठा वनिज कियो झूठे सो, पूंजी सवन मिली हारी ॥
षट दरसन मिलि पंथ चलायो, तिरदेवा अविकारी ।
राजा देस बड़ो परपंची, रइयत[3] रहत उजारी ॥
इतते उत[4] उतते इत रहहीं, जम की सांट[5] सवारी ।
ज्यों कपि डोरि वांधि[6] वाजीगर, अपनो खुसी परारी ॥
इहै पेड़ उतपति परलय[7] का, विखया सवै विकारी ।
जैसे स्वान अपावन राजी, त्यों लागी संसारी ॥
कहैं कवीर यह अद्भुत[8] ज्ञाना, को मानै वात हमारी ।
अजहूँ लेउँ छुड़ाय काल सो, जो करै सुरति सँभारी ॥

शब्दार्थ—परतीति = प्रतीति, विश्वास । वनिज = वाणिज्य, व्यापार । पूँजी = मूलधन (प्र० अ०) आध्यात्मिक ज्ञान । हारी = नष्ट कर दिया । षट्दरसन = सतों के छः दर्शन—योगी, जगम, सेवड़ा, संन्यासी, दरवेश, ब्राह्मण । तिरदेवा = त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) । राजा = (प्र० अ०) मन । देश = (प्र० अ०) शरीर । रइयत = प्रजा । साट = कोड़ा । परारी = पराया । पेड = (प्र० अ०) मूल । उतपति परलय = जन्म-मरण । सुरति = अवधान, आत्म-चेतना ।

संदर्भ—सामान्यतः लोग गुरुआ लोगो के चक्कर मे पडकर मूल तत्वज्ञान को छोडकर वाह्याचार मे फँस जाते है और विषयासक्त हो जाते है । आत्मतत्व के साक्षात्कार से ही मानव की मुक्ति हो सकती है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सामान्यतः लोग मेरे कथन का विश्वास नही करते । वचक गुरुओं के चक्कर मे पडकर लोग उनके उपदेश के अनुसार वाह्याचार में फँस जाते है और तत्वज्ञान (मूलधन) को खो देते है । इन गुरुओं ने छ प्रकार के पंथ चलाए हैं । परन्तु ये सभी मार्ग त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) तक ले जाने वाले है । ये परमात्म-तत्व तक नही ले जाते ।

शरीर रूपी देश का राजा (मन) बहुत ही पापडी है । वह कर्मी जीव (प्रजा) को उजाडता रहता है अर्थात् आवागमन के चक्कर मे डाले रहता है । जीव इस लोक से उस लोक और उस लोक से इस लोक को आता-जाता रहता है और उसको दण्डित करने के लिए यम का कोडा तैयार रहता है । जैसे वदर पहले लोभ

१. वि०—नल । २. शुक०—परतीत । ३. शुक०—रैयत । ४. वि०—ऊत ऊतते इत रहु । ५. वि०—सांड । ६. वि०—बांधु । ७. वि०—परलै । ८. वि०—अदबुद ।

वश अपनी इच्छा से बाजीगर की डोरी मे बँध जाता है, फिर उसके वश मे आ जाता है, उसी प्रकार जीव कामवश विषयो मे फँसता है, फिर उससे छुटकारा नही पाता। जन्म-मरण का मूल यही काम है, यही वासना है। सभी जीव विषय के विकार से ग्रस्त है। जिस प्रकार श्वान मास आदि अपवित्र खाद्यो मे आनद लेता है, उसी प्रकार लोग सांसारिक विषयो मे आसक्त है। कबीर कहते है कि मेरा यह उपदेश कि 'आत्मतत्व को पहचानो, उसी से मुक्ति हो सकती है'—अद्भुत है, असाधारण है। लेकिन मेरे इस उपदेश को कौन सुनता है? जो कोई सँभालकर, भली प्रकार से वास्तविक आत्मतत्व का ध्यान करे, उसे मैं अब भी भव-जाल से मुक्ति दिला सकता हूँ, वह चाहे जितना ही विषयो मे क्यो न फँसा हो।

अलंकार—(१) राजा देस····उजारी—रूपकातिशयोक्ति।
(२) ज्यो कपि ··परारी तथा जैसे स्वान ··ससारी—उदाहरण।

(१५७)

नरहरि लागी दव[1] बिनु इंधन, मिलै न बुझावनहारा।
मैं जानौं तोही सो[2] ब्यापै, जरत सकल संसारा॥
पानी माँहि अगिनि[3] को अंकुर, जरत[4] बुझावै पानी।
एक न जरै जरै नव नारी, जुक्ति[5] न काहू जानी॥
सहर जरै पहरू सुख सोवै, कहै कुसल घर मेरा।
पुरिया जरै वस्तु निज उबरै, बिकल राम रंग तेरा॥
कुबुजा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की[6] सरधा।
करत विचार जनम[7] गौ खीसै, ई तन रहल[8] असाधा॥
जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मंद न कोई।
[9]कहै कबीर तेहि मूढ़ को, भला कवन बिधि होई॥

शब्दार्थ—नरहरि=श्रेष्ठ नर। दव = दावाग्नि (प्र० अ०) काम-क्रोध। नव नारी = अन्त करण चतुष्टय + पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। पहरू = पहरेदार (प्र० अ०) आत्मा। सहर = नगर (प्र० अ०) शरीर। कुबुजा = कुबडा (प्र० अ०) प्रकृति। पूजि = पूरा होना। सरधा = कामना, इष्ट वस्तु। खीसै = नष्ट। असाधा = असाध्य।

सदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि यद्यपि आत्मा शुद्ध, चैतन्य एव शात है, किन्तु जीव कामाग्नि से ग्रस्त रहता है। इसीलिए उसे सुख एव शाति नही मिलती।

---

१. वि०-दव विकार। २. शुक०-से। ३. शुक०-अग्नि। ४. वि०-मिलन बुझावन पानी। ५. वि०-जुक्ति काहु नहिं। ६. शुक०-के। ७ शुक०- जनम जनम। ८. शुक०-रहत। ९. वि०-कहँहि कबीर सभ नारि राम की मोते अवर न होई।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे श्रेष्ठ-नर ! साधना के विना ही काम-क्रोध रूपी दावाग्नि लग गई है। उसे बुझाने वाला कोई सद्गुरु नही मिलता। मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारे अविद्याजन्य काम से ही यह दावाग्नि व्याप्त है। इस अग्नि में सारा संसार जल रहा है। यद्यपि आत्मा आनंदस्वरूप (जल) है तथापि इस शरीर मे काम की अग्नि भी विद्यमान है। इस प्रज्वलित अग्नि को आत्मा रूपी जल ही बुझाने मे समर्थ है। इस अग्नि का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पडता। किन्तु अन्त:करण चतुष्टय और पच ज्ञानेन्द्रियाँ इस कामाग्नि के प्रभाव मे जलती रहती है। इसके बुझाने का उपाय सदगुरु के सिवाय कोई नही जानता है। इस अग्नि से मनोदैहिक नगर जलता है, फिर भी उसका रक्षक (पहरू) जीवात्मा निश्चित होकर सो रहा है और कहता है कि हमारे घर मे सब कुशल है। वह जानता ही नही कि घर में आग लगी हुई है। शरीर रूपी पुडिया जल रही है, फिर भी व्यक्ति सोचता है कि उसके भीतर निहित वस्तु (जीव) सुरक्षित है। हे प्रभु ! आपकी यह लीला विचित्र है। प्रकृति पुरुष के गले लगी हुई है अर्थात् पुरुष अपने विवेक द्वारा उससे अलग नही हो पाता। इसलिए मन की कामना पूरी नही हो पाती। विचार करते-करते सारा जन्म व्यतीत हो जाता है, फिर भी यह शरीर वश मे नही आता, वह साधा नही जा सका। कबीर कहते हैं कि जो जान-वूझकर कपट आचरण करते हैं अर्थात् यह जानते हुए भी कि भीतर कामाग्नि प्रज्वलित है, किन्तु उसे छिपाने की चेष्टा करते है, उनके जैसा कोई मूर्ख नही है। ऐसे मूर्ख का उद्धार भला किस प्रकार हो सकता है ?

अलंकार—(१) प्रथम पक्ति में विभावना।
(२) तीसरी पक्ति मे विरोधाभास।

(१५८)

नरहरि सहजें ही जिनि जाँनां।
गत फल फूल तत तरु[1] पल्लव, अंकुर बीज नसाँनां॥ टेक॥
प्रगट प्रकास ग्यांन गुरगमि थैं, ब्रह्म अगिनि परजारी[2]।
ससि हर[3] सूर दूर दूरंतर, लागी जोग जुग तारी॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा, मेर डंड सरपूरा।
गगन गरजि मन सुंनि समाँनां, बाजे अनहद तूरा॥
सुमति सरीर कबीर बिचारी, त्रिकुटी संगम स्वाँमी।
पद आनंद, काल थैं छूटैं, सुख मैं सुरति समाँनी॥

शब्दार्थ—नरहरि=नृसिह, प्रभु। सहजें=(१) स्वयं सिद्ध (२) स्वभावत।

१. ना० प्र०—तर पलव, अंकर। २. ना० प्र०— प्रजारी। ३. ना० प्र०—हरि।

तरु = वृक्ष (प्र० अ०) माया। बीज=(प्र० अ०) अविद्या। अकुर = (प्र० अ०) वासना। पल्लव = (प्र० अ०) मोह आदि। फल फूल=(प्र० अ०) विषय भोग। तन=उसके। गुरगमि=गुरु के मार्ग से या गुरु के प्रभाव से। परजारी=प्रज्वलित। ससि = चन्द्र (प्र० अ०) इडा। सूर = सूर्य (प्र० अ०) पिंगला। हर (फा०) = प्रत्येक। जुग=दोनो। तारी = समाधि। पवन=उदान वायु। चक्र षट=छः चक्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा)। मेरडण्ड = मेरुदण्ड, सुषुम्ना। सर पूरा=स्वर से पूर्ण हो गया। सुंनि = शून्य चक्र, सहस्रार। तूरा=तुरही। अनहद= अनाहत ध्वनि। सुमति = सुवुद्धि।

संदर्भ—सहजभाव से प्रभु की प्राप्ति होने पर कुंडलिनी का जागरण हो जाता है, तव अनाहत नाद की अनुभूति होती है और जीव आनंद-पद को प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि जिन्होने सहजभाव से भगवान् की अनुभूति कर ली है, वही उस अनुभूति के मर्म को समझते है, उस अनुभूति के अनन्तर उस साधक के माया-वृक्ष के विषय-भोग रूपी फल फूल, मोह रूपी पल्लव, वासना रूपी अंकुर और अविद्या रूपी बीज नष्ट हो जाते हैं। गुरु के द्वारा बताए गए मार्ग पर चलने से ज्ञान रूपी प्रकाश प्रकट हो जाता है, ब्रह्म-ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो जाती है।

इड़ा और पिंगला, जो एक दूसरे से दूर है—एक बायी ओर है, दूसरी दायी ओर, उनमे प्रवाहित प्राण और अपान वायु का योग या मिलन हो जाता है तथा समाधि लग जाती है। तब उदान वायु नीचे से ऊपर की ओर चलता है और उसी के साथ सुप्त कुण्डलिनी का जागरण होता है, जो मूलाधार, मणिपूर स्वाधिष्ठान, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा आदि षट्चक्रों का वेधन करती हुई, ऊपर सहस्रार तक चली जाती है और सुषुम्ना (मेरुदण्ड) अनाहत नाद से पूरित हो उठती है। परिवेष्टित आकश मे नाद ध्वनित होता है और चित्त शून्यचक्र (सहस्रार) मे समा जाता है। अनाहत नाद की आनन्दमयी तुरही वजने लगती है। कवीर विचारकर कहते है कि इस प्रकार सारा शरीर सुबुद्धि से व्याप्त हो गया और आज्ञाचक्र (त्रिकुटी) में जीव का प्रभु से साक्षात् मिलन हो गया। उसे आनन्द पद की प्राप्ति हुई। वह जन्म-मरण रूपी काल के पाश से मुक्त हो गया। चित्त की एकतानता (सुरति) उस आनन्द मे समा गई।

टिप्पणी—त्रिकुटी—दोनो भौहो के मध्य मे वह स्थान जहाँ तीनो नाड़ियो—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना-का मिलन होता है।

अलकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(१५९)

नहीं छांडउँ[1] रे बाबा रांम नांम।
मोहि अउर पढ़न सौं नहीं[2] कांम॥ टेक॥
प्रहलाद पधारे[3] पढ़नसाल, संगि सखा बहु[4] लिए बाल।
मोकउं[5] कहा पढ़वसि[6] आलजाल, मेरी पटिया[7] लिखि देहु स्री गोपाल।
संडै[8] मरकै कह्यौ जाइ, प्रहलाद बँधायो[9] बेगि धाइ।
तू रांम कहन की छांड़ि बानि, तुझ तुरत छुड़ाऊँ[10] मेरो कह्यो मांनि।
मोकउँ[11] कहा सतावहु बार बार, प्रभु[12] जल थल गिरि कीए पहार।
रांम छांडौं तौ मेरे गुरहि गारि, मोकउँ घालि जारि भावै मारि डारि।
तब काढ़ि खड़ग कोप्यो रिसाइ, तोहि राखनहारौ मोहि बताइ।
खंभा तैं[13] प्रगट्यौ गिलारि, हिरनांकस मारचौ नख बिदारि।
परम पुरख[14] देवाधिदेव, भगति[15] हेत नरसिंघ भेव।
कहै कबीर कोई लहै न पार, प्रहलाद उधारै[16] अनिक बार॥

शब्दार्थ—पढनसाल = पाठशाला। आल जाल = अलूलजलूल, व्यर्थ की बातें। पटिया = पाटी, तख्ती। संडै मरकै = शंड और मर्क नामक दो दैत्य। बानि = आदत। घालि = काट डालना। खड्ग = तलवार। गिलारि = मुरारि। बिदारि = फाडकर, विदीर्ण कर। देवाधिदेव = देवताओं के भी देव। हेत = लिए। भेव = भेप। उधारै = उद्धार किया। भावै = चाहे। पार = अंत। लहै = देख पाना, लक्षित करना।

व्याख्या—प्रस्तुत पद में राम नाम की महिमा भक्त प्रह्लाद के जीवन द्वारा प्रदर्शित की गई है। प्रह्लाद में बाल्यकाल से ही राम नाम के प्रति अटूट निष्ठा थी। वह प्रभु का नाम जपा करते थे। उनके पिता हिरण्यकशिपु राम नाम के विरोधी थे।

जब प्रह्लाद को समवयस्क बालकों के साथ अध्ययन के लिए पाठशाला भेजा गया तो वहाँ भी उन्होंने पट्टी पर राम नाम लिखना प्रारम्भ किया। गुरु ने कुछ और पढाना चाहा। तब उसके विरोध में प्रह्लाद ने कहा कि मैं राम नाम नहीं छोडसकता। राम नाम के अतिरिक्त मुझे अन्य कुछ पढने से क्या काम? मुझे और इधर उधर की व्यर्थ की बाते क्या पढाते हो? मेरी पट्टी पर प्रभु का नाम लिख दो। दो दैत्यो—शंड और मर्क-ने इस घटना की शिकायत हिरण्यकशिपु से की। उसने तत्काल प्रह्लाद को बुलवा

१. ना० प्र०–छाडौं। २. ना० प्र०–कौंन। ३ तिवारी–पढ ए। ४. ना० प्र०–लांये बहुत ५. ना० प्र०–मोहि। ६. ना० प्र०–पढावे। ७ ना० प्र०–पाटी मैं। ८. ना० प्र०–तब सनां मुरक्यां। ९. तिवारी–बुलाए। १० ना० प्र०–वेगि छुडाऊँ। ११ ना० प्र०–मो ह कहा डरावै। १२. ना० प्र०–जिनि जल थल गिर कौं कियौ। १३. ना० प्र०–मैं। १४. ना० प्र०–महापुरुष। १५. ना० प्र०–नरस्यंघ प्रकट कियौ भगति भेव। १६. ना० प्र०–ऊबारचौ अनेक बार।

कर बँधवा दिया और आदेश दिया—"तू राम नाम कहने की आदत छोड। मेरा कहना मान ले तो तुझे बधन से छुडवा दूँगा।" इस पर प्रह्लाद ने उत्तर दिया—"मुझे बार-बार क्यो सताते हो ? मेरे रक्षक प्रभु है। जल, थल, पर्वत आदि उन्ही की सृष्टि है। वह सर्वत्र मेरी रक्षा करेगे। यदि मै राम नाम की भक्ति छोड दूँ तो मेरे सच्चे गुरु (अन्तरात्मा) का अपमान होगा। मुझे आप चाहे काट डालें, जला डाले या मार डाले, मै राम-नाम नही छोड सकता।" इस पर हिरण्यकशिपु ने क्रोध मे आकर म्यान से तलवार निकालकर धमकाते हुए कहा—"बता, तेरा रक्षक कहाँ है ?" इतने ही मे निकट के खम्भे से परमपुरुष देवाधिदेव भक्त की रक्षा के लिए नृसिह रूप मे निकले और अपने नख से हिरण्यकशिपु का पेट चीरकर मार डाला। कबीर कहते है कि प्रभु के ऐश्वर्य का कोई पार नही पा सकता। उन्होने प्रह्लाद का विपम परिस्थितियो से अनेक बार उद्धार किया।

अलंकार—(१) प्रह्लाद पधारे—दृष्टान्त।
(२) लहै न पार—सम्बधातिशयोक्ति।

टिप्पणी—उपर्युक्त पद का आख्यान सगुण-भक्ति प्रदर्शक है। कबीर निर्गुण के उपासक थे। प्रभु की महिमा और शरणागतवत्सलता दिखाने के लिए उन्होने इस आख्यान को लिया है।

राग—बसंत।

(१६०)

नाचु रे मेरो मन नट होई। टेक॥
ग्यांन कै ढोल बजाइ रैनि दिन सबद सुनैं सब कोई।
राहु केतु अरु नवग्रह नाचैं जमपुर आनंद होई॥
छापा तिलक लगाइ बांस चढ़ि होइ रहु जग तैं न्यारा।
प्रेम मगन होइ नाचु सभा मैं रीझै सिरजनहारा॥
जौं तूं कूदि जाउ भवसागर कला बदौं मै तेरी।
कहै कबीर राजा रांम भजन सौं नव निधि होइगी चेरी॥

शब्दार्थ—रैनि = रात्रि। सबद = उपदेश। नवग्रह = सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु। बदौं = समझूँ, मानूँ। चेरी = दासी।

व्याख्या—प्रस्तुत पद मे कबीर मन को सम्बोधित करते हुए कहते है कि हे मन ! तू अपनी चचलता को एक आध्यात्मिक नट की कला मे परिणत कर दे। मन को किस प्रकार का नट होना है, इसका विश्लेषण करते हुए वह कहते है कि ऐ मेरे मन ! तू नट वनकर नाच। नट के रूप मे तू रात-दिन ज्ञान का ढोल वजा, जिससे

निसृत नाद को सभी लोग सुन सकें। तेरे इस आध्यात्मिक नृत्य का आनन्द यमपुर तक छा जाय और उस आनन्द में मग्न होकर राहु, केतु आदि नवग्रह भी तेरे साथ नाचने लगें। जिस प्रकार नट अन्य लोगों से पृथक् होकर, ऊपर बाँस पर चढकर अपनी कला का प्रदर्शन करता है, उसी प्रकार तू भी भक्ति में रत होकर, सासारिक जनो से परे होकर, अपने जीवन का निर्वाह कर। प्रभु के प्रेम में रत होकर तू दिल खोलकर इस प्रकार नाच कि सृष्टिकर्त्ता भी तेरी कला पर रीझ जाय। साधारण नट अपनी कला के प्रदर्शन मे अनेक प्रकार की छलांगें लगाता है, किन्तु यदि तू अपनी छलाँग मे भव-सागर को पार कर ले, तब मैं तुझे सच्चा कलाकार समझूँगा। कबीर कहते है कि प्रभु-भक्ति से नव-निधियाँ भी तेरी दासी बन जाएँगी।

अलंकार—रूपकगर्भित व्यतिरेक।

राग—विहागडा।

(१६१)

ना हरि भजसि[1] न आवति छूटी।
सब्दहि समुझि सुधारत नाहीं, आँधर भए[2] हियेहु की फूटी॥
पानी महँ पखान को[3] रेखा, ठोंकत उठै भभूका।
सहस घड़ी नित उठि जल ढारैं, फिर सूखे का सूखा॥
सेतहि सेत सेत अंग भौ, सन्नि बाढ़ि[4] अधिकाई।
जो सनिपात रोगिया मारै[5], सो साधुन[6] सिधि पाई॥
अनहद कहत कहत जग बिनसै, अनहद सिस्टि[7] समानी।
निकट पयाना जमपुर धावै, बोलै एकै बानी॥
सतगुरु मिले बहुत सुख लहिए, सतगुरु सब्द सुधारै।
कहै कबीर सो[8] सदा सुखारी, जो यह पदहि बिचारै॥

शब्दार्थ—सब्दहि = सार शब्द को। हियेहु की फूटी = ज्ञान-चक्षु नष्ट हो गया। पानी = (प्र० अ०) उपदेश। पखान = पाषाण (प्र० अ०) अज्ञानी। रेखा = (प्र० अ०) हृदय। भभूका = लपट, चिनगारी। सेतहि सेत = सभी कुछ श्वेत। सन्नि = सन्निपात, त्रिदोष (काम, क्रोध, लोभ)। रोगिया = (प्र० अ०) ससारासक्त जीव। अनहद = जिसका हद न हो, असीम, परमात्मा। पयाना = प्रयाण।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि जो काम-क्रोध को छोडकर आत्म-

१. वि०-भजै। २. वि०-अधँरे भयहु। ३. शुक०-को। ४. शुक०-सेन बाढी। ५. शुक०-मारै। ६. शुक०-साधन सिध। ७ शुक०-सृष्टि। ८. शुक०-ते सदा सुखी है।

तत्त्व को पहचानेगा उसी का कल्याण होगा। यान्त्रिक ढंग से नाम जपने से कोई लाभ नही।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सामान्य व्यक्ति न तो प्रभु की भक्ति करता है और न उसका विषयोन्मुख स्वभाव बदलता है। वह सारशब्द को समझकर अपने को नही सुधारता। उसका ज्ञान-चक्षु ही नष्ट हो गया है।

अज्ञानी जीव का हृदय पानी मे पडे हुए पत्थर के समान है, जिस पर उपदेश का कोई प्रभाव नही पड़ता। उपदेश की चोट से उसकी दमित वासनाएँ और भभक उठती है। उसका हृदय ऐसे पत्थर के समान है जिस पर हजारो घडे जल डालिए, फिर भी अन्ततः वह सूखे का सूखा ही रहता है। वह अदर से गीला नही हो सकता। ऐसे ही अज्ञानी जीव पर उपदेश का कोई प्रभाव नही पड़ता। शरीर धीरे-धीरे वार्धक्य की ओर बढता है, अंग कमजोर होने लगते है, केश श्वेत हो जाते है और काम, क्रोध, लोभ रूपी त्रिदोष के संयोग से सन्निपात का प्रकोप हो जाता है। जो रोगी वैराग्य के द्वारा इस सन्निपात से मुक्त हो सके, वह संतो की सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। परमात्मा का नाम लेते-लेते यह संसार नष्ट होता रहता है अर्थात् केवल प्रभु का नाम लेने से फल नहीं प्राप्त हो सकता। वह परमात्मा तो सारी सृष्टि मे व्याप्त है। वह अलग कहाँ से प्राप्त हो सकता है ? वह सभी के अत्यत निकट है अर्थात् घट मे विद्यमान है। फिर भी लोग उसे प्राप्त करने के लिए दूर-दूर तक यात्रा करते है। इस प्रकार वे लोग कालचक्र में ही फँसे रहते है और मुख से एक ही प्रकार की वाणी बोलते रहते है—राम राम या कृष्ण कृष्ण कहते रहते है। यदि सद्गुरु की प्राप्ति हो जाय तो सच्चा सुख मिल सकता है, क्योकि वह सारशब्द का रहस्य बता सकता है। कबीर कहते है कि जो इस पद के मर्म को समझ सके, उसे शाश्वत सुख मिल सकता है।

अलंकार—(१) पानी महँ······ भभूका—दृष्टान्त।
(२) रूपकातिशयोक्ति।

(१६२)

निरगुन रांम जपहु रे भाई।
अविगत की गति लखी न जाई॥ टेक॥
चारि वेद अरु[1] सुम्रित पुरांनां, नौ व्याकरनां मरम न जांनां।
सेस नाग जाकै गरुड़ समांनां, चरन कंवल कंवला नहिं जांनां।
कहै कबीर सो[2] भरमै नांहीं, निज जन बैठे हरि की छांहीं॥

१. ना० प्र०—जाके। २. ना० प्र०—जाकै भेदै नाँही।

शब्दार्थ—अविगत = जो समझ मे न आवे, अज्ञात। सुंम्रित = स्मृति। नौ व्याकरना = नौ व्याकरण (इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, शाकटायन, पिशालि, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र, सरस्वती)। समाना = समा गया। कवला = कमला, लक्ष्मी।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि प्रभु शास्त्र और बुद्धि की पहुँच के बाहर है। शरणागति के द्वारा ही निर्गुण राम का साक्षात्कार हो सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे भाइयो! निर्गुण राम का जप करो। वह बुद्धि के परे है। अत बुद्धि द्वारा उनकी जानकारी नही हो सकती। चारो वेद, स्मृति ग्रंथ, पुराण और नौ व्याकरण भी उनके मर्म को न जान पाए। परम ज्ञानी समझे जाने वाले शेपनाग को भी प्रभु की सवारी गरुड खा जाता है अर्थात् गरुड के समक्ष शेपनाग का ज्ञान निरर्थक हो जाता है। अत. वह प्रभु का स्वरूप कैसे समझते है? विष्णु के चरण-कमलो की निरन्तर सेवा करने वाली लक्ष्मी भी उनके मर्म को नही जानती। कबीर कहते है कि जो प्रभु की शरण में आ गए है, उन्हें कोई भ्रम नही रहता। वे उनके रहस्य को जानते है।

अलंकार—(१) चारि वेद····न जाना—सम्बधातिशयोक्ति।
(२) सेसनाग··· समाना—पर्यायोक्ति।

राग—गौरी।

(१६३)

निरमल निरमल[1] हरि[2] गुन गावै।
सो भाई[3] मेरै मनि भावै॥ टेक॥
जो जन लेइ खसम[4] का नांउं, तिनकै[5] मै बलिहारै[6] जांउं।
जिहि घटि रांम रहा[7] भरपूरि, तिनकी[8] पद पंकज हंम धूरि।
जाति जुलाहा मति का[9] धीर, सहजि[10] सहजि गुन रमै कबीर॥

शब्दार्थ—खसम (स०) = (१) आकाश के समान निर्मल और व्यापक। (२) (फा०)—स्वामी, पति। मति धीर = स्थितप्रज्ञ, वस्तुतत्व, निश्चयवती बुद्धि मे स्थित। सहजि = सहज मे। सहजि = सरलतापूर्वक।

व्याख्या—प्रस्तुत पद मे कबीरदास ने राम-भक्ति को जीवन का सार बताया है।

---

१. गुप्त–त्रिमल त्रिमल। २. ना० प्र०–राम गुण। ३. ना० प्र०–गुप्त–भगता। ४ ना० प्र०–गुप्त-राम कौ। ५. ना० प्र०–ताकी। ६. ना० प्र०–वलिहारी ७ ना० प्र०, गुप्त-रहे। ८. ना० प्र०, गुप्त–ताकी मैं चरनन की धूरि। ९. ना० प्र०–कौ। १०. ना० प्र०, गुप्त–हरषि हरषि गुण।

वह कहते है कि वही भक्त मुझे प्रिय है जो निर्मल होकर भगवान् के निर्मल गुण का गान करता है। जो आकाश के समान व्यापक और निर्मल स्वामी के नाम का जप करता है, मैं उसकी बलिहारी जाता हूँ। जिसके चित्त मे राम पूर्ण रूप से बस रहे है, मै उसके चरणों की धूलि हूँ। कबीर कहते है कि यद्यपि मै जाति का जुलाहा हूँ तथापि मेरी प्रज्ञा मे 'धी' (बुद्धि) स्थित हो गई है अर्थात् मै वस्तुतत्व अथवा निश्चयवती बुद्धि मे स्थित हूँ और सहज भाव से परम तत्व मे रम रहा हूँ।

अलंकार—'सहजि सहजि' मे यमक।

राग—गौरी।

(१६४)

पँडिआ[1] कवन कुमति तुम[2] लागे
बूड़हुगे[3] परिवार सकल सिउँ राम न जपहु अभागे ॥ टेक ॥
वेद पुरांन पढ़े[4] का क्या गुन खर चंदन जस[5] भारा।
रांम नांम की[6] गति नहिं जांनीं कैसे उतरसि पारा ॥
जीउ[7] बधहु[8] सु धरमु करि थापहु अधरम कहहु[9] कत भाई।
आपन[10] कौं मुनिवर करि[11] थापहु काकौ कहौं कसाई ॥
मन[12] के अंधे आपि न बूझहु काहि बुझावहु भाई।
माया कारनि बिद्या बेचहु जनमु अबिरथा जाई ॥
नारद बचन बिआस कहत[13] है सुक[14] कौं पूछहु जाई।
कहै[15] कबीर रांमै रमि छूटहु नांहि त बूड़े भाई ॥

शब्दार्थ—पडिआ = शास्त्रज्ञ, पडित। सिउँ = सहित। खर = गधा। गुन = लाभ। कत (स० कुत) = किस प्रकार। थापहु = स्थापित करते हो। गति = मर्म। माया = धन, सम्पत्ति। अबिरथा = वृथा, निरर्थक। बिआस = व्यास।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे शास्त्र के नाम पर की जाने वाली हिंसा एवं बाह्याचार का विरोध किया गया है।

---

१. ना० प्र०–पाडे। २. ना० प्र०–तोहि लागी। ३. ना० प्र०–तूं राम न जाहि अभागी। ४. ना० प्र०–पढत अस पाडे। ५. ना० प्र०–जैसे। ६. ना० प्र०--तत समझत नाँही, अंति पडे मुखि छारा। ७ ना० प्र०–में दो पँक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

वेद पढ्याँ का यह फल पाडे, सब कहिं देखै रॉमाँ।
जन्म मरन थें तौ तूँ छूटै, सुफल हूँहि सब कॉमाँ॥

८. ना० प्र०–बधत अस। ९. ना० प्र०–कहा हैं। १०. तिवारी-आपस। ११. ना० प्र०–हैं बैठे। १२. ना० प्र० में ये दो पंक्तियाँ नहीं है। १३. ना० प्र०–यौ भाषैं १४. ना० प्र०–सुखदेव पूछौ जाई। १५. ना. प्र०–कहै कबीर कुमति तब छूटै, जो रहौ राम ल्यौ लाई।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे पंडित ! तुम किस दुर्बुद्धि के शिकार बन गए हो ? तुम शास्त्र के नाम पर दूसरो को ठगते हो। अपने इस आचरण के कारण सपरिवार नरक मे जाओगे। हे अभागे ! तुम पाषंड छोड़कर राम नाम का जप क्यों नही करते ?

केवल वेद-पुराण के अध्ययन से क्या लाभ ? जब तक कि उसके आदर्शों को आचरण में परिवर्तित न किया जाय। आचारहीन शास्त्रज्ञान वैसे ही निरर्थक है जैसे गधे के ऊपर चदन का बोझ। तुमने राम नाम के मर्म को नही समझा। अत· इस भवसागर से कैसे पार उतरोगे ?

तुम धर्म के नाम पर जीवों का बलिदान करते हो। फिर यह बताओ कि अधर्म क्या है ? इस अधर्माचरण के करते हुए भी श्रेष्ठ संत बनने का दावा करते हो। तो फिर हम कसाई किसे कहे ? यदि तुम्हारे अन्तश्चक्षु नही खुले तो पुस्तकीय ज्ञान से क्या लाभ ? तुमने स्वयं शास्त्रो का मर्म नही समझा। फिर दूसरों को क्या समझाओगे ? तुम धन के लिए विद्या बेचते हो। तुम्हारा मानव जन्म व्यर्थ चला जाएगा। नारद और वेदव्यास ने भक्ति की महिमा का गान किया है और शुकदेव ने उसी की पुष्टि की है। तुम उनके द्वारा भी भक्ति के महत्व का पुष्टीकरण पाओगे। कबीर कहते है कि पाषंड छोडकर राम मे अनुरक्त हो जाओ। तभी तुम्हें मोक्ष मिलेगा, अन्यथा भवसागर मे डूबना अवश्यंभावी है।

अलंकार—(१) खर चंदन जस भारा—उपमा।
(२) काकौं कहौं कसाई—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(१६५)

पंडित एक[1] अचरज बड़ होई।
एक मरे[2] मुए अन्न नहि खाई, एक मरे[3] सीझै रसोई॥
करि अस्नान देवन की पूजा, नवगुन[4] कांध जनेऊ।
हँड़िया हाड़ हाड़ थारी मुख, अब[5] षट कर्म बनेऊ॥
धरम कथैं[6] जहँ जीव बधै तहँ, अकरम करे मोरे भाई।
जो तोहरा को ब्राह्मन कहिए, तो काको कहिए कसाई॥
कहैं कबीर सुनो हो संतो, भर्म भुली[7] दुनियाई।
अपरम्पार पार पुरुषोतम, या गति बिरलै पाई॥

१. वि०—अचरज एक। २. शुक०—मरि। ३. शुक०—मरि। ४. वि०—नौगुनि। ५. शुक०—औ। ६. शुक०—करै तह जीव बधत हैं। ७. शुक-वि०—भूलि।

शब्दार्थ—एक=कुछ लोग। सीझै=पकाते हैं। रसोई=भोजन। कथै=कथा होती है। षट्कर्म=स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम। अकरम=निषिद्ध कर्म। भर्म=भ्रम, अधर्म को धर्म समझना। अपरमपार=असीम। पार=परे। गति=अवस्था।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा का विरोध किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे पडितो! एक बडे आश्चर्य की बात है। कुछ लोग ऐसे है जो तब तक भोजन नही करते, जब तक घर मे मृत प्राणी का शव बाहर नही चला जाता। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे है जो मृत पशु से रसोई बनाते हैं।

ब्राह्मणो के लिए षट् कर्म (स्नान, संध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम) के द्वारा शुद्ध होकर भोजन करना विहित है। किन्तु वही ब्राह्मण स्नान करके, देवता की पूजा करके, नव गुण युक्त जनेऊ कंधे पर डाले हुए, हाँड़ी (भोजन बनाने का पात्र) मे हड्डी पका कर, उसे थाली मे परोसकर और मुख से उसे चूसकर स्वाद लेते हैं। अब उनका कैसा अच्छा षट्कर्म बना है ?

जहाँ यज्ञादि स्थलो पर धर्म की कथा होती है, वही जीव-वध भी होता है। इस प्रकार ये तथाकथित पडित लोग पाप-कर्म करने मे प्रवृत्त रहते हैं। ऐसे लोगों को यदि ब्राह्मण कहा जाय तो फिर कसाई किसे कहा जाय ? कबीर कहते हैं कि हे भाई! सुनो। ससार के लोग अधर्म को धर्म कहते हैं। यही उनका सबसे बड़ा भ्रम है। परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्राप्त करना ही परम पद है। यह अवस्था बिरले पुरुषो को ही प्राप्त होती है।

अलंकार—अब षटकर्म बनेऊ—वक्रोक्ति।

(१६६)

पंडित देखहु मन में जानी।
कहु धौं छूति कहाँ से[1] उपजी, तबहि छूति तुम मानी॥
नादे बिंदु रुधिर के संगे, घटही[2] में घट सपचै[3]।
अस्ट कमल होइ पुहमी आया, छूति[4] कहाँ से उपजै।
लख चौरासी नाना[5] वासन, सो सब सरि भौ माटी।
एकहि पाट सकल बैठाए, छूति लेत धौं काकी[6]।

१. वि०—ते। २. शुक—घर हीं। ३. शुक०—सपनै। ४. वि०—छूती। ५. शक०—बहुत वासना। ६. शुक०—काटी।

छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन, छूतिहि जग उपजाया[1]।
कहैं कबीर ते छूति विवरजित, जाके संग न माया।।

शब्दार्थ—नादे=पवन, प्राण। विदु=वीर्य। रुधिर=स्त्री का रज। घट=शरीर। सपचै=पूर्णता को प्राप्त होता है, बढ़ता है। पुहुमी=पृथ्वी। वासन=मिट्टी के बर्तन। सरि=सड कर। पाट=पीढा। जेवन=भोजन, अन्न। अँचवन=पानी। विवरजित=रहित।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने बताया है कि प्राणी की तीन स्थितियाँ होती है—जन्म, जीवन और मरण। तीनो स्थितियो मे सभी प्राणी एक समान रहते है और तीनो के मूल मे गदगी है। फिर छुआछूत का भेद-भाव कैसा ?

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे पडित ! मन मे भली प्रकार से विचार करके देखो। भला बताओ कि छूत क्या है और कहाँ से उत्पन्न हो गई ? तुमने बिना सोचे-समझे छूत नामक एक भावना बना ली है।

स्त्री के गर्भ मे पवन, रज और वीर्य के संयोग से कलल आदि की वृद्धि होती है। आठवें कमल (मूलाधार चक्र) के निकट स्थित योनि से सभी का शरीर पृथ्वी पर आता है, वह चाहे जिस जाति, वर्ग या लिंग का हो। वह चाहे ब्राह्मण हो या गैर ब्राह्मण। सभी का जन्म एक ही प्रक्रिया से होता है। फिर यह छूति कहाँ से आ गई ? प्रत्येक प्राणी चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता है। वह एक के बाद दूसरा शरीर धारण करता है और अन्तत: सभी शरीर (बर्तन) मिट्टी मे मिल जाते है। प्रभु ने एक ही पृथ्वी रूपी पीढे पर सभी को समान रूप से बिठा दिया है। फिर तुम किसको छूत कहोगे और किसे अछूत ? अन्न और जल जिसका भोजन और पान किया जाता है, गदगी से संयुक्त है और सारे संसार के मूल द्रव्य रज-वीर्य, गोबर आदि गदे है। इसी छूत से सभी उत्पन्न है, फिर उनसे कौन बचा है ? अत. छुआछूत का भेदभाव निरर्थक है। कबीर कहते है कि वास्तव मे छूत मे वही लोग परे है, जिन पर माया का प्रभाव नही है।

तुलनीय—काम क्रोध छूतक महा, छूतक लोभ समाय।
शील सरोवर न्हाइए, तब यह छूतक जाय।।

अष्ट कमल—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रदल और सुरति कमल—ये आठ चक्र होते है, जिन्हे आठ कमल कहा गया है। यहाँ 'अस्ट' का तात्पर्य है—आठवाँ अर्थात् मूलाधार, जो योनि के निकट होता है।

---

१. वि०-जगत उपाया।

(१६७)

पंडित देखहु हृदय बिचारी, को पुरुषा को नारी।
सहज समाना घट घट बोलै, वाको[1] चरित अनूपा।
वाको नाम काह कहि लीजै, वाके बरन न रूपा॥
तै मैं काह करसि नर[2] बौरे, क्या तेरा क्या मेरा।
राम खोदाय सक्ति सिव एकै, कहु धौ काहि निहोरा[3]॥
बेद पुरान कितेब कुराना,[4] नाना भाँति बखाना।
हिन्दू तुरुक जैन[5] औ जोगी, ये कल काहु न जाना॥
छौ दरसन महँ जो परमाना,[6] तासु नाम मन माना।
कहैं कबीर हमहीं पै बौरे, ये सब खलक सयाना[7]॥

शब्दार्थ—सहज=स्वाभाविक रूप से। अनूपा=अनुपम। निहोरा=विनती, प्रार्थना। कल=शांति, चैन। परमाना=प्रमाण। खलक (अ० खल्क)=संसार।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि परम तत्त्व एक है। उसका न कोई वर्ण है, न आकार। वह सभी मे समान रूप से विद्यमान है। धर्मग्रंथो मे इसी का विविध शब्दों मे वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि पुरुष और नारी का भेद शरीर को लेकर है। आत्मा न स्त्री है, न पुरुष। हे पंडित! इसे विचार कर देखो! आत्मा प्राणधारी होकर जीव रूप मे स्वाभाविक रूप से प्रत्येक शरीर मे प्रकट होता है। वह अनुपम है। उसका समकक्ष कोई नही है। उसको किस नाम से पुकारे? उसका न कोई रंग है, न रूप। हे बावले मनुष्यो! अपने पराए का भेद क्या करते हो? न कुछ अपना है, न पराया। वास्तविक तत्त्व परमात्मा है। कोई राम की पूजा करता है, कोई खुदा की, कोई शक्ति की और कोई शिव की। वस्तुतः सभी मे एक ही परम तत्व विद्यमान है। तो फिर किसी विशेष की उपासना कैसे की जाय? हिन्दू और मुसलमानो के धर्मग्रंथो में उसी तत्त्व का नाना रूपो मे वर्णन किया गया है। हिन्दू, मुसलमान, जैनी और योगी कोई भी शांति नही जानते। (यदि 'एकल' पाठ लिया जाय तो अर्थ होगा—ये लोग उस अद्वैत परमात्मा को नही जानते।) जो परमतत्व पट् दर्शन का प्रमाण है, उसी का नाम लोग इच्छानुसार लेते हैं। कबीर कहते हैं कि हमारे जैसे आत्मज्ञ लोग ही बावले और नाना प्रकार के भेद मानने वाले ससार के लोग ही ज्ञानी समझे जाते है।

---

१. वि०—व के। २. वि०—नल। ३ शुक०—निवेरा। ४. वि०—कुरान कितेवा। ५. शुक०—जैनी। ६. शुक०—परवाना। ७. शुक०—समाना।

तुलनीय—(१) को पुरुषा को नारी··· श्वेताश्वतर उपनिषद् मे कहा गया है कि वह परमतत्व न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक। वह जैसा शरीर धारण करता है, उससे युक्त हो जाता है —

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाय नपुंसक.।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥ (५।१०)

(२) वाको चरित अनूपा

'न तस्य प्रतिमा अस्ति।
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।' (श्वेत० ४।१९;६।८)

'उसकी कोई प्रतिमा नही है। उसके न कोई समान है, न अधिक। वह अनुपम है।

(३) वाके बरन न रूपा····

स एकोऽवर्णः··········· ····वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति (श्वेता० ४।१)

'वह अद्वितीय बिना रंग का है, किन्तु अनेक रगो को धारण करता है।'

× × ×

तुर्फ बेरंगी कि दारद रग हाये सद् हजार।
तुर्फ बेशक्ली कि दारद शक्ल हाये बेशुमार ॥

'आश्चर्य है कि उसका अपना कोई रग नही है, किन्तु वह हजारो रग धारण करता है। आश्चर्य है कि उसका कोई रूप नही है, किन्तु वह असंख्य शक्लो को धारण करता है।'

(४) बेद पुरान कितेब कुराना····

रुचीना वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

—महिम्नस्तोत्र।

'हे प्रभु ! रुचि के वैचित्र्य से ऋजु और कुटिल नाना पंथो को मानने वाले मनुष्यो के आप ही एक लक्ष्य है, जैसे सभी जलो का एक मात्र लक्ष्य समुद्र है।'

अलंकार—प्रथम पंक्ति मे वक्रोक्ति।

(१६८)

पंडित बाद बदै[1] सो झूठा ।
रांम कहें[2] दुनिया[3] गति पावै ख़ांड़ कहें मुख मीठा ॥ टेक ॥
पावक कहें[4] पांव जे दाझै जल कहें[5] त्रिखा बुझाई ।
भोजन कहें भूख जे भाजै तो सब[6] कोई तिरि जाई ॥
नर कै संगि[7] सुवा हरि बोलै हरि परताप न जांनैं ।
जौ कबहूँ उड़ि जाइ जंगल मैं बहुरि[8] सुरति नहिं आंनैं ॥
बिनु[9] देखें बिनु अरस परस बिनु नांम लिए का होई ।
धन के कहें धनिक जौ होई तौ निरधन रहै न कोई ॥
सांची प्रीति बिखै माया सौं हरि भगतन सौं हांसी[10] ।
कहै कबीर प्रेम[11] नहिं उपजै तौ बाँधे जमपुर जासी ॥

शब्दार्थ—बाद = वाक्य ज्ञान, तर्क । बदै = कहते है । दाझै = दग्ध होना । त्रिखा = तृषा, प्यास । सुवा = तोता । सुरति = स्मृति । जासी = जाएगा ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि अनुभूति से रहित वाक्य-ज्ञान अथवा तर्क-वितर्क निरर्थक है ।

व्याख्या—कवीर कहते है कि केवल शास्त्र के आधार पर पडित लोग जो अनुभूति रहित ज्ञान की बाते करते हैं, वे निरर्थक है । राम नाम का केवल उच्चारण करने से ससार का कोई भी व्यक्ति उसी प्रकार मोक्ष नही प्राप्त कर सकता, जिस प्रकार खाड के उच्चारण-मात्र से मुँह मीठा नही हो सकता । यदि अग्नि के कहने मात्र से किसी का पैर जल जाय, जल का नाम लेने से ही किसी की प्यास बुझ जाय और भोजन का नाम लेने से यदि भूख चली जाय तो राम का नाम लेने से भी सभी लोग भव-सागर पार कर जाएँगे ।

घर में पला हुआ तोता मनुष्य के संसर्ग से 'राम' नाम का उच्चारण करने लगता है, यद्यपि वह नाम के मर्म से अनभिज्ञ रहता है और जब कभी वह उड़कर जंगल मे चला जाता है तो फिर उसे राम नाम की याद भी नही आती है ।

अनुभूति के विना नाम लेने से क्या लाभ ? यदि 'धन' का नाम लेने से कोई धनी हो जाय तो फिर संसार मे कोई निर्धन रह ही न जाय । सामान्यत' लोग विषयों से सच्चा प्रेम करते है और प्रभु-भक्तो की हँसी उडाते है । कवीर कहते है कि यदि

१. ना० प्र०—वदंते । २. ना० प्र०—कह्यां । ३. वि०—जो जगत । ४. ना० प्र०—कह्यॉं । ५. ना० प्र०—कहि । ६. वि०—दुनिया । ७. ना० प्र०—साथि । ८. वि०—तौ हरि । ९. ना० प्र० की प्रति में ये दो पंक्तियाँ नहीं हैं । १०. वि०—की फांसी । ११. वि०—एक राम भजे विनु ।

हृदय में प्रभु के प्रति सच्चा प्रेम नही उत्पन्न होता तो राम नाम का उच्चारण करने वाले की भी वही गति होगी, जो साधारण जनों की होती है अर्थात् वह यमराज का शिकार बनेगा।

अलकार—(१) विनु देखे ... का होई—वक्रोक्ति।
(२) तीसरी, चौथी, पाँचवी और आठवी पंक्ति में दृष्टान्त।

राग—गौरी।

(१६९)

पंडित मिथ्या करहु विचारा, ना वह सृष्टि न सिरजनहारा।
थूल अस्थूल पवन नहि पावक, रवि ससि धरनि न नीरा।
जोति सरूप[1] काल नहि[2] तहँवा[3], वचन न आहि सरीरा॥
धर्म[4] कर्म कछु नाहीं उहवाँ, ना वहँ[5] मंत्र न पूजा।
***संजम सहित भाव नहि उहवाँ, सो धौं एक कि दूजा॥**
गोरख राम एकौ नहि उहवाँ, ना वह बेद विचारा।
हरि हर ब्रह्मा नहि सिव सक्ती, तीर्थउ[6] नाहि अचारा॥
माय बाप गुरु जाके[7] नाहीं, सो दूजा कि अकेला।
कहै कबीर जो अब की बूझै, सोइ[8] गुरु हम चेला॥

शब्दार्थ—वहाँ=आत्मस्वरूप, ब्रह्मपद। थूल=स्थूल शरीर। अस्थूल=सूक्ष्म शरीर। पावक=अग्नि। धरनि=पृथ्वी। नीर=जल। बचन=वाक् शक्ति। सरीरा=कारण शरीर। सजम=धारणा, ध्यान, समाधि की सयुक्त साधना। गोरख=सिद्ध पुरुष।

सदर्भ—इस पद मे चरम सत्य निर्गुण ब्रह्म की स्थिति का निरूपण किया गया है। वही वास्तविक स्वरूप है। वहाँ सृष्टि-सहार का कोई प्रश्न नही है।

व्याख्या—हे पडित! तुम व्यर्थ मे शास्त्र की बाते करते हो। जो चरम सत्य है अर्थात् वास्तविक स्वरूप है, वहाँ न सृष्टि है और न सृष्टि का कर्त्ता (सृष्टि का कर्त्ता सगुण ब्रह्म होता है)। वहाँ न स्थूल शरीर है, न सूक्ष्म शरीर, न पवन है न अग्नि, न सूर्य है न चन्द्र, न पृथ्वी है न जल। वहाँ न वाक् शक्ति है न कारण शरीर। वहाँ जब शरीर ही नही है, तब धर्म-कर्म कैसे हो सकते है? वहाँ न मत्र है न पूजा। वहाँ किसी प्रकार की सयम-साधना भी नही है। ऐसी स्थिति मे उसे एक कहा जाय या दो? वहाँ

१ शुक०--स्वरूपी। २. शुक०--न। ३. वि०--उहँवा। ४. वि०--करम धरम किछूवो। ५. शुक०--न वहाँ। ६. वि०--ना वहँ तिरथ। ७. शुक०--जहवा ८. शुक०-सोई।
* ये दो पँक्तियाँ शुक० की प्रति में नही हैं।

न गोरख जैसे सिद्ध पुरुष है, न अवतारी राम। वहाँ वेद आदि की चर्चा भी नही होती। वहाँ न शिव है, न विष्णु, न ब्रह्मा है न शक्ति, न तीर्थ है न आचार। उस परम तत्त्व (निर्गुण ब्रह्म) की न कोई माता है न पिता। अत. उसे एक कहे या दो अर्थात् वहाँ द्वैताद्वैत का झमेला नही है। कबीर कहते है कि जो इस निर्गुण परमतत्त्व के मर्म को समझ जाय, वह ज्ञाता की दृष्टि से मेरे गुरु के समकक्ष है। मै उसका शिष्यत्व स्वीकार करने को तैयार हूँ।

(१७०)

पंडित सोधि कहहु[१] समुझाई, जाते आवागमन नसाई।
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष कहु, कवन दिसा बसे भाई।।
उतर कि दच्छिन[२] पुरुब कि पच्छिम, सरग[३] पताल कि माँही।
बिनु[४] गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नरक जात धौं काँही[५]।।
अनजाने को सरग नरक है, हरि जाने को नाँहीं।
जेहि डर ते[६] सब[७] लोग डरत हैं, सो डर हमरे नाँहीं।।
पाप पुन्न की संका नाहीं, सरग नरक नहिं जाहीं।
कहै कबीर सुनो हो संतो, जहँ[८] पद तहइं समाहीं।।

शब्दार्थ—सोधि = विचारकर। बसे = रहते है। माँही = मध्य मे। ठौर = स्थान। अनजाने = अज्ञानी। पद = परम पद।

सदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि स्वर्ग-नरक की कल्पना अज्ञानियो के लिए है, ज्ञानियों के लिए नही तथा चारो पुरुषार्थ इसी जीवन मे है, कही बाहर नही।

व्याख्या—हे पडित ! विचार कर, सभी को समझाकर वह मार्ग बताओ जिससे आवागमन नष्ट हो जाय। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिन्हे तुम पुरुषार्थ कहते हो, वे किस दिशा मे रहते है ? ये चारो पुरुषार्थ पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, स्वर्ग-पाताल या दोनो के मध्य कहाँ रहते है ? तात्पर्य यह है कि चारो पुरुषार्थ कही बाहर नही विद्यमान है, बल्कि मानव के भीतर ही रहते है।

जब यह माना जाता है कि प्रभु सर्वत्र है, सर्वव्यापी है, उससे रहित कोई स्थान नही है तो फिर यह नरक कहाँ से आ गया ? कोई नरक कैसे जा सकता है ? वस्तुत. स्वर्ग-नरक की कल्पना अज्ञानी के लिए है। जो प्रभु को जान गया है, उसके लिए कही भी न स्वर्ग है और न नरक। जिस नरक के भय से सभी भयभीत

---

१ शुक०—कहो। २ शुक०—दक्षिण पूर्व। ३. शुक०—स्वर्ग। ४ शुक०—विना। ५. वि०—काहे। ६. शुक०— को। ७. वि०—भव। ८. शुक०—जहाँ का पद है तहाँ तमाही।

है, वह भय ज्ञानियो को नही रहता। ज्ञानी पुरुष न तो पाप-पुण्य की दुविधा में पड़ता है और न स्वर्ग-नरक के चक्कर मे। कबीर कहते हैं कि हे सतो! सुनो। ज्ञानी पुरुष परम पद (ब्रह्म) में ही समा जाता है, वह न स्वर्ग जाता है, न नरक।

तुलनीय—(१) 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव
सन् ब्रह्माप्येति अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥'

(बृहद्० ४।४।६)

'ज्ञानी पुरुष के प्राण का ऊर्ध्वगमन नही होता। वह यही (जीवन में) ब्रह्म होकर ब्रह्म में मिल जाता हैं।'

(२) कबीर ने बीजक मे भी कहा है—
ज्ञान अमर पद बाहिरे, नियरे ते है दूरि।
जो जानै तेहि निकट है, रहा सकल घट पूरि ॥

(१७१)

पवनपति उनमनि रहनु खरा।
तहाँ जनम न मरन जुरा ॥ टेक ॥
मन बिदत बिदहि पावा, गुरमुख तैं अगम बतावा।
जब नख सिख यहु मन चीन्हा, तब अंतरि मज्जनु कीन्हा।
उलटीले सकति सहारं, पैसीले गगन मझारं।
बेधीले चक्र भुअंगा, भेटीले राइ निसंगा।
चूकीले मोह पियासं, तहाँ ससिहर सूर गरासं।
जब कुंभक भरिपुरि लीनां, तब बाजै अनहद बीनां।
मैं बकतैं बकति सुनावा, सुरतैं तहाँ कछू न पावा।
कहै कबीर बिचारं, करता लै उतरसि पारं ॥

शब्दार्थ—पवनपति = प्राण। रहनु = स्थित हो जाना। खरा = सच्चा। जुरा = जरा, वृद्धावस्था। बिदत = खोजते हुए। बिदहि = बिंदु मे ही। अगम = बुद्धि की पहुँच के बाहर। नख सिख = पूर्ण रूप से। मज्जनु = लय होना। उलटीले = उलटकर। सकति = शक्ति, कुण्डलिनी। पैंसीले = प्रवेश कर। सहार = सहारे। गगन = ब्रह्मरन्ध्र। मझार = मध्य में। बेधीले = बेधकर। भुअगा = सर्पाकार कुण्डलिनी। भेटीले = भेट कर ले, मिल जा। राइ निसगा = निस्सग राजा, अन्तरात्मा, तुरीय। चूकीले = समाप्त कर दे, चुका दे। ससिहर = शशिधर, चन्द्रनाड़ी, इडा। सूर = सूर्य, पिंगला। गरास = ग्रसना। कुम्भक = प्राण-अपान

(श्वास-प्रश्वास) की निरुद्धावस्था। सुरतै = अनुमान । लै = लय, करता = करने वाला।

संदर्भ—इस पद मे योग-सिद्धि की अवस्था का वर्णन है। जब कुण्डलिनी का जागरण होता है, तब प्राण-अपान की गति अवरुद्ध हो जाती है, कुम्भक अर्थात् प्राण की निरुद्धावस्था आ जाती है। उसके साथ ही मन तुरीयावस्था (अन्तरात्मा) मे लय हो जाता है। यही मन की उन्मनी अवस्था है। यही वास्तविक योग-सिद्धि है।

व्याख्या—योग की सिद्धावस्था मे प्राण उन्मनी अवस्था मे खरे रूप में (वास्तव मे) लय हो जाता है। ऐसी अवस्था मे पहुँचने पर जीव जन्म-जरा-मरण से मुक्त हो जाता है। जैसा कि 'हठयोग प्रदीपिका' मे कहा गया है—

इडां च पिंगला बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥
अनेनैन विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥
(हठ० प्र०—तृतीयोपदेश)

'इडा और पिंगला की गति को रोककर प्राण का सुषुम्ना मे सचार करना चाहिए। इस क्रिया से पवन का लय हो जाता है और कुण्डलिनी का जागरण होता है, तब मृत्यु-जरा-रोग की समाप्ति हो जाती है।'

ऐसी अवस्था मे मन नाद सहित बिंदु मे समा जाता है। इस रहस्य को, जो कि बुद्धि की पहुँच के बाहर है, गुरुमुख से ही जाना जा सकता है। प्राण और अपान की गति रुक जाने पर सुषुम्ना मे प्राण तत्व चला जाता है, तब कुण्डलिनी का जागरण होता है, उस समय नाद अर्थात् अनाहत ध्वनि की अभिव्यक्ति होती है। अन्ततः नाद का ब्रह्मरन्ध्र मे स्थित बिंदु मे लय हो जाता है (दे० हठ० प्र० ३।६४) यहाँ 'बिंदु' शब्द मे श्लेष है। 'बिंदु' अनुस्वार को कहते है जो कि 'ॐ' मे निहित है। 'बिंदु' का दूसरा अर्थ है—जो जानता है—ज्ञानं विन्दति इति विन्दुः।' शैव दर्शन मे नाद को 'शक्ति' कहा गया है और 'बिंदु' को 'शिव' कहा गया है। नाद के बिंदु मे प्रवेश का तात्पर्य है—शिव-शक्ति का सामरस्य। इस अवस्था मे जीव ज्ञानस्वरूप या चैतन्य-स्वरूप हो जाता है। इसी 'बिंदु' को कबीर ने 'अगम' कहा है।

प्राण के निरुद्ध होने पर मन स्वतः निरुद्ध हो जाता है, मन के निरुद्ध होने पर वासना भी प्रणष्ट हो जाती है और तब मोक्ष की स्थिति आती है। इसी स्थिति को तुरीय, उन्मनी, मनोन्मनी आदि शब्दों से अभिहित किया गया है 'हठयोग प्रदीपिका' मे कहा गया है—

पवनो वध्यते येन मनस्तेनैव वध्यते ।
मनश्च वध्यते येन पवनस्तेनैव वध्यते ॥ २१ ।
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिन् तौ द्वावपि विनश्यत. ॥ २२ ॥

× × ×

सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्धयत्येव मनोन्मनी ।
अन्यथा त्वितराभ्यासा प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २० ॥

(चतुर्थोपदेश)

शक्ति को सहारा देकर उलट दे अर्थात् सुप्त कुण्डलिनी को जागृत कर दे और इस प्रकार उसका प्रवेश ब्रह्मरन्ध्र मे करा दे ।

भुजगिनी अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति जागृत होने पर चक्रो का भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाती हैं, जहाँ उसका निस्संग अन्तरात्मा से योग या मिलन होता है ।

सुषुम्ना मे चन्द्र (इडा) और सूर्य (पिंगला) का ग्रास हो जाता है अर्थात् इनमे प्रवाहित होने वाले प्राण और अपान वायु की गति अवरुद्ध हो जाती है । ऐसी अवस्था मे मोह और तृष्णा समाप्त हो जाती है ।

इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।

(हठ० प्र० ४।४४)

अर्थात् इड़ा और पिंगला के बीच मे स्थित शून्य अर्थात् सुषुम्ना, पवन अर्थात् प्राणवायु को ग्रस लेती है । ग्रसने का भाव है—सुषुम्ना मे प्राण का स्थिरीभाव—शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रास (ब्रह्मानंद की ज्योत्स्ना टीका) ।

जब प्राण-अपान की गति अवरुद्ध हो जाती है, तब पूर्ण रूप से कुम्भक की अवस्था आती है अर्थात् सुषुम्ना मे प्राण का स्थिरीभाव हो जाता है और कुण्डलिनी का जागरण होता है । उस अवस्था मे अनाहत नाद की ध्वनि सुनाई देती है ।

'शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नाद ।''

(हठ० प्र० ४।६८)

अर्थात् सुषुम्ना पथ के शुद्ध होने पर उसके भीतर निर्मल नाद (अनाहत ध्वनि) सुनाई पडता है ।

कबीर विचारपूर्वक कहते है कि वाणी से इस अवस्था का वर्णन नही किया जा सकता । मैंने बहुत कुछ कहकर सुनाया, किन्तु वह बुद्धि से परे है, केवल अनुभव-

गम्य है। जो उपर्युक्त प्रक्रिया से 'लय' को प्राप्त करता है, वही भवसागर से पार उतर सकता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

टिप्पणी—(१) लय—इन्द्रियो का प्रवर्तक मन है, मन का प्रवर्तक प्राण है, प्राण का अवरोध मनोलय है और मनोलय नाद के आश्रित है अर्थात् मन नाद मे लीन हो जाता है। चित्त का यह लय मोक्षपदवाच्य है अर्थात् इसे मोक्ष कहते है। उस समय मन और प्राण के लय होने पर विचित्र आनंद की अनुभूति होती है।

लय की अवस्था मे श्वास-निश्वास नष्ट हो जाते है, विषयो का ग्रह प्रध्वस्त हो जाता है, चेष्टाएँ समाप्त हो जाती है, विकार नष्ट हो जाते है, सभी संकल्प विगलित हो जाते है। (हठ० प्र० ४।२९-३२) सक्षेप मे लय की परिभाषा यह है—

'अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृति ।'

(हठ० प्र० ४।३४)

अर्थात् लय की अवस्था मे वासना के पुन उत्थान का अभाव हो जाता है और विषय का मन मे आना समाप्त हो जाता है।

(२) सुपुम्ना के पर्यायवाची—

सुपुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथ ।
श्मशान शाभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचका: ॥

(हठ० प्र० ३।४)

'सुपुम्ना शून्य, पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाभवी, मध्यमार्ग—ये पर्यायवाची है'। इनके अतिरिक्त सुपुम्ना को 'ब्रह्मनाड़ी' और 'ब्रह्मपथ' भी कहते है।

(३) कुण्डलिनी के पर्यायवाची—

कुटिलागी कुण्डलिनी भुजगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शव्दा: पर्यायवाचका. ॥

(हठ० प्र० ३।१०४)

'कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुजगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती—ये पर्यायवाची है।

(४) करता लै उतरसि पार—

हठयोग प्रदीपिका मे कहा गया है कि जब तक प्राण सक्रिय है और मन मर नही जाता अर्थात् स्थिर नही हो जाता, तब तक स्वरूप-ज्ञान कैसे हो सकता है? जिसके प्राण और मन दोनो लय हो जाते है, वही मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्य, कोई नही।

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलय नयेद् यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथचिदन्यः ॥
(४।१५)

(५) पवनपति—

'पवनपति' का तात्पर्य है—प्राण । प्राण शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—सामान्य और विशेष । इसका सामान्य अर्थ है—प्राणतत्व । विशेष अर्थ मे क्रिया के अनुसार प्राण, अपान आदि भी 'प्राण' कहलाते है । यहाँ 'पवनपति' प्राणतत्व के लिए आया है ।

अलंकार—'बिदत बिदहि' मे यमक ।

राग—रामकली ।

(१७२)

परम गुर देखो रिदै बिचारी ।
कछू करौ सहाय हमारी ॥ टेक ॥
लवानालि तंति एक सँमि करि, जंत्र एक भल साजा ।
सति असति कछू नहिं जानूँ, जैसे बजावा तैसे बाजा ॥
चोर तुम्हारा तुम्हरी अग्या, मुसियत नगर तुम्हारा ।
इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा ॥
सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहिं जाँना ।
ज्यूँ जल मै जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन माँना ॥

शब्दार्थ—रिदै = हृदय । परम गुर = परमात्मा । लवा = लौकी का तुम्बा । नालि = डाँड़ी । तति = ताँत । सँमि = एकत्र करके । जत्र = वाद्ययंत्र । सति असति—शुभाशुभ, भला-बुरा । मुसियत = लूटते है । गुनह (फा० गुनाह) = अपराध ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे दो अवस्थाओ का सकेत है । जीव की पहली अवस्था वह है जब वह अपने को परमात्मा से भिन्न समझता है और प्रभु को आत्मसमर्पण करता है । दूसरी अवस्था वह है जब जीव परमात्मा से तादात्म्य का अनुभव करता है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे परमात्मा ! अपने हृदय मे विचार कर देखो और मेरी सहायता करो । तुमने इस शरीर को एक वाद्ययंत्र के समान बनाया है, जिसमे अन्य अग उस वाद्ययत्र की लौकी के तुबे के समान है । उस मे मेरुदंड रूपी एक डाँडी है, विभिन्न शिराएँ ताँत के समान है । इन सबको एकत्र करके तुमने शरीर

रूपी वाद्ययंत्र बनाया है। मैं भला-बुरा, शुभ-अशुभ कुछ नही जानता। तुम इस वाद्य को जैसे बजाते हो, वैसे यह बजता है। काम, क्रोध आदि चोर तुम्हारी जानकारी मे इस शरीर रूपी नगर को लूटते हैं। इनके अपराध के कारण हमे क्यों पकड़ते हो ? इसमे हमारा क्या अपराध है ? जो तुम हो, वही मै हूँ। जो मैं हूँ, वह तुम हो। हम तुम दोनों एक ही है। यह ज्ञान तब उत्पन्न होता है, जब अपने-पराए का भेद मिट जाता है, जिस प्रकार जल में जल के मिल जाने पर उसे पृथक् नही किया जा सकता है। कबीर कहते है कि मैं आप से उसी प्रकार तदाकार हो गया है।

तुलनीय—लगभग इसी भाव का एक पद 'विनयपत्रिका' में है—

मैं केहि कहौ विपति अति भारी, श्रीरघुवीर धीर हितकारी।
मम हृदय भवन प्रभु-तोरा, तँह बसे आइ बहु चोरा।
अति कठिन करहि बरजोरा, मानहि नहि विनय निहोरा।
तम, मोह, लोभ, अहँकारा, मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा।
अति करहि उपद्रव नाथा, मरदहि मोहि जानि अनाथा।
मैं एक अमित बटपारा, कोउ सुनै न मोर पुकारा।
भागेहु नहि नाथ! उबारा, रघुनायक करहु सँभारा।
कह तुलसीदास सुनु रामा, लूटहि तसकर तव धामा।
चिंता यह मोहि अपारा, अपजस नहि होइ तुम्हारा।

—तुलसीदास

अलकार—(१) लवानालि ···· बाजा—रूपकातिशयोक्ति
(२) का अपराध हमारा—वक्रोक्ति।
(३) ज्यूँ जल ·····मॉना—उदाहरण।

राग—सोरठ।

(१७२)

परोसिनि मॉगै कंत हमारा।
पीव क्यूँ बौरी मिलहि उधारा॥ टेक॥
मासा मॉगै रती न देऊँ, घटे मेरा प्रेम तौ कासनि लेऊँ।
राखि परोसिनि लरिका मोरा, जे कछु पाऊँ सु आधा तोरा।
बन बन ढूँढ़ि नैन भरि जोऊँ, पीव न मिलै तौ बिलखि करि रोऊँ।
कहै कबीर यहु सहज हमारा, बिरली सुहागिनि कंत पियारा॥

शब्दार्थ—कासनि = किससे। जोऊँ = देखूँ। बिरली = कोई-कोई, एकाध।

सदर्भ—प्रस्तुत पद में जीवात्मा को प्रेयसी और परमात्मा को प्रियतम मानकर यह बताया गया है कि जीवात्मा मे प्रभु के प्रति घनिष्ठ प्रेम से ही मिलन सुलभ होता है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि अन्य सासारिक जीव (पड़ोसिन) हमारे प्रियतम परमात्मा को हमसे उधार माँगते है। अरे पागलो ! क्या कही पति भी उधार दिया जाता है। यदि मेरी पडोसिन एक माशा उधार माँगती है तो मैं उसका आठवाँ भाग अर्थात् रत्ती भर भी देने को तैयार नही हूँ, क्योकि प्रेम तो व्यक्तिगत होता है। यदि मैं इसका विभाजन करूँ तो मेरे घटे हुए प्रेम की पूर्ति कैसे होगी ? प्रेम का बँटवारा नही हो सकता।

भक्ति से चित्त-शुद्धि होती है। यह शुद्धीकरण प्रियतम के मिलन से ही संभव है। अतः यह उनका पुत्र है। कवीर उस साधक जीव (पडोसिन) से निवेदन करते है कि वह उनके शुद्ध चित्त (पुत्र) की देखभाल करता रहे, जिससे उसमें मलिनता न आ जाय। इसके वदले मे वह प्रभु-कृपा से प्राप्त लाभ का कुछ भाग देने को तैयार है। मेरा अपने प्रियतम के प्रति इतना प्रगाढ प्रेम है कि मैं उन्हें वन-वन मे खोजती हूँ, टकटकी लगाकर उनके दर्शन की प्रतीक्षा करती हूँ। उनके न मिलने पर विरह में विलखकर रुदन करती हूँ।

कवीर कहते है कि जीवात्मा रूपी साधक-पत्नी का यह सहज स्वभाव है कि वह अपने प्रियतम प्रभु के वियोग मे विलाप करती रहे। किन्तु कोई ही ऐसी सौभाग्य-वती जीवात्मा रूपी पत्नी होती है जिसे परमात्मा प्रिय होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि जीव अपने को परमात्मा के बिना अपूर्ण समझता है, किन्तु उन्हे प्राप्त करने की लगन वहुत कम जीवो मे होती है।

अलंकार—(१) पीव क्यूँ ...... उधारा—वक्रोक्ति।
(२) मासा माँगै .... लेऊँ—गूढोक्ति।

राग—विलावल।

(१७४)

पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी।
जेहि मटिया के घर मँह[1] बैठे, तामे सृष्टि समानी।
छपन[2] कोटि जादव[3] जँह भीजे, मुनि जन सहस अठासी।
पैग पैग पैगम्बर गाड़े, सो सब सरि भो माटी।
तेहि[4] मटिया के भाँड़े पाड़े, बूझि पियहु तुम पानी।

---

१. शुक०—में। २. शु०—छप्पन। ३. शु०—जदो। ४. यह पंक्ति शुक० की प्रति में नहीं है।

मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया।
नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु मानुष सब सरिया।
हाड़ झरी झरि गूद गलीगल, दूध कहाँ ते आया।
सो लै पाँडे जेंवन बैठे, मटियहि छूति लगाया।
बेद कितेब[1] छाँडि देहु पांड़े, ई सब मन के भर्मा।
कहैं कबीर सुनो हो पांड़े, ई सब तुम्हरे कर्मा॥

शब्दार्थ—मटिया = मिट्टी। समानी = लीन। भीजे = मरकर लीन हो गए। सरि = सडकर। भाँडे = बर्तन। मच्छ = मछली। कच्छ = कच्छप। झरी = झरना। गूद = गूदा, भेजा। गलीगल = निचुडकर। कर्मा = करतूत।

संदर्भ—इस पद से हिन्दू धर्म मे प्रचलित छुआछूत की भावना का उपहास किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे पडित! तुम तथाकथित नीची जाति के घर मे रखे हुए मिट्टी के पात्र और उसके जल को भी अशुद्ध समझते हो। इसलिए अब तुम समझ-बूझकर पानी पियो, क्योकि सभी जगह की मिट्टी और जल अशुद्ध ही है। तुम्हारा घर जिस मिट्टी का बना है, वह भी अपवित्र है, क्योकि सारी सृष्टि उसी मे लीन होती है। मरने पर सभी लोग मिट्टी मे मिल जाते हैं। इसी मिट्टी मे छप्पन करोड यादव और अट्ठासी हजार ऋषि-मुनि मर कर विलीन हो गए। इसी मिट्टी मे पग-पग पर पैगम्बर भी गाडे गए हैं। वे सभी सडकर मिट्टी-रूप हो गए हैं। हे पडित! उसी मिट्टी से तुम्हारे सब बर्तन बनते हैं। अतः समझ बूझकर पानी पियो।

केवल मिट्टी ही अपवित्र नही है, अपितु जिस जल को पीते हो, वह भी अशुद्ध है। नदी के जल मे मछलियाँ, कछुए और घडियाल आदि रहते हैं। उसी मे उनके बच्चे पैदा होते हैं। उस समय उनका रुधिर युक्त नीर निकल कर उसी जल मे मिल जाता है। यही नही, जो मृत-पशु और मनुष्य उसमे फेके जाते है, वे उसी मे सड़ जाते है। इस प्रकार नदी का जल नरक तुल्य अशुद्ध हो जाता है। यही नही, जिस दूध को तुम पवित्र समझते हो, वह भी पशुओ की हड्डी से झडकर और गूदे से गलकर बनता है। ऐसे दूध को शुद्ध समझ कर तुम पीते हो और मिट्टी को अशुद्ध बताते हो! हे पडित! धर्मग्रंथो का प्रमाण तुम व्यर्थ मे देते हो। यह विपरीत आचरण तुम्हारे भ्रान्त मन की उपज है। यह मिथ्या पाखंड तुम्हारी ही करतूत है। इसका वेद-कुरान से कोई सम्बध नही।

अलंकार—दूध कहाँ ते आया—वक्रोक्ति।

---

१ शुक्र०—किताब।

(१७५)

प्रांनीं[1] काहे कै लोभ लागे रतन जनम खोयौ।
पूरुब[2] जनमि करम भूमि बीज नांही बोयौ ॥ टेक ॥
बूँद[3] तैं जिनि पिंडु कीया, अगिनि कुंड रहाया।
दस मास माता उदरि राखा[4], बहुरि लागी माया॥
बारिक[5] तैं बिरिध भया, होनीं सो हूआ।
जब जमु आइ झोंट पकरै, तबहि काहे रोआ॥
जीवनैं[6] की आस नांहीं, जम निहारै सांसा।
बाजीगरी[7] संसार कबीरा, चेति[8] ढारि पासा॥

शब्दार्थ—लागे = लिए, कारण। बूंद = रज-वीर्य। पिंडु = शरीर। राखा = सुरक्षित रखा। बारिक = बालक। बिरिध = वृद्ध। झोंट = चोटी। चेति = समझकर, सावधानी से।

संदर्भ—इस पद में कबीर संसार की नश्वरता का उल्लेख करते हुए जीव को प्रभु-भक्ति का उपदेश दे रहे है।

व्याख्या—वह कहते है कि हे जीवो! किस लोभ के लिए तुमने यह अमूल्य जीवन नष्ट कर दिया। तुमने पूर्वजन्म के कर्म-क्षेत्र में सत्कर्म और पुण्य का बीज नही बोया। इसलिए इस जन्म में तुम्हारे भीतर भगवद्-भक्ति के उत्कृष्ट संस्कार नही है। तुम अब भी चेत जाओ और सत्कर्म से अपने जीवन मे अच्छे सस्कारो को जन्म दो।

जिस ईश्वर ने माता-पिता के रज-वीर्य द्वारा तुम्हारा शरीर रचा और माता के गर्भाग्नि-कुण्ड मे दृढ रूप से दस मास तक सुरक्षित रखा, तुमने उस ईश्वर को भुला दिया और पैदा होते ही मोहवश विषयो मे लिप्त हो गए। तुम बाल्यावस्था को पार कर धीरे-धीरे वृद्ध हो गए। यह तो प्राकृतिक नियम है। यह तो होना ही था। तुमने जीवन भर अपने कर्त्ता को कभी याद नही किया। मृत्यु के समय जब यमराज ने तुम्हारी चोटी पकडी, तब क्रन्दन करने से क्या लाभ? इस क्षणभंगुर जीवन का कोई भरोसा नही। यमराज तुम्हारे श्वास गिनते रहते है और इस प्रतीक्षा में रहते है कि कब तुम्हारा समय पूरा हो और वह तुम्हें यहाँ से ले चलें। कबीर कहते हैं

---

१. ना० प्र०–प्राँणी। २. ना० प्र० में इसके स्थान पर यह पंक्ति है बहुरि हीरा हाथि न आवै, राँम बिनां रोयौ। ३. ना० प्र०–जल बूँद थैं ज्यनि प्यंड बांध्या। ४. ना प्र०–राख्या। ५. ना० प्र० में पांचवी–छठी पंक्तियाँ नहीं है। ६. ना० प्र०–एक पल जीवन की आसा नाहीं। ७. ना० प्र०–बाजीगर। ८. ना० प्र०–जानि।

कि यह ससार बाजीगरी के समान अद्भुत खेल है। इसमे बहुत सावधानी से अपना पासा ढालना चाहिए अर्थात् सोच-समझकर कर्म करना चाहिए। जो विचारपूर्वक सत्कर्म और पुण्य करते है, वे सुखी जीवन के अधिकारी होते है।

अलंकार—(१) दूसरी पक्ति मे साग रूपक।
(२) अतिम पंक्ति मे रूपक।

राग—आसावरी।

(१७६)

पिया मोरा मिलिया सत्त गियांनी।
सब मैं व्यापक सबकी जांनै ऐसा अन्तरजामी।
सहज सिगार प्रेम का चोला सुरति निरति भरि आनी।
सील संतोख पहिरि दोइ कंगन होइ रही मगन दीवांनी।
कुमति जराइ करौं मैं काजर पढ़ी प्रेम रस बांनी।
ऐसा पिय हमं कबहु न देखा सूरति देखि लुभांनी।
कहै कबीर मिला गुर पूरा तन की तपनि बुझांनी॥

शब्दार्थ—सत्त = सत्य। गियानी=ज्ञानी। चोला = वस्त्र। सुरति = प्रेमपूर्ण ध्यान। निरति = प्रेमपूर्ण ध्यान की उत्कृष्टावस्था।

व्याख्या—उपनिषदो मे कहा गया है कि ब्रह्म 'सत्य ज्ञानं अनन्तं' है। कबीर ब्रह्म वाचक इन्ही तीनो शब्दों का अपने ढंग से प्रयोग करते हुए कहते हैं कि मेरा प्रियतम मुझे मिल गया, जो कि सत्य है, ज्ञान रूप है और सबमे व्याप्त है। वह ऐसा अन्तर्यामी है कि सबके भीतर विद्यमान रहते हुए, सभी की शुभ-अशुभ वासनाओं और कर्मो को जानता रहता है।

अपने प्रियतम से मिलने के लिए मैंने सहज श्रृंगार किया है। मैने प्रेमपूर्ण ध्यान और लवलीनता के सुंदर वस्त्र से अपने को सुसज्जित किया है, हाथो मे शील और सतोष के दो कंगन धारण कर मै प्रेम मे उन्मत्त हो रही हूँ। मै कुमति को जलाकर उसके काजल से अपने नेत्रो को सजाऊँगी। मैंने प्रियतम को रिझाने के लिए प्रेम रस से परिपूर्ण वाणी भी सीख ली है। मेरा प्रिय अनुपम है। उसके प्रथम दर्शन मात्र से मैं उसकी ओर आकृष्ट हो गई। कबीर कहते है कि मुझे वह रहस्य ज्ञात हो गया जिससे मैं प्रियतम को प्राप्त कर अपने त्रिताप को बुझाने मे सफल हो गई हूँ।

अलंकार—साग रूपक।

राग—बिहागड़ा।

(१७७)

पूजहु रांम एक ही देवा ।
सांचा न्हावन गुरु की सेवा ॥ टेक ॥
अंतरि मैल ले तीरथ न्हावै तिन बैकुण्ठ न जाना ।
लोक पतीजैं कछू न होवै नांहीं रांम अयांनां ॥
जल कै मज्जनि जे गति होवै नित नित मेंडुक न्हावै ।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर फिरि फिरि जोनीं आवै ॥
हिरदै कठोर मरै बानारसि नरकु न बांच्या जाई ।
हरि का दास मरै जो मगहरि तौ सगली सैंन तराई ॥
दिवस न रैनि बेदु नहि सासत तहाँ बसै निरंकारा ।
कहै कबीर नर तिसहि धियावहु बावरिया संसारा ॥

शब्दार्थ—न्हावन = स्नान । पतीजै = विश्वास । अयाना = अज्ञानी । जे = यदि । गति = सद्गति, मुक्ति । बांच्या = बचाया जाना । सगली = सम्पूर्ण । सासत = शासन, दण्ड ।

सदर्भ—प्रस्तुत पद में कवीर ने बताया है कि मुक्ति वाह्याचार से नही प्राप्त हो सकती । वह प्रभु-भक्ति से ही मिल सकती है ।

व्याख्या—वह कहते है कि एक मात्र देव राम की पूजा करो । गगा आदि नदियो मे स्नान करने से तुम पवित्र नही हो सकते हो । गुरु की सेवा ही सच्चा स्नान है । वस्तुत जिनका हृदय मलिन है, विकारग्रस्त हैं, उनको तीर्थ-स्नान से वैकुण्ठ की प्राप्ति नही हो सकती । प्रभु इतने अनजान नही है कि केवल लौकिक रूढ़ विश्वासों के अनुसरण से आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो जाय । उनको वहकाया नही जा सकता । यदि जल मे स्नान करने से ही सद्गति प्राप्त हो जाय तो मेढक इसका सर्वथा अधिकारी है । वह तो सदैव जल मे ही डूवा रहता है । परन्तु न तो मेढक को मुक्ति मिलती है और न स्नान करने वाले मनुष्य को । दोनो विभिन्न योनियो मे जन्म धारण करते है । यदि कोई हृदय से कठोर है, उसका प्रभु मे अनुराग नही है, तो केवल काशी मे मरने से ही उसे नरक से वचाया नही जा सकता । यदि प्रभु-भक्त मगहर में भी मरे तो शिष्यो सहित उसका उद्धार हो जाता है । जहाँ न दिन है न रात अर्थात् जहाँ काल की गति नही है और जहाँ वेद का कोई शासन नही है, वही परम प्रभु का धाम है । कवीर कहते हैं कि उसी का ध्यान करो । संसार के अन्य लोग जो वाह्याचार मे फँसे रहते है, वे वावले है ।

तुलनीय—सिद्ध सरहपाद ने भी इसी प्रकार ब्राह्मण, पाशुपत, बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायो के बाह्याचार की निन्दा निम्नलिखित पद मे की है—

जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह।
लोमुपाडणे अत्थि सिद्धि, ता जुवइ णिअम्वह ।।
पिच्छीगहणे दिट्ठु मोक्ख ता मोरह चमरह।
उच्छे भोअणें होइ जांण, ता करिह तुरगह ।।
(दोहाकोश, पृ० २)

अलंकार—छठी पक्ति मे उपमा।

राग—भैरव।

(१७८)

फल मीठा पै तरवर ऊँचा कौन जतन करि लीजै।
नेक निचोइ सुधा रस वाकौ कौन जुगति सौं पीजै ।। टेक ।।
पेड़ विकट है महा सिलहला अगह गहा नहि जावै।
तन मन मेलि्ह चढ़ै सरधा सौं तब वा फल कौं खावै ।।
बहुतक लोग चढ़े अनभेदू देखा देखी गहि बांहीं।
रपटि पांव गिरि परे अधर तैं आइ परे भुइं मांहीं ।।
सील सांच कै खूंटे धरि पग ग्यांन गुरू गहि डोरा।
कहै कबीर सुनौ भाई साधौ तब वा फल कौं तोरा ।।

शब्दार्थ—नेक=अच्छी तरह से। निचोइ=निचोड़ कर। जुगति=युक्ति। सिलहला=रपटीला। अगह=अग्राह्य, जो पकड़ा न जा सके। सरधा=श्रद्धा। मेलि्ह=लगाकर। अनभेदू=रहस्य न जानने वाले। अधर=बीच में। भुइ=पृथ्वी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में कबीर ने मुक्ति-फल को प्राप्त करने के लिए साधना रूपी वृक्ष पर चढने की युक्ति बताई है।

व्याख्या—साधना का फल अर्थात् मुक्ति या प्रभु-मिलन बहुत मधुर होता है, किन्तु वहाँ तक पहुँचने का मार्ग (तरुवर) बहुत कठिन है। वह फल कैसे प्राप्त हो ? उसके मधुर अमृत-रस को भली प्रकार निचोडकर किस युक्ति से पान किया जा सकता है ?

साधना रूपी वृक्ष अत्यन्त विकट और रपटीला है। वह आसानी से पकड मे नही आता। उस पर कैसे चढा जाय ? जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक तन-मन दोनो को लगाकर इस साधना रूपी वृक्ष पर चढ़ता है, वही उस अमृत फल को चख सकता है।

इस साधना मार्ग मे एक दूसरे के साथ चलने का उपक्रम तो अनेक लोग करते है, किन्तु उसका रहस्य न जानने के कारण साधना रूपी वृक्ष पर चढ नही पाते अर्थात् अग्रसर नही हो पाते। वे साधना मार्ग से फिसल जाते हैं और साधारण लौकिक जीवन मे पुनः प्रविष्ट हो जाते हैं।

सदाचार और सत्य के खूँटो पर पैर रखकर तथा गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान की डोरी पकड कर साधना रूपी वृक्ष पर चढना चाहिए। कबीर कहते है कि इस पद्धति को अपनाने से ही मुक्ति-फल को प्राप्त किया जा सकता है।

अलंकार—साग रूपक, विशेषोक्ति।

राग—सोरठ।

(१७९)

फिरहु[1] का फूले फूले फूले।
जब दस मास अउंध[2] मुख होते सो दिन काहे भूले ॥टेक॥
जब[3] जरिए तब होइ भसम तन रहै[4] किरिम दल खाई।
कांचै कुंभ उदिक[5] ज्यौं भरिया या तन[6] की इहै बड़ाई ॥
ज्यौं मांखी सहतैं[7] नहि बिहुरै जोरि[8] जोरि धन कीन्हां[9]।
मूएं पीछै लेहु लेहु करै[10] भूत[11] रहन क्यूं दीन्हां[12] ॥
देहरि[13] लौं बरी[14] नारि संग है आगैं सजन सुहेला।
मरहट[15] लौं सभ लोग कुटुंब भयौ आगैं हंस अकेला ॥
राम न रमसि मोह[16] कहा माते[17] परहु[18] काल बस कूवा।
कहै कबीर नर[19] आपु बंधायौ ज्यों[20] ललनी भ्रमि सूवा ॥

शब्दार्थ—फूले फूले=इतराते हुए, गर्व मे ऐंठते हुए। अउंध=उल्टा। किरिम=कृमि, कीडा। दल=समूह। उदिक=जल। बड़ाई=महत्ता। सहतैं=शहद से। बिहुरै=बिछुडना, छोडना। बरी (अ०)=आजाद, अधिकारिणी।

---

१. ना० प्र०—फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ। २. तिवारी, ना० प्र०—उरध मुखि। ३. ना० प्र०—जौ जारै तौ, वि०—जारे देह भसम होइ जाई, गाड़े माटी खाई। ४. ना० प्र०—रहत कृम ह्वै जाई। ५. ना० प्र०—उद्यक भरि राख्यौ। ६. ना० प्र०—तिनकी कौन। ७. ना० प्र०—मधु संचि करि। ८. वि०—सोंच सोंचि। ९. ना० प्र०—कीनो। १०. ना० प्र०—करि। ११. ना० प्र०—प्रेत। १२. ना० प्र०—दीनो। १३. ना० प्र०—ज्यू घर नारी संग देखि करि, तव लग संग सुहेलौ। १४. वि०—वर। १५. ना० प्र०—मरघट घाट खैंचि करि राखे, वह देखहु हंस अकेलौ। वि०—म्रितक-थान लौ संग खटोला। १६. ना० प्र०—मदन। १७. ना० प्र०—भूले। १८. ना० प्र०—परत अंधेरै कूवा। १९. ना० प्र०—सोई, वि०—नल। २०. ना० प्र०—ज्यूँ नलनी का सूवा।

सजन = स्वजन, परिजन। सुहेला = प्रियजन। मरहट = श्मशान। ललनी = नलिनी। कूवा = कुआँ। कहा = क्यों।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे मूढ मानव ! तुम शरीर की सुन्दरता और यौवन से प्रमत्त होकर क्यो इतराते फिरते हो ? तुम उस दशा को कैसे भूल गए जब माता के गर्भ मे दस मास तक उल्टे पडे हुए थे ? जिस शरीर पर तुम गर्व करते हो, मरने पर यदि उसे जलाया जाता है तो भस्म-मात्र रह जाता है और यदि उसे गाडते है तो कीडो की पूरी सेना उसे खाने के लिए जुट जाती है। यह शरीर वैसे ही क्षण-भंगुर है जैसे जल से भरा हुआ कच्चा घडा। जिस प्रकार कच्चा घड़ा जल के भार से शीघ्र ही फूट जाता है और जल बाहर निकल जाता है, वैसे ही यह शरीर क्षणभंगुर है, उससे प्राण निकल जाता है।

जिस प्रकार मधुमक्खी एक-एक पुष्प से रस लेकर शहद का संचय करती है और उससे वियुक्त नही होती, उसी प्रकार मनुष्य जीवन भर जोड़-जोडकर धन का संचय करता है। उसका उपयोग न करके संचय को ही अपना ध्येय बना लेता है। किन्तु उसके मरते ही संपत्ति के अनेक दावेदार उपस्थित हो जाते है और धन के बँट-वारे के लिए अपना-अपना अधिकार प्रस्तुत करते है। वे मृत व्यक्ति को तत्काल श्मशान ले जाने की बात करते है और कहते है कि इस प्रेत को अब अधिक समय घर मे रखना ठीक नही। जीवन-सहचरी पत्नी केवल घर के दरवाजे तक टिकठी का साथ देती है, फिर स्वजन-प्रियजन श्मशान तक साथ देते है। उसके आगे यह बेचारा जीव अकेला ही जाता है।

कबीर चेतावनी देते हुए कहते है कि हे जीव ! तू राम मे क्यों नही रमण करता ? मोह मे क्यो प्रमत्त है ? काल के वश मे तुम भव-कूप मे पडोगे। जिस प्रकार तोता लोभवश बाँस की चरखी मे स्वत. बँध जाता है, उसी प्रकार मानव मोहवश स्वयं बंधन मे पड जाता है।

तुलनीय—अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ।

जैसे स्वान काँच-मदिर मैं, भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्यौ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम तृन सूँघि फिर्यौ।
ज्यौ सपने मैं रक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्यौ।
ज्यौ केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपुन कूप पर्यौ।
जैसे गज लखि फटिकसिला मै, दसननि जाइ अर्यौ।
मर्कट मूँठि छाँडि नहि दीनी, घर घर द्वार फिर्यौ।
सूरदास नलिनी कौ सुअटा, कहि कोनै पकर्यौ॥

—सूरदास

अलकार—(१) दूसरी पंक्ति मे—वक्रोक्ति ।
(२) चौथी पक्ति मे—उपमा ।
(३) पाँचवी पक्ति मे—उदाहरण ।
(४) अंतिम पक्ति मे—उपमा ।

राग—आसावरी ।

(१८०)

बंदे करिले[1] आपु निबेरा ।
आपु जियत लखु आपु ठौर[2] करु, मुए कहाँ घर तेरा ॥
यहि अवसर नहि चेतहु[3] प्रानी, अंत कोई नहि तेरा ।
कहैं कबीर सुनो हो संतो, कठिन काल का घेरा ॥

शब्दार्थ—निबेरा = निपटारा । लखु = देखो । ठौर = निश्चय । घेरा = घेराव ।

संदर्भ—मानव जीवन मे ही अपना वास्तविक स्वरूप समझने का अवसर मिलता है । जो इसका उपयोग नही करता है, उसकी दुर्गति होती है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे भक्तो ! अपने सत्य स्वरूप का निपटारा स्वयं कर लो । जब तक यह शरीर है, मनुष्य रूप मे जीवित हो, तभी तक आत्मस्वरूप को समझो और स्वय उसका निश्चय करो । यह समझ लो कि मरने पर यह शरीर कहाँ मिलेगा ? मानव योनि मे ही तुमको यह अवसर प्राप्त हुआ है । यदि मानव जीवन मे तुम नही समझोगे तो फिर भविष्य मे समझना कठिन है । अन्त मे कोई तुम्हारा सहायक नही होगा । कबीर कहते है कि जब काल के बधन में पड जाओगे, तब उससे छुटकारा न मिल सकेगा ।

(१८१)

बंदे[4] खोज दिल हर रोज[5] नां फिरु परेसानीं मांहि ।
यहु[6] जु दुनिया सिहरु मेला कोई दस्तगीरी नांहि ॥ टेक ॥
बेद[7] कतेब[8] इफतरा भाई दिल का फिकरु न जाइ ।
टुक दम करारी जउ करहु हाजिर[9] हजूर खुदाइ ॥

१. शुक०—करले । २. वि०—ठवर । ३. शुक०—चेतिहौ । ४. ना० प्र०—रे दिल खोजि । ५. ना० प्र०—खोजि । ६. ना० प्र०—महल माल अजीज ओरति । ७. ना० प्र० की प्रति में यह पंक्ति और है—पीरों मुरीदा काजियां, मुलों अरु दरवेस, कहां थें तुम्ह किनि कीए, अकलि है सब नेस । ८. ना० प्र०—कुरानों कतेबा अस पढि पढि । ९. ना० प्र०— हाजिरां सूर ।

दरोगु[1] पढ़ि पढ़ि खुसी होइ बेखबरु बादु बकाहिं।
हक[2] सांच खालिक खलक म्यानैं स्याम[3] मूरति नांहि॥
असमांन[4] म्यानैं लहंग दरिया गुसल करदः बूद।
करि फिकिर दाइम लाइ चसमैं जहाँ तहाँ मौजूद॥
अल्लाह[5] पाकंपाक है सक करउ जे दूसर होइ।
कबीर करम करीम का यहु[6] करै जांनै सोइ॥

शब्दार्थ—बदे (फा०—बंदः)=दास, सेवक। नां फिरु=अन्यथा। सिहरु (आ०—सिह्र)=माया, कर्म, इन्द्रजाल। दस्तगीरी (फा०)=सहायता। कतेब (अ०)=किताब, कुरान। इफतरा (अ०—इफ्तिरा) आरोप, लांछन। फिकरु (अ०—फिक्र)=चिन्ता। टुक=थोडा। करारी (अ०—करार)=स्थिरता, नियन्त्रण। दम (फा०)=श्वास। हजूर (अ०—हुजूर)=उपस्थिति, विद्यमानता। दरोगु (फा०)=धोखा, असत्य। बादु (फा०—बादः)=शराब, मदिरा। हक (अ०)=सत्य। खालिक (अ०)=सृष्टिकर्त्ता, ईश्वर। खलक (आ०—खल्क)=सृष्टि। म्यानै=मध्य मे। असमांन (फा०—आस्मान)=आकाश (प्र० अ०)=ब्रह्मरंध्र, शून्यचक्र। लहंग=लहराता हुआ। दरिया (फा०)=समुद्र, नदी। करदःबूद (फा०)=किया (फारसी मे 'करदन' धातु का सामान्य भूतकाल)। दाइम (अ०)=नित्य। चसमैं (फा०—चश्म)=आँख, नेत्र। अल्लाह (अ०)=ईश्वर। पाकपाक (फा०)=पवित्रो मे पवित्र। सक (अ०—शक)=शका, सदेह। करम (अ०)= दया। करीम (अ०) दयालु।

संदर्भ—इस पद मे कबीर बताते है कि प्रभु का साक्षात्कार वेद-कुरान आदि ग्रंथों के अध्ययन से सभव नही। यदि साधक के चित्त मे उसके प्रति सच्चा अनुराग हो और प्रभु का अनुग्रह हो तो वह उसका सहस्रार मे साक्षात्कार कर सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीवो! सत्य को प्रतिदिन अपने हृदय मे खोजो, अन्यथा तुम सकट मे पड़ोगे। यह ससार विचित्र कर्मक्षेत्र है और इन्द्रजाल का मेला है। इसमे कोई किसी का सहायक नही हो सकता। अपने-अपने कर्मो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को भोगना पडता है। वेद या कुरान से सत्य को नही प्राप्त किया जा सकता। हे भाई! ये दोनो धोखे की टट्टी है। इनसे हृदय की समस्या की पूर्ति नही हो सकती। यदि तुम थोडा आत्म-नियन्त्रण करो, मन को स्थिर कर प्रभु

---

१. ना० प्र०—दरोगा बकि बकि हूहि खुसियाँ, बे अकलि बकहि पुमाँहि। २. ना० प्र०—इक। ३. ना० प्र०—सो कहूँ सच मूरति माँहि। ४. ना० प्र० की प्रति में ये दो पक्तियाँ नहीं है। ५. ना० प्र०—अल्लाह पाक तूँ नापाक क्यूँ, अब दूसर नाहीं कोइ। ६. ना० प्र०— करनी करै जानै सोइ।

की ओर लगाओ तो ईश्वर तुम्हारे सम्मुख उपस्थित रहेगा। लोग पोथी पढ-पढकर प्रसन्नता का अनुभव करते है, किन्तु उससे केवल भ्रम की वृद्धि होती है। ऐसे व्यक्ति केवल मदिराग्रस्त व्यक्ति के समान प्रलाप करते है। प्रभु विश्व के कण-कण मे, प्रत्येक मानव मे परिव्याप्त है। उसे काले पत्थर की मूर्ति मे ही खोजना व्यर्थ है। प्रभु के अस्तित्व की धार ब्रह्मरन्ध्र या सहस्रार मे तरगायित है। मैंने उसी मे अवगाहन किया है अर्थात् वहाँ पर मैंने प्रभु का साक्षात्कार किया है। यदि तुम नित्य चिन्तन करो और आन्तरिक चक्षु से उसे देखने का प्रयत्न करो तो वह यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान प्रतीत होगा। ईश्वर पवित्रो मे पवित्र है। अतः वहाँ संदेह को कोई अवकाश नही। कबीर कहते है कि दयालु प्रभु की दया अर्थात् अनुग्रह जिस पर हो जाय, वही उसका परिचय प्राप्त कर सकता है।

अलंकार—असमान स्यानैं..........बूद—रूपक।

राग—आसावरी।

(१८२)

बनमाली जानैं बन कै आदि।
रांम नांम बिन[1] जनम बादि ॥ टेक ॥
फूल जु फूले रुत बसंत, जामैं मोहि रहे सब जीव जंत।
फूलनि मैं जैसे रहत[2] बास, यूं घटि घटि गोबिंद है निवास।
कहै कबीर मनि भयौ अनंद, जग जीवन मिलियो परमानंद ॥

शब्दार्थ—बनमाली—कृष्ण, प्रभु। आदि=आरम्भ। बादि=व्यर्थ। रुत=ऋतु। बन=(प्र० अ०) ससार। बास=सुगध।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि विषयो के बाह्य चाकचिक्य मे आसक्त नहीं होना चाहिए। सभी पदार्थो के भीतर निहित जो सारतत्व राम है, उनमे अपनी लगन लगानी चाहिए। उन्ही से आनद मिलेगा, विषयो से नही।

व्याख्या—कबीर कहते है कि इस ससार रूपी बन की उत्पत्ति का रहस्य केवल बनमाली ही जानते है। हम तो इतना ही जानते है कि राम नाम की भक्ति के बिना जीवन व्यर्थ है।

ससार रूपी बन मे वसत ही आकर्षक विषय है, जिसमे नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ रूपी पुष्प खिले हुए है। उन विषयो के आकर्षण मे सभी प्राणी आसक्त रहते है।

---

१. ना प्र०—बिना। २. ना० प्र०—रहै तवास।

पुष्प रूपी विषयों के बाह्य सौन्दर्य में नही फँसना चाहिए। जैसे पुष्प के भीतर सुगंध निहित रहती है, वैसे ही प्रत्येक पदार्थ मे प्रभु का वास है। इसलिए बाह्य सौंदर्य के प्रति मत आकृष्ट हो, उसके भीतर सुवास रूपी सारतत्व (प्रभु) है, उसके प्रति प्रेमभाव बनाओ। कबीर कहते है कि मुझे इस सारे संसार का प्राण तथा परमानन्दस्वरूप परम तत्व प्राप्त हो गया है। अतएव मुझे आनद का अनुभव हो रहा है।

तुलनीय—ज्यौं नैनन मैं पूतली, त्यौं खालिक घट माँहि।
मूरख नर जानै नही, बाहर ढूँढन जाँहि॥
—(कबीर वाड्मय (खण्ड ३) पृ० ३१९)

अलंकार—(१) पूरे पद मे रूपकातिशयोक्ति।
(२) राम नांम बिन जनम बादि—विनोक्ति।
(३) बनमाली—परिकरांकुर।
(४) फूलनि मे……बास—उदाहरण।

राग—बसंत।

(१८३)

बहुत दिनन मैं[1] प्रीतम आए[2]।
भाग बड़े घरि बैठे पाए[3]॥ टेक॥
मंगलचार मांहि मन राखौं, रांम रसांइन[4] रसनां चाखौं।
मंदिर मांहि भया उजियारा, लै सूती अपनां पीव पियारा[5]।
मैं[6] निरास जौ नौ निधि पाई, हमहिं कहा यहु तुमहिं बड़ाई।
कहै कबीर मै कछू न कीन्हां, सहज[7] सुहाग रांम मोहिं दीन्हा॥

शब्दार्थ——रसाइंन=वह औषध जो शरीर को रूपान्तरित कर दे। नौ निधि=कुबेर के नौ प्रकार के रत्न—पद्म, महापद्म, शंख, मकर, कश्यप, मुकुन्द, कुन्द, नील, खर्व। सुहाग=सौभाग्य।

व्याख्या—जन्म-जन्मान्तर की साधना के बाद आज मुझे मेरे प्रियतम मिले है। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मेरे किसी विशेष प्रयत्न के बिना वह मुझे घर मे ही प्राप्त हो गए है। इस शुभ अवसर पर मेरे भीतर मन मे मंगलाचार का गुजन हो रहा है। मै अपनी जिह्वा से राम के प्रेम-रस का आस्वादन ले रही हूँ। शरीर रूपी

---

१. ना० प्र०—यैं मैं। २. ना० प्र०—पाए। ३. ना० प्र०—आए। ४. ना० प्र०—रसाइण। ५. ना० प्र०—तिवारी-पियप्यारा। ६. ना० प्र०—मैं रनि रासी जे निधि पाई। ७ ना० प्र०-सखी।

मदिर मे ज्ञान का प्रकाश हुआ है। मैं अपने प्रियतम के साथ मिलन के सम्भोग का आनंद ले रही हूँ। मै तो सर्वथा निराश थी कि कभी प्रियतम का दर्शन न होगा। किन्तु मेरे भाग्य की सीमा नही, क्योकि मुझे नौ निधियाँ स्वत प्राप्त हो गई है अर्थात् जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त हो गया। मै इसके योग्य न थी। हे प्रभु! यह आपकी ही बडाई है जो आपने मुझे ऐसा अनुपमेय उपहार दिया है। कबीर कहते है कि मैंने इसके लिए कोई प्रयत्न नही किया था। राम ने मुझे इतना बडा सौभाग्य सहज मे ही दे दिया।

(१८४)

बहुरि हम काहे कौं[1] आवहिंगे।
बिछुरे पंच तत्त की रचनां, तब हम रांमहिं पावहिंगे॥ टेक॥
पिरथी[2] का गुन पांनीं सोखा[3] पांनीं तेज मिलावहिंगे।
तेज पवन मिलि पवन सबद मिलि सहज समाधि लगावहिंगे॥
जैसे बहु कंचन के भूखन एकहिं घालि[4] तवावहिंगे।
ऐसे हम लोक बेद के बिछुरें सुन्नहिं मांहि समावहिंगे॥
जैसे जलहिं तरंग तरंगिनीं ऐसे हम दिखलावहिंगे।
कहै कबीर स्वांमीं सुखसागर हंसहि हंस मिलावहिंगे॥

शब्दार्थ—पच तत्त=पंच तत्व (पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और आकाश)। बहुरि=पुनः। पिरथी=पृथ्वी। भूखन=आभूषण। घालि=डालकर। तवावहिंगे=तप्त करेंगे। हस=जीवात्मा। सवद=शब्द-आकाश का गुण है, यहाँ तात्पर्य है—आकाश। सहज=तुरीय चेतना।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने दो तत्वो के लय की बात कही है। वे है—(१) पचमहाभूत-पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, जो अपने मूल मे लय हो जाते है और (२) जीव तत्व अथवा हस तत्व जो परमात्मा अथवा परम तत्व मे लीन होता है।

मूलतत्वो की क्रमिक अभिव्यक्ति इस प्रकार है—आकाश, वायु, तेज या अग्नि, जल और पृथ्वी। निधन के समय इन तत्वो का लय विपरीत क्रम से अपने मूल तत्वों मे होता है। कवीर ने इस पद मे यह दिखलाया है कि जीवन-मुक्ति के बाद जब विदेह-मुक्ति हो जाती है, तब तत्व तो मूल-तत्वो मे लीन होते ही है, व्यष्टि चेतना भी समष्टि चेतना मे लीन हो जाती है और मानव फिर संसार मे लौटकर नही आता।

---

१. ना० प्र०-कूँ। २. ना० प्र०-पृथ्वी। ३. ना० प्र०-गुण पाँणी सोख्या ४. ना० प्र०-ये कहि गालि।

व्याख्या—वह कहते हैं कि अब हम मुक्त हो गए हैं। इस संसार मे लौटकर क्यो आएँगे ? हम पंच महाभूतो के बंधन से मुक्त होकर राम मे लीन हो जाएँगे। निधन के समय पंच तत्वों का विपरीतक्रम से अपने मूल तत्वो मे लय होगा। पृथ्वी तत्व जल तत्व मे, जल तत्व अग्नि तत्व मे, अग्नि तत्व पवन तत्व मे और पवन तत्व आकाश तत्व मे लीन हो जाएगा। हमारा चित्त 'सहज' मे समाहित हो जाएगा।

कटक-कुण्डल आदि सभी आभूषण स्वरूपतः स्वर्ण है, केवल उनके नाम-रूप में भेद है। इन सबको एक मे डालकर यदि तप्त किया जाय तो नाम-रूप का भेद मिट जाएगा, आभूषण स्वर्ण-मात्र रह जाएगा। ठीक इसी प्रकार ससार मे जो कुछ है, वह वस्तुतः सभी ब्रह्म है, केवल नाम-रूप का भेद है। लोक और वेद मे जो नाम-रूप की उपाधियाँ विद्यमान हैं, उनसे उपहित चैतन्य जब छुटकारा पाएगा, तब हमारी चेतना सहज-शून्य मे लीन हो जाएगी। जैसे जल और तरंग मे केवल नाम-रूप का भेद है, तरंग जब जल मे मिल जाती है, तब जल मात्र रह जाता है, तरंग नाम-रूप को खो बैठती है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा मे केवल नाम-रूप का भेद है। जब जीवात्मा परमात्म-चैतन्य मे मिल जाता है, तब यह भेद समाप्त हो जाता है। चैतन्य मात्र अवस्थित रह जाता है। ऐसे ही हम भी जब प्रभु से मिलेगे, तब हमारा पृथक् व्यक्तित्व समाप्त हो जाएगा। कबीर कहते हैं कि परमात्मा आनद का सागर है। मुक्त होने पर जीव रूपी हस परमात्मा रूपी परम हंस मे समाविष्ट हो जाएगा।

अलंकार—उदाहरण।

राग – गौरी।

(१८५)

बाजै जंत्र बजावै गुँनी,
राम नांम बिन भूली दुनी ॥ टेक ॥
रजगुन सतगुन तमगुन तीन, पंच तत्त से साजा[1] बीन।
तीनि लोक पूरा पेखनाँ, नाँच नँचावै एकै जनाँ।
कहै कबीर संसा करि दूरि, त्रिभुवननाथ रहा[2] भरपूरि ॥

शब्दार्थ—जंत्र=वाद्य। गुँनी=कलाकार। दुनी=ससार। पेखनाँ=दृश्यमान जगत्। ससा=संशय। भरपूरि=सर्वव्यापी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि मनुष्य को ससार के बाह्य रूप से प्रवचित नही होना चाहिए। उसके भीतर प्रभु विद्यमान हैं। उन्हे जानना चाहिए।

---

१. ना० प्र०–साज्या। २. ना० प्र०–रह्या।

व्याख्या—परमात्मा रूपी कलाकार संसार रूपी यंत्र बजाता रहता है। संसार के सभी लोग राम नाम के बिना उसी सगीत रूपी प्रपच मे भूले हुए है। यह जगत् रूपी वीणा सत्व, रजस्, और तमस् नामक तीन गुणो और पंचतत्वो से निर्मित है। तीनो लोको और समस्त दृश्यमान जगत् में एक ही व्यक्ति सभी को नचाता रहता है। कबीर कहते है कि अविद्या द्वारा प्रेरित संशय को दूर करो। यह संसार केवल तीन गुणो और पचतत्वो का खेल नही है, बल्कि इसमे सर्वत्र त्रिभुवननाथ परिव्याप्त है।

टिप्पणी—इसमे कबीरदास ने यह विश्वास व्यक्त किया है कि ब्रह्म विश्व से परे भी है और विश्व मे व्याप्त भी है।

तुलनीय— जग पेखन तुम देखनहारे।
विधि हरि संभु नचावनहारे।
सोउ न जानहिं मरम तुम्हारा।
और तुमहि को जाननिहारा॥

—तुलसी

अलंकार—(१) राम नाम बिन भूली दुनी—विनोक्ति।
(२) रूपकातिशयोक्ति।

राग—रामकली।

(१८६)

बाबा पेड़ छाड़ि सब डाली लागे, मूढ़े जंत्र अभागे।
सोइ सोइ सब रैंनि बिहांनी[1], भोर भयो तब जागे॥ टेक॥
देवलि जाऊँ तौ देवी देखौं, तीरथि जाऊँ त पांनी[2]।
ओछी बुद्धि अगोचर बांनी, नहीं परमगति जांनी[3]॥
साध पुकारैं समुझत नांहीं, आंन जनम के सूते।
बांधे ज्यूं अरहट टीडरि, आवत जात बिगूते॥
गुर बिन इहि जग कौन भरोसा, काकै संगि ह्वै रहिए।
गनिका कै घरि बेटा जाया, पिता नांव किस कहिए॥
कहै कबीर यहु चित्र बिरोधा, बूझौ अंमृत बांनी[4]।
खोजत खोजत सतगुर पाया, रहि गई आंवन जांनी[5]॥

---

१. ना० प्र०–रैंणि बिहाणी। २. ना० प्र०–पाणी। ३. ना० प्र०–जाणी ४ ना० प्र०–वाणी। ५. ना० प्र०–जाणी।

शब्दार्थ—पेड़=वृक्ष (प्र० अ०) मूल तत्व। डाली=शाखा (प्र० अ०) विषय, बाह्याचार। जत्र=शरीर। सोइ सोइ=अज्ञान-निद्रा। भोर=प्रातःकाल (प्र० अ०) अंतिम समय। देवलि=देवालय में। आँन=अन्य। अरहट=रहँट। टीडरि=पात्र, बाल्टी। बिगूते=ठगे जाते हैं। गनिका=वेश्या। चित्र=दृश्यमान जगत्।

संदर्भ—सद्गुरु के उपदेश के बिना मनुष्य प्रपंच मे फँसा रहता है और उसका उद्धार नही हो पाता।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सभी लोग मूलतत्व (वृक्ष) को छोड़कर बाह्याचार और प्रपच (डाली) मे फँसे हुए हैं। ऐसे अभागे लोग इस शरीर और दृश्यमान जगत् (जंत्री) मे मोहित हो रहे हैं। सभी का जीवन अज्ञान मे नष्ट हो रहा है। वे अतिम समय मे होश में आते हैं। मैं देवालय मे जाता हूँ तो देवी का दर्शन कराया जाता है, तीर्थ-स्थान मे जाने पर स्नान कराया जाता है। मनुष्य की बुद्धि तुच्छ होती है। वह उस परमतत्व की लीला को नही जानता, जो बुद्धि, वाणी और इन्द्रिय का विषय नही है। संत लोग पुकार-पुकार कर उसे सचेत करते है, किन्तु मन्द बुद्धि प्राणी समझता नही, क्योकि वह कई जन्मों से अज्ञान की निद्रा मे सो रहा है। वह अरहट के पात्र के समान बंधन मे बँधा हुआ है और आवागमन के चक्र मे फँसा रहता है। इस संसार मे किसका सग किया जाय ? गुरु के बिना यहाँ किससे सहारा मिल सकता है ? एक सद्गुरु के बिना नाना मत-मतान्तरो मे भटकने वाले व्यक्ति की वही दशा होती है जो वेश्यापुत्र की अर्थात् जैसे वह अपने पिता का नाम नही जानता, वैसे ही विभिन्न मतो के चक्कर मे पड़ा प्राणी यह नही जान पाता कि उसका वास्तविक कल्याण किससे होगा ? कबीर कहते है कि मैंने इस दृश्यमान जगत् का विरोध किया और सद्गुरु की अमृतमयी वाणी को समझ लिया। ऐसे सद्गुरु मुझे बहुत खोजने पर मिले। उनके अनुग्रह से मेरा आवागमन समाप्त हो गया।

तुलनीय—श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, सजुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥

—तुलसी

× × ×

मोहि मूढ़ मन वहुत बिगोयो।
याके लिए सुनहु करुनामय, मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो॥ १॥
सीतल मधुर पियूष सहज सुख, निकटहिं रहत दूरि जनु खोयो।
बहु भाँतिन स्रम करत मोहबस, वृथहिं मंदमति बारि बिलोयो॥ २॥

—विनयपत्रिका, पद २४५

अलंकार—(१) प्रथम दो पंक्तियो मे रूपकातिशयोक्ति ।
(२) काके सगि ह्वै रहिए—वक्रोक्ति ।
(३) गनिका कै घरि'' ' ''' 'कहिए—दृष्टान्त ।

राग—रामकली ?

(१८७)

बाबा माया मोह मो हितु कीन्ह ।
तातैं ग्यांन रतनु हरि लीन्ह ॥ टेक ॥
जगि जीवनु ऐसा सुपिनैं जैसा जीवन सुपिन समांन ।
सांचु कहि हम गाँठि दीन्हीं छोड़ि परम निधांन ॥
जोति[1] देखि पतंग उरझै पसु न पेखै आगि ।
काल फांस न मुगध चेतै कनक कांमिनि लागि ॥
करि बिचार बिकार परिहरि तरन तारन सोइ ।
कहै कबीर भगवंत भजि नर दुतिअ नांहीं कोइ ॥

शब्दार्थ—मो हितु=मेरे लिए । सुपिनै=स्वप्न मे भी । गाँठि दीन्ही (मुहा०)=निश्चयपूर्वक । निधांन=आश्रय । पेखै=देखता । मुगध=मूर्ख, मूढ़ । चेतै=विचार करना । परिहरि=छोडकर ।

सदर्भ—इस पद मे कबीर माया के कारण मोह के आकर्पण मे फँसे जीव को चेतावनी देते है कि विपयो को छोड़कर भगवान् का भजन करना चाहिए ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि माया ने अपने प्रभाव से मुझे मोह मे डाल दिया । फलस्वरूप उमने मेरे ज्ञान रूपी रत्न का अपहरण कर लिया अर्थात् मोह के कारण विवेक नष्ट हो गया । संसार मे हम जीवन के तथ्य से इतना दूर हो गये है कि जगने पर भी जीवन स्वप्नवत् प्रतीत होता है । हम यह सत्य निश्चयपूर्वक कहते है कि मोह के कारण जीव परमात्मा का आश्रय छोड़कर विषयो के आकर्षण मे उसी प्रकार फँसता है, जैसे पतिंगा ज्योति को देखकर उसके प्रति आकृष्ट होता है । उसे यह नही सूझता कि यह अग्नि है जो जला देगी । ऐसा मूढ व्यक्ति कनक-कामिनी (धन और रमणी) के आकर्पण मे फँसकर काल के बधन को नही सोच पाता । कबीर कहते है कि हे जीव ! यह विचार करके कि एकमात्र प्रभु ही उद्धारकर्त्ता है, दूसरा कोई नही, सभी मनोविकारों को त्याग कर भगवान् का भजन कर ।

---

१. तिवारा—नैंन ।

अलंकार—(१) ग्यान रतनु—रूपक ।
(२) जगि जीवनु ऐसा—उपमा ।
(३) जोति देखि पतंग—दृष्टान्त ।

राग—आसावरी ।

(१८८)

बाबू ऐसा है संसार तिहारो, ई है कलि ब्यौहारो ।
को अब अनख[1] सहै प्रतिदिन को, नाहिन रहनि हमारो ॥
सुम्रिति सुहाय[2] सबै कोइ जानै, हृदया तत्व न बूझै ।
निरजिव आगे सरजिव थापै, लोचन कछू[3] न सूझै ॥
तजि अमृत विख काहे को अँचवैं, गाँठी बाँधिन खोटा ।
चोरन दीन्हा[4] पाट सिंहासन, साहुन से भयो ओटा ॥
कहैं कबीर झूठे मिलि झूठा, ठगही ठग ब्यौहारा ।
तीनि लोक भरपूर रहो है, नाहिन है पतियारा ॥

शब्दार्थ—अनख = दुःख, झंझट । सुहाय = अच्छी लगने वाली । हृदया = हृदय से । निरजिव = निर्जीव , मिट्टी पत्थर आदि के देवता । सरजिव = सजीव, पशु आदि । अँचवै = पीते है । थापै = चढाते है । पाट = पीढा, गद्दी । ओटा = आड, भेद, पर्दा । पतियारा = विश्वास करने वाला ।

संदर्भ—संसार के लोग वंचक गुरुआ लोगो के कथन पर विश्वास करके धर्म के नाम पर पशु-बलि आदि करते है । परम सत्य को कोई नही जानता ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे भाइयो ! यह ससार बडा विचित्र है । यहाँ सभी व्यवहार कलि द्वारा प्रेरित है । इसके दुख को प्रतिदिन कौन सहे ? यह हमारे निवास के लिए अनुकूल नही है । स्मृति का कथन सबको अच्छा लगता है । लोग हृदय से उसके तत्त्व को समझते नही । स्मृति के आधार पर निर्जीव मिट्टी-पत्थर की मूर्तियो के समक्ष सजीव पशुओं की बलि चढ़ाते है । वस्तुत. वे ज्ञान रूपी नेत्र से रहित है । वे प्रभु-भक्ति रूपी अमृत को छोड़कर विषय-विष का सेवन क्यों करते है तथा कुकर्मो का अनुसरण क्यो करते है ? वे लोग ज्ञान-रत्न को चुराने वाले वंचको को उच्च स्थान देते हैं, सम्मान देते है और सतो से मुँह छिपाते है । कबीर कहते है कि इस संसार में झूठा झूठे से मिलता है । एक ठग का दूसरे ठग से सम्बध

---

१. वि०—अनुख । २. शुक०—स्मृति स्वभाव । ३ वि०—किछुवो । ४. वि०—दीन्हों ।

होता है—गुरु भी ठग, शिष्य भी ठग। प्रभु तीनों लोको मे परिव्याप्त है, मेरे इस सत्य कथन पर किसी को विश्वास नही।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(१८९)

बालम आउ[1] हमारैं गेह रे।
तुम्ह बिन दुखिया देह रे॥ टेक॥
सब कोइ[2] कहै तुम्हारी नारी मोकौं यह[3] अन्देह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब लगि[4] कैसा नेह रे॥
अन्न[5] न भावै नींद न आवै ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यौं[6] कामीं कौ कांमिनि[7] प्यारी ज्यौं[8] प्यासे कौ नीर रे॥
है कोई ऐसा पर उपगारी हरि सौं[10] कहै सुनाइ रे।
अब[11] तौ बेहाल कबीर भए हैं बिनु देखें जिउ[12] जाइ रे॥

शब्दार्थ—बालम=प्रिय। गेह=घर। अन्देह=(फा० अदेश) चिन्ता, शंका। उपगारी=उपकारी, भलाई करने वाला। बेहाल=(फा०) बेचैन।

संदर्भ—इस पद मे जीवात्मा को पत्नी और परमात्मा को पति मानकर वियोग-व्यथा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे प्रियतम ! तुम मेरे घर आओ। तुम्हारे बिना मैं अत्यंत दु खी हूँ। सभी लोग मुझे तुम्हारी पत्नी कहते है, किन्तु मुझे तो इस पर शका हो रही है। क्या मैं सचमुच तुम्हारी पत्नी हूँ ? पति-पत्नी के सच्चे प्रेम का प्रमाण यही है कि दोनो एक शय्या पर मिलकर सोवें। परन्तु मैं तो तुमसे वियुक्त हूँ। तुम्हारे वियोग मे मुझे न भोजन अच्छा लगता है और न रात में नीद ही आती है। मुझे न घर में शाति मिलती है और न बन मे अर्थात् बाहर। जैसे कामी पुरुष का चित्त सदा कामिनी मे लगा रहता है और जैसे प्यासे का चित्त पानी मे लगा रहता है, वैसे ही मेरा मन तुममे निरन्तर लगा रहता है। क्या जगत् मे कोई ऐसा परोपकारी जीव है जो मेरी व्यथा प्रियतम प्रभु से जाकर सुनावे। हे प्रियतम ! तुम्हारे बिना कबीर बहुत बेचैन है। तुम्हारे दर्शन के बिना प्राण व्याकुल हो रहे है।

---

१. ना० प्र०—वाल्हा आव। २. ना० प्र०—को। ३. ना० प्र०—इहै। ४. ना० प्र०—लग। ५. ना० प्र०—आन। ६. ना० प्र०—ज्यूँ। ७. ना० प्र०—काम पियारा। ८. ना० प्र०—ज्यूँ। ९. ना० प्र०— ज्यूँ। १० ना० प्र०—सूँ। ११. ना० प्र०—ऐसे हाल। १२. ना० प्र०—जीव।

टिप्पणी—प्रभु अंशी है, जीव अंश है। जब अंश को अंशी की खोज होती है, सूफियों के शब्दों में जुज़ को कुल की तलाश होती है, तब उसके न मिलने से उसे एक विचित्र अभाव की अनुभूति होती है। वह विरह की वेदना से व्यथित हो उठता है। कबीर ने वियोग शृंगार द्वारा इसी स्थिति का वर्णन किया है।

तुलनीय—(१) अन्न न भावै नीद न आवै.... ....

धान न भावै नीद न आवै, बिरह सतावै मोइ।
घायल सी घूमत फिरूँ, दरद न जाणै कोइ॥

—मीरा

(२) ज्यौं कामी कौ कामिनि प्यारी.... ....

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय मोहि लागहु राम॥

—तुलसी

(३) है कोई ऐसा पर उपगारी.... ....

बिरहनि कों सिंगार न भावे,
है कोई ऐसा राम मिलावे॥ टेक॥
बिसरे अंजन मजन चीरा, विरहबिथा यहु व्यापे पीरा॥१॥

—दादू

—(दादूदयाल—पृ० ३१२)

अलंकार—ज्यौ कामी कौ कामिनि प्यारी—उपमा।

राग—केदार।

(१९०)

बावरे तैं ग्यांन बिचारु न पाया।
बिरथा जनमु गंवाया॥ टेक॥
थाके नैन स्रवन सुनि थाके थाकी सुन्दर काया।
जांमन मरनां ए दोइ थाके एक न थाकी माया॥
तब लगि प्रानीं तिसै सरेवहु जब लगि घट मंहि सांसा।
भगति जाउ पर भाव न जइयौ हरि के चरन निवासा॥
जो जन जांनि भजहि अबिगत कौं तिनका कछू न नासा।
कहैं कबीर ते कबहुं न हारहि ढालि जु जानंहि पासा॥

शब्दार्थ—जांमन मरनां=जन्म-मरण। तिसै=उसीको। सरेवहु=सराहना करो, प्रशंसा करो। अविगत=अज्ञेय। भाव=प्रेम, श्रद्धा। घट=शरीर।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने यह उपदेश दिया है कि माया की प्रवलता पर विजय प्राप्त करने का एक ही साधन है—प्रभु के चरणो मे श्रद्धा और प्रेम।

व्याख्या—वह कहते है कि हे बावले जीव ! तुझको वास्तविक ज्ञान नही मिला। तेरा मानव योनि मे जन्म लेना व्यर्थ हो गया। नेत्र, श्रवण आदि इन्द्रियाँ विपयो के स्वाद से ऊबकर थक सकती है, सुन्दर काया जीर्ण-शीर्ण हो जाती है और जन्म-मरण के निरन्तर प्रवाह का भी उपशम हो सकता है, किन्तु माया का व्यापार नही बन्द होता।

हे जीवो ! तुम लोग तब तक प्रभु का भजन करो, जब तक शरीर मे श्वास है। चाहे भक्ति चली जाय अर्थात् चाहे जप, तप, ध्यान आदि बन्द हो जायँ, किन्तु प्रभु के चरणो के प्रति प्रेम और श्रद्धा में कमी नही आनी चाहिए। जो लोग विश्वासपूर्वक प्रभु का भजन करते है, उनका कभी विनाश नही होता। कबीर कहते है कि जो प्रेम का पासा ढालना या फेकना जानते है, उनकी कभी हार नही होती। उनकी विजय अवश्यम्भावी है।

अलंकार—अन्तिम पक्ति मे रूपकातिशयोक्ति, व्यतिरेक।

राग—आसावरी।

(१९१)

बिनसि जाइ कागद की गुड़िया,
जब लग पवन तबै लग उड़िया ॥ टेक ॥
गुड़िया को सबद अनाहद बोलै, खसम लिए कर डोरी डोलै।
पवन थक्यो गुड़िया ठहरानी, सीस धुनै धुनि रोवै प्रॉनी।
कहैं कबीर भजि सारंगपानी, नाहीं तर ह्वै है खींचातानी ॥

शब्दार्थ—गुडिया=गुड्डी, पतंग (प्र० अ०) शरीर। पवन=वायु (प्र० अ०) प्राण। खसम=स्वामी। थक्यो=रुक गया। सारंगपानी=विष्णु।

सन्दर्भ—इस पद मे शरीर की नश्वरता दिखलाते हुए, प्रभु-भजन का उपदेश दिया गया है।

व्याख्या—यह शरीर कागज की पतग के समान है। जिस प्रकार पतग वायु के सहारे उड़ती है, पवन के शिथिल हो जाने पर गिर पड़ती है, उसी प्रकार यह शरीर प्राण के द्वारा गतिशील रहता है। उसके निकल जाने पर निश्चेष्ट हो जाता है।

इस शरीर के भीतर निरन्तर अनाहत ध्वनि होती रहती है। जिस प्रकार पतग की डोरी उड़ानेवाले के हाथ मे रहती है। वह इच्छानुसार पतग को उड़ाता है,

उसी प्रकार जीवात्मा या ब्रह्म शरीर का सचालन करता है। प्राण के निकल जाने पर शरीर का पतन हो जाता है। तब सम्बन्धीजन सिर धुन-धुनकर रोते हैं। कबीर कहते है कि प्रभु का भजन करो, अन्यथा अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़ेंगे।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(१९२)

बिखिया अजहूँ सुरति[1] सुख आसा।
होन न देई हरि चरन निवासा॥ टेक॥
सुख[2] मांगे दुख आगै[3] आवै, तातै सुख मांग्या नहि भावै।
जा सुख तैं सिव बिरंचि डरांनां, सो सुख हमहूँ सांच करि जांनां।
सुख छांड़ां तब सब दुख भागा, गुर कै सबदि मेरा मन लागा।
कहै[4] कबीर चंचल मति त्यागी, तब केवल रांम नांम लौ लागी॥

शब्दार्थ—विखिया = विषय भोग। बिरंचि = ब्रह्मा। सुरति = चित्त।

सन्दर्भ—प्रस्तुत पद मे विषय-सुख को साधना मे बाधक बताते हुए उसके त्याग की बात कही गई है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यह चित्त अब भी विषय-भोग से सुख-प्राप्ति की आशा मे लगा रहता है। विषय-सुख की यही आशा जीव को प्रभु के चरणों मे प्रवृत्त नही होने देती।

विषय-सुख की वासना के कारण जीव मे पदार्थो का अभिलाष होता है, तब वह पदार्थों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, उनकी अप्राप्ति से वह दु ख पाता है। शारीरिक सुख-मात्र के लिए जब वह किसी पदार्थ का भोग करता है, तब परिणाम मे उसे दु:ख का ही अनुभव करना पडता है। इसीलिए विषय-सुख का अभिलाष ठीक नही है।

शिव और ब्रह्मा भी जिस विषय-सुख से डरते है, जिसे दु ख का हेतु मानते है, उसे साधारण जीव सच्चा सुख मानकर उसकी ओर आकृष्ट होता है। जब व्यक्ति विषय-सुख की कामना त्याग देता है, तब उसे दु ख छोड देता है और उसका मन गुरु द्वारा प्रदत्त 'शब्द' मे लग जाता है। कबीर कहते है कि जब जीव विषयो के प्रति लोलुप-

१. ना० प्र० में 'सुरति' शब्द नहीं है। २. ना० प्र०–मुख। ३. ना० प्र०–पहलैं। ४. ना० प्र० में एक पंक्ति और है—निस बासुरि विषैतना उपगार, विषय नरकि न जातौं वार।

चंचल मन को अपने वश में कर लेता है, तभी उसका ध्यान पूर्ण रूप से राम नाम में लगता है।

टिप्पणी—विषय—विषय का अर्थ है—विषिनोति मन. इति विषय अर्थात् जो मन को बाँध ले, जिसमें मन पूर्ण रूप से आसक्त हो जाय, वही विषय है। कोई भी पदार्थ अपने आप मे विषय नही बनता। विषयासक्ति और साधना दोनो साथ नही चल सकते।

अलंकार—(१) जा सुख'' ''जाना—भ्रान्तिमान्।
(२) सुख छाँडा तब सब दुख भागा—विरोधाभास।

राग—गौरी।

(१९३)

विखै बांचु हरि रांचु समझु मन बउरा रे ॥ टेक ॥
निरभै होइ न हरि भजै मन बउरा रे गह्यौ न राम जहाज।
तन धन सौं का गर्बसी मन बउरा रे भसम किरिम जाको साज ॥
कालबूत की हस्तिनी मन बउरा रे चित्र रच्यौ जगदीस।
कांम अंध गज बसि परै मन बउरा रे अंकुस सहियौ सीस ॥
मरकट मूंठी अनाज की मन बउरा रे लीन्ही हाथ पसारि।
छूटन की संसै परी मन बउरा रे नाचेउ घर घर बारि ॥
ज्यौं ललनीं सुअटा गह्यौ मन बउरा रे माया यहु ब्यौहार।
जैसा रंग कुसुम्भ का मन बउरा रे त्यौं पसरचौ पासारु।
न्हावनु कौं तीरथ घने मन बउरा रे पूजन कौं बहु देव।
कहैं कबीर छूटन नहीं मन बउरा रे छूटनु हरि की सेव ॥

शब्दार्थ—विखै=विषय, इन्द्रिय सुख। बांचु=बचो। रांचु=रंग जा, अनुरक्त हो जा। किरिम=कृमि, कीडा। कालबूत=(फा०—कालबुद) ढाँचा, कच्चा भराव। मरकट=बंदर। ससै=सशय, कठिनाई। ललनी=वास की नली। सुअटा=तोता। कुसुभ (सं०)=केसर। पासारु=प्रसार, फैलाव। छूटन=छुटकारा, मुक्ति। बारि=द्वार, दरवाजा।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि जीव माया के प्रभाव से काम, लोभ आदि के द्वारा बधन मे पडता है। यह बधन केवल प्रभु-भक्ति से ही छूट सकता है।

व्याख्या—कबीरदास कहते है कि रे बावले मन! तू समझकर विषय-सुख से बच और प्रभु के प्रति अनुराग रख। हे बावले मन! तूने निर्भय होकर भगवान्

की भक्ति नही की और इस संसार-सागर से पार ले जाने वाले राम-जहाज की शरण नही ग्रहण की। रे मन! तू तन रूपी धन क्या गर्व करता है? इसकी अतिम दशा जलाने पर या तो भस्म होगी या दफनाने पर इसे कीड़े खाएँगे। इस चित्रवत् मृषा शरीर के मोहाकर्षण मे बँधकर जीव उसी प्रकार कष्ट भोगता है जैसे ढाँचे की हथिनी के प्रति कामाध हाथी आकृष्ट होकर बधन मे पडता है और फिर उसे महावत का अंकुश सहना पडता है। जीव के बंधन मे पडने का दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कबीर कहते है कि जिस प्रकार बंदर अनाज के लोभ के वश मे आकर घड़े मे हाथ डाल देता है और उससे मुट्ठी निकल नही पाती, वह पकड़ा जाता है और मदारी के द्वारा प्रत्येक घर के दरवाजे पर नचाया जाता है, उसी प्रकार जीव भी लोभ के वश मे आकर संसार मे नाचता फिरता है। जीव के बंधन का तीसरा दृष्टान्त देते हुए वह कहते है कि जिस प्रकार तोता दाने के लोभ मे बाँस की नली पर बैठकर बँधन मे पड जाता है, उसी प्रकार जीव भी बंधन मे पडता है। यह सब माया का प्रभाव है। जीव माया के वश मे आकर ही बंधन मे पड़ता है। माया का प्रभाव वैसा ही व्यापक होता है, जैसे किसी द्रव पदार्थ मे थोड़ा-सा भी केसर डालने से उसका रंग सर्वत्र फैल जाता है। कबीर कहते है कि स्नान करने के लिए अनेक तीर्थ है और पूजा के लिए अनेक देवी-देवता है। किन्तु तीर्थ-स्नान और देव-पूजन से मुक्ति नहीं मिल सकती। केवल प्रभु-भक्ति और सेवा से ही मुक्ति संभव है।

टिप्पणी—(१) कालबूत की हस्तिनी·······

जगली हाथियों को वश मे करने के लिए हथिनी का ढाँचा तैयार करके जगल मे खड़ा कर दिया जाता है। हाथी उसे वास्तविक हथिनी समझकर काम के वश मे आ जाता है और शिकारियो द्वारा वश मे कर लिया जाता है।

(२) मरकट मूँठी अनाज की·······

बदर अनाज से भरी सुराही मे हाथ डाल देता है। उसकी मुट्ठी अनाज से युक्त होने पर पात्र से निकल नही पाती। इस प्रकार वह अपने को बधन मे समझने लगता है और पकड़ा जाता है।

(३) ज्यो ललनी सुअटा·······

तोते को पकड़ने के लिए शिकारी बाँस की नली लगाते है, उस पर कुछ दाना रख देते है। तोता दाने के लोभ मे नली पर बैठता है और उलट जाता है। वह समझता है कि मैं बँध गया। इस प्रकार वह पकड़ा जाता है।

अलंकार—(१) गह्यौ न राम जहाज—रूपक ।
(२) तन धन सौं का गर्वसी—वक्रोक्ति ।
(३) कालबूत की हस्तिनी—भ्रान्तिमान्, दृष्टान्त ।
(४) मरकट मूँठी अनाज की—भ्रान्तिमान्, दृष्टान्त ।
(५) ज्यौं ललनी सुअटा—उदाहरण ।

राग—गौरी ।

(१९४)

बिरहिनी फिरै है नाथ[1] अधीरा ।
उपजि बिनाँ कछु समुझि न परई, बाँझ न जानै पीरा ।।टेक।।
या बड़ बिथा सोई भल जाँनै, राँम बिरह सर मारी ।
कै[2] सो जाँनै जिनि यहु लाई, कै जिनि चोट सहारी ।।
सँग की बिछुरी मिलन न पावै, सोच करै अरु का[3] है ।
जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै राँम कूँ चाहै ।।
दीन भई बूझै सखियन कौं, कोई मोहि राम मिलावै ।
दास कबीर मीन ज्यूँ तलपै, मिलैं भलैं सचु पावै ।।

शब्दार्थ—उपजि = उत्पन्न । बिथा = व्यथा, कष्ट । सर = बाण । कै = या, अथवा । सो = वह । सहारी = सहता है । लाई = उत्पन्न किया । जुगति = युक्ति । चाहै = अनुरक्त । भलै सचु = सच्चा सुख ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में जीवात्मा रूपी विरहिणी की दशा का वर्णन किया गया है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे नाथ ! जीवात्मा रूपी विरहिणी अधीर होकर मारी-मारी फिरती है । जिसने विरह वेदना का अनुभव नही किया है, वह इस पीडा को समझ नही पाता । वध्या स्त्री प्रसव-वेदना को कैसे समझ सकती है ? इस तीव्र पीडा का अनुभव वही कर सकता है, जो राम के विरह-बाण से आहत है । इस पीडा को या तो वह जानता है जिसने इसे उत्पन्न किया है अथवा वह जानता है जो विरह की चोट सहता है । प्रियतम परमात्मा के साहचर्य से वियुक्त जीवात्मा-रूपी विरहिणी सयोग के अभाव मे शोकग्रस्त रहती है । वह बेचारी और कर ही क्या सकती है ? वह प्रियतम से मिलने की युक्ति पर विचार करती रहती है तथा उनके अनुराग मे लीन निरन्तर उनका नाम जपती रहती है । वियोग मे क्षीण होकर

१. ना० प्र०–नाम । २. ना० प्र०–कैसो ३. ना० प्र०–काहै ।

वह जीवात्मा अपनी सखियो (साधकों) से निवेदन करती है कि क्या उनमे कोई सखी (साधक) ऐसी है जो उसे प्रियतम से मिला दे। कबीर कहते है कि वह विरहिणी जल से वियुक्त मछली के समान तडपती रहती है। प्रभु-मिलन से ही उसे सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है।

अलंकार—(१) बाँझ न जानै पीरा—निदर्शना।
(२) सोच करै अरु का है—वक्रोक्ति।
(३) विरह सर—रूपक

राग—सोरठ

(१९५)

बुझ बुझ पंडित पद निरबान, सांझ परे कहवाँ बसे[1] भान।
उँच निच परबत ढेला न ईंट, बिनु गायन तहँवा उठे गीत॥
ओस न प्यास मंदिर[3] नहि जँहवा, सहसौं धेनु दुहावैं तहँवा।
नित्त[4] अमावस नित संक्रान्त[5], नित नित[6] नवग्रह बैठे पाँत[7]॥
मैं तोहि पूछौं पंडित जना, हृदया ग्रहन लागु केहि खना।
कहैं कबीर इतनो नहि जान, कवन[8] सबद गुरु लागा कान॥

शब्दार्थ—भान = भानु, सूर्य (प्र० अ०) आत्मज्योति। खना = क्षण।

संदर्भ—आत्मपद देश ओर काल से परे है। उसका कोई एक स्थान नही है। सूर्य, चन्द्र आदि सभी उसी से उदय और उसी मे अस्त होते रहते है।

व्याख्या—हे ज्ञानी पडितो! शुद्ध आत्मा का पद समझो। संध्या होने पर सूर्य कहाँ रहता है? ऐसे ही शरीरान्त होने पर आत्मा कहाँ रहता है? इसे समझो। प्राय· माना जाता है कि संध्या समय सूर्य सुमेरु पर्वत के पीछे चला जाता है। वस्तुतः इसमे कोई तथ्य नही है। सूर्य किसी ऊँचे-नीचे पर्वत अथवा दीवाल के पीछे नही छिपता। इसी प्रकार आत्मा किसी निश्चित स्थान पर निवास नही करता।

आत्मतत्त्व मे बिना गाने वालो के गीत होता रहता है अर्थात् उसमे निरंतर अनाहत नाद होता रहता है। उस स्थिति में न ओस है, न उसकी तृष्णा। उसके निवास के लिए कोई भवन नही है अर्थात् वहाँ न देह है, न लोक। वहाँ हजारो गाएँ दुही जाती है अर्थात् आनंद और ज्ञान की झड़ी लगी रहती है।

अमावस्या को सूर्य और चन्द्र दोनो अदृश्य हो जाते है। इसी प्रकार साधना

---

१. वि०–बस। २. शुक०–ऊँच नीच। ३. वि०–मंदिल। ४. वि०–नितै। ५. वि०–संक्राँती। ६. शुक०–दिन। ७. वि०–पाँती। ८. शुक०–कौन सबद।

मे आत्म-साक्षात्कार के समय सूर्य और चन्द्र नाडियाँ (इडा-पिंगला) सुपुम्ना मे लीन हो जाती है। यह समाधि की अवस्था है, जो अल्पकालिक है। निर्वाण पद मे निरन्तर अमावस्या रहती है अर्थात् आत्म सत्ता का शाश्वत साम्राज्य रहता है।

सूर्य अथवा चन्द्र के एक राशि से दूसरी राशि मे जाने को संक्राति कहते है। साधना मे प्राण श्वास से प्रश्वास मे संक्रमण करता है। किन्तु निर्वाण की अवस्था मे नित्य सक्रांति बनी रहती है। उस स्थिति मे नवग्रह (रवि, चन्द्र, मगल, वुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु) एक ही पक्ति मे आ जाते है अर्थात् निर्वाण-पद मे नव-ग्रह (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्त.करण चतुष्टय) आत्मत्व मे लीन हो जाते है।

कबीर कहते है कि पडित लोगो, मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम्हारे हृदय रूपी चन्द्र में कामादि रूपी ग्रहण कब लग गया ? तुम्हे इसका भी ज्ञान नही है कि आत्मस्वरूप को अज्ञान से ही काम-मोह आदि का ग्रहण लगता है। जब तुम्हे यह जानकारी भी नही है तो फिर तुमने किस गुरु से दीक्षा ली है ?

तुलनीय—(१) साँझ परे कहँवा बसे भान ... .

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
त देवा' सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥
—(कठो० २।१।९)

'परमात्मा से ही सूर्य और चन्द्र ज्योति पाते है और उसी मे अस्त हो जाते है। सारे देव उसी मे स्थापित है। उसका कोई अतिक्रमण नही कर सकता।'

(२) नित्त अमावस नित संक्रान्ति............

इडा पिंगलयो. सन्धौ प्राणस्य च समागमः।
अमावस्या च निश्वासोच्छ्वासनं सक्रमोऽस्ति वै ॥
इडया कुण्डलीस्थाने प्राणस्य च समागमः।
सोमग्रहणमित्युक्तमन्यत् पिंगलया भवेत् ॥
—जाबालिदर्शनोपनिषद्, अध्याय–४

'इडा और पिंगला की सधि मे प्राण के जाने पर अमावस्या होती है और जब श्वास, उच्छ्वास मे तथा उच्छ्वास निश्वास मे जाता है, तब संक्रान्ति होती है।

जब इडा का सुपुम्ना मे समागम होता है, तब चन्द्र ग्रहण होता है और जब पिंगला का सुपुम्ना मे समागम होता है, तब सूर्य ग्रहण होता है।

(३) निर्वाण-प्राप्ति की स्थिति मे आत्मा कहाँ जाता है, इस सम्बन्ध मे भगवान् बुद्ध ने 'सुत्त निपात' मे उपशिव को इसी प्रकार का उपदेश दिया है :

अच्ची यथा वातवेगेन खित्तो,
अत्थ पलेति न उपेति संखं।
एवं मुनी नाम काव्या विमुत्तो,
अत्थं पलेति न उपेति सख ॥

'जिस प्रकार दीपशिखा (लौ) वात-वेग से क्षिप्त होकर अपने गन्तव्य स्थान को चली जाती है, तब उसकी कोई संज्ञा नही रह जाती, उसी प्रकार नाम और काया से विमुक्त होकर मुनि निर्वाण पद मे कहाँ जाता है ? इसे कोई नही जानता।

अलंकार—(१) प्रथम पक्ति मे रूपकातिशयोक्ति ।
(२) बिनु गायन तहवाँ उठे गीत—विभावना ।
(३) अंतिम पक्ति मे वक्रोक्ति ।

(१९६)

बुझ बुझ[1] पंडित बिरवा न होय, आधा बसे पुरुष आधा बसे जोय।
बिरवा एक सकल संसारा, सरग[2] सोस जड़[3] गई पताला।
बारह पखुरी चौबिस पाता[4], घन बरोह लागे चहुँ पासा[5]।
फूलै न फलै वाकी है बानी, रैनि दिवस विकार चुवै पानी।
कहैं कबीर कछु अछलो न तहिया, हरि बिरवा प्रतिपालि न जहिया ॥

शब्दार्थ—बिरवा=वृक्ष (प्र० अ०) संसार। जोय=स्त्री (प्र० अ०) प्रकृति। जर=जड़। पखुरी=पँखुड़ियाँ। बरोह=जटाएँ। घन=घनी, प्रचुर। पासा=ओर, पार्श्व। बानी=स्वभाव। अछलो=था।

संदर्भ—यह संसार एक ऐसे वृक्ष के समान है जिसकी सृष्टि प्रभु के द्वारा होती है। इसमे ज्ञान रूपी फूल और मुक्ति रूपी फल स्वत नहीं लगते। उनकी प्राप्ति साधना से ही सम्भव है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे पण्डित ! तुम उस ज्ञान को प्राप्त करो, जिससे यह ससार रूपी वृक्ष पुन. न प्राप्त हो। यह ससार रूपी वृक्ष पुरुष और प्रकृति के सयोग से बना है। सारा संसार एक वृक्ष है जिसकी चोटी ब्रह्मलोक मे है और जड़ पाताल मे है। इसमे बारह पंखुडियाँ हैं अर्थात् यह संसार काल के अन्तर्गत है जिसमे बारह महीने होते है। इसमे चौबीस पत्ते अर्थात् पक्ष है। इसके चारो ओर घनी जटाएँ है अर्थात् यह संसार कामनाओं से आवृत है। इसका स्वभाव ऐसा है कि इसमे

---

१. शुक०—वूझ वूझ। २. शुक०—स्वर्ग ३. वि०—जरि गयल। ४. वि०—पात। ५. वि०—पास।

न तो ज्ञान रूपी फूल फलने पाता है और न मुक्ति रूपी फल उत्पन्न होने पाता है। इस वृक्ष से निरन्तर काम-क्रोध आदि विकार रूपी जल टपकता रहता है। कबीर कहते है कि जब हरि ने इसका प्रतिपालन नही किया तब अर्थात् महाप्रलय की दशा मे किसी प्रकार की सत्ता नही थी।

टिप्पणी—साख्य मत के अनुसार पुरुष-प्रकृति का द्वैत रहता है। किन्तु कबीर ने इस पद मे अद्वैत भाव रखा है। उनके मत से पुरुष-प्रकृति रूपी ससार-वृक्ष हरि के द्वारा ही प्रतिपादित होता है।

तुलनीय—सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।

(छान्दो० ६।२।१)

'गुरु का शिष्य से कथन है कि हे प्रिय! सृष्टि से पूर्व केवल सत् था।'

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(१९७)

बुझ बुझ[1] पंडित मन चित लाय।
कबहुं भरल बहै[2] कबहुँ सुखाय॥
खन ऊबै खन डूबै खन[3] औगाह।
रतन न मिलै पावै नहि थाह॥
नदिया नहीं संसरि[4] बहै नीर।
मच्छ न मरै केवट रहै तीर॥
पोखर[5] नहि बाँधल तहँ[6] घाट।
पुरइन नांहि[7] कवँल महँ बाट॥
कहै कबीर ई[8] मन का धोख।
बैठा रहै चलन चहै[9] चोख॥

शब्दार्थ—भरल = जल से परिपूर्ण। खन = क्षण, कभी-कभी। ऊबै = ऊबना, व्याकुल होना। औगाह = थाह लगाना। ससरि = संसरण रूप से, निरन्तर। नीर = (प्र० अ०) सकल्प-विकल्प। मच्छ = मछली (प्र० अ०) काम-क्रोध। केवट = (प्र० अ०) सद्गुरु। पोखर = पुष्कर, तालाब। पुरइन = कमलदल। बाट = मार्ग। चोख = फुर्ती से, वेग से।

---

१. शुक०—बूझ बूझ। २ शुक०—है। ३ शुक०—ऊन औ गाह। ४. शुक०—समद। ५. शुक०—पोहकर। ६. शुक०—तहाँ। ७. शुक०—नहीं कमल। ८. शुक०—यह। ९ शुक०—यहै।

संदर्भ—इस पद मे मन के संकल्प-विकल्पात्मक स्वरूप का विवेचन किया गया है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे पण्डितो ! अच्छी प्रकार से चित्त लगाकर मन-रूपी नदी के स्वभाव या मर्म को समझो । यह कभी-कभी आशा और तृष्णा रूपी जल से परिपूर्ण होकर प्रवाहित होती है और कभी असफलता के कारण इसका मनोरथ-जल सूख जाता है । यह मन कभी दुःख से आकुल हो उठता है, कभी सुख की प्राप्ति से ससार मे आसक्त हो जाता है और कभी उसकी थाह लेने का प्रयत्न करता है । उसे जब तक ज्ञान रूपी रत्न नही मिल जाता, तब तक इस संसार की थाह नही लगती ।

यद्यपि वहाँ कोई वास्तविक नदी नही है, फिर भी संकल्प-विकल्प रूपी जल का प्रवाह होता रहता है । उसके भीतर विद्यमान काम-क्रोध रूपी मछलियाँ कभी मरती नही तथा सद्गुरु रूपी केवट किनारे ही बैठा रहता है अर्थात् इस नदी को पार करने के लिए उसे सद्गुरु नही मिलता । यद्यपि ससार रूपी सरोवर स्थायी नही है, फिर भी मन उसमे नाना प्रकार के घाट रूपी योजनाओ का निर्माण करता रहता है । यद्यपि उसमे कमल-दल रूपी आधार नही है, फिर भी मन अनेक प्रकार के सुख-ऐश्वर्य रूपी कमलो की कल्पना करता रहता है । कबीर कहते है कि मन की ये कल्पनाएँ उसी प्रकार धोखा है, जैसे कोई बैठे-बैठे ही वेग से चलने का उपक्रम करे अर्थात् साधना के बिना सुख और शान्ति नही मिल सकती ।

तुलनीय—चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयोभवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥
—(मैत्री उपनिषद् ५।६)

'चित्त ही से ससार (आवागमन) है । इसलिए' प्रयत्न से चित्त को शुद्ध करना चाहिए । जैसा चित्त होता है, उसी प्रकार का मनुष्य हो जाता है । यही सनातन रहस्य है । चित्त की शुद्धता से ही मनुष्य शुभाशुभ कर्म से ऊपर उठ जाता है । जिसका चित्त निर्मल हो जाता है, वह अन्तरात्मा मे स्थित होकर अक्षय सुख को प्राप्त होता है ।

अलंकार—(१) पूरे पद मे रूपकातिशयोक्ति ।
(२) नदिया नही⋯ ⋯ बाट—विभावना ।

(१९८)

बूझहु पंडित करहु बिचारा, पुरुष अहै[1] की नारी।
ब्राह्मन के घर ब्राह्मनि[2] होती, जोगी के घर चेली।
कलमा[3] पढ़ि पढ़ि भई तुर्किनी, कलि मँह[4] रहति अकेली ॥
वर नहि बरै[5] ब्याह नहि करई, पूत जनावन हारी।
कारे मूँड एक[6] नहि छाड़ै, अजहूँ आदि कुमारी ॥
मैंके रहै[7] जाय नहि ससुरे, सांई संग न सोवै।
कहहि कबीर वे जुग जुग जीवैं, जाति पाँति कुल खोवैं ॥

शब्दार्थ—अकेली = स्वतन्त्र। बरै = विवाह करना। वर = (१) श्रेष्ठ, असग (२) पति। पूत = पुत्र (प्र० अ०) जीव। जनावनहारी = पैदा करने वाली। मैंके = मातृगृह (प्र० अ०) संसार। ससुरे = श्वसुरालय। (प्र० अ०) आत्मपद सांई = शुद्ध चैतन्य।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे माया के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि माया अकथनीया है। उसके विषय में यह कहना कठिन है कि वह पुरुष है या नारी ? हे पडितो ! इस रहस्य पर विचार करो। वह अनेक रूप धारण करती है। वह ब्राह्मण के यहां ब्राह्मणी बन जाती है, योगी के यहाँ चेलिन बन जाती है और कलमा पढकर मुसलमान की स्त्री तुर्किनी कहलाने लगती है। वह एक रूप मे नही रहती है। सारे नानात्व को वही प्रकट करती है। फिर भी कलियुग में वह स्वतन्त्र रूप से विचरण करती रहती है।

वह असग, ज्ञानी का वरण नही करती। उससे दूर ही रहती है। फिर भी उसी के कारण आत्मा जीव बन जाता है। वह काले केशवालों अर्थात् युवा पुरुषो को अपने वश में रखती है। सभी युवको को अपने अधीन रखते हुए भी वह कुमारी ही रहती है। वह सबको वश मे रखती है, किन्तु स्वयं किसी के वश मे नही आती। ससार (मैंके) को ही उसने अपना क्षेत्र बनाया है और आत्मपद (ससुरे) से दूर रहती है। शुद्ध चेतन्य (सांई) से वह अपना सम्बध नही जोड़ती। कबीर कहते है कि जो जाति-पाँति, कुल आदि के अहकार को छोड देते है, वे स्वरूप का साक्षात्कार करके अमर हो जाते है।

अलकार—(१) 'वर' शब्द मे श्लेष।
(२) पाँचवी पक्ति मे विरोधाभास।

---

१. वि०–है। २. शुक०–ब्रह्मानी। ३. शुक०–कलिमा। ४. शुक०–में। ५. शुक०–बारि। ६. शुक०–को एकहु न छांडी। ७. शुक०–रहौं जाव नाहि ससुरे।

(१९९)

बूझि लीजै ब्रह्म ज्ञानी ।
घूरि[1] घूरि बरखा बरसावै, परिया बूँद न पानी ॥
चिउटी के पग हस्ती बांधे[2], छेरी बीगर खावै[3] ।
उदधि मॉह ते निकरि[4] छांछरी, चौड़े ग्रीह[5] करावै ॥
मेढ़क सर्प रहत एक संगे, बिलिया[6] स्वान बियाही[7] ।
नित उठि सिंह सियार सों डरपे, अद्भुत कथो न जाई ॥
संसय[8] मिरगा तन बन घेरे, पारथ बाना मेलै ।
उदधि भूप ते तरुवर डाहै, मच्छ अहेरा खेलै ॥
कहैं कबीर यह अद्‌भुत ज्ञाना, जो[9] यहि ज्ञानहि बूझै ।
बिनु पंखै उड़ि जाइ अकासै, जीवहि मरन न सूझै ॥

शब्दार्थ--घूरि घूरि = अत्यधिक । बरखा =(प्र० अ०) ज्ञानोपदेश । पानी = (प्र० अ०) शाति । चिउटी =(प्र० अ०) अज्ञानी जीव । हस्ती = (प्र० अ०) ब्रह्म ज्ञान । छेरी = बकरी (प्र० अ०) माया, अजा । बीगर = भेड़िया (प्र० अ०) जीव । उदधि = समुद्र, आनंदसागर । छाछरी = मछली (प्र० अ०) चित्तवृत्ति । ग्रीह = घर (प्र० अ०) संसार । मेढक =(प्र० अ०) विषयी जीव । सर्प =(प्र० अ०) अहंकार । बिलिया = विल्ली (प्र० अ०) अविद्या । स्वान = (प्र० अ०) काल या मृत्यु । सिंह =(प्र० अ०) जीवात्मा । स्यार = श्रृगाल (प्र० अ०) भ्रम । पारथ = पारधी, शिकारी (प्र० अ०) सद्‌गुरु का उपदेश । वाना = बाण । मेलै = चलाता है । उदधि =(प्र० अ०) ज्ञान । भूप = श्रेष्ठ । तरुवर = (प्र० अ०) संसार । डाहै = दग्ध करता है । मच्छ = मछली (प्र० अ०) मन । अहेरा = शिकार । अकासै = चिदाकाश ।

संदर्भ—मनुष्य माया से उपहित (Conditioned) है । शास्त्र ज्ञान से उसका उद्धार नही हो सकता । सद्‌गुरु के पथ-प्रदर्शन से ही वह मुक्त हो सकता है ।

व्याख्या--कवीर कहते है कि हे तथाकथित ब्रह्मज्ञानी पडितो ! भली भाँति समझ लो । तुमने साधारण जनो को अत्यधिक ज्ञानोपदेश दिया, फिर भी ज्ञान-वर्षा की एक भी वूँद उन पर न पड़ी अर्थात् उन्हे शाति न मिली । तुम अज्ञानी जीवो को, कुपात्रो को वेदान्त का उपदेश देते हो । यह तो चीटी के पैर मे हाथी वाँधने के सदृश हुआ । तुम्हें पता नही है कि वकरी (माया) भेड़िये (जीव) को खा रही है और

१. शुक०-घोरि घोरि । २. वि०-वांधो । ३. वि०-साया । ४. शुक०-निकरा । ५. शुक०-ग्राह । ६. शुक०-विलइया । ७. शुक०-वियाई । ८. शुक०-कौने संसय मृगा वन घेरे ९. शुक०-को यह ।

आनदसागर से मछली रूपी चित्तवृति ने अलग होकर अपना स्वतन्त्र संसार बना लिया है तथा चंचल विषयी जीव (मेढक) और अहकार (सर्प) में गहरी मित्रता है। साधारण सर्प मेंढक को खा जाता है, किन्तु विषयी पुरुष (मेढक) को अहंकार (सर्प) से बल मिलता है। माया (बिल्ली) ने मन से (श्वान से) गठबंधन (विवाह) कर लिया है। जीवात्मा जो सिंह के समान सबल है, वह भ्रम रूपी शृगाल से डरता है। इस आश्चर्यजनक कथा का सम्यक् वर्णन नहीं हो सकता। अतः तुम्हारे ज्ञानोपदेश का कोई प्रभाव इस दुर्बल मायाग्रस्त जीव पर नहीं पड़ सकता।

अगली पक्तियों मे उपर्युक्त मानव के उद्धार का उपाय बताते हुए कबीर कहते है कि सशय रूपी पशु शरीर रूपी वन को घेरे हुए है। इन पशुओ का वध करने के लिए सद्गुरु (पारधी) वाणी रूपी बाण चलाता है अर्थात् ज्ञानोपदेश देता है, तब उस ज्ञान-समुद्र से ससार रूपी वृक्ष जल जाता है और तब उस ज्ञान का बल प्राप्त करके मन (मछली) काम-क्रोध आदि का शिकार करता है। (मछली छोटे-छोटे कीड़ो को खा जाती है)। कबीर कहते है कि इस अद्‌भुत तथ्य को जो समझ लेता है, वह बिना पख के चिदाकाश तक उड जाता है अर्थात् उसका उद्धार हो जाता है और वह जीवन-मरण से परे हो जाता है।

टिप्पणी—बिनु पखे उडि जाइ अकासे ……

इस पक्ति मे 'विहगम मार्ग' का सकेत प्रतीत होता है।

अलंकार—(१) धूरि धूरि…… पानी—विशेषोक्ति।

(२) ससय मिरगा तन बन घेरे—रूपक।

(३) 'बाना' शब्द मे श्लेष।

(४) बिनु पखे उड़ि जाइ अकासे—विभावना।

(५) पूरे पद मे रूपकातिशयोक्ति।

(२००)

बोलनां का कहिए रे भाई।
बोलत बोलत तत्त नसाई॥ टेक॥
बोलत बोलत बढ़ै बिकारा, बिनु बोले क्या[1] करहि बिचारा।
संत मिलहि कछु सुनिए[2] कहिए, मिलहि असंत मस्टि करि रहिए।
ग्यांनीं सौं बोलें[3] उपकारी, मूरिख सौं बोलें[4] झखमारी।
कहै कबीर आधा घट बोलै[5], भरा होइ तौ कबहुँ[6] न बोलै॥

---

१. ना० प्र०-क्यूँ होइ। २. ना० प्र०-कहिए। ३. ना० प्र०-बोल्याँ। ४ ना० प्र०-बोल्याँ। ५. ना० प्र०-डोले ६ ना० प्र०-मुषा।

शब्दार्थ—तत्त=तत्व। मस्टि=मौन। झखमारी (मु०)=व्यर्थ में समय नष्ट करना।

संदर्भ—कबीर का उपदेश है कि साधक मे वाचालता नही होनी चाहिए। तर्क और विवाद से तत्त्व कभी जाना नही जा सकता।

व्याख्या—हे भाई! साधना मे वाचालता के विषय मे क्या कहा जाय? व्यर्थ की बकवास से तत्त्व नष्ट हो जाता है। अधिक बोलने से चित्त मे केवल विकार बढता है और बिना बोले भी काम नही चलता। इसलिए संतो से तो विचार-विमर्श करने से लाभ ही होगा। किन्तु यदि असत मिलें तो मौन ही रहना चाहिए। ज्ञानी से बात करने मे लाभ होता है, किन्तु मूर्ख से बात करना व्यर्थ मे समय नष्ट करना है। वही लोग अधिक वाचाल होते है, जिन्हे पूर्ण ज्ञान नही होता। जैसे आधा भरा घडा आवाज करता है, किन्तु पूर्ण घट ध्वनि नही करता, ऐसे ही जो पूर्ण ज्ञानी है, वे व्यर्थ की बक-बक नही करते।

अलंकार—(१) बोलत-बोलत-पुनरुक्ति प्रकाश।
(२) अंतिम पंक्ति में लोकोक्ति, दृष्टान्त।

राग—गौरी।

(२०१)

बोलौ भाई रॉम की दुहाई।
इहि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहूँ न अघाई॥ टेक॥
इला पिंगला[1] भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी॥
मन मतवाला[2] पिए[3] रॉम रस, दूजा कछु न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई॥
पंच जने सो सँग करि लीन्हें, चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियालै पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी॥
सहज सुंनि मैं जिनि रस चाखा[4], सतगुर तैं[5] सुधि पाई।
दास कबीर इहि रसि माता, कबहूँ उछकि न जाई॥

शब्दार्थ—दुहाई=गुहार। अघाई=तृप्त। हर=प्रत्येक। सूर=सूर्य। ससि=चन्द्र। जुग=दो (साक्षि-चैतन्य और मन)। दस द्वार=दसो इन्द्रियो के छिद्र (दो

---

१. ना० प्र०-प्यंगुला। २. ना० प्रा०-मतिवाला। ३. ना० प्र०-पीवै। ४. ना० प्र०-चाष्या। ५. ना० प्र०-थैं।

आँखें, दो नासा छिद्र, एक मुँह, दो कान, लिंग, गुदा, ब्रह्मरन्ध्र)। तारी=एकाग्रता। गग=(प्र० अ०) कुण्डलिनी। नीर=अमृतरस, सोमरस। पच जने=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। नागिनी=सर्पाकार कुण्डलिनी। सुधि=उपदेश उछकि=उचकना, ऊवना।

संदर्भ—योग द्वारा समाधि की अवस्था मे जो आनंद प्राप्त होता है, इस पद मे उसी का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि हे भाई! राम की गुहार लगाओ। राम रस का प्रभाव अद्‌भुत है। उस रस का पान कर शिव और सनक, सनदन आदि मस्त हो गए तथापि उसका पान करते हुए अघाते नही।

राम रस की तैयारी के लिए इडा-पिंगला की भट्ठी वनाई और उसे ज्ञानाग्नि से प्रज्वलित किया। चन्द्र और सूर्य अर्थात् इड़ा-पिंगला नाड़ियो मे प्राण और अपान की गति वंद हो गई। शरीर के दसो छिद्रो से पवन (प्राण) का प्रवाह भी वंद हो गया और समाधि लग गई। चित्त आनदविभोर होकर राम रस पीता है। वह इस आनद में इतना लीन हो गया है कि किसी अन्य रस की कामना नही करता। गंगा का जल उलटा वहने लगा अर्थात् कुण्डलिनी के जागरण से चेतना का प्रवाह ऊर्ध्वमुखी हो गया और ब्रह्मरन्ध्र से अमृतधार टपकने लगी। चित्त के साथ पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ भी उस आनद का भोग कर रही है और उस अमृत-वारुणी के नशे में मस्त है।

सुप्त सर्पाकार कुण्डलिनी जग गई है और चित्त प्रेम रस का पान कर रहा है। सद्‌गुरु से उपदेश पाकर जिन्होने सहज शून्य के आनंद का अनुभव किया है, वे इस महारस मे माते रहते है और उससे कभी विलग नही होते।

अलकार—(१) पीवत अजहूँ न अघाई—विशेपोक्ति।
(२) इला पिंगला ' 'परजारी—रूपक।

राग—गौरी।

(२०२)

भजि गोविंद[1] भूलि जनि जाहु।
मनिषा जनम कौ एही लाहु॥ टेक॥
गुर सेवा करि भगति कमाई, जौ तैं मनिखा देहीं पाई।
या देही को[2] लोचैं देवा, सो देहीं करि हरि की सेवा।

---

१. ना० प्र०–गोव्यंद। २. ना० प्रा०–कूँ।

जब लगि जुरा रोग नहि आया, जब[1] लगि काल ग्रसै नहि काया।
जब लगि हीन[2] पड़ै नहि बांनीं[3], तब लगि भजि मन सारंगपांनीं।
अब नहि भजसि भजसि कब भाई, आवै[4] अंत भज्यो नहि जाई।
जे किछु करहि[5] सोई ततसार, फिरि पछिताहु[6] न पावहु पार।
सेवक सो जो लागै सेव[7], तिनही पाया निरंजन देव[8]।
गुर मिलि जिनिके खुले कपाट, बहुरि न आवै जोनीं बाट।
यहु तेरा औसर यहु तेरी बार, घट ही भीतरि देखु[9] बिचारि।
कहै कबीर जीति भावै हारि, बहु बिधि कह्यौ पुकारि पुकारि॥

शब्दार्थ—मनिषा = मनुष्य। लाहु = लाभ। लोचै = ललचते है, चाहते है। जुरा = जरा, वृद्धावस्था। हींन = दुर्बल। सारगपानी = जिनके हाथ मे 'सारंग' नामक धनुष है अर्थात् विष्णु। ततसार = सारतत्व। निरंजन = अंजन या कालिमा से रहित, ब्रह्म। जोनी बाट = योनिमार्ग। भावै = चाहे। बार = समय।

संदर्भ—इस पद मे कबीर यह उपदेश दे रहे है कि मानव जन्म की सार्थकता प्रभु-भक्ति मे है।

व्याख्या—वह कहते है कि हे मानव! तुम ईश्वर की उपासना करो। उसे भूल न जाओ। मानव जन्म की यही सार्थकता है कि भगवान् का भजन करो।

तूने जो मानव शरीर प्राप्त किया है, उसका लाभ यही है कि गुरु की सेवा करके भक्ति रूपी सम्पत्ति अर्जित कर। जिस मानव शरीर को प्राप्त करने के लिए देवता भी ललचते है, तुझे वह शरीर प्राप्त है। अत. तू भाग्यवान है। तू उसके द्वारा भगवान् का भजन कर।

हे मानव! जब तक तू वृद्धावस्था और रोग से आक्रान्त नही हो जाता, जब तक तेरी वाणी क्षीण नही हो जाती और जब तक तेरे शरीर को काल नही ग्रस लेता, तब तक तू मनोयोग से भगवान् का भजन कर।

हे भाई! यदि तुम स्वस्थ रहते हुए प्रभु का भजन नही करोगे तो फिर उसे कब भजोगे? अत समय मे जब वृद्धावस्था आ जाएगी, तब भजन न हो सकेगा। जो कुछ तुम करोगे अर्थात् तुममे जो प्रभु-भक्ति है, वही जीवन का सारतत्व है।

---

१. ना० प्र०–तब। २ ना० प्र०–हींण। ३. ना० प्र०–वाणीं। ४. ना० प्र०–आवैगा। ५. ना० प्र०–करौ। ६. ना० प्र०–पछितावोगे वार न पार। ७. ना० प्र०–सेवा। ८ ना० प्र०–देवा। ९. ना० प्र०–सोचि।

बाद मे वृद्धावस्था आने पर पछताओगे और फिर कुछ करने के योग्य न रह जाओगे तथा भव-सागर पार न कर सकोगे।

जो प्रभु की सेवा करता है, वही सच्चा सेवक है, वही 'शुद्ध-बुद्ध-मुक्त' परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। गुरु के सत्संग से जिनका हृदय-कपाट खुल गया है, वह पुन. जन्म-मरण के चक्कर मे नही पडता।

यह मानव जीवन तुझे साधना के लिए उत्तम अवसर के रूप मे प्राप्त हुआ है। यही तेरा अवसर है, यही तेरा समय है। तू अपने भीतर विचार करके अच्छी तरह समझ ले। कबीर कहते है कि मैं पुकार-पुकार कर तरह-तरह से चेतावनी दे रहा हूँ कि यही मानव-जीवन ऐसा अवसर है कि यदि तू चाहे तो अपनी भक्ति के द्वारा जय प्राप्त कर अर्थात् मुक्त हो जा अथवा भक्ति की उपेक्षा कर, अपनी हार स्वीकार कर, जन्म-मरण के चक्कर मे पुन. पड।

टिप्पणी—तुलसीदास ने भी कहा है—

वडे भाग मानुषतनु पावा। सुरदुर्लभ सब ग्रंथनि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥
दोहा—सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ॥ ४३॥
(मानस, उत्तरकाण्ड)

× × ×

हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो।
साधन धाम विबुध दुर्लभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हो।
—विनयपत्रिका

राग—भैरव।

(२०३)

भयौ रे मन पाहुनों[1] दिन चारि।
आजिक काल्हिक मॉहि चलैगो, ले किन हाथ सँवारि॥ टेक॥
सौंज पराई जिनि अपनावै[2], ऐसी सुनि[3] किन लेह।
यहु संसार इसो रे प्राणी, जैसी धूँवरि मेह॥

---

१. ना० प्र०—पॉहुनडौ। २. ना० प्र०—अपणावे। ३. ना० प्र०—सुणि।

तन धन जीवन अँजुरी कौ पानी, जात न लागै बार।
सैंवल के फूलन परि फूल्यौ, गरब्यौ कहा गँवार॥
खोटो खाटै खरा न लीया, कछू न जाँनो साटि।
कहै कबीर कछु बनिज न कीयौ, आयौ थौ इहि हाट॥

शब्दार्थ—पाहुनाँ=अतिथि। सौंज=सामग्री, सामान। सँवारि=ठीक करना। इसौ=ऐसा। धूँवरि=धुएँ का। मेह=मेघ, बादल। बार=समय। सैवल=सेमल। गरव्यौ=गर्व करता है। खोटी=तुच्छ वस्तु। खाटै=सग्रह किया। खरी=श्रेष्ठ। साटि=मोलभाव। बनिज=व्यापार। हाटि=बाजार मे।

संदर्भ—इस पद मे सासारिक जीवन की क्षणभंगुरता का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे मन! इस ससार मे मनुष्य चार दिन का अतिथि है। उसे आज या कल यहाँ से कूच करना है। अपने हाथ ठीक क्यों नहीं कर लेता अर्थात् शुभ कर्म क्यो नही कर लेता? दूसरो की सामग्री मत अपनाओ। इस उपदेश को क्यों नही अपनाते? हे प्राणियो! यह संसार धुएँ के बादल के समान है, जो न जल देता है और न शीतलता। यह शरीर, धन और जवानी अजुली में धारण किए हुए जल के समान है, जिसके नष्ट होने मे समय नही लगता। इस ससार का वैभव सेमल के पुष्प के समान है जो देखने मे आकर्षक है, किन्तु भीतर से वैभवहीन है। अरे मूर्ख! तू इस पर क्यो गर्व करता है? तूने वासना आदि खोटी वस्तुओ का संग्रह किया है, किन्तु ज्ञान आदि खरी वस्तुओ को एकत्र नही किया। तुझे मोल-भाव करने का ज्ञान नही है। ससार रूपी बाजार मे आकर तूने लाभ का कोई व्यापार नही किया।

अलंकार—(१) यह ससार··· बार—उपमा
(२) गरब्यौ कहा गँवार—वक्रोक्ति

राग—केदार।

(२०४)

भाई रे अद्भुत[1] रूप अनूप कथा है, कहौं तो को पतियाई।
जहँ जहँ देखौं[2] तहँ तहँ सोई, सब घर रहा[3] समाई॥
लछि[4] बिनु सुख दरिद बिनु दुख है, नींद बिना सुख सोवै।
जस बिनु ज्योति रूप बिनु आसिक, रत्न बिहूना रोवै॥

---

१. वि०-अद्बुद। २. शुक०-देखो। ३. वि०-रहल। ४. शुक०-लख।

भ्रम विनु गंजन मनि विनु निरखन[1], रूप बिना बहु रूपा ।
थिति[2] विनु सुरति रहस विनु आनंद, ऐसो चरित अनूपा ॥
कहहि कबीर जगत हरि मानिक, देखहु चित अनुमानी ।
परिहरि लाभै[3] लोभ कुटुंब तजि, भजहु न सारंगपानी ॥

शब्दार्थ—अनूप = अनुपम । पतियाई = विश्वास करेगा । लछि = लक्ष्मी । आसिक = (अ० आशिक) आसक्त = आसक्त, प्रेम । गंजन (सं०) = अवज्ञा । मणि = (प्र० अ०) प्रकाश । निरखन = निरीक्षण । रहस = आमोद-प्रमोद । सारगपानी = विष्णु ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे घट-घट व्यापी आत्मा के वैशिष्ट्य का निरूपण किया गया है ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप विचित्र और अनुपम है । यदि मैं उसके विषय मे कुछ कहता हूँ तो कौन विश्वास करेगा ? ब्रह्मस्वरूप आत्मा सर्वव्यापी है । मैं जहाँ देखता हूँ, उसी की सत्ता दिखाई पड़ती है । वह प्रत्येक शरीर मे विद्यमान है ।

आत्मज्ञानी पुरुष लक्ष्मी के विना ही सुखी रहता है । इसके विपरीत अज्ञजन विना दरिद्रता के दु खी रहते हैं । ज्ञानी आत्मस्वरूप की जानकारी से सुख की नीद सोता है । साधारणत लोग यश से जाने जाते है, किंतु आत्मा विना यश के प्रकाशित है । यद्यपि उसका कोई रूप नही है, फिर भी ज्ञानी उस पर आसक्त रहते हैं । आत्मा रूपी रत्न के परिचय के विना अज्ञानी दु खी रहता है । यद्यपि उसके अस्तित्व के संवध में कोई भ्रम नही है, फिर भी अज्ञानी उसकी अवज्ञा करता है । प्रकाश के विना ही उसका दर्शन हो सकता है क्योकि वह स्वयं-प्रकाश्य है । यद्यपि उसका कोई रूप नही है, फिर भी सभी रूप उसी के हैं । प्राय. ध्यान मे आलम्वन की आवश्यकता रहती है, किंतु आत्मा का निरालम्ब ध्यान हो सकता है । प्रायः लोगो को आमोद-प्रमोद मे आनंद मिलता है । किंतु वह स्वरूप से ही आनदमय है । उसका ऐसा अनुपम माहात्म्य है । कवीर कहते हैं कि जगत् मे प्रभु रूपी मणि विद्यमान है । अपने चित्त से समझकर उसका दर्शन करो । भौतिक ऐश्वर्य के लाभ का लोभ त्यागकर तथा पारिवारिक मोह छोड़ कर प्रभु की भक्ति क्यो नही करते ?

अलंकार—(१) विभावना ।
(२) रूप विना वहु रूपा—विरोधाभास ।
(३) भजहु न सारंगपानी—वक्रोक्ति ।

---

१ शुक०–निरखै, वि०–नारख । २. शुक०–स्थिति । ३. वि०–लाखौं लोग ।

(२०५)

भाई रे अनी लड़ै सोई सूरा।
दोइ दल बिचि खेलै पूरा॥ टेक ।
जब बजै जुझाउर बाजा, तब कायर उठि उठि भाजा।
कोई सूर लड़ै मैदांनां, जिन मारि किया घमसांनां।
जहँ बांधि सकल हथियारा, गुर ग्यांन कौ खड्ग सम्हारा।
जब बस कियौ पांचौ थांनां, तब रांम भया मिहरबांना।
मन मारि अगमपुर लीया, चित्रगुप्त परे डेरा कीया।
गढ़ फिरि गई रांम दोहाई, कबीरा अबिगति की सरनाई॥

शब्दार्थ—अनी = भाले की नोक। जुझाउर = युद्ध संबधी। पांचौ थानां = पंचेन्द्रियाँ। मिहरबाना = कृपालु। अगमपुर = जहाँ सभी लोग नही पहुँच सकते, सिद्धावस्था। डेरा = निवासस्थान। फिरि गई = अधिकार हो गया। खड्ग = तलवार। अविगत = अलख।

संदर्भ—इस पद में कबीर साधक की तुलना शूर से कर रहे है।

व्याख्या—वह कहते हैं कि सच्चा शूर वही है जो मोर्चे की अग्रपंक्ति मे रहकर निर्भीक भाव से युद्ध करता है, उसी प्रकार सच्चा साधक वह है जो संसार के प्रबलतम प्रलोभनो का डटकर सामना करता है। सच्चा योद्धा वही है जो सग्राम मे सबसे अग्रसर हो।

जब रणभेरी बजती है तो कायर अपना प्राण लेकर भागते है, किंतु वीर शत्रुदल का वीरतापूर्वक सामना करता है। मैदान मे युद्ध करने वाला सच्चा शूर वही है जो घमासान युद्ध कर शत्रु को मार गिराता है। साधक रूपी शूर अन्य सभी साधनाओं रूपी अस्त्रो को छोडकर केवल गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान-खड्ग को लेकर आगे बढता है। जब वह पाँचो इन्द्रियो को वश मे कर लेता है, तब प्रभु उस पर प्रसन्न होकर कृपा करते है। जब वह छठवी इन्द्रिय मन को भी वश मे करके अगमपुर पर अधिकार कर लेता है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, तब वह अपना निवास-स्थान वहाँ बना लेता है, जो चित्रगुप्त के लेखा-जोखा के बाहर है अर्थात् वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है। कबीर कहते है कि फिर तो वह सत्य रूपी गढ पर अधिकार जमा लेता है और अविगत की शरण मे आ जाता है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—सोरठ।

(२०६)

भाई रे गइया एक विरंचि दियो है, भार अभार[1] भौ भाई।
नौ नारी को पानि पियतु है, तृखा न तेउ[2] बुझाई॥
कोठ[3] बहत्तर औ लौ लावै, वज्र केंवार लगाई।
खूँटा गाड़ि डोरि[4] दृढ़ बांधे, तइयो तोरि पराई॥
चारि वृक्ष छव साखा वाके, पत्र अठारह भाई।
एतिक लै गम कीहिस गइया, गइया अति हरहाई॥
ई सातो औरो हैं सातो, नौ औ चौदह भाई।
एतिक गइया खाय बढ़ायो, गइया तहुँ न अघाई॥
पुरता[5] मे राती है गइया, स्वेत सींग है भाई।
अवरन वरन कछू नहि वाके, खाद्य अखाद्यै खाई॥
ब्रह्मा विष्नु खोजि कै[6] आए, सिव सनकादिक भाई।
सिद्ध अनंत वहि[7] खोजि परे है, गइया किनहु न पाई॥
कहैं कबीर सुनो हो संतो, जो यह पद अर्थावै।
जो यहि[8] पद को गाय विचारै, आगे होय निरवाहै॥

शब्दार्थ—गइया=गाय (प्र० अ०) मन। विरचि=ब्रह्मा। नारी=(१) नारी (२) नाडी। तृपा=तृष्णा (प्यास)। कोठ=प्रकोष्ठ। लौ=ध्यान। पराई= भाग जाती है, पलायन करती है। गम=ज्ञान। हरहाई=दुष्ट। अघाई=तृप्त। पुरता=शरीर।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने यह बताया है कि मन स्वभाव से चचल है। उसे किसी प्रकार से बाँधा नही जा सकता। केवल प्रभु मे लगाने से ही वह शात और स्थिर होता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे भाई! ब्रह्मा ने एक विचित्र मन रूपी गाय दी है। यद्यपि उसका कोई वजन नही है, फिर भी वह अत्यधिक भारस्वरूप है। वह नौ नाडियो के द्वारा विषय रूपी जल का पान करता है, फिर भी उसकी तृष्णा (प्यास) नही जाती। योगी व ध्यानी लोग बहत्तर प्रकोष्ठो मे वज्र के किवाड़ लगाकर ध्यान द्वारा मन को स्थिर करना चाहते है। वे मन रूपी गाय को ध्येय रूपी खूँटे में ध्यान रूपी डोरी से बाँधते है। फिर भी मन रूपी गाय रस्सी तुडाकर पलायन कर जाती है अर्थात् ध्यान से मन स्थिर नही हो पाता।

---

१. शुक०- अभर। २. वि०-तैयौ। ३. वि०-कोठा। ४. वि०-दवरि द्रिढ। ५. शुक०- पर तामें रहतां। ६. शुक-लै। ७. वि०-वाके। ८. शुक०-यह।

यह मन रूपी गाय इतनी दुष्ट है कि चार वेद रूपी वृक्ष, छः वेदांग रूपी शाखाएँ तथा अठारह पुराण रूपी पत्रो आदि खाद्य पदार्थों के रहते हुए भी भागकर विषयों मे चरने चली जाती है। वेद-शास्त्र आदि का अध्ययन करने पर भी मन विषयों मे प्रवृत्त रहता है।

मन रूपी गाय का पोषण करने के लिए देहगत सात पोषक तत्व विद्यमान है। उसे सात स्वरों, नौ व्याकरण तथा चौदह विद्याओ से पुष्ट एवं सवर्धित किया जाता है। फिर भी वह तृप्त नही होती। यद्यपि उसका सीग श्वेत है अर्थात् मन सत्व-प्रधान है तथापि वह शरीर में ही अनुरक्त रहता है। मन रूपी गाय सुन्दर-असुन्दर (ग्राह्य-अग्राह्य) का विवेक नहीं रखती और खाद्य-अखाद्य सभी खा जाती है। मन त्याज्य-अत्याज्य दोनो को ग्रहण करता है।

इस मन रूपी गाय को ब्रह्मा, विष्णु, शिव और सनकादि खोजकर वापस आ गए और अनेक सिद्ध उसकी खोज मे लगे है, किन्तु यह गाय किसी के हाथ न आई अर्थात् मन पर कोई नियन्त्रण न कर सका। कबीर कहते है कि जो इस पद के मर्म को समझ ले और उसका मनन करे, वह अग्रगामी होकर जीवन को सम्पन्न कर सकता है।

टिप्पणी—(१) नौ नाड़ी—इड़ा (चन्द्र नाड़ी), पिंगला (सूर्य नाड़ी), सुषुम्ना (मध्यनाड़ी), गाधारी (दाहिने नेत्र की नाड़ी) हस्ति-जिह्वा (बाएँ नेत्र की नाडी), पूषा (दाहिने कान की नाड़ी) पयस्विनी (बाएँ कान की नाडी), लकुहा (गुदा नाड़ी), अलंबुषा (लिग नाडी)। इन्ही नौ नाडियों से विषयो का भोग किया जाता है। नारी शब्द मे श्लेष है। गाय के संदर्भ मे इसका अर्थ है—नाली। गाय नौ-नौ नालियो का पानी पीती है, फिर भी उसकी प्यास नही बुझती। मन नौ नाडियो से विषयो का सेवन करता है, फिर भी उसकी तृष्णा नही जाती।

(२) वज्र केवार=शरीर के नौ द्वार (दो नासा छिद्र, दो नेत्र, दो कान, मुख, गुदा, लिग)। योगी ध्यान करने पर इनको बंद कर लेता है।

(३) चार वृक्ष=चार वेद (ऋक्, यजु, साम, अथर्वण)

(४) छ शास्त्र=छः वेदांग (व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, छंद, शिक्षा, कल्प)।

(५) अठारह पत्र = अठारह पुराण।

(६) सातो = रस, रक्त, मास, वसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र।

(७) सात = सात स्वर।

(८) नौ = नौ व्याकरण (इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, शाकटायन, पिशलि, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र, सरस्वती)।

(९) चौदह विद्या = ब्रह्म ज्ञान, रस ज्ञान, कर्मकाण्ड, संगीत, व्याकरण ज्योतिष, धनुर्विद्या, जलतरन, न्याय, कोक, अश्वारोहण, नाट्य, कृषि, वैद्यक।

(१०) सनकादि = सनक, सनदन, सनातन, सनत्कुमार।

अलंकार—(१) भार अभार = विरोधाभास।

(२) नारी, तृपा, गाय मे श्लेष।

(३) पूरे पद मे रूपकातिशयोक्ति।

तुलनीय—(१) मन की चंचलता के सम्बन्ध में गीता में कहा गया है कि मन वडा ही चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला है। वह वडा दृढ और वलवान है। उसे वश में करना वायु के समान दुष्कर है—

चंचलं हि मन. कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम्।
तस्याह निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(६।३४)

(२) ऐसे चंचल मन को स्थिर करके परमात्मा में लगाना आवश्यक है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता–६।२६)

(२०७)

भाई रे नयन रसिक जो जागै।
पारब्रह्म अविगत अविनासी, कैसेहु के मन लागै॥
अमली लोग खुमारी तृष्णा[1], कहुँ[2] संतोष न पावै।
काम क्रोध दूनो मतवारे, माया भरि भरि प्यावै[3]॥
ब्रह्म कलार चढ़ाइन भट्ठी, लै इन्द्री रस चाखै[4]।
संगहि पोच है[5] ज्ञान पुकारै, चतुरा होय सो नाखै[6]॥

---

१. वि०–त्रिसुना। २. वि–कतहु। ३. शुक०–ध्यावै, वि०–आवे। ४. शुक०–वि०–चाहै। ५. शुक०–हैं। ६. वि०–पावै।

संकट सोच पोच यह कलिमहँ,[1] बहुतक ब्याधि सरीरा।
जहँवा धीर गंभीर अति निस्चल[2], तहँ उठि मिलहु कबीरा ॥

शब्दार्थ—जो=यदि। अमली (अ०)=व्यसनी। खुमारी (अ०)= नशा। कलार (सं० कल्यपाल)=कलवार, शराब बनानेवाला। पोच (फा०)= तुच्छ, नीच। नाखै=नष्ट करे, उल्लघन करे। कलिमहँ=कलियुग मे।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने यह बतलाया है कि जो लोग मायाजन्य काम-क्रोध के वश मे है, वे विषय-वारुणी से मतवाले रहते है। इनसे वही छुटकारा पा सकता है, जो मोह त्यागकर सद्गुरु की शरण मे जाए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यदि विषयो का प्रेमी भी मोह को त्याग दे तो उसका भी मन किसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वर मे लग सकता है।

व्यसनी लोग तृष्णा के नशे मे पडे रहते है और कही भी उन्हे संतोष नही मिलता। लोग काम-क्रोध से मतवाले हो जाते है और माया विषयो का प्याला भरकर पिलाती रहती है।

माया के द्वारा ब्रह्म रूपी कलवार विषय-वारुणी की भट्ठी चढाता है और इन्द्रियो के द्वारा लोग विषय-रस का सेवन करते है। उनके जीवन मे, आचरण मे तुच्छता का साथ है, किन्तु वह बाते ज्ञान की करते है। विवेकी पुरुष ही उस आकर्षण की उपेक्षा कर सकता है। इस कलियुग मे काम-क्रोध के द्वारा सकट उत्पन्न होता है, चिन्ता होती है, तुच्छ प्रवृत्तियाँ पैदा होती है तथा शरीर मे अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती है अर्थात् मानसिक और शारीरिक दोनो प्रकार के कष्ट होते है। कबीर कहते है कि हे जीवो ! ऐसे सद्गुरु की शरण जाओ, जो सदा विवेक-बुद्धि से प्रेरित है, जो उद्वेगरहित है तथा जो शान्त और ज्ञानी है। तभी तुम्हारा कल्याण होगा।

तुलनीय—न जातु काम. कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
—मनुस्मृति।

अलंकार—पाँचवी पक्ति मे रूपक।

(२०८)

भाई[3] रे बिरलै दोस्त कबीर के यहु तत बार बार कासौं कहिए।
भांनन[4] गढ़न सवांरन संम्रथ ज्यौं राखै त्यौं रहिए ॥ टेक ॥

---

१ शरा०—कलिमा २. वि०—निरमल। ३. बीजक—भाइ रे बहुत बहुत का कहिए, विरले दोस्त हमारे। ४. बी०—गढन भँजन सँवारन आपे, राम रखँ त्यौं रहिए।

आलम दुनीं सबै फिरि खोजी हरि बिन सकल अयांनां।
छह दरसन पाषंड[1] छ्यानवे आकुल[2] किनहुँ न जांनां॥
जप तप संजम पूजा अरचा जोतिग जग बौरांनां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलांनां मन ही मन न समांनां॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम ए सभ झूठी आसा।
रांमहि[3] नांम रटौ चात्रिग ज्यौं निहचै भगति निवासा॥

शब्दार्थ—बिरलै = बिरल, अत्यल्प। तत = तत्व, सत्य। भानन = भंजन, विनाश, तोडना। गढन = रचना, उत्पत्ति। सवारन = रक्षा। संम्रथ = समर्थ। आलम (अ०) = जगत्, यहाँ तात्पर्य है जगत् मे रहने वाले, जन समूह। दुनी = (अ०दुनिया) = ससार। अयाना = अज्ञान। छह दरसन = षट् दर्शन (न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्व मीमासा, उत्तर मीमांसा या वेदान्त) छ्यानवे पापड = योगी = १२, जगम = १८, सेवडा = २४, सन्यासी = १०, दरवेश = १४, ब्राह्मण = १८। आकुल = व्यग्र। अरचा = अर्चना, पूजा। जोतिग = ज्योतिप। चात्रिग = चातक। निहचै = निश्चय ही। जंगम = दाक्षिणात्य लिंगायत शैव सम्प्रदाय के साधु। ये दो प्रकार के होते है—विरक्त और गृहस्थ। विरक्त जटाधारी और कौपीनधारी होते हैं तथा गले में शिवलिंग धारण करते है। जोगी = नाथपंथी हठयोगी। निवासा = आस्था।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने बताया है कि एक मात्र ईश्वर ही सृष्टि, स्थिति तथा सहार का हेतु है। उसके प्रति दृढ आस्था एवं भक्ति से ही सत्य का साक्षात्कार हो सकता है, वाह्याचार, पुस्तकीय ज्ञान तथा कष्टसाध्य साधनाओ से नही।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मेरी बात समझकर उसका समर्थन करने वाले बहुत ही कम लोग है। मैने जिस सत्य का अनुभव किया है, उसे बार-बार किससे कहूँ? अकेला ईश्वर ही उत्पत्ति, रक्षा और विनाश (सृष्टि, स्थिति और सहार) मे समर्थ है। अत वह जिस प्रकार रखता है, हमे रहना चाहिए। मैंने ससार के सभी मतावलबियो मे अच्छी तरह खोज लिया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तत्व एक है—ईश्वर। उसकी भक्ति के बिना सब कुछ अज्ञान है। संसार के लोग षट् दर्शन और छानवे पापड मे व्यग्र रहते है, किन्तु कोई सत्य को नही जानता। सारा ससार जप, तप, सयम, पूजा-अर्चना, ज्योतिप आदि के चक्कर मे दीवाना हो रहा है और लोग अनेकानेक ग्रथो की रचना करके मन ही मन फूले नही समाते। किन्तु वस्तुत. वे भ्रम मे पडे रहते है।

---

१. ना० प्र०–छ्यानवै पाषंड। २. बी०–ये कल काहु न जाना। ३ ना० प्र०–गुरु प्रसादि।

कबीरदास कहते है कि यह आशा व्यर्थ है कि सत्य जोगी और जंगमों के द्वारा मिलेगा। भक्ति में निश्चित आस्था रखकर जो चातक के समान अनन्य भाव से राम का स्मरण करता है, उसे ही 'सत्य' की प्राप्ति होती है, अन्य को नही।

टिप्पणी—तुलसीदास ने भी कहा है—

एक भरोसो एक वल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास ॥२७७॥

—दोहावली

अलंकार—(१) हरि विनु सकल अयाना—विनोक्ति
(२) अंतिम पक्ति मे—उपमा।

राग—गौरी।

(२०९)

भाग जाकै संत पाहुनां आवैं।
द्वारै रचिहैं कथा कीरतन हिलिमिलि मंगल गावैं ॥ टेक ॥
भयौ लाभ चरनां अंम्रित कौ महाप्रसाद की आसा।
जाकौ जोग जग्गि तप कीजै सो संतन के पासा ॥
जा प्रसाद देवन कौ दुरलभ संत सदा ही पाहीं।
कहै कबीर हरि भगतबछल है सो संतन के मांहीं ॥

शब्दार्थ—पाहुना (स०—प्राघुणः) अतिथि, जो घूमता हुआ आ जाय। प्रसाद=अनुग्रह। भगतवछल=भक्तवत्सल, भक्तों के प्रति स्नेह-भाव रखने वाला।

व्याख्या—प्रस्तुत पद में कबीर ने संतो की महिमा का गुणगान किया है। वह कहते है कि जिसके घर संत अतिथि रूप मे आवें, वह बडा ही भाग्यशाली है। वे द्वार पर कथा-कीर्तन कहेंगे और सब मिलकर मगलगान करेंगे। सतो के सत्संग से वही लाभ होता है जो भगवान् के चरणामृत से और इससे प्रभु के प्रसाद की प्राप्ति की पूर्ण आशा बंध जाती है। जिस परमार्थ की प्राप्ति के लिए लोग योग, यज्ञ और तप करते है, वह संतो के संग से ही प्राप्त हो जाता है। प्रभु का जो अनुग्रह देवताओं को भी दुष्प्राप्य है, वह संत को सदा प्राप्त है। कबीर कहते है कि भक्तवत्सल प्रभु सतों के हृदय मे निवास करते है।

राग—विहागड़ा।

(२१०)

भूला वे अहमक नादाना, तुम[1] हरदम रामहि ना जाना।
बरबस आनि कै गाय पछारिन, गला काटि जिव आपु लिआ।
जियत[2] जीव मुर्दा करि डारा[3], तिसको कहत हलाल हुआ॥
जाहि मासु को पाक कहत हो, ताकी उतपति सुनु भाई।
रज वीरज[4] सो मांस उपाने[5], मांस नपाक[6] जो तुम खाई॥
अपन[7] दोस कहत नहि अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसकी खून तुम्हारी गर्दन, जिन्ह तुमको उपदेस दिया॥
स्याही गई सपेदी आई, दिल सपेद अजहूं न हुआ।
रोजा बंग[8] निमाज का[9] कीजै, हुजरे भीतर पैठि मुआ॥
पंडित वेद पुरान पढ़तु[10] है, मुल्ला पढ़ै कुराना।
कहै कबीर दोउ गए नरक महँ[11], जिन्ह हरदम रामहि ना जाना॥

शब्दार्थ—वे (उर्दू अव्यय)=छोटो के लिए तिरस्कारसूचक सम्बोधन। अहमक (अ०)=मूर्ख। नादान (फा०)=अज्ञानी। हरदम (फा०)=निरन्तर बरबस=जबर्दस्ती। आनि=लाकर। आपु=स्वय। नपाक (फा०)=अपवित्र। हलाल (अ०)=जबह किया हुआ, विहित। पाक (फा०)=पवित्र। उपाने=उत्पन्न हुआ। रोजा (फा०)=व्रत, उपवास। बंग (फा०)=पुकार। निमाज (फा०)=ईश्वर प्रार्थना। हुजरे (फा०)=मस्जिद के निकट की कोठरी।

संदर्भ—इस पद मे धर्म के नाम पर जीव-वध करके मांस खाने वालो की निन्दा की गई है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि अरे मूर्ख, अज्ञानी ! तू किस भ्रम मे पडा हुआ है। तू निरन्तर सभी प्राणियो के आत्मस्वरूप राम को नही जानता। तू जबर्दस्ती गाय को लाकर उसका गला काटकर प्राण ले लेता है। तूने एक जीवधारी को मुर्दा कर डाला और फिर भी कहता है कि यह विहित है। जिस मास को तुम विहित और पवित्र कहते हो, उसकी उत्पत्ति सुनो। यह मास रज-वीर्य से ही बनता है और उसको कोई भी पवित्र नही कह सकता। इस प्रकार तुम अपवित्र मास ही खाते हो। इस हत्या के मूल मे तुम अपना पाप नही देखते, उलटे यह कहते हो कि हलाल को हमारे महान् पुरुषो ने पवित्र माना है, अतएव यह धर्मसगत है।

---

१. शुक०–जिन्ह। २. वि०–जीयत जी। ३. वि०–डारिन्हि। ४. शुक०–बीज से। ५. वि०–उपानी। ६. वि०–नपाकी। ७. वि०–अपनी देखि करत। ८. शुक०–बाग। ९ शुक०–क्या। १०. शुक–पढै सब। ११. शुक–में।

तुमने जिस जीव का वध किया है, उसका पाप तुम्हारे सिर पर सवार होगा और जिसने तुम्हें इस प्रकार का उपदेश दिया है, उसके सिर पर भी सवार होगा। तुम दोनो को इसका बदला चुकाना होगा। जवानी चली गई, बुढापा आ गया, फिर भी तुम्हारा हृदय अब तक शुद्ध न हुआ। तुम्हारा व्रत रहना, बाँग देना, नमाज पढना और मस्जिद के निकट की कोठरी मे बैठकर तपस्या करना सब व्यर्थ है। मस्जिद मे जाकर उपर्युक्त बाह्याचार से तुम आध्यात्मिक दृष्टि से मृततुल्य हो जाते हो। पण्डित लोग वेद-पुराण पढते है और मुल्ला कुरान। वेद, पुराण और कुरान से आध्यात्मिकता नही आ सकती। कबीर कहते है कि जिन्होने निरन्तर आत्मस्वरूप राम को नही जाना है, ऐसे पडित और मुल्ला दोनो नरक को जाते है।

अलंकार—सपेदी, सपेद मे यमक।

(२११)

भूली मालिनी है[1] एउ।
सतिगुरु जागता है देउ ॥ टेक ॥
पाती[2] तोरै मालिनी पाती पाती जीउ।
जिसु[3] मूरति कौं पाती तोरै सो मूरति निरजीउ[4] ॥
टांचनहारै टांचिया दै छाती ऊपरि पाउ।
जे तूं मूरति सांचि[5] है तौ गढ़नहारै खाउ[6] ॥
लाडू लावन लापसी पूजा चढ़ै अपार।
पूजि पुजारा लै गया दै मूरति कै मुहि छार ॥
पाती ब्रह्मां पुहुप[7] विसनूं मूल[8] फल महादेव।
तीन[9] देव प्रतखि तोरहि करहि किसकी सेव ॥
मालिनि[10] भूली जग भुलांनां हम भुलाने नांहि।
कहै कबीर हम रांम राखे क्रिपा करि हरि राइ ॥

शब्दार्थ—मालिनी = (प्र० अ०) पुजारिनि। एउ = यह। निरजीउ = निष्प्राण। टांचनहारै = तराशनेवाला, गढ़नेवाला। टांचिया = काटा, तराशा।

---

१. ना० प्र०—ऐ गोब्यंद जागती जगदेव, तू करै किसकी सेव। २. ना० प्र०—भूली मालिनि पाती तोडै। ३. ना० प्र०—जा। ४. ना० प्र०—नर जीव। ५. ना० प्र०—सकल। ६. ना० प्र०—कौ खाव। ७. ना० प्र०—पुहुपे। ८. ना० प्र०—फूल। ९. ना० प्र०—तीनि देवौ एक मूरति। १०. ना० प्र०—एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा, एक न भूला दास कबीरा, जाकै राम अधारा।

लावन (स०-लावण्य)= नमकीन। पुजारा = पुजारी। छार = क्षार, मिट्टी। पुहुप = पुष्प। प्रतखि = प्रत्यक्ष। तोरहि = तोड़ती है।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ईश्वर को सर्वव्यापी बताते हुए बाह्याचार का खडन करते है और कहते है कि वास्तविक पूजा उनकी भक्ति है।

व्याख्या—पुजारिन पूजा के लिए फूल-पत्ती तोडती है। यह उसका भ्रम है। केवल सद्गुरु देव जागरूक है, उस भ्रम से बचे हुए है।

पुजारिन पूजा के लिए फूल-पत्ती तोड़ती है। उसे यह ज्ञान नही है कि इसमे भी जीव है। वह जिस मूर्ति के लिए पत्ती तोड़ती है, वह सर्वथा निर्जीव है। इस प्रकार वह निर्जीव पर सजीव चढाती है, मूर्ति को बनाने वाला पत्थर के ऊपर पैर रखकर मूर्ति का निर्माण करता है। यदि मूर्ति मे सचमुच शक्ति है तो पहले अपने गढ़ने वाले को क्यो नही नष्ट कर देती ? तथाकथित भक्त लोग मूर्ति के ऊपर नाना प्रकार के मधुर व्यञ्जनो—लड्डू, नमकीन, लपसी आदि—का प्रचुर भोग लगाते है। पुजारी पूजा मे व्यञ्जन चढ़ाने का दिखावा करके सारा पुजापा लेकर चलता बनता है और मूर्ति के पल्ले कुछ नही पडता।

हिन्दू ईश्वर को त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु, महेश-के रूप मे मानते है। ये तीनो देव पत्र, पुष्प ओर फल-मूल मे विद्यमान है। ब्रह्मा पत्ती मे, विष्णु पुष्प मे और शिव मूल-फल में निवास करते है। हे पुजारिन ! तू इन तीनो प्रत्यक्ष देवो को तो तोड़ती है। फिर पूजा किस देव की करती है ?

कबीर कहते है कि यह सारा बाह्याचार केवल भ्रम है। सारा ससार इसी भ्रम मे भूला हुआ है। हम इस भ्रम के चक्कर मे नही पडे। हमारे ऊपर प्रभु ने कृपा की और उन्ही के अनुग्रह से हम सुरक्षित है।

टिप्पणी—भारतीयों का विश्वास है कि वृक्ष, वनस्पति, लता आदि मे भी जीव है। श्री जगदीशचन्द्र बोस ने वैज्ञानिक प्रक्रिया से यह सिद्ध कर दिया है कि वृक्षादि मे एक आन्तरिक संवेदन होता है। मनु ने भी कहा है—

'अन्त.सज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता·।'

गोरखनाथ का कथन है—

पत्रे ब्रह्मा कली बिसनों, फल मद्धे रुद्रम देवा।
तीनि देव का छेद किया, तुम्हे करहु कोन की सेवा॥

अलकार—(१) जो तू········ ····· खाउ—वक्रोक्ति।
(२) लाडू लावन लापसी—अनुप्रास।

राग—रामकली।

(२१२)

मन का भ्रम मन ही थैं भागा ।
सहज रूप हरि खेलन लागा ।। टेक ।।
मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाहीं, आपै अकल सकल घट माँही ।
जब थैं इनमन उनमन जाँनाँ, तब रूप न रेष तहाँ ले बाँनाँ ।
तन मन मन तन एक समाँनाँ, इन अनभै माँहै मन माँना ।
आतमलीन अषंडित रांमाँ, कहै कबीर हरि माँहि समाँनाँ ।।

शब्दार्थ—अकल = अखड । अनभै = निर्भय । रेख = रेखा । बाँनाँ = आकार ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे सिद्धावस्था का वर्णन किया गया है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सिद्धि पद प्राप्त होने पर मन की साधना द्वारा मनका सशय मिट गया और यह जीव सहज रूप हरि मे क्रीड़ा करने लगा । इस स्थिति मे द्वैत-भाव मिट गया । 'मै तुम' मे भेद नही रह गया । वही अखण्ड परमतत्व सबके अन्त'करण मे विद्यमान है । जव व्यष्टि मन ने समष्टि मन (भागवती चेतना) का ज्ञान प्राप्त कर लिया, तव उसे पता चला कि परमतत्व का न कोई रूप है, न रेखा और न आकार । उस स्थिति मे शरीर और चेतन एक हो गये और मन उस निर्मल तत्व मे समा गया । कबीर कहते है कि यह आत्मा अखण्ड ब्रह्म अथवा हरि मे लीन हो गया ।

टिप्पणी—शास्त्रो मे भी कहा गया है कि मनुष्य का मन ही बंध और मोक्ष दोनों का कारण है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो. ।

राग—आसावरी ।

(२१३)

मन न डिगै तन[1] काहे को डेराई[2] ।
चरन[3] कमल चितु रह्यौ समाई ।। टेक ।।
गंग[4] गुंसाइंनि गहिर गंभीर, जंजीर[5] बाँधि करि खरे कबीर ।
गंगा[6] की लहरि मेरी टूटी जंजीर, म्रिगछाला[7] पर बैठे कबीर ।
कहैं कबीर कोऊ[8] संग न साथ, जल थल मैं राखै रघुनाथ ।।

---

१. ना० प्र०-ताथैं तन न डराई । २. गुप्त—डराइ । ३. ना० प्र०-केवल राम रहे ल्यौ लाई । ४. ना० प्र०-अति अथाह जल । ५. ना० प्र०-बाँधि जंजीर जलि बोरे है कबीर । ६. ना० प्र०-जल की तरंग उठि कटिहै जंजीर ७. ना० प्र०-हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर । ८. ना० प्र०-मेरे ।

शब्दार्थ—गुसाइंनि = पूज्या, आदरसूचक शब्द ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद कवीर के जीवन से सम्बद्ध है । जनश्रुति के अनुसार सिकन्दर लोदी ने कवीर को जजीर से वँधवाकर गगा में डुवो देने का आदेश दिया था । जजीर से वँधे कवीर को गगा मे फेका गया, किन्तु वह डूवे नही, अपितु गगा की लहर से उनकी जजीर टूट गई और वह मृगछाला पर वैठकर भजन करने लगे । इस घटना का उल्लेख दैनिक 'आज' के सह संपादक श्री विश्वनाथ सिह ने भी अपने एक लेख मे किया था । (दे०-डॉ० पारसनाथ तिवारी-कवीर ग्रथावली, पृ० १५) ।

व्याख्या—उसी घटना का उल्लेख करते हुए कवीर कहते है कि जव मन विचलित नही रहता, उसमें भय और शका का कोई स्थान नहीं रहता, वह प्रभु के चरण-कमल में लवलीन रहता है, तव शरीर-सम्बधी किस वात का भय हो सकता है ? कवीर को गगा माता के अथाह जल में जजीर वाँध कर डुवाने का प्रयास किया गया, किन्तु वह डूवे नही, गंगा में भी खड़े रहे । और गगा की एक तरग से उनकी जजीर टूट गई और वह मृगछाला पर वैठे हुए भजन करते पाए गए । कवीर कहते है कि संसार मे अन्य कोई सगी या सहायक नही होता । जल हो या थल, एकमात्र ईश्वर ही सर्वत्र रक्षक होता है ।

टिप्पणी—'कवीर साहव का वीजक' में महाराज विश्वनाथ सिह ने इस घटना उल्लेख इन शव्दो मे किया है—

तव कवीर को शाह वोलायो । जव कवीर दरवारहि आयो ॥
काजी कह करु साह सलामा । तव कवीर वोल्यो सुखधामा ॥
जानहि राम सलाम न जानै । सुनत शाह किय कोप महानै ॥
दियो हुकुम करियो नहि देरी । गगा वोरहु भरि पग वेरी ॥
सुनि अनुचर पग पाइ जजीरै । वोर्‌यो गगा माँह कवीरै ॥
रहिगै वेरी नीर गँभीरा । गंगा तीर भो ठाढ कवीरा ॥
—(पृष्ठ २१)

अलंकार—चरन कमल—रूपक ।

राग—भैरव ।

(२१४)

मन वानियाँ वॉनि न छोड़ै ।
जाकै घर मै कुवुधि बनांनी पल पल मैं चित चोरै ॥ टेक ॥

जनम जनम कौ मारा बनियाँ अजहूँ पूर न तोलै।
कूर कपट की पासंग डारै फूला फूला डोलै।
पाँच कुटुम्बी महा हरांमीं अम्रित मैं बिख घोलै।
कहैं कबीर सुनौ भाई साधौ कुटिल गांठि नां खोलै ॥

शब्दार्थ—वानियाँ = वणिक्। वांनि = स्वभाव। बनांनी = वणिक् की स्त्री। पाँच कुटुंबी = (प्र० अ०) काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। कुटिल = खोटा। हरामी (अ०) = दुष्ट, दोगला। पासंग = तराजू की डाँडी बराबर करने के लिए हल्के पलडे पर रखी जाने वाली वस्तु।

संदर्भ—जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों के कारण मन की कुटिलता नही जाती और लोग उसके द्वारा छले जाते है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मन रूपी वणिक् अपनी कुटिलता के स्वभाव को नही छोड़ता। कुवुद्धि उसकी प्रिय पत्नी है जो बार-बार उसको भ्रमित करती रहती है अर्थात् उससे अभद्र और अनुचित कार्य करवाती रहती है। मन रूपी वणिक् जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारो के कारण अब भी पूरा नही तौलता है अर्थात् कुटिलता का अवलम्बन करता है। वह अपने कुटिल और अशोभन कार्यो मे छल-प्रपच का पासंग लगाकर, उन्हे शोभनवत् दिखलाता है और अपनी इस प्रवंचना पर फूला नही समाता। कुटिल मन रूपी वणिक् के परिवार मे पाँच सदस्य हैं—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह। ये महाधूर्त है और सत् को भी असत् मे परिणत कर देते है। कबीरदास कहते है कि कि हे भाई सतो! सुनो। कुटिल मन छद्मवेषी है। उसके वास्तविक स्वरूप का परिचय नही चल पाता। यही गाँठ का न खुलना है।

अलंकार—रूपक, रूपकातिशयोक्ति।

राग—आसावरी।

(२१५)

मन मोर रहँटा रसना पिउरिया[1]।
हरि कौ नांउँ लै[2] काति बहुरिया ॥ टेक ॥
चारि खूँटी दोइ चमरख लाई, सहजि रहटवा दियौ चलाई।
छौ[3] मास तागा बरिस दिन कुकुरी, लोग बोलैं भल कातल बपुरी।
कहै कबीर सूत भल काता, रहटा नहीं परम पद दाता ॥

१. ना० प्र०—पुरइया। २. ना० प्र०—लै लै। ३ ना० प्र० में इसके स्थान पर यह पंक्ति है—सासु कहै काति बहू ऐसैं। विन कातैं निसतरिबौ कैसे ॥

शब्दार्थ—रहँटा=सूत कातने का चर्खा। पिउरिया=सूत पूरने वाली तकुली। वहुरिया=वहू (प्र० अ०) जीव। चारि खूंटी=(प्र० अ०) मन, वुद्धि, चित्त, अहंकार। दोइ चमरख=चमडे के टुकडे जिनमे से होकर तकुआ घूमता है। (प्र० अ०) विरह, प्रेम। कुकुरी=कच्चे सूत का लपेटा हुआ लच्छा, जो कातकर तकले पर से उतारा जाता हैं, अण्टी। वपुरी=वेचारी।

संदर्भ—इस पद मे कवीर ने जीवन को उत्कृष्ट वनाने के लिए नाम-जप की साधना पर वल दिया है।

व्याख्या—वह कहते है कि हे जीव ! नाम-जप की साधना के लिए मन को चर्खा वनाओ अर्थात् मन निरन्तर प्रभु की ओर लगा रहे, जिह्वा को तकुली वनाओ और हरि-नाम-स्मरण रूपी तागा कात कर तैयार करो।

मन रूपी चर्खा को अवाध गति से चलाने के लिए मन, वुद्धि, चित्त, अहंकार रूपी चार खूँटियो की तथा सुरक्षित रखने के लिए विरह और प्रेम के चमरख की आवश्यकता होती हैं। इस प्रकार से नाम-जप का चर्खा सहज ढग से चलाया जा सकता है। इस चर्खे द्वारा छ: मास मे तागा और वर्प भर मे लच्छा तैयार हो जाएगा अर्थात् इससे प्रभु के प्रति प्रेम मे वृद्धि होगी। सभी लोग तुम्हारे नाम-जप रूपी कताई की प्रशसा करेगे। कवीर कहते हैं कि वस्तुत: यह चर्खा नही है। यह नाम-जप परम पद या मुक्ति प्रदाता हैं।

अलकार—(१) पूरे पद से सांग रूपक।
(२) रहँटा नही परम पद दाता—अपह्नुति।

राग—आसावरी।

(२१६)

मन रे अहरखि वाद न कीजै।
अपना सुक्रितु[१] भरि भरि लीजै ॥ टेक ॥
कुम्भरा एक कमाई माटी बहु बिधि बांनीं लाई[२]।
काहू[३] महि मोती मुकताहल काहू[४] व्याधि लगाई ॥
काहू[५] दीन्हां पाट पटंबर काहू[६] पलंघ निवारा।
काहू[७] गरी गूदरी[८] नांहीं काहू[९] सेज पयारा ॥

१. ना० प्र०-सुकृत। २. ना० प्र०-जुगति वडाई ३. ना० प्र०-एकनि मै मुकताहल मोती। ४. ना० प्र०-एकनि। ५. ना० प्र०-एकनि ६. ना० प्र०-एकनि सेज ७. ना० प्र०-एकनि दीनों गरै। ८. तिवारी—गोंदरी। ९. ना० प्र०-एकनि।

सूमहिं[1] धन राखन कौं दीया मुगध कहै यहु मेरा[2]।
जम[3] का डंडु मूंड महिं लागै खिन महिं करै निबेरा॥
कहै कबीर सुनौ रे संतौ मेरी मेरी झूठी।
चिरकुट[4] फाड़ि चुहाड़ा लै गयौ तनी[5] तागरी छूटी॥

शब्दार्थ—अहरखि=(१) (अ० हिर्स का विकृत रूप) हिर्स (अहरसि) अहरखि=लोभ, लिप्सा। (२) अहर्ष, दुःख, चिन्ता,। बाद = तर्क-वितर्क, खण्डन-मण्डन। सुक्रित=सुकृत, पुण्य, सत्कर्म। बानी=बानि, सजधज, रूप। कुंभरा= कुम्भकार, (प्र० अ०) ईश्वर। मुकताहल=मुक्ताफल। व्याधि=विपत्ति। पाट= रेशम। पटंवर=रेशमी वस्त्र। गरी=गले मे। गूदरी=गुदड़ी, फटा वस्त्र। पयारा= पुआल। सूसहि=कजूस। मुगध=अनजान, अबोध, मूर्ख। निबेरा=निबटारा। चिरकुट= फटा वस्त्र। चुहाडा=भगी, मेहतर। तनी=शरीर पर की। तागरी=करधनी।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि सासारिक ऐश्वर्य असार है। किसी को जो कुछ मिलता है, वह उसके कर्मो का फल है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे मन! तू सासारिक ऐश्वर्य के लिए तर्क-वितर्क, खण्डन-मण्डन के चक्कर मे मत पड़। उसके लिए लोभ या चिन्ता व्यर्थ है। अपना पुण्य कमाओ। ईश्वर रूपी कुम्भकार ने प्रकृति रूपी मिट्टी को सँवारकर नाना प्रकार के रूप बनाए। किसी के बाँट मे मोती आदि का सुख पडा और कोई विपत्ति से आक्रान्त है। किसी को पहनने के लिए सुन्दर रेशमी वस्त्र मिले और किसी के गले मे फटी गूदडी तक नही। किसी को सोने के लिए निवाड का पलंग मिला और किसी को पुवाल की शय्या मिली। कुछ लोगों को धन मिलता है, किन्तु वे उसका समुचित उपयोग नही करते, धन को लक्ष्य मानकर उसे ही बटोरे रहते है। इन मूर्खो मे धन के प्रति ममत्व की भावना प्रबल रहती है। लेकिन जब सिर पर यमराज का डंडा पड़ता है, तब क्षण भर मे निबटारा हो जाता है। कबीर कहते है कि ममत्व का भाव मिथ्या है। मरने पर शरीर का फटा-पुराना वस्त्र भी साथ नही जाता। उसे भंगी ले जाता है और शरीर पर की करधनी को भी तोड दिया जाता है।

टिप्पणी—इस पद मे कबीर ने तीन तथ्यो का संकेत किया है—

(१) ससार मे संपत्ति अथवा निर्धनता कर्मो के अनुसार आती है। इसलिए इस सम्बध मे विवाद तथा लोभ व्यर्थ है। व्यक्ति को अच्छे कर्म करना चाहिए, विवाद मे नही पड़ना चाहिए।

१. ना० प्र०-साची रही सूँम संपति। २. ना० प्र०-मेरी। ३. ना० प्र०-अंतकाल जब आइ पहुचा, छिन मै कीन्ह न बेरी। ४. ना० प्र०-चड़ा चीथड़ा। ५. ना० प्र०-तणीं तणगती टूटी।

(२) जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसके प्रति ममत्व का भाव नहीं रखना चाहिए। यह मानकर चलना चाहिए कि जगत् में जो कुछ भी है, ईश्वर का है। प्रत्येक व्यक्ति को वह भोग के लिए दिया गया है। वह किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

—ईशावास्योपनिषद्

(३) संसार की सभी वस्तुएँ नश्वर हैं। मरने पर कोई वस्तु साथ नहीं जाती।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(२१७)

मन रे कागद कीन[1] पराया।
कहा भयौ ब्यौपार तुम्हारै, कलतर बढ़ै सवाया ॥ टेक ॥
बड़ै बौहरै साँठो दीन्हौं, कलतर काढ़्यो खोटै।
चार लाख अरु असी ठीक दै, जनम लिख्यौ सब चोटै ॥
अबकी बेर न कागद कीन्यौ,[2] तौ धर्मराय सो[3] तूटै।
पूँजी बितड़ि बंदि लै दैहै, तब कहै कौन के छूटै ॥
गुरुदेव ग्यानी भयौ लगनियाँ, सुमिरन दीन्हौं हीरा।
बड़ी निसानी नाँव राँम कौ, चढ़ि गयौ कीर कबीरा ॥

शब्दार्थ—कागद=कर्म का लेखा। पराया=दूसरे का। कलतर (फा०-कलदार)=मशीन से बना हुआ सिक्का। बौहरै=व्यवहार करने वाला, महाजन, (प्र० अ०) ईश्वर। साँठी=पूँजी, धन (प्र० अ०) वृद्धि। ठीक=नियत, पूरा। तूटै=टूट जाएगा। बितड़ि=वितरण करके। लगनियाँ=जमानतदार। निसानी=निसेनी, सीढ़ी। कीर=तोता (प्र० अ०) बद्ध जीव।

संदर्भ—इस पद में सांसारिक जीवन की नश्वरता और प्रभु-भक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—हे मन! तूने अपने कर्मों से अपने भाग्य को दूसरों के हाथ में सौंप दिया है। तुझे व्यापार करने से क्या लाभ? तुम्हारे द्वारा लिया गया ऋण का धन

१. ना० प्र०-कौर। २. ना० प्र०-कीर्‌यौ। ३. ना० प्र०-सूँ।

सवाया हो जाएगा। जीवन-व्यापार से क्या लाभ होगा ? तुमने अतीत मे जो कर्म किए है, वे एक प्रकार के ऋण है। उनका फल व्याज सहित भोगना पडेगा। ईश्वर रूपी महाजन ने तुम्हे विवेक रूपी पूँजी दी थी। किन्तु उस सिक्के को तुमने कलुषित कर दिया। फलस्वरूप तुम्हे चौरासी लाख योनियों मे भटकते हुए कर्म-फल भोगना पडा। यदि इस जन्म मे अब भी तुम सुकर्मों द्वारा अपना लेखा ठीक करोगे तो धर्मराज से तुम्हारा सम्बंध-विच्छेद हो जाएगा अर्थात् तुम आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाओगे। यदि तुम सत्कर्म नही करते हो तो तुम्हे प्रदत्त विवेक रूपी पूंजी अन्यत्र वितरित कर दी जाएगी और तुम्हे ससार रूपी कारावास मे डाल दिया जाएगा। तब बताओ किसके कहने से तुम छुटकारा पा सकोगे ? जीव के उद्धार का उपाय बताते हुए कबीर कहते है कि ज्ञानी सद्गुरु जमानती बनेगे और वह प्रभु का सुमिरन रूपी हीरा देगे। इस प्रकार राम नाम की लम्बी सीढी का आश्रय लेकर यह बद्ध जीव रूपी तोता लक्ष्य पर आरूढ हो जाएगा अर्थात् उसकी मुक्ति हो जाएगी।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(२१८)

मन रे जागत रहिए भाई।
गाफिल होइ बस्तु[1] मति खोवै, चोर मुसै घर जाई॥ टेक॥
षट चक्र की कनक कोठड़ी, बस्त भाव है सोई।
ताला कूँची कुलफ के लागे, उघड़त बार न होई॥
पंच पहरवा सोइ गए है, बसतैं जागन[2] लागीं।
जरा मरण व्यापै कछु नाहीं, गगन मंडल लै लागी।
करत बिचार मनही मन उपजी, नाँ कहीं गया न आया।
कहै कबीर संसा सब छूटा, रॉम रतन धन पाया॥

शब्दार्थ—गाफिल (अ०) असावधान। बस्तु = वस्तु। मुसै = चुरा ले जाता है। बस्त भाव = सारभूत, कुण्डलिनी। कूची = कुँजी। कुलफ (अ० कुफ्ल) = ताला। सोई = सो रही है। बार = विलम्ब। पच पहरवा = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। बसतैं = बसनेवाली वस्तुएँ। जरा = वृद्धावस्था। गगनमण्डल = सहस्रार। संसा = संशय।

संदर्भ—इस पद मे कबीर यह उपदेश देते है कि विषयो से विमुख होकर यदि कोई साधना करे तो उसकी कुण्डलिनी का जागरण हो जाएगा और आत्मतत्व का साक्षात्कार हो जाएगा।

१. ना० प्र०—बसत। २. ना० प्र०—जागण।

व्याख्या—कबीर मन को सचेत करते हुए कहते हैं कि तू निरन्तर सावधान रह। कही तेरी असावधानता के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चोर घुस न जाँय और तेरी तत्व रूपी पूँजी ही चोरी न चली जाय।

तेरा यह शरीर पटचक्रो की सोने की कोठरी है, उसमे सारभूत चेतना रूपी कुण्डलिनी सोई हुई है। तेरे शरीर रूपी कमरे में अज्ञान का ताला लगा हुआ है। साधना रूपी चाभी से जब वह खुल जाएगा तो सारभूत चेतना अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण हो जाएगा और जीवन के रहस्य के उद्घाटन मे देर नही लगेगी।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ सासारिक जीवन की पहरेदार होती है। वे विषयो की ओर उन्मुख रहती है। उनके जागते हुए अर्थात् सक्रिय रहते हुए अज्ञान का ताला खोलना सभव नही। जब वे सो जाएँगी अर्थात् विषयों मे विमुख हो जाएँगी, तब तेरे भीतर बसनेवाली रहस्यमयी चेतना जगने लगेगी। वह (कुण्डलिनी) जगकर जब सहस्रार में जा पहुँचेगी, तब तेरे ऊपर जरा-मरण का प्रभाव नही रहेगा अर्थात् तू मुक्त हो जाएगा और जरा-मरण की समस्या सदा के लिए समाप्त हो जाएगी। जरा-मरण शरीर के धर्म है, मुक्त होने पर पुनर्जन्म न होने मे जरा-मरण का प्रश्न ही नही रह जाएगा।

कबीरदास कहते है कि मुझे कही आने-जाने की आवश्यकता नही पड़ी। आन्तरिक विचार करने पर ही यह ज्ञान स्वतः उत्पन्न हो गया। मुझे रामरत्न रूपी धन प्राप्त हो गया अर्थात् तत्व का साक्षात्कार हो गया और जीवन के विषय में सारे संशय समाप्त हो गए।

अलंकार—साग रूपक।

राग—गौरी।

(२१९)

मन रे मनहीं उलटि समांनां।
गुर परसादि अकिलि भई अवरै[1] नातरु था वेगांनां॥ टेक॥
उलटै पवन चक्र खटु भेदे[2] सुरति सुन्नि अनुरागी[3]।
आवै[4] न जाइ मरै नहिं जीवै ताहि खोजि बैरागी॥
नियरे[5] दूरि दूरि फुनि[6] नियरै जिनि जैसा करि मांनां।
औलौती[7] का चढ़ा बरेडै[8] जिनि पीया तिनि जांनां॥
निरगुन[9] कथा कवन सौं कहिए है कोई चतुर विवेकी।
कहै कबीर गुर दिया पलीता सो झल बिरलै देखी॥

---

१. ना० प्र०–तोकों। २. ना० प्र०–वेधा। ३. ना० प्र०–लै लागी। ४. ना० प्र०–अमर न मरै। ५. ना० प्र०–नेडै थे। ६. ना० प्र०–यें। ७. ना० प्र०–औलौ ठीका। ८. ना० प्र०–बलींडा। ९. ना० प्र०–अनभै, तिवारी-तेरी निरगुन।

शब्दार्थ—वेगाना = पराया। ओलौती = ओलती। बरेडे = वेडा, वल्ली। सुरति = चेतना। पलीता = वह बत्ती जिससे आग लगाई जाती है। झल = आग, ज्वाला।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में बताया गया है कि जब मन प्रत्यङ्मुखी होता है, तभी परमतत्व का ज्ञान होता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मन उलटकर मन मे ही समा गया अर्थात् मन प्रत्यङ्मुखी हो गया। गुरु के अनुग्रह से बुद्धि शुद्ध हो गई, अन्यथा मै परमात्मा से अपरिचित था, वियुक्त था।

उदान वायु के द्वारा कुण्डलिनी के जागरण पर षट् चक्रो का भेदन करते हुए चेतना शून्य मे मिल गई। हे साधको ! उस परम तत्व को खोजो, जिसका आवागमन नही है, जन्म-मरण नही है अर्थात् जो अमर तत्व है। लोग अपनी बुद्धि के अनुसार उस तत्व के सम्बन्ध मे विचार करते है। जो स्थूल द्वैत-बुद्धि के है, उनके लिए आत्म-तत्व भीतर होते हुए भी बहुत दूर है, किन्तु जो सूक्ष्म विचार वाले है, उनके लिए साधारणतया दूर माना जाने वाला तत्व निकट ही है।

जिस प्रकार ओलती का पानी जब वल्ली द्वारा ऊपर चढता है तो वह वल्ली ही उस जल का अनुभव कर पाती है, उसी प्रकार जब मन प्रत्यङ्मुखी होकर आत्मा की ओर अधिरोहण करता है, तब वही मन परम-तत्व के रस को जान पाता है। कबीर कहते है कि उस परम तत्व का वर्णन मै किससे करूँ ? कोई विरला विवेकी ही उसे समझ सकता है। गुरु जो ज्ञान का पलीता शिष्य को लगाता है अर्थात् जो दीक्षा देता है, उसकी ज्योति का अनुभव विरले लोगों को ही होता है।

तुलनीय—सो फल बिरलै देखी ...

मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्वत ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ७।३)

अलंकार—(१) औलौती का चढ़ा बरेड़ै—दृष्टान्त।
(२) है कोई चतुर विवेकी—वक्रोक्ति।
(३) सो झल बिरलै देखी—विशेषोक्ति।

राग—गौरी।

(२२०)

मन रे सर्‌यौ न एकौ काजा।
(तैं) भज्यौ न जगपति[1] राजा ॥ टेक ॥
वेद[2] पुरॉन सुमृत गुन पढ़ि पढ़ि, पढ़ि गुनि मरम न पावा।
संध्या गायत्री अरु षट करमां, तिन थैं दूरि बतावा ॥
बन खण्ड जाइ जोगु तपु कीन्हा, कंद मूल खनि[3] खाया।
ब्रह्म[4] गियाँनी अधिक धियॉनी, जम कै पटै लिखाया ॥
रोजा[5] किया निवाज गुजारी, बंग दे लोग सुनावा।
हिरदै कपट मिलै क्यू साँई, क्या हज काबै जावा ॥
पहर्‌यौ[6] काल सकल जग ऊपरि, लिखे माँहि सब ग्यॉनी।
कहै कबीर ते भए षालसै, राम भगति जिनि जाँनी ॥

शब्दार्थ—सर्‌यौ = सिद्ध हुआ, सम्पन्न हुआ। सुमृति = स्मृति। मरम = रहस्य। षट करमा = (१) नित्य षट् कर्म (स्नान, सध्या, पूजा, तर्पण, जप, होम)
(२) योगियो के षट्‌कर्म (धोती, नेती, बस्ति, न्योली, त्राटक, कपाल-भाती)
(३) ब्राह्मणो के षट्‌कर्म (यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह)
खनि = खोदकर। पटै = पट्ट, अधिकार-पत्र। बग = बाँग देना, अजान, नमाज की सूचना के शब्द जो जोर से पुकारे जाते है।
पहर्‌यौ = पहरे पर, नियुक्ति। षालसै = (अ०—खालिस) शुद्ध।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे वाह्याचार त्याग कर सच्चे हृदय से प्रभु-भक्ति का उपदेश दिया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीवो ! तुमने जगत् के स्वामी राम की उपासना नही की। इसलिए तुम्हारा कोई कार्य सिद्ध न हुआ। तुम जीवन भर वेद, पुराण और स्मृति का अध्ययन-मनन करते रहे, किन्तु सत्य के मर्म को समझ न सके। केवल

---

१. तिवारी–रघुपति। २. तिवारी–वेद पुरान सभै मत सुनिकै करी करम की आसा, काल ग्रसत सभ लोग सयानैं उठि पंडित पै चले निरासा। ३. तिवारी–चुनि। ४. तिवारी-नारी वेदी सवदी मौंनी ५ ये दो पंक्तियाँ तिवारी की प्रति में नहीं है। ६. तिवारी—

भगति नारदी हृदै न आई काछि कूछि तनु दीना।
राग रागिनी डिंभ होइ बैठा उनि हरि पहिं क्या लीना ॥

इनके अध्ययन से परम सत्य को नही जाना जा सकता । वह परमतत्व संध्या, गायत्री और षट्कर्म आदि से बहुत परे है । बन में जाकर तुम तपस्या करते रहे और कँन्द-मूल आदि खोदकर खाकर जीवनयापन करते रहे । बड़े-बडे ब्रह्मज्ञानी हुए । वे जीवनभर ध्यान-समाधि लगाते रहे, किन्तु अपने कर्मो के द्वारा वे आवागमन के आस्पद बनते रहे और इस प्रकार यमराज के अधिकार-पत्र मे उनका नाम अंकित होता रहा ।

हिन्दुओ के समान मुसलमानो के बाह्याचार पर प्रहार करते हुए कबीर कहते है कि तुम लोग व्रत, उपवास करते रहे, नमाज पढ़ते रहे और अजान से नमाज के लिए सबका आह्वान करते रहे, किन्तु हृदय मे राग-द्वेष, कपट आदि भरा हुआ है । जब तक हृदय शुद्ध न हो जाय, तब तक प्रभु कैसे मिल सकते है, हज के लिए कोई कितनी बार काबा क्यो न जाय ? यमराज का समस्त ससार पर पहरा है अर्थात् वह सभी के कर्मो का हिसाब रखते है और उनकी सूची मे सभी तथाकथित ज्ञानियो का भी विवरण रहता है । कबीर कहते है कि जो राम की भक्ति करना जानते है, वे ही हृदय से शुद्ध होते है और ऐसे शुद्ध व्यक्ति ही यमराज के चगुल से छुटकारा पा सकते है ।

अलंकार—वेद पुरान ····· पावा—विशेषोक्ति ।

राग—सोरठ ।

(२२१)

मरिहो रे तन का[1] ले करिहो, प्रान छुटे बाहर लै [2]डरिहो ।
काया बिगुरचनि अनबनि बाटी[3], कोई जारै कोइ गाड़ै माटी ।
हिन्दू[4] जारैं तुरुक ले गाड़ैं, यहि विधि अंत दुनो घर छाँड़ै ।
करम[5] फाँस जम जाल पसारा, जस धीमर मछरी गहि मारा ।
राम बिना नर[6] होइहो कैसा, बाट मांझ गोबरौरा जैसा ।
कहै कबीर पाछे पछितैहो, या घर से जब वा घर जैहो ॥

शब्दार्थ—डरिहौ=डाला जाएगा । बिगुरचन=(स० विकुचन) विनाश । अनबनि=भिन्न-भिन्न । बाटी=मार्ग । धीमर=मछुआ । गोबरौरा=गोबर का कीड़ा । घर=(प्र० अ०) शरीर ।

संदर्भ—यह शरीर नश्वर है । इसके प्रति आसक्ति व्यर्थ है । प्रभु-भक्ति से ही मनुष्य का उद्धार हो सकता है ।

---

१. शुक०-क्या लै । २. शुक०-धरिहो । ३. वि०-भाँती । ४. शुक०-हिन्दु ले जारे तुर्क । ५. शुक०-कर्म । ६. वि०-नल ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि शरीर के प्रति आसक्ति व्यर्थ है। एक दिन इसका विनाश अवश्यभावी है। अतएव इसके पीछे क्यो पडे हो? शरीर से प्राण निकलने पर उसे बाहर ले जाकर डालना पडेगा। शरीरान्त होने पर भिन्न-भिन्न प्रकार मे उसकी अन्त्येष्टि होती है। उसे कोई जलाता है, कोई मिट्टी में गाड़ता है। हिन्दू जलाते हैं, मुसलमान गाडते है। इस प्रकार दोनो ही ससार से चले जाते हैं। यमराज ने प्राणियो के कर्मानुसार जाल फैला रखा है। वह लोगो को वैसे ही फँसा लेते है, जैसे मछुआ मछली को पकड लेता है। हे मनुष्यो! राम की भक्ति के बिना तुम्हारी वैसी ही दशा होगी जैसे रास्ते मे रेंगता गोबर का कीड़ा। कबीर कहते है कि जब इस शरीर को छोडकर दूसरी योनि मे जाओगे, तब पछताओगे।

अलंकार—(१) करम फास—रूपक।
(२) जस धीमर मछरी गहि मारा—उपमा।
(६) बाट माँझ गोवरौरा जैसा—उपमा।

(२२२)

माई[1] मै दूनौ कुल उजियारी।
सासु ननद पटिया मिलि बँधलौं, भसुरहि[2] परलौं गारी॥
जारौ माँग मै तासु नारि की[3], जिन सरवर रचल धमारी[4]।
जना पाँच कोखिया मिलि रखलो, और दुई औ चारी॥
पार परोसिनि करौं कलेवा, संगहि बुधि महतारी।
सहजहिं बपुरे[5] सेज बिछावल[6], सुतलौं[7] पाँव पसारी।
आवों[8] न जावों मरौं नहि जीवों, साहेब मेटल गारी।
एक नाम मै निज कै गहिलौं, तो छूटल संसारी।
एक नाम[9] मै बदि के लेखौं, कहै कबीर पुकारी॥

शब्दार्थ—उजियारी = प्रकाशित किया। सासु = (प्र० अ०) माया। ननद = (प्र०अ०) कुमति। पटिया = पाट, तख्ता। भसुरहि = पति का बड़ा भाई (प्र०अ०) अविवेक। नारि = (प्र०अ०) अविद्या। सरवर = सरोवर (प्र०अ०) शरीर। धमारी = खेल-कूद। जना पाँच = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। कोखिया = कुक्षि मे, वश मे। रखलो = कर लिया। दुई = राग-द्वेष। चारो = अन्त करण चतुष्टय। पार = दूर वाले (प्र० अ०)

---

१. वि०—माइ। २. शुक०—ससुरहि। ३. वि०—का। ४ शुक०—हमारी। ५. शुक०—बपुरी। ६. दि०—बिछौलन्हि। ७. वि०—सुतलि। ८. वि०—आउँ न जाउँ। ९. शुक०—बंदे का लेखौं।

प्रकृति। परोसिनि=पडोसी (प्र०अ०) कर्मेन्द्रियाँ। बपुरे=बेचारे। सहजहिं=सहज भाव से। बदि कै=निश्चय करके। लेखौ=समझता हूँ।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने बताया है कि अपने भीतर विद्यमान राग-द्वेष, अविद्या तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रेण प्राप्त करने पर जीव मुक्त दशा को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—मुक्त दशा को प्राप्त जीव कहता है कि मैने दोनो कुलों (लोक, परलोक) को उज्ज्वल बना दिया है। मुक्ति-मार्ग के अवरोधक तत्वो अर्थात् माया (सासु) और कुमति (ननद) को मैंने पाटी मे बाँध दिया है अर्थात् उनपर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है और अविवेक (जेठ) को फटकारकर अलग कर दिया है। मै अविद्या रूपी नारी की माँग जला दूँगी, उसे विधवा कर दूँगी अर्थात् शक्तिहीन कर दूँगी, क्योकि उसी ने मेरे शरीर (सरोवर) मे धमाल मचा रखा था अर्थात् उपद्रव मचा रखा था। मैंने पाँचो ज्ञानेन्द्रियो, राग-द्वेष तथा अन्तःकरण चतुष्टय को भी वश मे कर लिया है। अब इनका भी स्वतन्त्र प्रभाव नही रह गया है। मैने प्रकृति-मंडल एवं कर्मेन्द्रियों का भी भोजन कर लिया है। इस कार्य मे मेरी माँ (विद्या) सहायक बनी है।

ज्ञानेन्द्रियो, कर्मेन्द्रियो, राग-द्वेष, अविद्या आदि के कारण भीतर स्थित सहज तत्व अपने उद्देश्य की पूर्ति नही कर पाता। जब जीव उपर्युक्त विषयो पर नियन्त्रण कर लेता है, तब सहजतत्व सक्रिय होता है और जीव का उद्धार कर देता है। इसी तथ्य को कबीर इन शब्दों मे व्यक्त करते हुए कहते है कि जब जीव ने अविद्यादि पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया, तब सहज ने शय्या बिछाई अर्थात् जीव के उद्धारार्थ सक्रिय हुआ। अपनी पाशविक प्रवृत्तियो से संघर्ष समाप्त होने पर जीव निश्चित हो गया। इसी को कबीर ने पाँव पसारकर सोना कहा है। मुक्त दशा को प्राप्त होने पर जीव का आवागमन और जन्म-मरण समाप्त हो गया। प्रभु ने जन्म-मरण का दूषण (गाली) समाप्त कर दिया। अब मैने वास्तविक चैतन्य के नाम को पकड़ लिया, जिससे मेरा ससरण समाप्त हो गया। कबीर पुकारकर कहते है कि मैने उस सारतत्व परम चैतन्य को निश्चयपूर्वक जान लिया है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(२२३)

माधौ कब करिहौ दाया[1]।
कांम क्रोध हंकार बिआपै[2] नां छूटै माया ॥ टेक ॥

१. गुप्त—दया। २ गुप्त—ब्यापै।

उतपति विंदु[३] भयौ जा दिन तैं[४] कबहूं सचु नहिं पायौ।
पंच चोर संगि लाइ दिए[५] हैं इन संगि जनम गँवायौ ॥
तन मन डस्यौ भुजंग भाँमिनीं लहरइं[६] वार न पारा।
गुर[७] गारड़ू मिल्यौ नहिं कबहूँ पसर्‌यौ बिख बिकरारा ॥
कहै कबीर दुख[८] कासौं कहिए कोई[९] दरद न जांनैं।
देहु दीदार बिकार दूरि करि तब मेरा मन मांनैं ॥

शब्दार्थ—हंकार = अहंकार। बिआपै = व्याप्त होना। विंदु=वीर्य। सचु= आनद। भामिनी = कामिनी। लहरैं=विप के प्रभाव का झोंका। वार न पारा= ओर-छोर। गारड़ू=सर्प का विप उतारने वाला। विकरारा = विकराल। दीदार (फा०)=दर्शन। विकार=अवगुण। मन मांनैं = मन सन्तुष्ट होना।

व्याख्या—कबीर प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि मेरे मानसिक विकारों को दूर करके मुझे साक्षात्कार का दान दीजिए।

हे प्रभु ! आप दर्शन देने की कृपा कब करेंगे ? मैं काम, क्रोध और अहंकार से ग्रस्त हूँ और माया मुझसे छूटती नही है। मैं जिस दिन से पिता के वीर्य से पैदा हुआ अर्थात् जन्म से मुझे सच्चा सुख नही मिला। जन्म से ही पांच चोर अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य मेरे साथ लगे हुए हैं। मेरा सारा जीवन इनके साहचर्य में नष्ट हो गया है। कामिनी रूपी सर्पिणी ने मेरे शरीर और मन को इस प्रकार डस लिया है कि उसके विष के प्रभाव के झोकों का कोई अन्त नही प्रतीत होता। मुझे ऐसा कोई गुरु रूपी गारुड़ी नही मिला जो मुझे उसके विप से मुक्त कर सके। वह भयंकर विष सारे शरीर में व्याप्त हो गया है। कबीर कहते हैं कि मैं अपना यह दुःख किससे कहूँ ? मेरी इस आध्यात्मिक पीड़ा के मर्म को कोई नहीं समझ सकता। हे प्रभु ! मेरे सभी अवगुणो को दूर करके दर्शन दो, तभी मेरा मन शाति का अनुभव करेगा, सन्तुष्ट होगा।

अलंकार—(१) भुजंग भांमिनी तथा गुर गारड़ू मे रूपक।
(२) रूपकातिशयोक्ति।

तुलनीय—नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो।
तब ही ते न भयो हरि थिर, जब ते जिव नाम धर्‌यो ॥१॥

३. गुप्त–ब्यंद। ४. गुप्त–थैं। ५. गुप्त–दीये। ६ गुप्त–लहरी। ७. गुप्त–सो। ८. गुप्त–यहु कासूँ। ९. गुप्त–यह दुख कोइ।

बहु बासना बिबिध कंचुकि, भूषन लोभादि भर्यो।
चर अरु अचर गगन जल थल मे, कौन न स्वाग कर्यो ॥२॥
(तुलसी—विनयपत्रिका–पद सं० ९१)

राग—केदार।

(२२४)

माधौ दारुन दुख सह्यौ न जाइ।
मेरी चपल बुद्धि सौं[1] कहा बसाइ ॥ टेक ॥
इसु[2] तन मन मद्धे मदन चोर, जिनि ग्यांन रतनु हरि लीन मोर।
मैं अनाथ प्रभु कहउँ[3] काहि, को[4] को न बिगूचे मैं को आहि।
सनक सनदंन सिव सुकादि, नांभि[5] कंवल जांने ब्रह्मादि।
कबि[6] जन जोगी जटाधारि, सभ आपन औसर चले हारि।
कहै[7] कबीर रहु संग साथ, अभिअंतरि हरि सूँ कहौ बात।
मन ग्यांन जांनि कै करि बिचार, रांम रमत भौ तिरिबौ पार ॥

शब्दार्थ—दारुन=दारुण, भयंकर। बसाइ=वश चलना। मद्धे=मध्य में, भीतर। मदन=काम। बिगूचै=(सं० विकुंचन) उलझन मे डाल दिया दबोचा। अभिअंतरि=आभ्यंतर, भीतर। भौ=भव सागर।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने काम के प्रबल प्रभाव का वर्णन किया है और यह बतलाया है कि उसपर केवल प्रभु-भक्ति से ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

व्याख्या—हे प्रभु ! कामजन्य व्यथा असह्य हो रही है। मेरी बुद्धि चंचल है। उसमे स्थिरता नही है। भला उसका काम के प्रबल आवेग पर कैसे वश हो सकता है ? इस शरीर और मन मे उन्मत्त कर देने वाले कामदेव रूपी चोर का निवास है, जिसने मेरे ज्ञान रूपी रत्न का अपहरण कर लिया है। हे प्रभु ! मैं असहाय हूँ। अपने दारुण दुःख का निवेदन किससे करूँ ? इस मदन ने किस ऋषि-मुनि को नही उलझाया और दबोच डाला है। फिर मै कौन हूँ अर्थात् मेरी क्या सामर्थ्य है ? सनक, सनन्दन, शिव, शुकदेव, विष्णु की नाभि से उत्पन्न ब्रह्मा, क्रान्तदर्शी मनीषी तथा बड़े-बड़े जटाधारी

---

१. ना० प्र०–गुप्त-तातैं। २. ना० प्र०–गुप्त-तन मन भीतरि वसै। ३. ना० प्र०–गुप्त-कहूँ। ४. ना० प्र०–गुप्त-अनेक विगूचै। ५ ना० प्र०–गुप्त-आपण कवलापति भए ब्रह्मादि। ६. ना० प्र०–गुप्त-जोगी जगम जती जटाधार, अपनै औसर सब गए हारि। ७, तिवारी में अंतिम दो पक्तियाँ इस प्रकार है—

तू अथाह मोहि थाह नांहि। प्रभु दीनांनाथ दुख कहहुँ काहि।
मेरो जनम मरन दुख आथि धीर। सुख सागर गुन रउ कबीर॥

योगी आदि सभी मदन के प्रकोप के समय अर्थात् उससे पाला पड़ने पर हार मान बैठे।

कबीरदास कहते है कि तेरे भीतर जो प्रभु विद्यमान है, उनसे सम्पर्क स्थापित करो और उन्ही से अपनी कठिनाई का निवेदन करो। उन्ही से प्राप्त शक्ति से तुम मदन पर विजय प्राप्त कर सकते हो। तुम मन मे यह निश्चित रूप से समझ लो कि राम मे ही रमण करके उनकी शक्ति से ही इस भव-सागर को पार किया जा सकता है।

टिप्पणी—(१) सनक, सनन्दन—

सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चार ब्रह्मा के मानस पुत्र माने जाते है। ये बालज्ञानी थे। इनका आध्यात्मिक महत्व भी है। 'सन्' शब्द का अर्थ है— चिरन्तन, शाश्वत।

सनक = चिरन्तन जीवित रहने वाला, अमर।

सनत्कुमार = सदा यौवन पूर्ण रहने वाला, अजर।

सनातन = सदा विद्यमान रहने वाला।

सनन्दन = सदा आनन्द से परिपूर्ण।

(२) शुकदेव—कृष्णद्वैपायन व्यास के पुत्र का नाम जो पुराणो के ज्ञाता माने जाते है। इनका उपनयन संस्कार स्वय महादेव जी ने किया था और देवराज इन्द्र ने इन्हे कमण्डलु तथा आसन दिया था। इन्होने राजा परीक्षित को मृत्यु से पहले मोक्षधर्म बताया था, जो इन्होने अपने पिता और महाराज जनक से सीखा था।

(३) ब्रह्मा—सृष्टि करने वाले देवता। मनुस्मृति के अनुसार स्वयंभू भगवान् ने जल की सृष्टि करके उसमे जो बीज फेंका, उसी से ज्योतिर्मय अण्ड उत्पन्न हुआ जिसके भीतर से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। भागवत आदि पुराणो के अनुसार भगवान् ने योगनिद्रा मे पड़कर जब शयन किया, तब उनकी नाभि से एक कमल निकला जिससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई।

(४) ठीक इसी प्रकार के भाव को गोस्वामी तुलसीदास ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

मैं केहि कहौ बिपति अति भारी। श्रीरघुबीर धीर हितकारी॥ १॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥ २॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥ ३॥
तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु-मारा॥ ४॥

अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहि मोहि जानि अनाथा॥ ५ ॥
मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥ ६ ॥
भागेहु नहिं नाथ! उबारा। रघुनायक, करहु सँभारा॥ ७ ॥
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तसकर तव धामा॥ ८ ॥
चिंता यह मोहि अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा। ९ ॥
(विनयपत्रिका, पद १२५)

शकराचार्य ने भी कहा है—

काम: क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्करा।
ज्ञानरत्नापहाराय तस्माज्जाग्रत जाग्रत॥

अंलकार—(१) मेरी चपल बुद्धि सो कहा बसाइ—काकु वक्रोक्ति।
(२) को को न बिगूचे—काकु वक्रोक्ति।
(३) इस तन मन मध्ये मदन चोर—रूपक।
(४) मैं को आहि—पर्यायोक्ति।

राग—बसत।

(२२५)

मानुख तन पायौ बड़ें भाग।
अब बिचारि कें खेलौ फाग॥ टेक॥
बिनु जिभ्या गावै गुन रसाल, बिनु चरनन चालै अधर चाल।
बिनु कर बाजा बजै बेन, निरखि देखि जहँ बिनां नैंन।
बिनु ही मारे मृतक होइ, बिनु जारें होइ खाक सोइ।
बिनु मांगैं ही बस्तु देइ, सो सालिम बाजी जीति लेइ।
बिनु दीपक बरै अखंड जोति, तहां पाप पुन्नि नहिं लगै छोति।
जँह चंद सूर नहिं आदि अंत, तंह कबीर गावै बसंत॥

शब्दार्थ—रसाल = मधुर। अधर = बिना आधार के, शून्य स्थान। बेन = वेणु, वंशी। सालिम (अ०) = पूर्ण। छोति = छूत।

संदर्भ—निर्गुण-निराकार ब्रह्म शरीर मे आत्मा के रूप मे प्रकाशमान है। वही मानव का परमतत्व है। उसी से प्रेम करना चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यह मानव शरीर बडे भाग्य से मिलता है। इसलिए जीव को प्रेमपूर्वक प्रभु से फाग खेलना चाहिए। तात्पर्य यह है कि उल्लास-पूर्वक प्रभु से मिलना चाहिए।

निर्गुण-निराकार आत्म-तत्व विना जिह्वा के मधुर गीत गाता है, विना पैरो के शून्य मे संचरण करता है, विना हाथ के मुरली बजाता है और विना नेत्रो के सब कुछ देखता है। अमर होते हुए भी वह मृत कहा जाता है अर्थात् शरीरान्त होने पर लोग समझते है कि आत्मा मर गया। उसे कोई जला नही सकता। किन्तु शरीर के जलने पर लोग कहते है कि वह भस्म हो गया।

ऐसा परमतत्व जब जीव पर अयाचित अनुग्रह करता है, तब समझिए कि जीव पूर्णत्व को प्राप्त हुआ और उसने जीवन की बाजी जीत ली अर्थात् जीवन सार्थक हो गया।

अन्तरात्मा विना किसी दीपक के स्वय मे एक अखंड ज्योति है। भाव यह है कि वह ज्योति कभी बुझती नही। वहाँ पाप-पुण्य का भी स्पर्श नही हो सकता। पाप-पुण्य जीव के कर्मानुसार होते है। आत्मा इन से परे है। वहाँ न चन्द्र है न सूर्य, न आदि है न अत। कबीर उसी में स्थित है और बसत ऋतु के फाग का आनंद ले रहे है।

तुलनीय—(१) मानुख तन पायो······· ····

बडे भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रथनि गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥

—मानस ७।४३

(२) बिनु जिम्या गावै············

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥

—मानस १।११८

(३) बिनु ही मारे मृतक होइ··· ·· ·····

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे

—श्रीमद्भगवद्गीता २।२०

(५) तहाँ पाप पुन्नि······· ····

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शत समा।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥ (ईशा०)

(५) जहँ चंद सूर नहि ....

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारक ।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि ।।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। (कठो०)

अलंकार—विभावना, विरोधाभास ।

राग—बसत ।

(२२६)

माया तजूँ तजी नहि जाइ ।
फिरि फिरि माया मोहि लपटाइ ।। टेक ।।
माया आदर माया माँन, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियाँन ।
माया रस माया कर जाँन, माया कारनि तजै परान ।
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सबही लोग ।
माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहुँ पासि ।
माया माता माया पिता, असि माया अस्तरी सुता ।
माया मारि करै ब्यौहार, कहै कबीर मेरे राँम अधार ।।

शब्दार्थ—पासि=पार्श्व, ओर । अस्तरी=स्त्री । सुता=पुत्री । असि=अधिक ।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर कहते है कि जीवन मे माया का प्रभाव सर्वव्यापी है। ब्रह्मज्ञान के बिना उससे छुटकारा संभव नही ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मनुष्य माया से इस प्रकार घिरा है कि त्यागने की इच्छा करने पर भी वह छूटती नही । वह पुन. पुनः अपना प्रभाव जमाती है । वह नाना रूपों मे प्रकट होती है । मनुष्य माया के कारण ही आदर और मान चाहता है, उसी के कारण वह स्वाद का दास होता है । माया से सारा जीवन व्याप्त है । माया के कारण ही मनुष्य अपना प्राण त्यागने को भी तैयार हो जाता है । जप, तप, योग आदि का दिखावा भी माया के ही कारण होता है । सभी माया के प्रभाव मे है । ब्रह्म-ज्ञान से ही माया से छुटकारा मिल सकता है ।

जल, थल, आकाश आदि माया के ही परिणाम है । वह सर्वव्यापी है । माता-पिता का सम्बन्ध मायाजन्य है और स्त्री-पुत्री तो माया के अतिशय रूप है । कबीर कहते है कि माया से छुटकारा पाने के लिए मैंने राम का आश्रय ग्रहण किया है । अतः मोह आदि के बधन से परे होकर मैं आचरण करता हूँ ।

टिप्पणी—माया के दो रूप हैं—आवरण और प्रक्षेप। आवरण से चैतन्य-स्वरूप आत्मा के ऊपर अज्ञान का पर्दा पड जाता है और प्रक्षेप के द्वारा सभी तत्त्वों का निर्माण होता है। आदर, मान, विषय, स्वाद आदि की तृष्णा, जप, तप का दिखावा और स्त्री-सुता आदि का मोह आवरण के कारण होता है। जल, थल, आकाश आदि प्रक्षेप के परिणाम हैं।

तुलनीय—मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जँह लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥ —(तुलसी-मानस)

अलंकार—(१) पूरे पद में उल्लेख।
(२) माया तजूँ तजी नहिं जाइ—विशेषोक्ति।

राग—गौरी।

(२२७)

माया महा ठगिनि हंम जांनीं।
तिरगुन फांसि लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी॥ टेक॥
केसव कै कंवला होइ बैठी, सिव के भवन भवांनीं।
पंडा कै मूरति होइ बैठी, तीरथ हू मैं[1] पांनी॥
जोगी कै जोगिनि होइ बैठी, राजा कै घरि[2] रांनीं।
काहू कै जोगिनि होइ बैठी, काहू कै कौड़ी कांनीं॥
भगतां कै भगतिनि होइ बैठी, तुरकां[3] कै तुरकांनीं।
दास[4] कबीर साहब का बंदा, जाकै हाथ बिकांनीं॥

शब्दार्थ—तिरगुन=त्रिगुणात्मक (सत्व, रजस्, तमस् गुणों से युक्त) फासि=फंदा। केशव=विष्णु। कँवला=लक्ष्मी। भवानी=पार्वती। जोगिनि=चेली।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में कबीर ने माया के दो रूपों (मोहिनी रूप और शक्ति रूप) का परिचय दिया है।

व्याख्या—वह कहते हैं कि हम जानते हैं कि माया अत्यंत मोहिनी है। वह सभी को ठग लेती है। वह अपने हाथ में त्रिगुणात्मक फंदा लिए घूमती रहती है और अपनी मोहिनी शक्ति से सबको आकृष्ट करती रहती है। त्रिगुणात्मक फंदा

१. वि०–महँ। २. वि०–घर। ३. वि०–ब्रह्मा के ब्रह्मानी। ४. वि०–कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ अकथ कहानी।

इसलिए कहा गया है, क्योंकि उसका सुख रूप सत्व का द्योतक है राग-द्वेष रूप रजस् का द्योतक है और उसका मोह रूप तमस् का द्योतक है।

इस ठगिनी माया का रूप पडा के लिए देवमूर्ति है और तीर्थस्थान मे जल-रूप है अर्थात् पंडा जो महत्व मूर्ति को देता है और तीर्थयात्री तीर्थजल को देता है, वह सब भ्रामक है। योगी और राजा (भोगी) दोनो उसके मोहिनी रूप के वश में हैं। इसी प्रकार वनी और दरिद्र भी माया रूपी सम्पत्ति के वश मे रहते है।

साधारण तथाकथित वेषधारी साधु और मुल्ला भी माया के वश मे रहकर बाह्याचार मे फँसे रहते है। कबीरदास कहते है कि जो प्रभु का सच्चा सेवक है, माया उसकी दासी है। उसके हाथ वह बिकी रहती है अर्थात् माया उसके वश में है, वह माया के वश मे नही है।

राग—विहागड़ा।

(२२८)

माया मोहे[१] मोहित कीन्हा, ताते ज्ञान रतन हरि लीन्हा।
जीवन ऐसो सपना जैसो, जीवन सपन समाना।
सब्द गुरु उपदेस दियो[२] ते, छाँड़ेउ परम निधाना॥
ज्योतिहि[३] देखि पतंग हूलसै, पसू[४] न पेखै आगी।
काल फांस नर मुग्ध न चेतै,[५] कनक कामिनी लागी॥
सैयद[६] सेख किताब नीरखै, पंडित सास्त्र बिचारै।
सतगुरु के उपदेस बिना ते, जानि के जीवहि[७] मारै।
करु[८] बिचार विकार परिहरु,[९] तरन तारने सोई।
कहैं कबीर भगवंत भजो[१०] नर, दुतिया और न कोई॥

शब्दार्थ—मोहे = मुझको। निधाना = खजाना। हूलसै = उल्लसित होता है। पेखै = देखना, समझना। मुग्ध = अविवेकी। दुतिया = दूसरा।

संदर्भ—माया से मोहित नर चित्त-विकार के वशीभूत होता है और अशुद्ध आचरण करता है। भगवद्भक्ति से ही उसका उद्धार हो सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि माया ने मुझे मोहित कर लिया है। उसके कारण मैं अज्ञान मे पड गया हूँ। फलस्वरूप मेरा ज्ञान रूपी रत्न अपहृत हो गया है। यह जीवन स्वप्नवत् क्षणभंगुर है। सद्गुरु ने जो सारशब्द रूपी उपदेश दिया, मूर्ख

१. शुक० मोहहि, वि०—मोह। २. वि०—दीन्हौ। ३. वि०—जोति। ४. वि०—पसुना। ५. शुक०—चेतहु। ६. वि०—सेख सैयद कितेब, सुम्रिति सास्त्र बिचारि। ७. वि०—जीव मारि। ८. शुक०—कहहु। ९. शुक०—परिहरहु। १० वि०—भजु नल।

जीव ने उस धन को त्याग दिया अर्थात् उसका अनुसरण नही किया। यह जीव पतग के समान विषय रूपी ज्योति से आकृष्ट होता है और पशु के समान विषयाग्नि के कुप्रभाव को समझ नही पाता। अविवेकी मानव काल-फाँस का ध्यान नही रखता और कनक-कामिनी मे आसक्त रहता है। मुसलमानो के धर्मगुरु कुरान आदि में उलझे रहते है और हिन्दुओ के धर्मगुरु शास्त्रो को विचारते रहते है। सद्गुरु के उपदेश के बिना ऐसे धर्म-गुरुओ के प्रभाव से लोग जानबूझकर जीव-वध करते रहते है। कबीर कहते है कि हे लोगो! विचार करके काम, क्रोध, मोह आदि विकारो को छोडो। यही त्याग और विचार स्वयं तरने और दूसरो को तारने का साधन है। हे मानव! भगवान् का भजन करो, क्योंकि उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा साधन नही है। उसीसे तुम्हारा उद्धार होगा।

अलंकार—(१) ग्यान रतन—रूपक।
(२) दूसरी पक्ति में उपमा।
(३) चौथी पक्ति मे रूपकातिशयोक्ति।

(२२९)

मीयां तुम्ह सौं बोल्यां बनि[1] नहिं आवै।
हंम मसकीन खुदाई बंदे तुम्हरा[2] जस मनि भावै॥ टेक॥
अल्लह अवलि दीन को साहिब जोर नहीं फुरमाया।
मुरसिद पीर तुम्हारै है को कहौ कहाँ तैं[3] आया॥
रोजा करै निवाज गुजारै कलमै भिस्ति न होई।
सत्तरि कावे घट[4] ही भीतरि जे करि जांनै कोई॥
खसम पिछांनि तरस करि जिय मैं माल मनीं करि फीकी।
आपा जांनि सांई[5] कौं जांनै तब होइ भिस्ति सरीकी॥
माटी एक भेख धरि नांनां तामैं[6] ब्रह्म समांनां।
कहै कबीरा भिस्ति छोड़ि[7] करि दोजग ही मन मांनां॥

शब्दार्थ—बोल्या=कहने मे। मसकीन (अ० मिस्की)=दीन, असहाय। अवलि (अ० अव्वल)=सर्वप्रथम। दीन (अ०)=धर्म। फुरमाया (अ० फरमान)=आदेश दिया। मुरसिद (अ० मुर्शिद)=गुरु, पथ-प्रदर्शक। मनि=मन में। पीर (फा०)=धर्मगुरु। रोजा (फा० रोज.)=व्रत, उपवास। गुजारै=निवेदन करना। निमाज (अ० नमाज)=मुसलमानो की ईश्वर-प्रार्थना। कलमै (अ० कलमा)=

१. ना० प्र०– बणि नहीं। २. तिवारी–तुम राजस। ३. ना० प्र०–थैं। ४. ना० प्र०–इक दिल। ५ तिवारी–और। ६. ना० प्र०– सब मैं। ७. ना० प्र०–छिटकाई।

मुस्लिम धर्म का मूलमन्त्र। भिस्ति (फा० बिहिश्त)=स्वर्ग। काबा (अ०)= मक्के की एक पूज्य इमारत। खसम (अ०)=स्वामी। पिछानि=पहचान करके। तरस=करुण, दया। मनी=मणि। फीकी=मन्द। साँईं=ईश्वर। सरीकी (अ० शरीक)=सम्मिलित होना। माटी=मिट्टी, उपादान कारण। भेख=वेश, रूप, रूपात्मक योनियाँ। दोजग (फा० दोजख़)=नरक।

संदर्भ—इस पद में मुस्लिम सम्प्रदाय के कट्टरपन और रूढिवादिता का विरोध करते हुए कबीर ने यह प्रतिपादित किया है कि सभी जीवों मे एक ही ब्रह्म समान रूप से परिव्याप्त है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे मुल्ला! तुमसे कुछ कहते नही बनता अर्थात् तुमसे क्या कहे? हम तो दीन, असहाय हैं और ईश्वर के सेवक है। तुम हमको चाहे जो समझो।

प्रभु तो मूलतः दीनबन्धु है, दीनों का स्वामी हैं। उसने किसी पर अत्याचार करने की आज्ञा नही दी। यदि यह कहते हो कि विधर्मियो के वध का आदेश धर्म-गुरुओ और महात्माओ से मिला है तो यह बताओ कि तुम्हारे ये धर्मगुरु और पथ-प्रदर्शक है कौन और कहाँ से आए है? व्रत-उपवास करने से, नमाज पढने से और कलमा से स्वर्ग नही मिलता। यदि कोई ठीक समझने की चेष्टा करे तो स्पष्ट हो जायगा कि प्रत्येक मानव के भीतर ही अनेक काबे विद्यमान है। वस्तुतः तुम स्वर्ग मे तभी सम्मिलित हो सकते हो अर्थात् उसके पात्र तभी बन सकते हो, जब अपने स्वामी को पहचानो, हृदय मे दया का भाव जाग्रत करो, सांसारिक ऐश्वर्य और वैभव को तुच्छ समझो तथा अपने स्वरूप और भगवान् को पहचानो। जगत् की उत्पत्ति का मूल उपादान कारण एक ही पार्थिव तत्व हैं। उसी तत्व से नाना प्रकार के रूप निर्मित हुए है और सब मे एक ही ब्रह्म समान रूप से व्याप्त हैं। कबीर कहते हैं कि इस परम-तत्व के रहस्य का ज्ञान होने पर मेरे लिए स्वर्ग-नरक समान हो गए है। मेरे लिए दोनो मे भेद नही रह गया है।

राग—आसावरी!

(२३०)

मुल्ला[१] कहहु निआउ खुदाई।
इहि बिधि जीव का भरम न जाई॥ टेक॥
सरजी आँनैं देह बिनासै माटी बिसमिल कीआ[२]।
जांति सरूपी हाथि न आया कहौ हलाल क्यूँ[३] कीआ॥

१. ना० प्र०—करि ल्यो न्याव। २. ना० प्र०—कीता। ३. ना० प्र०—क्या कीता।

वेद कतेब कहहु मत[1] झूठे झूठा जो[2] न बिचारै।
सभ घटि एक[3] एक करि लेखै[६] भै[४] दूजा करि मारै॥
कुकड़ी मारै बकरी मारै हक्क हक्क करि बोलै।
सबै जीव सांई के प्यारे उबरहुगे किस बोलै॥
दिल नापाक[५] पाक नहिं चीन्हां तिसका[६] मरम न जांनां।
कहै कबीर भिसति छिटकाई दोजग ही मन मांनां॥

शब्दार्थ—निआउ=न्याय। खुदाई=ईश्वरीय। सरजी=रची हुई, बनाई हुई। माटी=काया। बिसमिल (फा० बिस्मिल)=बलि देना। हलाल (अ०)= विधि विहित, जबह किया हुआ। भै=भेव, भेद, जीव से भिन्न। कुकड़ी=कुक्कुटी, मुर्गी। हक्क (अ० हक)=सत्य, ईश्वर। किस बोलै=क्या बोलकर, किस मुँह से (मुहा०)। उबरहुगे=उद्धार होगा। नापाक (फा०)=अपवित्र। पाक (फा०)= पवित्र, शुद्ध। भिसति (अ० बिहिश्त)=स्वर्ग। छिटकाई=छोड़ दिया। दोजग (फा० दोजख)=नरक।

संदर्भ—इस पद मे धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा का विरोध किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे मुल्ला! तुम ही ईश्वरीय न्याय, सच्चा न्याय कर दो। तुम्हारे इस प्रकार के वाह्याचार से जीव का भ्रम नही जा सकता है। तुम ईश्वर द्वारा सृष्ट जीव को लाकर उसकी काया को विनष्ट करते हो, उसका वध करते हो। ऐसे बलिदान से तुम उस ज्योतिस्वरूप आत्मतत्व को नही प्राप्त कर सके, जिस विश्वास से तुमने धर्म के नाम पर तथाकथित विहित बलिदान किया। फिर तुम्हे क्या लाभ हुआ?

हिन्दू और मुसलमान दोनो धर्मग्रन्थो की दुहाई देकर पशुबलि को विहित और धर्मसम्मत सिद्ध करते है, किन्तु वास्तव मे वे ग्रन्थो के मर्म को समझ न सके। ग्रन्थ झूठे नही है, झूठा वह है जो उनके वास्तविक भाव पर विचार नही करता। उनका तात्पर्य अपने पशुत्व का वध करना है। लोग इसे न समझकर पशु का वध कर डालते है।

जब तुम यह मानते हो कि सभी शरीरो मे एक ही परमात्मा समान रूप से विद्यमान है तो फिर भेद करके, उनको दूसरा समझकर क्यो मारते हो? तुम ईश्वर के नाम पर मुर्गी और बकरी का वध करते हो। सभी जीव प्रभु को समान रूप से

१ ना० प्र०–क्यूँ। २. ना० प्र०–जोनि। ३ ना० प्र०–जाँनै। ४. ना० प्र०–भी। ५. ना० प्र०–नही पाक। ६. ना० प्र०–उमदा षोजन जाँनाँ।

प्रिय है। फिर तुम जीव-हिंसा करके किस मुँह से निस्तार पाओगे। तुम समझते हो कि ईश्वर या धर्म के नाम पर वध किया गया पशु पाक (पवित्र) हो जाता है। वस्तुतः तुम्हारा हृदय नापाक (अपवित्र) है। तुम पवित्रता का मर्म ही न समझ सके। कबीर कहते है कि तुम्हारे इस आचरण से स्वर्ग छूट गया और तुम्हारा मन नरक मे ही रम गया अर्थात् तुम नरक के पात्र बन गए।

राग—गौरी।

(२३१)

मेरी जिभ्या बिस्नु नैंन नाराइन हिरदै बसहि[1] गोविंदा।
जम दुवार जब लेखा[2] मांगै तब का कहसि मुकुन्दा ॥ टेक ॥
तूं ब्रांह्मन मैं कासी क[3] जोलहा चीन्हि न मोर गियाना।
तैं सब मांगे भूपति राजा मोरे राम धियांनां ॥
पूरब जनम हम बाह्मन होते ओछे करम तप हीनां।
रामदेव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीन्हां ॥
हमं[4] गोरू तुम गुआर गुसांईं जनम जनम रखवारे।
कबहुँ न पार उतारि चराएहु कैसे खसम हमारे ॥
भौ बूड़त कछु उपाइ करीजै ज्यौं तिरि लंघै तीरा।
रांम नांम जपि[5] भेरा बांधौ कहै उपदेस कबीरा ॥

शब्दार्थ—जिभ्या=जिह्वा। लेखा=हिसाब। मुकुन्दा=विष्णु। गोरू=पशु। गुआर=ग्वाला। गुसाईं=प्रभु। भेरा=वेडा, नौका।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने यह बताया है कि मनुष्य कर्म से तथा प्रभु-भक्ति से श्रेष्ठ होता है, जन्म से नही।

व्याख्या—वह कहते है कि मेरे रोम-रोम मे ईश्वर का वास है। मेरी जिह्वा मे विष्णु, नेत्रो मे नारायण और हृदय मे गोविंद बसते हैं। अपने को श्रेष्ठ समझने वाले लोगो! तुम केवल जाति-विशेष मे जन्म के आधार पर अपने को श्रेष्ठ कहते हो, किन्तु तुम्हारे हृदय मे प्रभु की भक्ति नही है। जब तुमसे यम के दरबार मे इस

---

१. न० प्र०—जपौ। २. ना० प्र०—मांग्या। ३ ना० प्र०—का जुलाहा। ४. ना० प्र० की प्रति में इन दो पंक्तियों के स्थान पर निम्नलिखित पंक्तियाँ है—

नौंमी नेम दसमी करि संजम, एकादसी जागरणां।
द्वादसा दांन पुनि की वेला, सर्व पाप छ्यौ करणां ॥

५. ना० प्र०—लिखि

जन्म के कर्मो का हिसाव माँगा जाएगा, उस समय विष्णु को पुकारने से क्या लाभ होगा ?

तुम ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए हो और मैं काशी का साधारण जुलाहा हूँ। तुमने मेरे ज्ञान को नही पहचाना है। तुम राजाओ से दान-दक्षिणा की भीख माँगते रहते हो और मैं किसी से कुछ नही माँगता, केवल प्रभु के ध्यान मे लगा रहता हूँ।

मनुष्य कर्म से श्रेष्ठ होता है, जन्म से नही। मैं भी पूर्व जन्म में ब्राह्मण था जो कि श्रेष्ठ समझा जाता है, किन्तु मेरे कर्म अच्छे नही थे। मैं भगवान् की भक्ति न कर सका। इसलिए इस जन्म मे जुलाहा परिवार में जन्म लेना पड़ा। कर्म की ही प्रधानता है, जन्म की नही। अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हम पशु सदृश है और हमारे जन्म-जन्म के रक्षक प्रभु ग्वाले के समान है। हृदय में यही भाव उत्पन्न होता है कि हे प्रभु ! तुम कैसे स्वामी हो कि इस गऊ को भव-सागर पार कराकर कभी न चराया। अव तो यही प्रार्थना है कि इस भव-सागर में डूबते हुए मेरे लिए कुछ ऐसा उपाय कीजिए कि मैं तैरकर उस पार पहुँच जाऊँ। कबीर का केवल यही उपदेश है कि हे जीवो ! राम नाम के जप की नौका पकड़ो। इसी से इस भव-सागर से पार हो सकोगे।

अलंकार—वक्रोक्ति।

राग—आसावरी।

(२३२)

मेरी मति बउरी मै[1] रांम विसार्‌यौ केहि विधि रहनि[2] रहउँ रे।
सेजै रमत[3] नैन नहिं पेखउँ यहु दुख कासौं कहउँ[4] रे॥ टेक॥
सासु की दुखी ससुर की पिआरी जेठ कै तरसि डरउँ रे।
ननद सुहेली गरव गहेली देवर कैं बिरहि जरउँ[5] रे।
बापु सावका करैं लराई माया सद मतवारी।
सगौ भईआ लै सलि चढ़िहूँ तब हौं[6] नाह पिआरी।
सोचि विचारि देखौं मन मांहीं औसर आइ बन्यौं रे।
कहै कबीर सुनहु मति सुंदर राजा रांम रमौं रे॥

शब्दार्थ—रहनि रहउँ=जीवन यापन करना। पेखउँ=देखना। सासु=(प्र० अ०) अस्मिता, मैं हूँ पन। ससुर=(प्र० अ०) अविद्या। जेठ=(प्र० अ०)

१. ना० प्र०-में 'मै' नहीं है। २. ना० प्र०-रहू हो दयाल। ३. ना० प्र०-रहू। ४. ना० प्र०- कहूँ हो दयाल। ५ ना० प्र०- जरौं हो दयाल। ६. ना० प्र०-है हूँ पीयहि।

द्वेष । तरसि=त्रास, भय । ननद=(प्र० अ०) मोह । सुहेली=सहेली, सखी । गहेली=हठी । देवर=(प्र० अ०) राग । बापु=(प्र० अ०) अभिनिवेश । सावका=उत्पादक । सद=सदा । भईआ=भाई (प्र० अ०) वासना । सलि= चिता । नाह=नाथ, प्रिय ।

संदर्भ—मनुष्य अविद्या के कारण दु खी रहता है और संसार मे बार-बार जन्म लेता है । अहकार और वासना के त्याग से ही मुक्ति मिल सकती है ।

व्याख्या – कबीर कहते है कि मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है । मैंने राम को भुला दिया है । अत मै जीवनयापन कैसे करूँ ? मेरा प्रिय इसी शरीर मे है । मैं उसी के साथ नित्य विहार करती हूँ । लेकिन दुःख इस बात का है कि फिर भी नेत्रों से उसका दर्शन नही हो पाता । मै यह दु ख किससे कहूँ ?

मैं अविद्या (ससुर) की प्रिय हूँ, अस्मिता (सासु) मुझे दु ख पहुँचाती है और द्वेप (जेठ) के कारण मै निरन्तर भयभीत रहती हूँ । मोह (ननद) मेरी अभिमानिनी, हठीली सखी है और मैं राग (देवर) के विरह से तप्त रहती हूँ अर्थात् राग की इच्छा बनी रहती है ।

मेरा उत्पादक अभिनिवेश (बाप) अपने अधिकार के लिए नित्य झगड़ा करता रहता है और मतवाली माया सदा साथ बनी रहती है । मै वासना (सगा भाई) को लेकर चिता पर चढ़ूंगी, तभी प्रियतम की प्यारी बन सकूँगी अर्थात् वासना और अहकार के विनष्ट होने पर ही प्रियतम से मिलन हो सकेगा । कबीर कहते है कि मन में विचार करके देखो कि जीवन का काफ़ी समय नष्ट हो गया है । अब चेतो, समय आ गया है । हे मेरी बुद्धि ! तू सुन । अन्य सभी आकर्षणो को छोड़कर, तू भगवान् का भजन कर । इसी से तेरा कल्याण होगा ।

तुलनीय—

ईस्वर अंस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥
सो मायबस भयउ गोसाई । बँध्यो कीर मरकट की नाई ॥

—(तुलसी-मानस ७।११७)

× × ×

अंतर मैं वासी पै प्रवासी को सो अतर है,
मेरी न सुनत, दैया आपनीयौ ना कहौ ।

—घनानंद

अलंकार—(१) सेजै रमत नैन नहिं पेखउँ—विरोधाभास, विशेषोक्ति ।

राग—आसावरी ।

(२३३)

मेरी मेरी करतां जनम गयौ।
जनम गयौ परि[1] हरि न कह्यौ ॥ टेक ॥
बारह बरस बालपन खोयौ बीस बरस कछु तप न कियौ।
तीस बरस तैं[2] रांम न सुमिर्‌यौ फिरि पछितांनां[3] बिरिध भयौ ॥
सूखे सरवरि पालि बंधावै लूनें[4] खेति हठि बारि[5] करै।
आयौ चोर तुरंगहि[6] लै गयौ मोहड़ी[7] राखत मुगध फिरै ॥
सीस चरन कर कंपन लागे नैन नीरु असराल वहै।
जिभ्या बचन सूध नहि निकसै तब सुक्रित[8] की बात कहै ॥
कहै कबीर सुनहु रे संतौ धन संच्यौ कछु संगि न गयौ।
आई तलब गोपालराइ की माया[9] मंदिर छांडि चल्यौ ॥

शब्दार्थ—मेरी मेरी=ममत्व। बिरिध=वृद्ध। पालि=बाँध। लुनैं=कटे हुए। बारि=बाड। तुरगहि=अश्व को। मोहड़ी=घोड़े के मुख पर पहनाया जाने वाला साज। मुगध=मूर्ख। असराल=(अ०—अस्रार) लगातार, बेरोक। सुक्रित=सुकृत, पुण्यकार्य। सूध=शुद्ध। तलब(अ०)=बुलावा। सच्यौ=सग्रह किया।

संदर्भ—शरीर में शक्ति रहते हुए प्रभु का भजन और साधना करनी चाहिए। वृद्धावस्था आने पर साधना की क्षमता नही रह जाती, तब पछताने से कोई लाभ नही।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मानव का सारा जीवन अहता और ममत्व मे ही बीत जाता है, किन्तु वह हरि का सुमिरन नही करता। बाल्यकाल के बारह वर्ष अज्ञान मे बीत जाते है, धीरे-धीरे जीवन का बीसवाँ वर्ष आ जाता है, फिर भी व्यक्ति कोई साधना नही करता। तीस वर्ष की आयु होने पर भी जीव प्रभु का सुमिरन नही करता। वृद्ध होने पर वह पछताता है कि सारा जीवन व्यर्थ गया।

जो व्यक्ति समय पर रक्षा के लिए उपयुक्त साधन का उपयोग नही करता, वह उस मूर्ख के समान है जो सरोवर के सूख जाने पर बाँध बाँधता है, खेत के कट जाने पर बाड लगाता है अथवा चोर के द्वारा घोड़े की चोरी कर लिए जाने पर उसका स्वामी मोहरा लिए इधर-उधर घूमता है। वृद्धावस्था आने पर जब हाथ, पैर और सिर काँपने लगते है और आँखो से लगातार पानी बहने लगता है, जिह्वा से शुद्ध

१. ना० प्र०-पर। २. ना० प्र०-कै। ३. ना० प्र०-पछितानौ। ४. ना० प्र०-लुणै। ५. ना० प्र०-बाडि। ६ ना० प्र०-तुरंग मुसि। ७. ना० प्र०-मोरी। ८. ना० प्र०-सुकरित। ९. ना० प्र०-मैंड़ी।

शब्द नही निकलते, तब पुण्य की बाते करता है। कबीर कहते है कि हे संतो! सुनो। मानव जीवन भर धन का संचय करता रहता है। परन्तु अंत समय कुछ भी साथ नही जाता। जब प्रभु का बुलावा आता है अर्थात् मृत्यु आने पर वह घर-द्वार, संपत्ति आदि छोडकर संसार से कूच कर जाता है।

अलंकार—पाँचवी-छठी पंक्तियों मे दृष्टान्त।

राग—आसावरी।

(२३४)

मेरो हार हिरॉनौं मैं लजाऊँ।
सास दुरासनि पीव डराऊँ॥ टेक॥
हार गुह्यौ मेरो रॉम ताग, बिचि बिचि मान्यक एक लाग।
रतन प्रवालै परम जोति, ता अंतरि अंतरि लागे मोति।
पंच सखी मिलिहैं सुजांन, चलहु त जईये त्रिबेनी न्हान।
न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, नॉ जानूँ हार किनहूँ लीन्ह।
हार हिरॉनौ जन विमन[1] कीन्ह, मेरो आहि परोसिनि हार लीन्ह।
तीन लोक की जानै पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर॥

शब्दार्थ—हार=(प्र०अ०) ईश्वरोन्मुखी वृत्ति। सास=(प्र०अ०) बोध। दुरासनि=दुराशय, कठोर। पीउ=परमात्मा। मान्यक=माणिक्य (प्र०अ०) प्रेम व प्रपत्ति। प्रवाल=मूँगा (प्र०अ०) भक्ति। मोति=मोती, (प्र०अ०) ज्ञान। पंच सखी=(प्र०अ०) पच ज्ञानेन्द्रियाँ। मिलिहै=मिली हुई। जईये=चलें। त्रिवेनी=(प्र०अ०) त्रिगुणात्मक विषय। तिलक=(प्र०अ०) विपय सुख। विमन=दु खी। परोसिनि=(प्र०अ०) विषयासक्ति।

संदर्भ—सामान्यत. प्रत्येक व्यक्ति मे ईश्वर के प्र त अनुराग का बीज विद्यमान रहता है। '(अ) हं सः' की अनाहत ध्वनि के रूप मे वह निरन्तर ध्वनित होता रहता है, किन्तु जीव का ध्यान उधर नही जाता। सासारिक विषयो के आकर्षण के कारण वह बीज अकुरित नही होने पाता। इसी ईश्वरोन्मुखी वृत्ति को इस पद मे 'हार' कहा गया है। साधक को प्रेयसी और परमात्मा को पति का प्रतीक माना गया है। उक्त 'हार' के खो जाने से प्रेयसी अपने प्रिय के निकट जाने मे लज्जा का अनुभव करती है।

व्याख्या—वह कहती है कि मेरा ईश्वरोन्मुखी वृत्ति रूपी हार खो गया है। अतः मै लज्जा से ग्रस्त हूँ। मैं कौन सा मुख लेकर प्रियतम के समक्ष जाऊँ? बोध

---

१. ना० प्र०–विमल।

रूपी सासु बहुत ही कठोर है और परमात्मा रूपी प्रियतम से भय लगता है, क्योंकि उक्त हार प्रियतम का ही दिया हुआ था अर्थात् अनुराग की वृत्ति उसी प्रभु के अनुग्रह से प्राप्त थी और विषयो के प्रलोभन से मैं उसे खो बैठी।

वह हार राम नाम के धागे से गुँथा हुआ था। उसमे बीच-बीच में प्रेम का माणिक्य लगा हुआ था। माणिक्य का रंग लाल होता है और अनुराग का रंग भी लाल माना गया है। उसमे परम ज्योतिस्वरूपा भक्ति रूपी मूँगे का रत्न भी जुडा हुआ था तथा कुछ-कुछ अन्तर से ज्ञान रूपी मोती लगे हुए थे। मोती श्वेत वर्ण का होता है। ज्ञान को भी श्वेत वर्ण का माना गया है।

जीव को पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूपी चतुर सखियाँ मिलती है और प्रस्ताव करती है कि चलो त्रिवेणी मे (त्रिगुणात्मक विषय) स्नान करने चलें। जीव उनके बहकावे मे आ जाता है और सासारिक विषयो मे आसक्त होकर भोगो में डूब जाता है। विषयो के प्रति आसक्ति त्रिवेणी मे स्नान हैं और उसका भोग ही तिलक (शृंगार) हैं। इसी विषयासक्ति के कारण जीव मे निहित ईश्वरोन्मुखी वृत्ति रूपी हार खो जाता है और उसे इसका ज्ञान भी नही रहता है। इसी तथ्य को कबीर इन शब्दो मे व्यक्त करते है कि स्नान करते समय मेरा हार न जाने किसने ले लिया ? हार के खो जाने से साधक जीव का मन व्यथित हो उठता है और वह बिलखकर कहता है कि कुबुद्धि रूपी पडोसिन ने मेरा हार झटक लिया है। कबीर कहते है कि सब देवो के शिरोमणि प्रभु ! आप तीनो लोको की व्यथा को भलीभाँति जानते है। अत. मेरी व्यथा को भी जानते हुए कृपाकर ईश्वरोन्मुखी वृत्ति को मेरे भीतर पुन. जाग्रत कर दीजिए।

तुलनीय—सखी एक तेइँ खेल न जाना। भइ अचेत मनि हार गवाँना ॥
कँवल डार गहि भै बेकरारा ! कासौ पुकारौ आपन हारा ॥
कत खेलै आइउँ एहि साथाँ। हार गँवाइ चलिउँ लेइ हाँथा ॥
घर पैठत पूँछब यह हारू। कौन उतर पाउबि पैसारू ॥
—पद्मावत—मानसरोदक खण्ड ४।७

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—बसंत।

(२३५)

मै[1] कातौं हजारी क सूत।
चरखुला जिनि जरै॥ टेक॥

१. वि०—जो चरखा (है) जरिजाय, बढैया ना मरै, (मैं) कातौं सूत हजार, चरखुला जनि जरै।

प्रथमहिं[1] नगर पहूँचते परिगो सोक संताप।
एक अचंभौ देखिया बिटिया ब्याही बाप॥
बाबुल[2] मेरा ब्याह करि बर[3] ऊतिम लै आइ।
जब लग बर[4] पावै नहीं तब लग तूँही ब्याहि॥
समधी कै घरि लमधी आए आए बहू कै भाइ।
चूल्हैं[5] अगिनि बुताइ करि चरखा दियौ दिढ़ाइ॥
जौ[6] चरखा जरि जाइ बढ़ैया ना मरै।
सब[7] रांडनि कौ साथ चरखुला को धरै॥
कहै कबीर सो पंडित ग्यानीं जो या पदहिं बिचारै।
पहिलै परचै गुर मिलै तौ पाछैं सतगुर तारै॥

शब्दार्थ—हजारी क सूत=सूक्ष्म या बारीक वस्त्र (प्र० अ०) नाना प्रकार के कर्म। चरखुला=चरखा (प्र० अ०) शरीर। जरै=जलना, नष्ट होना। नगर=(प्र० अ०) शरीर। बिटिया=पुत्री (प्र० अ०) अविद्या। बाप=पिता (प्र० अ०) जीव। बाबुल=पिता (प्र० अ०) गुरु। ब्याह=विवाह (प्र० अ०) देवता से सम्बन्ध कराना। घरि=घर मे (प्र० अ०) हृदय मे। समधी=सम+धी=विवेक-बुद्धि। लमधी=समधी का पिता (प्र० अ०) अविवेक। बहू कै भाइ=(प्र० अ०) कुविचार। चूल्हैं=(प्र० अ०) अन्तःकरण। अगिनि=अग्नि (प्र० अ०) ज्ञानाग्नि। दिढ़ाइ=दृढ कर दिया। बढइया=बढ़ई (प्र० अ०) कर्त्ता, ईश्वर। रांडनि=वास्तविक पति को भुला देने वाला जीव।

संदर्भ—इस पद में बताया गया है कि अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् शुद्ध चैतन्य को भुलाकर जीव अविद्याग्रस्त होकर बार-बार जन्म-मरण के चक्र मे पडना रहता है। केवल सद्गुरु ही इससे उसका उद्धार कर सकते हैं।

व्याख्या—अविवेकी जीव कहता है कि मेरा यह शरीर रूपी चरखा सदा बना रहे जिससे इसके द्वारा मैं बारीक सूत कातता रहूँ अर्थात् नाना प्रकार के कर्म करता रहूँ।

इस संसार मे जन्म लेते ही जीव शोक-संताप मे फँस गया। कन्या के विवाह के रूपक द्वारा जीव की इस स्थिति का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं कि मैंने एक

१. तिव री-जल जाई थल अपनी आई नगर मैं आप। २. वि०—बाबा मोर। ३. वि०-अच्छ वरहिं तकाव। ४. वि०—अच्छा वर ना मिलै। ५. वि०—गोडे चुल्हा दै दै। ६. वि०-सब जग ही मरि जाइयौ एक बढइया जिनि मरै, वि०—देवलोक मरि जायेंगे। ७ वि०—यह मन-रंजन कारने, चरखा दियो दिढाइ। कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, चरखा लखै जो कोय। जो यह चरखा लखि परै, आवागवन न होय॥

आश्चर्य देखा कि पिता ने पुत्री से विवाह कर लिया अर्थात् जीव ने अविद्या का वरण कर लिया। अविद्याग्रस्त जीव कहता है कि हे पिता (गुरु बाबा) मेरा विवाह करके उत्तम वर ले आओ और जब तक उत्तम वर नही मिलता है, तब तक तुम स्वयं विवाह कर लो अर्थात् मेरा किसी अच्छे देवता से सम्बन्ध करा दो और जब तक देवता से सम्बन्ध नही करा पाते, तब तक अपने से ही मेरा सम्बन्ध बनाये रहो।

विवेक (समधी) के स्थान पर लमधी (अविवेक) ने अपना अड्डा जमा लिया और अज्ञानी जीव (वधू) के भाई (कुविचार) भी आकर जम गए। अविवेक और कुविचार ने अन्तःकरण (चूल्हे) में स्थित सहज ज्ञानाग्नि को ढक दिया और इस प्रकार चरखा अर्थात् देहात्म-भाव को दृढ कर दिया।

अज्ञानी जीव यह नही समझ पाता कि देह आत्मा नही है, देह रूपी चरखा नष्ट हो जाता है, किन्तु उसका कर्त्ता (बढइया) नाशवान नहीं है। अपने वास्तविक पति को भुला देने वाले जीव (रांड़) में जब तक देहात्म-भाव रूपी अज्ञान विद्यमान है, तब तक उसको (जीव को) लेकर अन्तरात्मा बराबर शरीर (चरखा) धारण करता रहता है।

कबीर कहते है कि वही पण्डित अर्थात् शास्त्र को जानने वाला सच्चा ज्ञानी है जो इस पद के रहस्य को समझता हो। पहले गुरु से परिचय हो जाय अर्थात् वास्तविक गुरु की प्राप्ति हो जाय, तब वह सद्गुरु जीव को जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा दिला सकता है।

अलकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(२३६)

मै[1] कासे कहौं को सुने पतिआय, फुलवा के छुअत भँवर मरि जाय।
गगन मंडल[2] मँह फुल एक फूला, तर भौ डार उपर भौ मूला।
जोतिये न बोइये सिंचिये[3] न सोई, डार[4] पात बिनु फुल एक होई।
फुल भल फुलल मलिनि भल गांथल, फुलवा बिनसि गो[5] भवँर निरासल।
कहै कबीर सुनो संतो भाई, पंडित जन फुल रहल लोभाई॥

शब्दार्थ—पतिआय = विश्वास करे। फुलवा = पुष्प (प्र० अ०) भोग्य विषय, पदार्थ। भँवर = (प्र० अ०) जीव। मरि जाय = नष्ट हो जाता है। गगन मँडल =

---

१. वि०—कासों कहौं को सुने का पतियाय। २. श०—मंदिल विच। ३. वि०—सिंचिय न सोय। ४. वि०—बिनु डार बिनु पात फूल एक होय। ५. वि०—गैल।

ब्रह्मरन्ध्र । मालिनि=(प्र० अ०) माया । गाथल=गूँथती है, सँवारती है । निरासल=निराश हो गया । पडित जन=शास्त्रज्ञ पडित ।

संदर्भ—संसार रूपी वृक्ष मे विकसित विषय रूपी पुष्प से आकृष्ट होकर जीव रूपी भ्रमर नष्ट हो जाता है । उससे अलग रहने पर ही जीव का कल्याण है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मै किससे कहूँ, मेरी कौन सुनेगा और यदि सुनेगा भी तो कौन विश्वास करेगा ? आश्चर्य की बात है कि पुष्प का स्पर्श करते ही भ्रमर की मृत्यु हो जाती है । यहाँ पुष्प विषय का प्रतीक है, भ्रमर जीव का और स्पर्श भोग का । तात्पर्य यह है कि विषयो के भोग से जीव नष्ट हो जाता है ।

यह पुष्प ऐसे वृक्ष (संसार) मे लगा है जिसका मूल ब्रह्माण्ड में है और शाखाएँ नीचे संसार मे है । यह बिना जोते, बिना बोए तथा बिना सीचे होता है । इसमे न शाखाएँ है, न पत्तियाँ । फिर भी इसमे फूल लगते है अर्थात् यह वृक्ष मनुष्य रूपी माली की सृष्टि नही है । संसार रूपी वृक्ष मे विषय रूपी पुष्प सशोभित होते है । माया रूपी मालिन काम रूपी धागे मे इन पुष्पो की माला गूँथती है । ये सुन्दर एवं आकर्षक विषय रूपी पुष्प विनश्वर है । उनके नष्ट होने पर जीव रूपी भ्रमर निराश हो जाता है । जो लोग केवल शास्त्र-ज्ञान के बल पर पंडित बने है, वे इन आकर्पक विषय-पुष्पों से छुटकारा नही पा सकते । वे इनमे फँसे रहते है । केवल साधक ही इनसे छुटकारा पा सकता है ।

तुलनीय—(१) कठोपनिषद् मे भी ससार-वृक्ष का इसी प्रकार वर्णन मिलता है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखः । (२।६।१)

(२) गीता मे भी कहा गया है कि संसार रूपी पीपल के वृक्ष का मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचे है । वेद उसके पत्ते हैं । जो इस संसार-वृक्ष को जान लेता है, वही ज्ञानी है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥
(१५।१)

अलंकार—विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, रूपकातिशयोक्ति ।

(२३७)

मैं सबहिन्ह महिं[1] औरनि मैं हूँ सब,
मेरी बिलगि बिलगि बिलगाई हो ।
कोई कहौ कबीर कोई कहौ राम राई हो ॥ टेक ॥

---

१. ना० प्र०—गुप्त—सबनि मैं ।

नां हम बार बूढ़ नांही हम ना हमरै चिलकाई हो।
पठएँ न जाउँ अनवां[1] नहि आऊँ सहजि रहूँ दुनियाई[2] हो।
ओढ़न हमरै एक पछेवरा लोक बोलैं इकताई हो।
जोलहै तनि बुनि बांन[3] न पावल फारि बिनैं[4] दस ठांई हो।
त्रिगुण रहित फल रंमि हम राखल तब हमरो नाउँ रांम राई हो।
जग मैं देखौं जग न देखै मोहि इहि कबीर किछु पाई हो॥

शब्दार्थ—ओरनि = अन्य सब कुछ। बिलगि बिलगि = अलग-अलग। कबीर (अ०) महान्, श्रेष्ठ। राई = राजा। बार = बाल। चिलकाई = आभा, चमक (ला० अ०) युवावस्था। अनवा = लाने पर। पछेवरा = चादर (प्र० अ०) शरीर। इकताई = अद्वितीयता। बान = बनावट, सजधज। ठाई = स्थान। पाई = उपलब्धि।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में कबीर ने सबमें व्याप्त द्रष्टा-चैतन्य के स्वरूप की ओर संकेत किया है।

व्याख्या—मैं (चैतन्य) सबके भीतर विद्यमान हूँ और अन्य सब कुछ मैं ही हूँ। परन्तु मुझे लोग भिन्न-भिन्न पदार्थों मे पृथक्-पृथक् समझते है। उस आन्तरिक चैतन्य की उत्कृष्टता के कारण कुछ लोग 'महान्' अथवा 'श्रेष्ठ' कहते हैं और ऐश्वर्य के कारण कुछ लोग उसे 'राजा राम' कहते हैं।

अवस्था परिणाम आदि शरीर का है, मेरा नही। सांसारिक क्रिया भी शरीर की है, मेरी नही। मैं न तो बालक हूँ, न वृद्ध और न कान्तियुक्त युवक। मैं न कहीं भेजा जा सकता हूँ, न लाया जा सकता हूँ। मैं समस्त ससार में सहज अवस्था अर्थात् एक चैतन्य रूप मे विद्यमान रहता हूँ।

ससार मे ओढ़ने के लिए मैंने एक शरीर रूपी चादर को ग्रहण कर रखा है। लोग मुझे अपने ढग का अकेला कहते है। परमात्मा रूपी जुलाहा ताना-बाना से बनी हुई शरीर रूपी चादर की पूर्ण सजधज न कर पाया। उसने उसके दस टुकड़े (दस इन्द्रियाँ) करके पुनः जोड़ दिया।

मेरा ऐसा ऐश्वर्य है कि त्रिगुणात्मक जगत् मे रमण करते हुए भी मै स्वरूपतः त्रिगुण रहित रहता हूँ। इसीलिए मुझे लोग 'राम राजा' कहते है। मैं सारे ससार का द्रष्टा हूँ, किन्तु ससार का मै दृश्य नही हूँ। मैं सदा द्रष्टा रूप मे ही विद्यमान रहता हूँ। कबीर कहते है कि मुझे इसी अद्‌भुत ज्ञान की उपलब्धि हुई है।

अलंकार—विरोधाभास।

राग—गौरी।

---

१. ना० प्र०–गुप्त–अंरवा। २. ना० प्र०–गुप्त–दरिआई। ३. ना० प्र०–पानि, तिवारी–पांन। ४ ना० प्र०–बुनी।

(२३८)

मैं सासुरे[1] पिय गौहनि आई ।
सांई संगि साध नहिं पूजी[2] गयौ जोबन सुपिनैं[3] की नांई ॥ टेक ॥
पांच जनां मिलि मंडप छायौ चारि[4] जनां मिलि लगन लिखाई ।
सखी सहेली मंगल गावैं सुख दुख माथैं हलदि चढ़ाई ।
नांनां रंगै भांवरि फेरी गांठि जोरि बावै पतियाई[5] ।
पूरि सुहाग भयौ बिनु दूलह चौकै[6] रांड भई संग सांई ।
अपनैं पुरिख मुख कबहूं न देख्यौ सती होत समधी[7] समझाई ।
कहै कबीर हौं[8] सर रचि मरिहौं तरौं कंत लै तूर बजाई ॥

शब्दार्थ—सासुरे=श्वशुरालय (प्र० अ०) संसार । गौहनि=संग, साथ (कीन्ह्यो बहुतेरो कहूँ फिरत न फेरो, मेरो मन मनमोहन के गोहन फिरतु है—रस सारांश) साव= कामना, इच्छा । साँईं=प्रभु, चैतन्य । पाँच जना=(प्र० अ०) पंच तत्व (पृथ्वी, जल, पावक, गगन, समीर) । चारि जनां=(प्र० अ०) अन्त करण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) । सखी सहेली=(प्र० अ०) इन्द्रियाँ । भाँवरि=अग्नि की परिक्रमा (प्र० अ०) भ्रम । गाँठि जोरि=जड-चित् की ग्रन्थि । बावै=बाबा को ही, पिता को ही । (प्र० अ०) अविद्या को ही । पतियाई=(१) विश्वास किया (२) पति बना लिया । सुहाग=सौभाग्य, विवाह । चौके=(स० चतुष्क) मंगल के अवसर पर पूजन के लिए आटा और अबीर की रेखाओ से बना चौकोर क्षेत्र, वेदी । राड=विधवा । चौके रांड भई (मुहा०)=भाँवर पडते ही विधवा हो गई । सर (सं० शर)=चिता । समधी=(सम+धी) विवेक, समत्व बुद्धिवाला (२) पति या पत्नी का पिता । पुरिख=पति । तूर (सं० तूर्य)=नगाडा, तुरही, मंगलवाद्य । तरौ=पार हो जाऊँगा ।

संदर्भ—इस पद मे विवाह के प्रतीक द्वारा कबीर यह बतलाना चाहते है कि जीव का वास्तविक स्वामी शुद्ध चैतन्य है । किन्तु ससार मे वह अविद्या का वरण कर लेता है । इसी से उसकी सासारिकता है । शुद्ध-चैतन्य से सम्पर्क स्थापित करने पर ही वह इस संसार से पार जा सकता है ।

व्याख्या—मै अपने प्रियतम (शुद्ध चैतन्य) के साथ श्वशुरालय आई अर्थात् मैने (जीव ने) अपने प्रियतम शुद्ध चैतन्य के साथ संसार मे जन्म लिया । उस शुद्ध चैतन्य

---

१. ना० प्र०–सासनै पांव । २. ना० प्र०–पूगी । ३. ना० प्र०–सुपिनों । ४. ना० प्र०–तिवारी–तीनि । ५. ना० प्र०–पतिताई । ६. ना० प्र०–चौक कै रंगि धर्यौ सगौ भाई । ७. ना० प्र०–तिवारी–समझी । ८ ना० प्र०–हूँ ।

प्रत्यगात्मा के साथ मेरी आकाक्षा पूरी नही हुई अर्थात् उसके साथ मैं एकात्मकता का अनुभव न कर सकी। ब्रह्मानन्द का स्वाद न ले सकी। हमारा सारा यौवन स्वप्न के समान बीत गया, क्योंकि ससार रूपी श्वशुरालय में आते ही मेरा विवाह (सम्बन्ध) अविद्या से हो गया।

इसी विवाह के प्रतीक के द्वारा ससार मे जन्म लेने का वर्णन करते हुए कबीर कहते है कि पाँच लोगो ने मिलकर मडप छाया अर्थात् पाँच तत्वो से मेरा शरीर, बना, चार लोगों ने मिलकर मेरे विवाह का मुहूर्त निश्चित किया अर्थात् अन्तःकरण-चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहकार) से व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। (पाँच तत्व प्रत्येक शरीर में समान रूप से रहते हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की विशेषता अन्त करण चतुष्टय से होती है)। विवाह के अवसर पर मंडप में वधू के मत्थे और शरीर पर हल्दी लगाई जाती है और सखी-सहेलियाँ मंगल गीत गाती हैं। यहाँ सखी-सहेलियाँ इन्द्रियों और वासनाओ की प्रतीक हैं, मंगलगान भोग के लिए आया है और हल्दी चढ़ाने में सुख-दु ख के अनुभव की बात कही गई है।

वर-वधू की गाँठ जोड़कर अग्नि के चतुर्दिक् भाँवरि (परिक्रमा) हुई अर्थात् चित्-जड की ग्रथि के द्वारा नाना प्रकार के भ्रमों में जीव को चक्कर लगाना पड़ा और उसने अविद्या का ही विश्वास कर उसे पति बना लिया। इस प्रकार वास्तविक पति (शुद्ध चैतन्य) के बिना ही विवाह सम्पन्न हो गया और भीतर साँई (शुद्ध चैतन्य) के विद्यमान रहते हुए भी मैं विवाह के समय ही विधवा हो गई अर्थात् शुद्ध चैतन्य से, जो मेरा वास्तविक स्वामी है, मेरा सम्बध न रह सका। मैं अपने वास्तविक पति का मुख न देख सकी। जीव शुद्ध चैतन्य के सम्पर्क मे न रह सका। विधवा होने पर वास्तविक पति के साथ सती होने के लिए समधी (सम+धी= विवेक बुद्धि, सद्गुरु) ने समझाया। जब सती पति के साथ चिता पर जलने के लिए उद्यत होती है, उस समय उसके सतीत्व के उत्सव पर तुरही-नगाड़े आदि वाद्य बजाए जाते है। इसी तथ्य के द्वारा कबीर कहते है कि मैं (जीव) आनंदपूर्वक वाद्य-वादन के साथ चिता सजाकर अपने कत अर्थात् वास्तविक पति (शुद्ध चैतन्य) के साथ सती होकर भव-सागर से पार हो जाऊँगा। यहाँ चिता में प्रेमाग्नि की व्यंजना है जिसके द्वारा जीव प्रत्यगात्मा से सम्पर्क स्थापित कर भव-सागर से पार हो जाएगा।

टिप्पणी—(१) चारि जना मिलि·······

कुछ प्रतियों मे 'चारि जना' के स्थान पर 'तीनि जना' पाठ है जिसका तात्पर्य है—सत्व, रजस्, तमस्। किन्तु ये तीनो गुण पाँच तत्वो मे अन्तर्भूत रहते हैं। अतः 'चारि जना' पाठ अधिक समीचीन है।

(२) अविद्या—पातंजलयोगदर्शन मे 'अविद्या' की परिभाषा इस प्रकार दी हुई है—

'अनित्याऽशुचिदु खाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या। (२।५)

'अनित्य मे नित्य, अशुचि मे शुचि, दु'ख मे सुख, अनात्म मे आत्म का भाव अविद्या है।

अलकार—(१) पतियाई, समधी मे श्लेष।
(२) पूरि सुहाग भयो बिनु दूलह—विभावना।
(३) चौकै राँड़ भई संग साँई—विरोधाभास।
(४) पूरे पद मे रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(२३९)

मोहि[1] ऐसें बनिज सौं कवन काजु।
जिहि घटै मूल[2] नित बढ़ै ब्याजु॥ टेक॥
नाइकु एकु बनिजारे पांच, बरध[3] पचीस क संगु कांच[4]।
नउ बहियां दस गोंनि आहि, कसनि बहत्तरि लागि[5] ताहि।
सात सूत मिलि बनिज कोन, करम[6] भांवनीं संगि लीन।
तीनि जगाती करत रारि, चल्यौ[7] बनिजारा हाथ झारि।
बनिज खुटानौं पूँजी टूटि, दह[8] दिसि टांड़ौ गयौ फूटि।
कहै कबीर यहु जनम बादि, सहजि समांनौ[9] रही लादि॥

शब्दार्थ—बनिज=वाणिज्य, व्यापार। नाइकु=नायक (प्र० अ०) शुद्धात्म तत्व। बनिजारे पाँच=पाँच व्यापारी या सौदागर (प्र० अ०) पाँच तत्व (पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि, वायु)। बरध पचीस=२५ बैल (प्र० अ०) पचीस प्रकृतियाँ

(१) आकाश की—काम, क्रोध, लोभ, मोह, तम।
(२) वायु की—चलन, बलन, धावन, प्रसारण, संकोचन।
(३) अग्नि की—क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन।
(४) जल की—लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य।
(५) पृथ्वी की—अस्थि, माँस, त्वचा, नाडी, रोम।

---

१ ना० प्र०–मेरे जैसे। २. ना० प्र०–सिरे बधै ब्याज। ३. ना० प्र०–बैल। ४. ना० प्र०–साथ। ५. ना० प्र०–लागै। ६. ना० प्र०–कर्म पयादौ। ७. ना० प्र०–चल्यौ है बनिज वा वनज झारि। ८. ना० प्र०–पाडू दह दिसि गयौ फूटि। ९. ना० प्र०–समॉनूं।

काचु=कच्चा। नउ वहियाँ=९ बही (प्र० अ०) पंच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान)+अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहकार)।

दस गोनि=दस वोरियाँ (प्र० अ०) दस इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, हाथ, पाँव, गुदा, लिंग, मुख)

कसनि=जिससे कोई वस्तु बाँधी जाती है, बधन।

कसनि बहत्तरि=(प्र० अ०) बहत्तर ग्रन्थियाँ (१६ कण्डराएँ+१६ जाल+४ रज्जु +७ सेवनी+१४ अस्थि सघात+१४ सीमन्त+१ त्वचा=७२) इनसे सम्पूर्ण शरीर बँधा रहता है।

सात सूत=सात पुत्र (प्र० अ०) सप्त धातुएँ (रस, रक्त, मास, वसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र)।

भावनी=भामिनी, स्त्री।

तीन् जगाती=(अ० जकात) कर वसूल करने वाले कर्मचारी। (प्र० अ०) सत्त्व, रजस्, तमस्।

रारि=सघर्ष, झगडा। खुटानौ=समाप्त हो गया। टाड़ौ=व्यापार की वस्तुएँ। बादि=व्यर्थ। समानौ=समाविष्ट हो गया। लादि=बोझा।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे व्यापार के प्रतीको के द्वारा जीव के सासारिक जीवन का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि ऐसे व्यापार से मुझे क्या लाभ, जिसमे मूलधन तो घटता जाता है और व्याज की वृद्धि होती है। व्यापार करने वाला सरदार एक है और उसके सौदागर पाँच है। उसके साथ मे २५ निर्बल बैल है, जिन पर वह अपने व्यापार की सामग्री लादता है। उसके पास सामग्री की सूची रखनेवाली नौ बहियाँ है और दस बोरे मे माल है। ये बोरे ७२ बँधनों से कसे हुए है। इस व्यापारी के सात पुत्र भी मिलकर व्यापार करते है और साथ मे कर्म रूपी पत्नी भी रहती है। तीन कर वसूल करनेवाले कर्मचारी है, जो अपने-अपने अधिकार के लिए व्यापारी से झगडा करते है। अन्त मे बेचारा व्यापारी सारी सामग्री खोकर बाजार से खाली हाथ चला जाता है। उसका व्यापार समाप्त हो जाता है और पूँजी नष्ट हो जाती है। व्यापार की सामग्री का बोझ चारों ओर बिखर जाता है। कबीर कहते है कि इस प्रकार यह जीवन व्यर्थ है। मै सहज मे समा गया और यह सब व्यापार की सामग्री का बोझ यही पड़ा रह गया।

(प्रतीकार्थ) सासारिक जीवन व्यापार है, जीव व्यापारी है, जिसके द्वारा वह व्यापार करता है, वह शरीर है।

सासारिक जीवन एक ऐसा वाणिज्य है, जिसमे आत्मतत्व का शुद्धतारूपी मूलधन घटता जाता है और कर्मरूपी व्याज की वृद्धि होती जाती है। इस व्यापार का साधन शरीर है, जिसको चलानेवाला एक साक्षि-चैतन्य (नायक) है और उसके साथ पाँच तत्व (सौदागर) लगे हुए है। प्रत्येक तत्व की विवेकहीन पाँच-पाँच प्रकृतियाँ (वैल) है। इस व्यापार के लिए नौ वहियाँ (पंच प्राण + अन्त.करण चतुष्टय) है और दस इन्द्रियाँ (बोरे) है, जो ७२ ग्रन्थियों से कसी हुई है। इस शरीर मे सात धातुएँ है, जिनके द्वारा व्यापार चलता है। उसके साथ कर्म रूपी पत्नी (भामिनी) लगी हुई है। तीन कर वसूल करनेवाले कर्मचारी (सत्व, रजस्, तमस्) अपने-अपने अधिकार के लिए झगड़ा करते है। एक दिन यह व्यापारी (जीव) शरीर को छोड़ कर चल देता है। उसका व्यापार समाप्त हो जाता है, प्राण (पूँजी) निकल जाते है। शरीर के सभी अवयव (टांड़ौ) अस्त-व्यस्त हो जाते है। कबीर कहते है कि इस प्रकार का सांसारिक जीवन व्यर्थ है। मै सहज मे समाविष्ट हो गया और यह शरीर जिसके द्वारा व्यापार हो रहा था, यही पड़ा रह गया।

अलंकार—(१) मोहि ऐसे——वक्रोक्ति।
(२) पूरे पद मे—रूपकातिशयोक्ति।

राग—बसत।

(२४०)

मोहि तोहि लागी कैसे छूटै।
जैसे हीरा फोरे न फूटै॥ टेक॥
मोहि तोहि आदि अंति बनि आई, अब कैसे दुरत दुराई।
जैसे कंवल पत्र जल बासा, ऐसे तुम साहेब हंम दासा।
मोहि तोहि कीट भ्रिग की नांई, जैसे सलिता सिंधु समाई।
कहै कबीर मन लागा, जैसे सोनैं मिला सुहागा॥

शब्दार्थ—लागी = लगन, प्रेम। दुरत दुराई = छिपाने से छिपना या अलग करने से अलग होना। कीट = कीडा। सलिता = सरिता, नदी।

व्याख्या—हे प्रभु ! तुम्हारे प्रति मेरी लगन किसी प्रकार भी नही छूट सकती। जैसे हीरे का भेदन नहीं हो सकता, फोड़ने पर भी वह फूट नही सकता। वैसे ही मेरे प्रेम मे कोई अंतर नही आ सकता। हमारा तुम्हारा प्रेम आदि से अंत तक रहेगा अर्थात् वह स्थायी है। उसे न तो छिपाया जा सकता है और न अलग किया जा सकता है। जैसे कमल का पत्र जल मे ही रहता है, उससे अलग नही होता, उसी प्रकार हे स्वामी ! यह दास आप से अलग नही हो सकता। मेरा और आपका सम्बन्ध कीट

और भृग के समान है। जिस प्रकार भृग कीट पर मँडराते हुए उसे अपने रूप मे परिवर्तित कर लेता है, उसी प्रकार हे प्रभु! इस जीव को आप रूपान्तरित कर देते है और वह आप मे मिलने के योग्य हो जाता है। जैसे सरिता सिधु में मिलकर सागर-रूप हो जाती है, वैसे ही आपका भक्त आप मे मिलकर आप से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। कबीर कहते है कि मेरा मन आप मे उसी प्रकार सलग्न हो गया है जैसे सोने मे सुहागा मिल जाता है।

अलंकार—उपमा, उल्लेख।

राग—केदार।

(२४१)

मोहि बैराग भयौ।
यहु जिउ आइ रे कहां गयौ ॥ टेक ॥
आकासि गगनु पातालि गगनु है दह दिसि गगनु रहाईलें।
आनंद मूल सदा पुरखोतम घट बिनसै गगनु न जाईले ॥
पंच तत्त मिलि काया कीनीं तत्त कहाँ तैं कीनु रे।
करम बद्ध तुम जीउ कहत हौ करमहि किन जिउ दीनु रे ॥
हरि महि तनु है तन महि हरि है सरब निरतरि सोइ रे।
कहै कबीर हरि नांउँ न छांड़उँ सहजै होइ सु होइ रे ॥

शब्दार्थ—गगन = व्याप्त अवकाश (Space)। दहदिसि = दसो दिशाएँ, चारो ओर। रहाईले = रहता है। जाईले = जाता है।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर यह बतलाते है कि ससार और जीव, ग्राह्य और ग्राहक दोनो का जो मूल—प्रभु—है, उससे राग करना चाहिए, ससार से अनुराग व्यर्थ है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मुझे अब संसार से कोई लगाव नही रहा। अब हमारा लगाव उससे हो गया है जिससे ससार और जीव, ग्राह्य और ग्राहक, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनो का प्रादुर्भाव हुआ है। हमारे भीतर बराबर यह प्रश्न उठता है कि यह जीव कहाँ से आया और कहाँ जाता है? इस जीवन का रहस्य क्या है? जब हम यह सोचते है तब हमारा हृदय उस ओर जाता है जो हमारे और ससार दोनो के प्रादुर्भाव का मूल है। जिस प्रकार आकाश (Space) सर्वव्यापी है—वह गंगन मे भी है, पाताल मे भी है, वह चारो ओर सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार प्रभु सर्वत्र व्याप्त है। वह सच्चिदानद है, आनद का मूल स्रोत है। उसका विनाश नही होता, वह सदा विद्यमान रहता है। जैसे घट फूटने पर आकाश समाप्त नही होता, वह विद्यमान रहता है, उसी प्रकार शरीर के विनाश होने पर आत्मा का विनाश नही होता।

यह शरीर पंचतत्वो से निर्मित है। किन्तु ये तत्व कहाँ से आए ? लोग कहते हैं कि जीव कर्मपाश से बँधा उसके अनुसार जन्म लेता है। किन्तु ये कर्म कहाँ से आए ?

प्रभु मे ही शरीर है और शरीर मे प्रभु है। वह बिना किसी अंतर के सर्वत्र व्याप्त है अर्थात् कण-कण मे विद्यमान है। कबीर कहते हैं कि मैं प्रभु का स्मरण नही छोड सकता, क्योंकि वह सबमे सहज रूप से स्वभावत विद्यमान है। वह सिद्ध है, साध्य नही।

टिप्पणी—(१) अवच्छेदवाद—

घट और आकाश के दृष्टान्त द्वारा कबीर ने अवच्छेदवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। जैसे घट से आकाश अवच्छिन्न रहता है, तब प्रतीत होता है कि आकाश परिमित है। किन्तु घट फूटने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आकाश परिमित नही है, व्याप्त है, अपरिच्छिन्न है, वैसे ही प्रभु सब पदार्थों और शरीरो मे व्याप्त है। शरीर के रहते हुए, उसकी परिमितता का भ्रम होता है, परन्तु शरीर के विनाश होने पर आकाश के समान उसकी व्यापकता सिद्ध हो जाती है।

(२) हरि महि तनु है.........

कबीर के इस चरण से यह स्पष्ट है कि शरीर आदि को वह भ्रममात्र नही मानते थे। उनका विश्वास था कि इस शरीर के भी मूल प्रभु है। उन्ही से शरीर का प्रादुर्भाव होता है।

अलंकार—घट विनसै गगनु न जाईले—दृष्टान्त।

राग—सोरठ।

(२४२)

यह[1] भ्रम भूत सकल जग खाया,
जिन जिन पूजा[2] तिन जहँड़ाया।
अंड न पिंड प्रान[3] नहि देही,
काटि काटि जिव केतिक[4] देही।
बकरी मुर्गी कीन्हेउ[5] छेवा,
अगिले जनम उन ओसर लेवा।
कहैं कबीर सुनहु नर लोई,
भुतवा के पूजे भुतवै[6] होई॥

१. शुक०—ये। २. शुक०—पूजा तीन जहँडाया। ३. वि०—न प्रान न। ४. वि०—कौतुक। ५. शुक०—कीन्ह उछेवा। ६. शुक०—भुतवा।

शब्दार्थ—जहँड़ाया=ठगे गए। छेवा=प्रहार, वध। औसर लेवा=बदला लेंगे।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे प्रेत-पूजा की निंदा की गई है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रेत-पूजा ने सारे संसार को नष्ट कर डाला है। प्रेत-पूजा एक प्रकार का भ्रम है। जिन लोगों ने प्रेत-पूजा की, वे सब धोखे में पड़े। प्रेत न तो अंडज है न पिंडज, न उनके प्राण है न शरीर। फिर भी न जाने कितने जीवो को काट-काटकर उन पर चढाया जाता है। बकरी और मुर्गी को काट-काटकर लोग उन पर चढ़ाते हैं। अगले जन्म मे अवसर मिलने पर ये जीव अपनी हत्या का बदला लेंगे। कबीर कहते हैं कि हे लोगो! सुनो। प्रेत-पूजा से मनुष्य प्रेत ही बनेगा।

तुलनीय—गीता मे भी प्रेत-पूजा की निंदा करते हुए कहा गया है कि देवताओ की पूजा करनेवाले देवताओ को प्राप्त होते हैं, पितरो को पूजने वाले पितरो को प्राप्त होते हैं, भूतों को पूजने वाले भूत होते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्, पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

(९।२५)

(२४३)

यहु[1] ठग ठगत सकल जग डोलै।
गवन करत[2] मोसें मुखहु न बोलै॥ टेक॥
बालपना[3] के मीत हमारै, हमहि[4] छाड़ि कत चले हो निनारे।
तू[5] मेरौ पुरिखा हौं तेरी नारी, तोहरि[6] चाल पाहनहुं तै भारी।
हमसूं[7] प्रीति न करि री बौरी, तुम्ह से केते लागे ढौरी।
हम काहू संगि गए न आए, तुम्ह से गढ़ हम बहुत बसाए।
माटी[8] कै देह पवन कै सरीरा, तेहि[9] ठग सौं जनि[10] डरै कबीरा॥

शब्दार्थ—ठग=(प्र० अ०) जीव। निनारे=न्यारा, अलग। पुरिखा=पुरुष, पति। कत=(सं० कुत.) क्यो, किसलिए। पाहनहुँ=पत्थर से भी। भारी=कठोर। ढौरी=लगाव, लगन। गढ=(प्र० अ०) शरीर। पवन कै सरीरा=वह शरीर जिसमे पवन है अर्थात् सूक्ष्म शरीर।

---

१. वि०—हरि। २. ना० प्र०—करै तब। ३. वि०—बालापन। ४. वि०—हमहीं तजि कहँ चलेउ सकारे। ५. वि०—तुह अस पुरुष। ६. ना० प्र०—तुम्ह चलतैं पाथर यें भारा। ७. तिवारी की प्रति में 'हमसूँ प्रीति···बसाए' तक का अंश नहीं है। ८. वि०—माटिक। ९. वि०—हरिठग ठग से डरहि कबीरा। १०. तिवारी, ना० प्र०- जन।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने बताया है कि स्थूल शरीर के समान सूक्ष्म शरीर भी परिवर्तनशील है। अजर और अमर आत्मतत्व उससे भिन्न है। अतः सूक्ष्म शरीर (जीव) के मोह मे न पड़कर, वास्तविक आत्म-तत्व को पहचानो।

व्याख्या—कबीर जीव को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि यह ठग जीव सारे ससार के लोगों को ठगता घूम रहा है। वह इस शरीर को निर्ममतापूर्वक छोड़ते हुए बात तक नही करता।

शरीर जीव से कहता है कि तुम मेरे बचपन के साथी हो, अब हमे छोडकर तुम अलग क्यो जा रहे हो ? तुम मेरे पति (धारक) हो और मैं तुम्हारी पत्नी हूँ अर्थात् मैं तुम्हारे द्वारा जीवन धारण करती रही हूँ। तुम्हारा यह व्यवहार पत्थर से भी अधिक कठोर है।

जीव उत्तर मे शरीर से कहता है कि ऐ पगली ! तू मुझसे प्रेम न कर। तुम्हारी जैसी न जाने कितनी नारियो (शरीरो) ने मुझसे लगन लगाई है। हम न तो कभी किसी शरीर के साथ सदा के लिए रहे है और न शरीर हमारे साथ गया है। हमने तुम्हारे जैसे बहुत से शरीरों को कुछ काल के लिए धारण किया है।

यह स्थूल शरीर मिट्टी का है, पार्थिव है और सूक्ष्म शरीर प्राण का है। वास्तविक तत्व—आत्मा-इन दोनो से भिन्न है। इसलिए जो भक्त आत्म-तत्व को समझते है, वे न तो इनसे डरते है और न इनकी ठगी मे फँसने वाले है।

टिप्पणी—प्रायः प्रतियो मे 'जन' पाठ है। इससे अर्थ निकलेगा कि 'भक्त कबीर स्थूल, सूक्ष्म शरीर के ठग (जीव) से भयभीत है।' किन्तु यह भाव कबीर की सामान्य विचारधारा और शैली के विपरीत प्रतीत होता है। प्रस्तुत पद मे भी उपर्युक्त पक्तियो से यह भाव मेल नही खाता। अत सम्यक् पाठ 'जनि' होना चाहिए।

अलङ्कार—पाथर तै भारी—व्यतिरेक।

राग—सारग।

(२४४)

यहु माया रघुनाथ की खेलन चढ़ी अहेरै।
चतुर चिकनिया चुनि चुन मारे कोई न छांड़ा नेरै॥ टेक॥
मौंनी बीर डिगम्बर मारे जतन करंता जोगी।
जंगल मांहि के जंगम मारे माया[1] किनहुं न भोगी॥

---

1. तिवारी—तूँ रे फिरै अपरोगी।

वेद पढ़ंता बांह्मन मारा सेवा करंता स्वांमीं।
अरथ करंता मिसिर पछाड़ा गल महि घालि लगांमी ॥
साकत कै तूँ हरता करता हरि भगतन कै चेरी।
दास कबीर रांम कै सरनैं ज्यौं आई त्यौं फेरी ॥

शब्दार्थ—अहेरै=शिकार । चिकनिया=छैला, विलासी । नेरै=निकट, पास । वीर=विशेषेण ईरयति आत्मानम् इति वीरः=जो अपने को विशेष रूप से प्रेरित करता है अर्थात् इन्द्रियो को वश मे रखता है, शैव साधु । मांहि=मध्य । जगम=लिंगायत सम्प्रदाय के साधु, वीर शैव । गल=गला, कण्ठ । घालि=डालकर ।

सदर्भ—माया को ललकारते हुए कबीर कहते है कि उसका प्रभाव सभी पर रहता है, किन्तु प्रभु-भक्तो पर उसका वश नही चलता ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि माया राम की शक्ति है, राम मायी है। उसने शिकार करने के लिए चढ़ाई की है। उसने बडे-बडे विद्वानो और विलासियो को चुन-चुनकर परास्त किया। [यहाँ 'चतुर' से ज्ञानियो (Intellectuals) का सकेत है और 'चिकनिया' मे 'भावुको' (Emotionals) की व्यञ्जना है।] उसने अपने निकट किसी को न छोडा, जो उसके निकट आया, उसके द्वारा परास्त हुआ।

माया ने मौन धारण करने वाले साधुओ, इन्द्रियो को वश मे कर लेने का दावा करने वाले वीरो, त्यागी दिगम्बरो तथा निरन्तर अभ्यास- रत साधको को भी पछाड़ दिया। माया ने उन जगम साधुओ को भी, जो घर छोड़कर जगल मे जाकर बसे है, वश मे कर रखा है। किन्तु माया को कोई भोग्या न बना सका अर्थात् कोई उसे वश मे न कर सका।

माया ने वेदपाठी विद्वानो को, पूजा-पाठ करने वाले गोस्वामियो और भाष्य-कर्ता पंडितो को भी गले मे फँदा डालकर फाँस रखा है। यह माया शाक्तो का भी हरण करने वाली है, किन्तु वह प्रभु-भक्तो की दासी है। राम के शरणागत कबीर ने माया को ज्यो का त्यो वापस कर दिया। उसका कबीर पर कोई प्रभाव न होने पाया।

राग—रामकली।

(२४५)

रमइया गुन गाइऐ रे जातैं पाइऐ परम निधांनु ॥ टेक ॥
सुरगबासु न बांछिऐ डरिऐ न नरकि निवासु।
होना है सो होइहै मनहि न कीजै आसु ॥

क्या जप क्या तप संजमो क्या व्रत क्या असनांन।
जब लगि जुगति न जानिअै भाउ भगति भगवांन॥
संपै देखि न हरखिऐ बिपति देखि नां रोइ।
ज्यौं संपै त्यौं बिपति है करता करै सो होइ॥
कहै कबीर अब जांनियां संतन हृदै मंझारि।
जो सेवग सेवा करै ता संगि रमैं मुरारि॥

शब्दार्थ—रमइआ = राम, प्रभु। निधानु = आश्रय। बाछिऐ = कामना कीजिए। आसु = आशा, तृष्णा, अभिलाप। जुगति = युक्ति, साधन। भाउ = भाव, ढग, रीति। संपै = सपत्ति, धन, वैभव।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर कहते है कि संपत्ति-विपत्ति, सुख-दु ख आदि के द्वन्द्व से परे होकर, स्वर्ग-नरक की चिन्ता न कर, जीव को राम का भजन करना चाहिए। इसीसे उसका उद्धार होगा।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीवो! राम का गुणगान करो। वही तुम्हारा सबसे बड़ा आश्रय या सहारा है। तुम न स्वर्ग की कामना करो और न नरक से डरो। जो होना होगा, वह होकर रहेगा। मन मे किसी भी पदार्थ के लिए कामना न करो।

जब तक जीव भक्ति की सच्ची रीति से परिचित नही है अर्थात् जब तक उसकी साधना मे प्रेम का पुट नही है; तब तक जप, तप, सयम, व्रत, स्नान आदि निरर्थक है। साधक को न धन-वैभव से हर्पातिरेक मे आना चाहिए और न विपत्ति से विपाद-युक्त होना चाहिए। कर्ता ईश्वर है। जो कुछ होता है, उसे वही करता है। ऐसा मानते हुए उसे सम्पत्ति-विपत्ति मे समत्व का भाव रखना चाहिए। कबीर कहते है कि सच्चे प्रेम से भगवान् की भक्ति करने पर सतो के हृदय मे यह सत्य उद्भासित होता है कि जो भक्त प्रभु की सच्ची सेवा करता है, प्रभु प्रसन्न-भाव से सदैव उसके साथ रहते है।

अलंकार—चौथी पक्ति मे वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(२४६)

रस गगन गुफा मैं अजर झरै।
अजपा सुमिरन जाप करै॥ टेक॥
बिनु बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिनु चंदा उजियारो दरसै जहँ तहँ हंसा नजरि परै॥

दसवें द्वारै ताड़ी लागी अलख पुरुख जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकटि नहिं आवै काम क्रोध मद लोभ जरै॥
जुगन-जुगन की त्रिखा बुझांनीं करम भरम अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनौ भाई साधौ अमर होइ कबहूँ न मरै॥

शब्दार्थ—गगन गुफा = कपाल कुहर, मस्तिष्क के भीतर एक छिद्र। अजर = (१) नित्य नवीन (२) जराहीन। अजपाजाप = वह जप जो स्वतः श्वास-प्रश्वास के साथ विना प्रयास के चलता है। हंसा = शुद्ध जीवात्मा। दसवें द्वार = दशम द्वार, सहस्रार के नीचे कपाल कुहर से लेकर तालु तक विस्तृत वकनाल (वक्रनाल) जिसके द्वारा सोमरस टपकता है। ताड़ी = ध्यान, समाधि। उजियारी = प्रकाश। अलख = अलक्ष्य। त्रिखा = प्यास (प्र० अ०) विषय-वासना। अघ = पाप। व्याधि = शारीरिक रोग।

संदर्भ—इस पद मे कबीर यह वतलाते है कि अजपाजाप और ध्यान द्वारा कुण्डलिनी सहस्रार में पहुँच जाती है, जहाँ पर अलक्ष्य (अलख) का परिचय होता है। कबीर के अनुसार यही 'परम पद' है।

व्याख्या—गगन गुफा अर्थात् कपाल कुहर मे स्थित सहस्रार से एक महारस का स्रवण होता रहता है, जो अजरत्व और अमरत्व का सूचक है। साधक अजपाजाप रूपी स्मरण की साधना द्वारा इस अमरपद के साक्षात्कार का अधिकारी हो जाता है, जिसका सूचक यह महारस है।

ध्यान लगाने पर यह बोध होता है कि वहाँ विना किसी वाद्य आदि के अनाहत नाद होता रहता है और चन्द्रमा आदि किसी ठोस आधार के विना ही वहाँ शुद्ध जीवात्मा को प्रकाश का प्रत्यक्ष होता है।

दशम द्वार गगन गुफा का वह छिद्र है जिससे महारस टपककर तालु तक आता है। निरन्तर ध्यान करने से सहस्रार मे स्थित दशम द्वार मे अलक्ष्य परमात्मा का परिचय प्राप्त होता है। इस साक्षात्कार के पश्चात् मनुष्य कराल काल पर विजय प्राप्त कर लेता ह अर्थात् जीवात्मा आवागमन से मुक्त हो जाता है तथा राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि जीर्ण-शीर्ण हो जाते है। इस जीव मे युग-युगान्तर से काम-वासना का जो संस्कार वना रहता है, वह सदा के लिए विनष्ट हो जाता है और उसके कर्म-वधन टूट जाते है। वह पुण्य-पाप से परे हो जाता है तथा व्याधि-मुक्त हो जाता है। कबीर कहते है कि हे सन्तो! सुनो, इस अमरपद को जिस साधक ने प्राप्त कर लिया है, वह काल के साम्राज्य से परे हो जाता है, आवागमन रूपी संसरण से मुक्त हो जाता है और फिर उसके लिए मरण का कोई प्रश्न नही रह जाता है।

टिप्पणी—(१) **गगन गुफा, रस** = गगन गुफा से तात्पर्य कपाल कुहर मे

स्थित सहस्रार से है। सहस्रार को कहीं-कही पर 'गगन मंडल' भी कहा गया है। योगियों ने अपने अनुभव से यह जान लिया था कि वहाँ पर चन्द्र की आकृति की एक ग्रंथि है जिससे भीतर ही भीतर एक प्रकार के रस का स्रवण होता रहता है। पाश्चात्य शरीर-वैज्ञानिकों ने बीसवी शताब्दी मे अपनी खोज से यह सिद्ध कर दिया है कि शरीर मे कुछ अन्त.स्रावी ग्रंथियाँ (Endocrine glands) हैं, जो कुछ रासायनिक पदार्थ स्रवण करती रहती हैं, किन्तु वह स्रवण भीतर ही भीतर होता रहता है, बाहर नही आता है। उस स्रवण का मनुष्य के शारीरिक और मानसिक विकास पर बहुत बड़ा प्रभाव पडता है। इस प्रकार की कई ग्रथियों का पता शरीर-वैज्ञानिकों ने लगाया है। उनमें से एक ग्रन्थि, जो कपाल-कुहर मे है, उसका नाम पीयूषिका ग्रन्थि (Pituitary gland) है। Kenneth walker ने लिखा है—

"It may truly be called the leader of the Endocrines. It is situated at the base of the brain, lyingin a deep depression in the skull...... In addition to stimulating growth the Pituitary controls the development of many of the other Endocrine glands, notably that of the thyroid and of the sex gland........The Pituitary is regarded as being responsible for a great many functions and it is difficult to understand how so many secretions can be formed with in a structure that is no bigger than a large pea."

—Human Physiology
P. 145-146
Penguin Books

इसका साराश यह है कि इस शरीर मे जितनी अन्तःस्रावी ग्रथियाँ है, उन सबमे पीयूपिका ग्रन्थि प्रधान है। यह कपाल-कुहर में स्थित है। यह सारे शरीर की वृद्धि को नियन्त्रित करती है और इसका प्रभाव मुख्यत. वर्माकृति ग्रन्थि और लैंगिक ग्रथि पर रहता है। पीयूषिका ग्रन्थि शरीर के अनेक कार्यो को नियन्त्रित करती है और यह समझना कठिन है कि एक छोटी सी ग्रथि, जो मटर के दाने से वडी नही है, उसमे से कैसे कई रसो का स्रवण होता है।

यह आश्चर्य का विषय है कि जिन अन्तःस्रावी ग्रंथियों का अन्वेषण शरीर-वैज्ञानिकों ने बीसवी शताब्दी मे किया, उनमे से मुख्य ग्रंथियों के स्रवण का अनुभव सिद्धों ने सातवीं-आठवी शताब्दी मे कर लिया था। इस पीयूषिका ग्रन्थि से जो रस टपकता है, उसे नाथपंथी योगियो, सिद्धों और कबीर ने 'सोमरस' कहा है। यह 'रस' भीतर ही भीतर नाभि के पास आकर एक ऐसे स्थान पर सूख जाता है जिसे सिद्धों

और सन्तो ने 'सूर्य' कहा है। 'सूर्य' प्रतीकात्मक शब्द है। इसका भाव है—एक ऐसा स्थल या ग्रथि जिसमें पहुँच कर वह 'रस' सूख जाता है।

इस 'रस' को सूखने से बचाने के लिए तान्त्रिक साधना में मुख्य उपाय 'खेचरी मुद्रा' है। पीयूषिका ग्रथि से एक वक्र नालिका तालुस्थान तक आई है, जिसे गोरखनाथ ने 'बकनाल' कहा है। कबीर ने भी कई स्थलो पर 'बकनाल' शब्द का प्रयोग किया है। इसके अन्य पर्यायवाची नाम 'राजदन्त' तथा 'शखिनी' भी है। इसी नालिका के माध्यम से वह 'रस' तालु में स्थित एक अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र तक आता है। इसी छिद्र को सन्तों ने 'दशम द्वार' या दसवाँ द्वार कहा है। यह शरीर में बाहर की ओर खुले हुए नौ छिद्रो के अतिरिक्त है। इसीलिए इसको 'दशम द्वार' कहते है।

खेचरी मुद्रा वह है जिसमें जिह्वा के नीचे वाली पतली झिल्ली को काटकर जिह्वा को लम्बी बना लेते है, फिर उसे उलटकर तालु में स्थित 'दशम द्वार' में लगा कर, ऊपर से टपकने वाले रस को मार्गान्तरित कर कण्ठ में स्थित विशुद्धाख्य चक्र तक ले जाते हैं। इस प्रकार वह नाभि में स्थित, 'सूर्य' तक जाकर सूखने से बच जाता है और 'जरा' का अवरोधक बन जाता है। कश्मीर से प्रकाशित 'अमरोघ शासन' में इसके विषय मे लिखा है कि :

'एकम् मुखरन्ध्र राजदन्तान्तरे, एतदेव शखिनी मुखम् दशम द्वार इत्युच्यते।' (पृष्ठ ११)।

अर्थात् राजदन्त के अंतिम छोर पर एक मुख्य रन्ध्र है। यही शखिनी मुख 'दशम द्वार' कहलाता है।

'गोरक्ष विजय' नामक ग्रन्थ मे भी लिखा है :

'भेदिया दशमी द्वार खाल जोर भर।' (पृष्ठ १३९)

इसका उल्लेख अन्य साधना-सम्प्रदायो में भी मिलता है। बौद्ध तन्त्रो मे इसे 'वैरोचन द्वार' कहा गया है। 'श्रीकृष्ण कीर्तन' मे लिखा है कि .

इडा पिंगला सुषुम्ना सधी,
मन पवन तात कैल बदी।
दशमी दुवारे दिलो कपाट,
एवे चडिलाम् मो से जोगवाट ॥ (पृष्ठ ३५९)

इसका भावार्थ यह है कि सुषुम्ना मे इडा-पिंगला की सधि हो जाती है। हे तात ! वहाँ पर मन और पवन बदी हो जाते है। मैने 'दशम द्वार' में कपाट लगा दिया। इस प्रकार मै योग के मार्ग पर चढ गया।

'गोरक्ष सहिता' में भी कहा गया है ˙

नाभिमूले वसेत् सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्य ततो मृत्युवशो नरः ॥

(१।८५)

अर्थात् नाभि के मूल मे सूर्य है और तालु के मूल मे चन्द्र । चन्द्र से जो अमृत झरता है, सूर्य उसे ग्रस लेता है । इसी कारण मनुष्य मृत्यु के वश मे हो जाता है ।

सिक्खो के 'आदि ग्रंथ' मे भी इसका उल्लेख मिलता है :

दसम दुवारा अगम अपारा परम पुरुष की घाटी ।

(पृष्ठ ९७४)

(२) कबीर मुद्राबंध आदि के पक्ष मे नही थे । उन्होने अपने अनुभव से यह जान लिया था कि 'सुरति शब्दयोग' और 'अजपाजाप' के द्वारा भी उस 'रस' को मार्गान्तरित किया जा सकता है । जब वह कहते है कि इस रस के पान से योगी मरण से छुटकारा पा जाता है, तब उनका तात्पर्य यह होता है कि मनुष्य आवागमन से मुक्त हो जाता है । नाथपंथियों का जो यह विश्वास था कि इस साधना से शरीर के पतन को रोका जा सकता है, कबीर ने उसे अस्वीकार कर दिया था । योगियो ने 'दशम द्वार' मे जिह्वा से कपाट लगाने की बात कही है, किन्तु कबीर ने कहा है कि 'दशम द्वार' मे ध्यान लगाना चाहिए—दसवे द्वारे ताड़ी लागी ।

(३) बिनु बाजा झकार उठे, बिनु चदा उजियारी दरसे—से कबीर का तात्पर्य यह है कि सहस्रार मे मन के लीन होने पर स्थूल साधनो के बिना ही अनाहत नाद सुनाई पडता है और 'स्निग्धज्योति' का अनुभव होता है ।

अलंकार—विभावना ।

राग—भैरव ।

(२४७)

रसनाँ राँम गुन रमि रस पीजै ।
गुन अतीत निरमोलिक लीजै ॥ टेक ॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई, जा सुमिरत सुधि बुधि मति पाई ।
विष तजि राँम न जपसि अभागे, का बूड़े लालच के लागे ।
ते सब तिरे राँम रस स्वादी, कहै कबीर बूड़े बकवादी ॥

शब्दार्थ—रसनाँ=जिह्वा । रमि=तन्मय होकर । रस=भक्ति रस । निरमोलिक=अमूल्य परमतत्व । कथौ=गुणगान करो । विष=विषय रूपी विष ।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे भक्ति रस का महत्व प्रतिपादित किया गया है ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जिह्वा ! राम के गुणो मे तन्मय होकर भक्ति-रस का पान कर। वह राम सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों से परे हैं तथा अमूल्य हैं। उन्हें प्राप्त कर। हे भाई ! निर्गुण ब्रह्म का गुणगान करो, जिनके स्मरण करने से आत्म-स्वरूप की स्मृति हो जाती है, बुद्धि निर्मल हो जाती है तथा सच्ची मति प्राप्त होती है। अरे अभागे जीव ! तू विषय-विष को छोड़कर राम नाम का जप नही करता। तुच्छ लोभ के कारण तू अपने को क्यो डुबो रहा है ? कबीर कहते हैं कि राम-भक्ति-रस का स्वाद लेनेवालो का उद्धार हो जाता है। किन्तु जो केवल वाक्य-ज्ञानी लोग हैं, वे भव-सागर मे डूब मरते हैं।

अलंकार—प्रथम पंक्ति मे अनुप्रास।

राग—ललित।

(२४८)

रहहु[1] ररा ममा की भाँति हो, सब[2] संत उधारन चूनरी।
बालमीकि बन बोइया, चुनि लीन्ह सुखदेव।
करम बिनौला[3] होय रहा, सुत काते जैदेव॥
तीनि लोक ताना तनो, ब्रह्मा विष्नु महेस।
नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेस॥
बिनु जिभ्या[4] गुन गाइया, बिनु बस्ती का गेह[5]।
सूने घर का पाहुना, कासों[6] लावै नेह॥
चारि वेद कँडा कियो, निराकार कियो राछ[7]।
बिनै कबीरा चूनरी, वै[8] नहिं बांधल बाछ॥

शब्दार्थ—उधारन = उद्धार के लिए। चूनरी = (प्र० अ०) राम नाम। बन = कपास। बिनौला = कपास का बीज। सुत = सूत, तागा। कँडा = नापने का पैमाना। राछ = जुलाहों के करघे का एक औजार जिसमे ताने का तागा ऊपर-नीचे उठता-गिरता है। बिनै = बीनता है। वै = कघी। बाछ = वस्त्र का किनारा।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि राम से मिलन केवल प्रेम से हो सकता है, यान्त्रिक जप से नही।

व्याख्या—सभी संतो ने उद्धार के लिए 'र' और 'म' नाम की एक चुनरी

---

१. वि०-ऊ तोरहु। २. वि०-सभ। ३. शुक०-बिनोरा। ४. वि०-जीभै। ५. शुक०, वि०-देस। ६. शुक०-तासो लाइन हेत। ७. शुक०-रास। ८. शुक०-मै नहिं बांधल बारि, वि० (मैं) नान्हनि बाँधल बाछ।

तैयार की। जिस प्रकार राम नाम मे 'र' और 'म' अक्षर अभिन्न रूप से सयुक्त रहते है, वैसे ही सत भी राम नाम से सयुक्त रहते है।

इस चुनरी के निर्माण के लिए वाल्मीकि ने कपास बोया, शुकदेव मुनि ने उससे कपास चुनी। कपास मे बिनौला (बीज) मिला रहता है। उसे अलग करके (ओट करके) रुई से सूत कातते है। इस चुनरी के लिए कर्मकाण्ड रूपी बिनौले को अलग करके सत जयदेव ने सूत काता। ब्रह्मा, विष्णु, महेश ने राम नाम का ताना तीनो लोको मे तान दिया अर्थात् प्रभु का नाम सर्वत्र व्याप्त है।

जप तीन प्रकार का होता है—वाचिक, उपांशु एवं मानस। कबीर कहते है कि वाचिक और उपाशु जप करते-करते देवलोक के सम्राट् इन्द्र तथा इस पृथ्वी के नरेश थक गए। उन्हे कोई फल नही मिला। मानस जप (अजपाजप) करने वाले यदि केवल राम का नाम लेते है और उनका मन नही लगता है तो वह उसी प्रकार निरर्थक है जैसे बिना गाँव का घर—शून्य या निर्जन का आवास। यह वैसे ही निरर्थक है जैसे शून्य गृह मे अतिथि का पहुँचना। जिस मकान मे कोई रहता ही नही है, वहाँ स्नेह किससे किया जाय ? कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक कोई राम नाम मे अपने को लीन नही करता, तब तक किसी भी प्रकार के जप से उद्धार नही हो सकता।

कबीर कहते है कि मैंने चारो वेदो के मर्म को पैमाना बनाया तथा निराकार ब्रह्म को बुनने का औजार बनाया। उससे मैंने राम नाम की चुनरी बुनी। इस चुनरी मे मेरी कघी ने कोई किनारा नहीं बाँधा है अर्थात् मेरा राम असीम है।

अलंकार—(१) प्रथम पक्ति मे उपमा।
(२) बिनु जिभ्या… गेह—विभावना।
(३) पूरे पद मे सांग रूपक।

(२४९)

राखि लेहु हम तैं बिगरी।
सील धरम जप भगति न कीन्हीं हौं अभिमान टेढ़ पगरी॥ टेक॥
अमर जांनि संची यह काया सो मिथ्या कांची गगरी।
जिनहिं निवाज साज सब कीन्हें तिनहि बिसारि और लगरी।
संधिक साध कबहुँ नहिं भेंट्यौ सरनि परे जिनकी पगरी।
कहै कबीर इक बिनती सुनिए मत घालौ जम की खबरी॥

शब्दार्थ—सील=सदाचार। पगरी=पगड़ी। संची=संचय किया, सम्हाल कर रखा। कांची=कच्ची। निवाज=(फा० नवाज़) कृपा करने वाला। संधिक=साधक। साध=साधु, संत। घालौ=डालो।

संदर्भ—इस पद मे कबीर सासारिक विषयों मे लिप्त मानव के जीवन की निरर्थकता बतलाते हुए, प्रभु से रक्षा के लिए निवेदन कर रहे हैं।

व्याख्या—वह कहते है कि मेरे जीवन में जो विकार आ गए है, आप उनसे मुझे बचाइए। मै जीवन में सदाचारी नही रहा। मैंने धर्म, जप, भक्ति आदि भी न की, अभिमान की टेढी पगडी लगाए रखा अर्थात् आपा को सर्वश्रेष्ठ माना। शरीर को अमर समझकर मैं इसे यत्नपूर्वक सँवारता रहा, किन्तु यह कच्ची गगरी के समान क्षणभगुर सिद्ध हुआ। जिस कृपालु प्रभु ने हमारे जीवन के लिए सारी सामग्री सुलभ की, मैं उसे भुलाकर अन्य आकर्षक विषयो मे लग गया। जिन संतो को शीश नवाना चाहिए अर्थात् जो पूज्य है, मैंने अपने जीवन में ऐसे संतो और साधकों का कभी सग नही किया। कबीर कहते है कि हे प्रभु ! मेरी प्रार्थना सुन लीजिए। मुझे यमराज के अधिकार मे मत डालिए।

अलंकार—सो मिथ्या काची गगरी—रूपक।

राग—बिलावल।

(२५०)

राजा रांम अनहद किंगरी बाजै।
जाकी दिस्टि नाद लिव लागै ॥ टेक ॥
अचरज एक सुनहु रे पंडिआ अब किछु कहन न जाई।
सुर नर गण गंध्रब जिनि मोहे त्रिभुवन मेखुली लाई ॥
भाठी गगन सींगी करि चोंगी कनक कलस इक पावा।
तिसु महि धार चुअै अति निरमल रस महि रसन चुआवा ॥
एक जु बात अनूप बनी है पवन पिआला साजा।
तीनि भवन महि एकै[1] जोगी कहहु कवन है राजा ॥
ऐसे गिआंन प्रगटा पुरखोतम कह कबीर रंगि राता।
अउर दुनीं सभ भरमि भुलांनीं मैं रांम रसांइन माता ॥

शब्दार्थ—अनहद=अनाहत। किंगरी = किन्नरी, वीणा। दिष्टि=दृष्टि। लिव = लौ, ध्यान। मेखुली = मेखला, कटिबंध। गण = शिव जी के गण। सीगी= हिरन के सीग का बना वाद्य। चोगी = नली। भाठी = भट्ठी, चूल्हा। राता= अनुरक्त। माता = मस्त। राजा = श्रेष्ठ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में बताया गया है कि मानव के भीतर एक मधुर अनाहत नाद होता रहता है और शून्य चक्र से एक रस टपकता रहता है जिसका अनुभव केवल श्रेष्ठ योगी ही कर पाता है।

---

१. तिवारी-एको।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रत्येक मानव के भीतर निरन्तर अनाहत मधुर नाद होता रहता है। किन्तु उसे सभी सुन नही पाते। उसे केवल वही साधक सुन पाते है जिनकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई है और जिनका ध्यान उस नाद मे लगा है।

कबीर कहते है कि हे पंडितो! सुनो। यह नाद दिव्य है, देवता, मनुष्य, शिव के गण और गंधर्व, जो तीनो लोकों मे व्याप्त है, वे भी इस नाद को सुनकर मोहित हो जाते है।

राम रसायन रूपी मद्य के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए वह कहते है कि आकाश (शून्य चक्र) मे भट्ठी है, सीगी की नली है, जिससे रस टपककर कनक-कलश मे गिरता है। (भीतर एक बंक-नालि है जिसके द्वारा रस शून्य-चक्र से तालु स्थान तक आता है)। इसी को कबीर ने 'चोंगी' कहा है।

एक अद्भुत बात यह है कि उस रस का पान सभी व्यक्ति नही कर पाते। उसका पान करने के लिए सुषुम्ना से उठने वाला उदान वायु पात्र सजाता है अर्थात् जब उदान वायु द्वारा कुण्डलिनी ऊपर उठकर शून्य-चक्र मे मिलती है, तब उस अमृत-रस का अनुभव होता है। तीनो लोकों मे एक ही ऐसा सर्वश्रेष्ठ योगी है जिसने इस रस का पान किया है। कबीर प्रभु के प्रेम मे अनुरक्त होकर कहते है कि पुरुषोत्तम सम्बन्धी यह ज्ञान उन पर प्रकट हुआ। संसार के अन्य लोग अज्ञान मे पडे हुए है। मैं राम-रसायन पीकर मस्त हूँ।

अलकार—साग रूपक।

राग—रामकली।

(२५१)

राम गति पार न पावै कोई।
[1]चिंतामणि प्रभु निकटि छाड़ि करि, भ्रमि भ्रमि मति बुधि खोई।। टेक।।
तीरथ बरत जपै तप करि करि, बहुत भाँति हरि सोधै।
सकति सुहाग कहौ क्यूँ पावै, अछता कंत बिरोधै।।
नारी पुरुष बसै इक संगा, दिन दिन जाइ अबोलै।
तजि अभिमान मिलै नहि पीव कूँ, ढूढ़त बन वन डोलै।।
कहै कबीर हरि अकथ कथा है, बिरला कोई जांनै।
प्रेम प्रीति बेधो अंतरगति, कहूँ काहि को मॉनै।।

शब्दार्थ—गति=रहस्य। सोधै=खोजते है। सकति=शक्ति, नारी। सुहाग=सौभाग्य। अछता=रहते हुए। अबोलै=बिना बातचीत के। बेधी=विद्ध हो गया।

---

१. ना० प्र०—च्यंतामणि।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में बताया गया है कि प्रभु इस शरीर मे ही विद्यमान है। किन्तु व्यक्ति अज्ञानवश उसे बाहर खोजते रहते है।

व्याख्या—कबीर कहते कि राम के मर्म को कोई समझ नही पाता। रहस्य या मर्म यह है कि प्रभु भीतर विद्यमान है और कोई उन्हें जान नही पाता। प्रभु रूपी चिंतामणि अपने निकट है, किंतु लोग उसकी खोज मे अपनी समझ और विवेक खोकर इधर-उधर चक्कर काटते फिरते है। लोग तीर्थ यात्रा करके, व्रत, जप तथा तप करके नाना प्रकार से प्रभु को खोजते है। भला बताओ पति के पास रहते हुए भी उससे विमुख रहने पर नारी पति-मिलन रूपी सौभाग्य को कैसे प्राप्त कर सकती है? ऐसे ही यह जीव परमात्मा के निकट रहते हुए भी उससे विमुख रहने पर उसे कैसे प्राप्त कर सकता है? आत्मा (पुरुष) और जीव (स्त्री) इस शरीर में एक साथ ही रहते है। किन्तु परस्पर मिलन और बात के बिना सारा जीवन बीत जाता है। जीव रूपी नारी मन-शरीर से तादात्म्य का अभिमान छोडकर अपने आत्मा रूपी प्रिय से नही मिलती और प्रेमानद के लिए इधर-उधर भटकती रहती है। लोग प्रभु को देवालय आदि में खोजते रहते है। कबीर कहते है कि प्रभु की कथा अवर्णनीय है। विरले लोग ही इसे समझते है। मेरा हृदय उनके प्रेम से विद्ध हो गया है। मैं यह किससे कहूँ? मेरा कौन विश्वास करेगा?

अलंकार—(१) सकति सुहाग...... 'विरोधै—वक्रोक्ति।
(२) नारी पुरिप ...... अबोलै—निदर्शना।
(३) चिंतामणि-प्रभु—रूपक।

राग—केदार।

(२५२)

राम गुन न्यारो न्यारो न्यारो।
अबुझा लोग कहाँ लौं बूझै, बूझनहार बिचारो॥
केतेहि[1] रामचन्द्र तपसी से, जिन यह जग बिटमाया।
केतेहि[2] कान्ह भए मुरलीधर, तिन्ह भी अंत न पाया॥
मच्छ कच्छ औ ब्राह सरूपी[3], बावन नाम धराया।
केतेहि बौद्ध भए[4] निकलंकी, तिन्ह भी अंत न पाया॥
केते सिध साधक सन्यासी, जिन्ह बनवास बसाया।
केते मुनिजन गोरख कहिए, तिन भी अंत न पाया॥

---

१. वि०-केते। २. वि०-केते। ३. शुक०-स्वरूपी। ४. वि०-कलंकी केते।

जाकी गति ब्रह्मौ[1] नहिं जाना,[2] सिव सनकादिक हारे।
ताके गुन नर कैसेक पैहौ, कहहिं कबीर पुकारे ॥

शब्दार्थ—अबुझा = अबोध, अविवेकी। बिटमाया = सुरक्षित किया। मच्छ = मत्स्यावतार। कच्छ = कच्छपावतार। ब्राह = वाराह अवतार। सरूपी = स्वरूप वाले। बावन = वामन अवतार। निकलकी = कल्कि अवतार। गति = मर्म, रहस्य। हारे = खोजकर थक गए। गुन = रहस्य।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म अवतारो से भिन्न है। अवतार भी उसके मर्म को नही समझ सके, फिर साधारण मनुष्य कैसे समझ सकता है ?

व्याख्या—परम प्रभु का मर्म विचित्र है। साधारणतः लोग जैसा समझते है, उससे वह सर्वथा भिन्न है। अज्ञानी लोग उसे कैसे समझ सकते है ? वह तो ज्ञानियो के विचार का विषय है। वही उसका मर्म समझ सकते है। हम जिन्हें ईश्वर का अवतार समझते है, वस्तुतः वे स्वयं परम प्रभु का रहस्य न समझ सके। रामचन्द्र जैसे न जाने कितने तपस्वी हुए, जिन्होंने इस संसार की रक्षा की और न जाने कितने मुरलीधर कृष्ण हुए। किन्तु वे अनादि प्रभु का अंत न पा सके। इसी प्रकार मत्स्य, कच्छप, वाराह, वामन, बुद्ध और कल्कि आदि अवतार भी ब्रह्म का रहस्य न समझ सके। अनेक सिद्ध, साधक और संन्यासी जीवन भर वन मे रहकर तपस्या करने पर भी उसका मर्म न जान सके। बड़े-बड़े मुनि और गोरखनाथ जैसे योगी भी उसका रहस्य न समझ सके। कबीर पुकार कर कहते है कि जिस परम तत्त्व के रहस्य को ब्रह्मा भी न जान सके और शिव, सनकादि जिसको खोजकर हार गए, उसके रहस्य को साधारण मनुष्य कैसे समझ सकते है ?

(२५३)

राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथ जाँनी।[3]
नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पाँनी[4]॥ टेक ॥
बेलड़िया द्वै अनी[5] पहूँती, गगन पहूँती सैली।
सहज बेलि जब फूलन[6] लागी, डाली कूपल मेल्ही ॥
मन कुंजर जाइ बाड़ी बिलंबा, सतगुर बाही बेली।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पानी[7] मेल्ही ॥
काटत बेली कूपल मेल्हाँ, सींचत[8] हीं कुम्हिलानी।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरन्तर जाँनी[9] ॥

---

१. शु० क०—ब्रह्मै। २. शु० क०—जानी। ३. ना० प्र०—जाँणी। ४. ना० प्र०—पाँणी। ५. ना० प्र०—अर्णा। ६. ना० प्र०—फूलण। ७. ना० प्र०—पाँणी। ८. ना० प्र०—सीचलड़ी कुमिलाणी। ९. ना० प्र०—जाँणी।

शब्दार्थ—गुन बेलड़ी=भक्ति रूपी लता। सरूप=स्वरूप। बिरध=वृद्धि। अनी=किनारा, सीमा। पहूँती=पहुँची। सैली (सं० स्वैर)=स्वच्छन्दतापूर्वक। कूपल=कोपल। मेल्ही=पनपी, निकली। बिलबा=रम गया। वाही=जोतकर उत्पन्न किया। पयंप्या=उल्लसित किया।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने भक्ति के स्वरूप का निरूपण किया है।

व्याख्या—वह कहते हैं कि हे अवधू! रामभक्ति रूपी लता का ज्ञान केवल गोरखनाथ को ही हुआ है। इस भक्ति रूपी लता का न तो कोई स्थूल रूप है और न छाया। यह विना जल के वृद्धि को प्राप्त होती है। इस लता में इड़ा-पिंगला नामक दो शाखाएँ हैं जो स्वच्छन्दतापूर्वक गगन मंडल तक पहुँच जाती हैं। यह भक्ति-लता जव सहज रूप में पुष्पित होने लगती है, तव इसमे आनंद की कोपलें निकलने लगती हैं। सद्‌गुरु ने इस भक्ति-लता को जोतकर उत्पन्न किया है। इस काया रूपी वाटिका में स्थित भक्ति-लता में मन रूपी हाथी अनुरक्त होकर सैर करने लगता है। पांचो ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर प्राणशक्ति को उल्लसित करती है और इस वाटिका को रस से सींचती है। भक्ति का उद्रेक होने पर विपयोन्मुख इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती है और तव वही इन्द्रियाँ भक्ति में सहायक होती हैं। इस वेलि को काटने पर कोपले निकलती हैं अर्थात् भक्ति को विपयो से असम्पृक्त रखने पर आनंद की कोपले निकलती है तथा विपयो से सींचने पर वे कुम्हिला जाती है। तात्पर्य यह है कि भक्ति के लिये वैराग्य आवश्यक है। कबीर कहते हैं कि ऐसे योगी अत्यत विरले होते हैं जो अंतर में सहज भाव से निरन्तर विद्यमान परमतत्त्व को जानते हैं।

तुलनीय—तत वेली लो तत वेली लो, अवधू गोरखनाथ जाँणी।
डाल न मूल पहुप नहिं छाया, विरधि करै विण पाँणी॥

× × ×

काटत वेली कूपल मेल्ही सींचतड़ा कुमलाए।
मछिंद्र पसादै जती गोरख बोल्या नित नवेलड़ी थाए॥

—गोरखनाथ

अलंकार—(१) विरध करै विन पाँनी—विभावना।
(२) नाति सरूप—व्यतिरेक।
(३) मन कुंजर—रूपक।
(४) सातवी पक्ति मे विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति।

राग—रामकली।

(२५४)

राम चरन जाकै ह्रिदै[1] बसत हैं ताकौं[2] मन क्यौं डोलै ।
मानौ अठ सिधि[3] नउ निधि ताकै सहजि सहजि[4] जसु बोलै ।।टेक।।
ऐसी जे उपजै या जिअ[5] कै कुटिल गांठि सब खोलै ।
बारंबार बरजि बिखया[6] तैं लै नर जौ मन तोलै ।।
जहँ जहँ[7] जाइ तहीं सचु पावै माया तासु न झोलै ।
कहैं[8] कबीर मेरौ मन मान्यौ राम प्रीति कै ओलै ।।

शब्दार्थ—हृदै=हृदय मे । जे=यदि । कुटिल=वक्र, दुष्ट । बरजि=विमुख करके । तोलै=सयमित । सचु=आनद । झोलै=जलाना, सताना । ओलै=नाते, आश्रय, सहारे ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि जिसके हृदय मे प्रभु का वास है अर्थात् जिसका चित्त राम चरण मे अनुरक्त है, उसका मन डॉवाडोल कैसे हो सकता है ? वह ऐसी उच्च स्थिति मे पहुँच जाता है और उसे ऐसे आह्लाद का अनुभव होता है, जो उस व्यक्ति को होता है जिसे आठो सिद्धियाँ और नवो निधियाँ प्राप्त हो गई हों और वह सरलतापूर्वक सहज अवस्था अर्थात् राम रस का यशगान करता है । जिसके हृदय मे ऐसी श्रद्धा और निष्ठा उत्पन्न हो जाती है, वह जड-चेतन की वक्र तथा दुष्ट ग्रंथि खोलने मे समर्थ हो जाता है । ऐसा व्यक्ति अपने चित्त को विषयों से सदैव के लिए विमुख करके उसे सतुलित और सयमित कर लेता है । वह जहाँ भी जाता है, शाश्वत आनद का अनुभव करता है और माया उसे सता नही सकती । कबीर कहते हैं कि राम के प्रेम के आश्रय से मेरे मन मे अब एक व्यापक व्यवस्था के प्रति अटल प्रतीति हो गई है ।

राग—बिलावल ।

(२५५)

राम चरन मनि भाए रे ।
अस ढुरि[9] जाहु रांड[10] के करहा प्रेम प्रीति ल्यौ लाए रे ।। टेक ।।
आंब चढ़ी अँबली रे अँबली बबूर चढ़ी नगबेली रे ।
द्वै थर[11] चढ़ि गयौ रांड कौ करहा मनहुं पाट की सैली रे ।

---

१. ना० प्र०-रिदै । २. ना० प्र०-ता जन कौ मन क्यूँ डोलै । ३. ना० प्र०-सिध्य नव । ४. ना० प्र०-हरषि हरषि । ५. ना० प्र०-जीय । ६. ना० प्र०-विषिया । ७. ना० प्र०-जहाँ जहाँ । ८. ना० प्र०-कहै कबीर जब मन परचौ भयौ, रहै राम कै बोलै । ९. ना० प्र०-ढरि । १०. ना० प्र०-रॉय । ११. ना० प्र०-रथ ।

कंकर कुइँ पताल पांनियां सोनै बूंद बिकाई रे।
बजर परौ इहि मथुरा नगरी कांन्ह पियासा जाई रे॥
एक दहेड़िया दहो जमायौ दुसरी परि गई साढ़ी[1] रे।
न्यौति जियांऊँ अपनौ करहा छार मुनिस की दाढ़ी[2] रे॥
इहि बनि बाजै मदल[3] भेरि रे वहि बनि बाजै तूरा रे।
इहि बनि खेलै राही रुकमिनि वहि बनि कांन्ह अहीरा रे॥
आसि पासि तुरसी[4] का बिरवा मांझि बनारस[5] गाँऊँ रे।
[6]जाकौ ठाकुर तुहीं सारिंगधर भगत कबीरा नांऊँ रे॥

शब्दार्थ—भाए = प्रिय लगना। ढुरि=ढुलक जाना, सरक जाना। राड= विधवा। करहा = ऊँट का बच्चा। राड कौ करहा = (प्र० अ०) प्रभु से विच्छिन्न सांसारिक जीव। ल्यौ=लौ, ध्यान। अवली=आम्रवेलि। नगवेली = कांटेदार वेलि। थर=स्तर, परत। मनंह = मन मे। सैली = लकड़ी का टुकड़ा, चैली। पाट=लकडी का पटरा। कुइँ = छोटा कुआँ। दहेडिया=दही रखने का पात्र। साढी = मलाई। मुनिस = मुनीश। मदल = मर्दल, वाद्य विशेप। भेरि = डंका। तूरा=तुरही। राही = राधिका। सारिंगधर=शारंगधर, विष्णु, प्रभु।

संदर्भ—मानव बाह्य साधनो से सुख-शाति चाहता है, किन्तु उनसे सच्ची शाति नही मिल सकती। सच्चा सुख अन्तर मे निहित प्रभु के प्रकाश की ओर उन्मुख होने मे है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मेरा मन राम के चरणो मे अनुरक्त हो गया है। प्रभु से वियुक्त जीवों को सम्बोधित करते हुए वह कहते है कि हे जीवो! तुम भी इसी प्रकार प्रभु की ओर उन्मुख हो जाओ और उनका प्रीतिपूर्वक ध्यान करो।

आम पर चढ़ने वाली वेलि आम्र-वेलि कहलाती है, उसमे आम का गुण आ जाता है और बबूल पर चढ़ने वाली वेलि काँटेदार हो जाती है। तात्पर्य यह है कि यदि तुम भगवद्-भक्ति मे लगोगे तो तुम्हारा जीवन सुखी और शांतिमय रहेगा और यदि तुम सासारिक विषयो मे चित्त लगाओगे तो तुम्हारा मार्ग कटकाकीर्ण होगा।

तुम्हारे मन मे दुविधा की स्थिति रहती है। तुम एक ओर विषय-सुख चाहते हो, दूसरी ओर प्रभु का प्रेम भी प्राप्त करना चाहते हो। तुम्हारे मन मे सशय का कंटक कुरेदता रहता है।

तुम्हारे भीतर ब्रह्मरंध्र मे एक ऐसा स्रोत है जिससे निरन्तर अमृत-रस टपकता

१ ना० प्र०–साई। २. ना० प्र०–डारी। ३. तिवारी, ना० प्र०–मदन। ४. तिवारी–घन तुरसी। ५. ना० प्र०–द्वारिका। ६. ना० प्र०– तहाँ मेरौ ठाकुर रॉम राइ है।

रहता है, किन्तु वह अत्यंत कठिनाई से प्राप्त हो सकता है। उसका जल ऊपरी तल पर नहीं है, जिसे कोई भी सरलता से प्राप्त कर ले। वह बहुमूल्य है। शरीर रूपी ऐसी मथुरा नगरी मे जल (अमृत) के रहते हुए भी जीवात्मा (कृष्ण) प्यासा बना रहता है। यह अत्यत दुःखद है।

तुम एक पात्र मे दही जमाते हो और साढ़ी या मलाई दूसरे पात्र मे है अर्थात् तुम जिन साधनो से सुख और शाति चाहते हो, वह उनमे नही है। सुख और शांति का सार तुम्हारे भीतर कही अन्यत्र विद्यमान है। बाह्य साधनो से न तो तुम्हे सुख मिल सकता है और न तुम्हारे अन्य साथियो और मित्रों को, जिन्हे तुम अपनी सुख-सामग्री मे सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित करते हो। वह साढी (सारतत्व) तो बडे-बडे मुनियों को भी नही प्राप्त होती। उन्हें भी केवल निस्सार वस्तु मिलती हे।

तुम्हारे सासारिक जीवन मे केवल मर्दल और भेरी बजती है अर्थात् कोलाहल और अशान्ति है, तुरही का माधुर्य, जिसमे दिव्य सदेश है, तुम्हारे अन्तस्तम हृदय मे है। तुम्हारे सासारिक जीवन मे राधा-रुक्मिणी रूपी माया की क्रीड़ा चल रही है और तुम्हारे आन्तरिक जीवन मे कृष्ण (प्रभु) का मधुर सदेश निहित है।

चतुर्दिक तुलसी से सुशोभित मध्य मे वाराणसी नगरी स्थित है अर्थात् तुम्हारा दिव्य अन्तरात्मा हृदय-पद्म मे स्थित है और उसके आस-पास जीवन की अन्य सामग्री है। जिसके स्वामी साक्षात् विष्णु है अर्थात् जो जीव विष्णु के चरणों मे अनुरक्त रहता है, वही कबीर के समान सच्चा भक्त है।

अलंकार—(१) आब चढी अबली—दृष्टान्त।
(२) कंकर कुई ···जाई रे—विशेषोक्ति।
(३) एक दहेड़िया ··साढी रे—असंगति।
(४) पूरे पद मे—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(२५६)

राम जपत तनु जरि किन जाइ।
रांम नांम चितु रह्यौ समाइ॥ टेक॥
आपंहि पावक आपंहि पवनां, जारै खसम त राखै कवनां।
काको जरै काहि होइ हांनि, नटबिधि खेलै सारंगपांनि।
कहै कबीर अक्खर दुइ भाखि, होइगा रांम त लेइगा राखि॥

शब्दार्थ—खसम = आकाश के समान व्यापक स्वामी। भाखि = बोलकर।

व्याख्या—कबीर कहते है कि राम नाम का जप करते रहो, भले ही इस

साधना में तुम्हारा सारा शरीर नष्ट हो जाय। राम के नाम में चित्त को समाविष्ट कर देना चाहिए।

राम सर्वव्यापी है, वही रक्षक है। यदि उनकी कृपा हुई तभी रक्षा हो सकती है। उनके अतिरिक्त इस ससार मे जीव की कोई रक्षा नही कर सकता। यदि कही आग लगी हो, किन्तु वायु न चलती हो तो उसके प्रभाव को कुछ कम किया जा सकता है। किन्तु यदि आग भी लगी हो और पवन भी तीव्र गति से चल रहा हो अर्थात् पावक और पवन एक हो गए हो तो उससे कौन रक्षा कर सकता है? उस आग के जोर को कौन दवा सकता है? प्रभु तो पावक और पवन स्वयं ही हैं। अतः उनके कोप से किसी की कौन रक्षा कर सकता है? केवल सर्वव्यापी प्रभु ही रक्षा कर सकते है।

मायिक दृष्टि से ही किसी की कोई वस्तु जलती है और किसी की हानि होती है, किन्तु तात्विक दृष्टि से न कोई वस्तु जलती है और न किसी की हानि ही होती है। सारगपाणि प्रभु ही नट के समान सारे कार्य करते रहते हैं। कबीर कहते हैं कि राम नाम के दो अक्षर जपते रहो। यदि वह सहायक होगा तो तुम्हारी रक्षा अवश्य हो जाएगी।

अलंकार—(१) वक्रोक्ति।
(२) नट विधि खेलै—उपमा।

राग—गौरी।

(२५७)

राम तेरी माया दुंद मचावै[१]।
गति मति वाको समुझि[२] परै नहिं, सुर नर मुनिहिं नचावै॥
का[३] सेमर के[४] साखा वढ़ाए, फूल अनूपम मानी[५]।
केतिक चातक लागि रहे हैं, चाखत[६] रुवा उड़ानी॥
काह खजूर वड़ाई तेरी, कल[७] कोई नहिं[८] पावै।
ग्रीसम ऋतु जव आइ तुलानी, छाया काम न आवै॥
अपना[९] चतुर और को सिखवै, कनक कामिनी स्यानी।
कहैं कबीर सुनो हो संतो, रामचरन रति[१०] मानी॥

---

१ शुक०, वि०—वजावै। २. शुक०-समुझ परी। ३. शुक०-क्या। ४. शुक०—तेरि। ५. शुक०—वानी। ६ शुक०, वि०—देखत। ७ शुक०—फल। ८ शुक०—न। ९. वि०-अपने। १०. शुक०—रित।

शब्दार्थ—दुंद = द्वन्द्व, जन्म-मरण, राग-द्वेष आदि। गति = चाल। मति = अभिप्राय। मानी = समझते हैं। केतिक = कितने ही। चातक = (प्र० अ०) जीव। रुवा = रुई। कल = शांति, चैन। रति = प्रेम।

संदर्भ—इस पद मे मायाजन्य सांसारिक ऐश्वर्यो की निस्सारता का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे प्रभु ! ससार मे जन्म-मरण, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि जो द्वन्द्व दिखाई पड़ते है, वे सब तुम्हारी माया के कारण है। उसकी न तो चाल समझ मे आती है, न अभिप्राय। वह देवता, मनुष्य, ऋषि-मुनि सभी को नचाती है।

यह संसार सेमल के वृक्ष के समान है। उसकी शाखा (ऐश्वर्य) बढाने से क्या लाभ ? उसके पुष्प (स्त्री-पुत्र-धनादि) बहुत सुन्दर माने जाते है। न जाने कितने पक्षी (जीव) उसके प्रति आकृष्ट होते है, किन्तु उसके भोग मे उन्हे अन्ततः रुई (निस्सारता) हाथ आती है। खजूर के बड़प्पन (सासारिक प्रतिष्ठा) से क्या लाभ ? जब कि उससे किसी को कोई सुख नही मिलता। ग्रीष्म ऋतु आने पर उसकी छाया किसी के काम नही आती अर्थात् वृद्धावस्था अथवा मरणादि के ताप के आने पर सासारिक ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा निरर्थक हो जाते है। साधारणतः लोग माया के वश मे चालाकी मे लगे रहते है तथा दूसरो को भी उसी प्रकार की शिक्षा देते है। धन-स्त्री आदि की प्राप्ति के कौशल का उपदेश देते हैं। कबीर कहते है कि इस विनश्वर संसार के प्रति आसक्ति छोड़कर राम के चरणो मे प्रेम करो।

अलंकार—केतिक चातक··· पावै—दृष्टान्त।

(२५८)

राम न रमसि कौन डंड लागा, मरि जैबे का करिबे अभागा।
कोई तीरथ कोई मुंडित केसा, पाखंड मंत्र भर्म उपदेसा।
बिद्या वेद पढ़ि करै हंकारा, अंत काल मुख फांकै छारा।
दुखित सुखित होइ कुटुंब जेंवावै, मरण बेर एकसर दुख पावै।
कहै कबीर यह कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकसै टोटी॥

शब्दार्थ—भर्म = भ्रम। फाकै छारा (मु०) = धूल फाँकना। जेवावै (स० जेमन) भोजन कराना। एकसर = अकेला। करवा = टोटीदार लोटा। टोटी = नली।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि विद्याध्ययन आदि से लाभ नही है, केवल राम जप से ही कल्याण होगा।

व्याख्या—वाह्याचारी शास्त्रियो को चेतावनी देते हुए कबीर कहते है कि हे पंडितो ! तुम्हारे ऊपर कौन पाप सवार है कि तुम राम मे रमण नही करते हो ? हे अभागे ! मृत्यु तो निश्चित हैं। राम में रमण न करने से तुम्हारा निस्तार कैसे होगा ? तुम लागो मे से कोई तीर्थ के चक्कर मे रहता है और कोई केश मुड़ाकर अपने को पवित्र समझने लगता है। पापंड ही तुम्हारा मन्त्र वन गया है और भ्रम ही तुम्हारा उपदेश वन गया है। वास्तविक मत्र और उपदेश का तुम्हें स्वयं ज्ञान नही है। विद्या और वेद का अध्ययन करके तुम और अहकारी वन गये हो। किन्तु अन्तकाल मे तुम केवल धूल फाँकोगे अर्थात् तुम्हारी सद्‌गति नही होगी।

कर्मकाण्ड ही ब्राह्मण का व्यवसाय होता है। उसी के द्वारा नाना प्रकार के दु ख-सुख झेलकर वह परिवार का पोषण करता है। किन्तु अत समय मे कुटुम्ब उसका साथ नही देता है। वह अकेला ही दुःख झेलता है। फिर भी उसकी समझ मे यह नही आता कि सांसारिक क्रिया-कलाप मे फँसे रहने से सद्‌गति नही होगी। केवल राम नाम से ही उद्धार हो सकता है। कवीर कहते है कि कलियुग के क्षुद्र प्रभाव से लोग सांसारिक प्रपंचो मे फँसे रहते है और राम का नाम नही लेते। जो करवा (टोटीदार लोटा) के भीतर होगा, वही उसकी नली से बाहर निकलेगा अर्थात् भक्ति का जो प्रभाव भीतर विद्यमान है, वही आचरण मे अभिव्यक्त होगा।

अलंकार—(१) राम न रमसि··· अभागा—वक्रोक्ति।
(२) जो रहै करवा सो निकसै टोटी—लोकोक्ति।

(२५९)

राम नाँम रंग लागौ, कुरंग न होई,
हरि रंग सौ रंग और न कोई ॥ टेक ॥
और सबै रंग इहि रंग थैं छूटै, हरि रंग लागा कदे न खूटै।
कहै कबीर मेरे रंग रॉम राई, और पतंग रंग उड़ि जाई ॥

शब्दार्थ—रग = प्रेम। कुरंग = भद्दा, फीका। सौ = समान। कदे = कभी। खूटै = नष्ट होना। पतग = कच्चा रग, अस्थायी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे भगवत्-प्रेम के स्थायित्व का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—राम-नाम के प्रति प्रेम की विशेषता वताते हुए कबीर कहते है कि यह ऐसा रग है जो कभी फीका नही पडता। प्रभु-प्रेम जैसा दूसरा प्रेम नही है। भगवत्-प्रेम होने पर अन्य सभी पदार्थो के प्रति राग समाप्त हो जाता है। किन्तु प्रभु के प्रति उत्पन्न प्रेम कभी समाप्त नही होता। कबीर कहते है कि मेरा प्रेम जगत् के स्वामी राम के प्रति है। यह प्रेम स्थायी है, अन्य प्रेम अस्थायी होते है।

अलंकार—हरि रंग ……न कोई—अनन्वय ।

राग—आसावरी ।

(२६०)

राम[1] बिनाँ संसार अंध कुहेरा ।
सिरि प्रगटा जम का पेरा[2] ॥ टेक ॥
बुत[3] पूजि पूजि हिन्दू मूए, तुरुक मुए हज जाई ।
जटा धारि[4] धारि जोगी मूए, मेरी गति किनहुँ न पाई ॥
कवि[5] कबीनैं कबिता मूए, कापड़ी केदारैं[6] जाई ।
केस लूँचि लूँचि मुए बरतिया, इनमैं किनहुँ न पाई ॥
धन संचते राजा मूए, गड़िले[7] कंचन भारी ।
बेद पढ़े पढ़ि पंडित मूए, रूप[8] भूले मुई नारी ॥
जें[9] नर जोग जुगति करि जांनै, खोजै आप सरीरा ।
तिनकूँ मुकति का संसा नाहीं, कहै जुलाह कबीरा ॥

शब्दार्थ—अध कुहेरा=अधकारमय कुहासा । पेरा=पेला, आक्रमण । बुत (फा०) = मूर्ति । कबीनै=रचते-रचते । कापडी=कार्पटिक, तीर्थ स्थानों से जल लाकर उससे जीविका चलाने वाले । केदारै=केदारनाथ । लूँचि लूँचि=नोच-नोचकर । बरतिया=व्रतधारी, जैन साधु । मुई=मर गई । सचते=एकत्र करते । जोग=युक्त होना, सयोग, मिलन । जुगति=साधना । ससा=संशय ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि राम की भक्ति के बिना यह संसार कुहासे के समान अंधकारमय और निस्सार है । ससार मे आसक्त व्यक्ति यह नही सोचता कि वह एक दिन यमराज की चपेट मे आ जाएगा । कबीर चेतावनी देते है कि इस आसक्ति को छोडकर प्रभु की भक्ति करो ।

मूर्ति की पूजा करते-करते हिन्दू नष्ट हो गए और हज-यात्रा करते-करते मुसलमान भी समाप्त हो गए । बाहरी वेश बनाकर, लम्बी जटाएँ धारण कर योगी भी नष्ट हो गए । किन्तु कोई सद्गति न प्राप्त कर सका ।

बडे-बड़े कवि सुन्दर कविताएँ रचकर मर गए । तीर्थयात्री केदारनाथ जैसे

१. तिवारी–मन रे । २. ना० प्र०–फेरा । ३. ना० प्र०–देव । ४. ना प्र०–बाँधि बाँधि । ५. तिवारी–कवित पढे पढि कविता मूए । ६ ना० प्र०–के दारौं । ७. ना० प्र०–अरू ले । ८. तिवारी–रूप देखि देखि नारी । ९. तिवारी—

रांम नाम बिन सभै बिगूते देखहु निरखि सरीरा ।
हरि के नाम बिनु किनि गति पाई, कहै जुलाह कबीरा ॥

उत्तुग शृंग पर स्थित तीर्थ की यात्रा करते-करते मर गए और व्रतधारी जैन साधु बाल नोच-नोच कर मर गए। किन्तु इनमे से कोई सद्गति न प्राप्त कर सका।

धन-सग्रह करते-करते और यत्नपूर्वक उसे छिपाकर रक्षा करते-करते राजा नष्ट हो गए, वेदशास्त्र का पाठ करते-करते पडित मर गए और अपने सौदर्य के अहंकार मे नारी नष्ट हो गई। किन्तु किसी को सद्गति न मिल सकी। कबीर कहते हैं कि जो साधक अपने इसी शरीर के भीतर आत्मतत्व को खोजकर साधना द्वारा उससे युक्त होते हैं, उन्हे निःसदेह मुक्ति मिलेगी।

टिप्पणी—कहत जुलाह कबीरा—

यहाँ 'जुलाह' शब्द बहुत व्यञ्जक है। इसमे ध्वनि यह है कि कबीर यद्यपि तथाकथित निम्नकुल मे उत्पन्न हुए हैं और उन्होने वेदशास्त्र का अध्ययन नही किया है, किन्तु उन्होने अपने अनुभव से जान लिया है कि मुक्ति उन्ही को प्राप्त हो सकती है, जिनमे साधना द्वारा आन्तरिक परिवर्तन हो गया हो।

राग—केदार।

(२६१)

राम बिनु[1] तन की तपनि[2] न जाइ।
जल महिं[3] अगिनि उठी अधिकाइ[4] ॥ टेक ॥
तूँ[5] जलनिधि हउँ[6] जल का[7] मींनु, जल महिं[8] रहउँ जलहि बिनु खींनु।
तूँ[9] पिंजरु हउँ सुअटा तोर, जमु मंजार कहा करै मोर।
तूँ[10] सतगुरु हउँ[11] नौतम[12] चेला, कहै कबीर मिलु[13] अंत की बेला ॥

शब्दार्थ—तपनि = ताप, त्रिताप। जलनिधि = सागर। हउ = मैं। खीनुँ = क्षीण, दुर्बल। पिंजरु = पिंजरा। सुअटा = शुक, तोता। जमु = यमराज। मजार = बिलाव, मार्जार। नौतम—नवीनतम, बिल्कुल नया।

व्याख्या—राम के बिना जीव त्रिताप से मुक्त नही हो सकता। जीव भव-सागर का वासी है और आश्चर्य यह है कि सागर (जल) मे रहते हुए भी वह त्रिताप से बुरी तरह से ग्रस्त है।

अगली पक्तियो मे कबीर प्रभु से अत्यधिक निकट का सम्बध दिखाने के लिए

---

१. ना० प्र०—बिन। २. ना० प्र०—ताप न जाई। ३. ना० प्र०—मै। ४ ना० प्र०—अधिकाई। ५. ना० प्र०—तुम्ह। ६. ना० प्र०—मैं। ७. ना० प्र०—कर। ८. ना० प्र०—मैं रहौं। ९. ना० प्र०—तुम्ह प्यंजरा मैं सुवना तोरा, दरसन देहु भाग बड़ मोरा। १० ना० प्र०—तुम्ह। ११ ना० प्र०—मै। १२. तिवारी—नौ तुन। १३. ना० प्र० राम रमूँ अकेला।

तीन दृष्टान्तों का प्रयोग करते है। वह कहते हैं कि यदि आप समुद्र है तो मैं उस समुद्र की मछली हूँ। मछली समुद्र मे ही रह सकती है। उसके बिना वह हीन-क्षीण हो जाती है, उसी प्रकार जीव भी आपके बिना व्यथित रहता है।

आप पिंजरा है, मै उस पिंजरे का सुग्गा हूँ। अतः यमराज रूपी मार्जार मेरा क्या बिगाड सकता है ? जब मैं आपके द्वारा सुरक्षित हूँ तो फिर किसी प्रकार के प्रलोभन का मेरे ऊपर प्रभाव नहीं पड़ सकता।

आप सद्‌गुरु हैं और मै आपका नौसिखिया शिष्य हूँ। कबीर कहते है कि अंतिम समय मे आप मुझे अवश्य अपना लें।

अलंकार—(१) जल महि अगिनि—विरोधाभास।
(२) पूरे पद मे उल्लेख।

राग—गौरी।

(२६२)

राम भगति अनियाले तीर[1]।
जेहि[2] लागै सो जानैं पीर ॥ टेक ॥
तनु महि[3] खोजौं चोट न पावौं[4], ओषद मूर[5] कहाँ घसि लावौं[6]।
एक[7] भाइ दीसैं सब नारी, नां जांनौं को पियहिं पियारी।
कहै कबीर जाकै[8] मस्तकि भाग, सभ[9] परिहरि ताकौं मिलै सुहाग ॥

शब्दार्थ—अनियाले=नुकीला, तीक्ष्ण, अनीदार। पीर=पीडा। मूर=बूटी, मूल। घसि=घिसकर। लावौ=लगाऊँ। भाइ=समान, भाँति। परिहरि=छोड़कर।

व्याख्या—राम के प्रति प्रेमाभक्ति नुकीले तीर के समान है। यह प्रेम-बाण जिसके हृदय मे लग गया है, वही उसकी पीडा को समझ सकता है। प्रेम-बाण सामान्य बाण से विलक्षण होता है। सामान्य बाण की चोट शरीर पर दिखाई पड़ती है। अतएव उसका औषध द्वारा उपचार किया जा सकता है। किन्तु प्रेम-बाण का घाव सारे शरीर मे खोजने पर भी दिखलाई नहीं पडता। इसलिए इसका उपचार भी किया जाय तो कैसे ? जडी-बूटी घिसकर लगाई जाय तो कहाँ ? इसकी व्यथा तो आन्तरिक होती है।

परमात्मा रूपी प्रियतम के लिए सभी जीव रूपी नारियाँ एक समान है।

---

१. ना० प्र०—बान अन्याले। २. ना० प्र०—जाहि। ३. ना० प्र०—मन। ४. ना० प्र०—पाऊँ। ५. ना० प्र०—मूली। ६. ना० प्र०—लाऊँ। ७. ना० प्र०—एक ही रूप। ८. ना० प्र०—जा। ९. ना० प्र०—नाँ जानूँ काहु देइ सुहाग।

पता नही प्रभु किसका वरण करेंगे ? कबीर करते हैं कि जिसका भाग्य जगा है, अन्य सभी जीवो को छोडकर उसे ही प्रभु का सोहाग प्राप्त होगा।

तुलनीय—(१) जाहि लगै सोई पै जानै प्रेम बान अनियारो।

—सूर

(२) यह प्रेम को पंथ कराल महा,
तरवारि कै धार पै धावनो है।

—बोधा

अलंकार—व्यतिरेक, विशेपोक्ति।

राग—गौरी।

(२६३)

राम भजा सोइ जीता जग मैं।
राम भजा सोइ जीता रे॥ टेक॥
हाथ सुमिरनीं पेट कतरनी पढ़ै भागवत गीता रे।
हिरदै सुद्ध किया नहि बौरे कहत सुनत दिन बीता रे।
ऑन देव की पूजा कीन्हीं हरि से रहा अमीता रे।
धन जोवन तेरा यहीं रहैगा अंत समय चलि रीता रे।
बाँवरिया बन मै फँद रोपै संग मै फिरै निचीता रे।
कहै कबीर काल यौं मारै जैसे म्रिग कौं चीता रे॥

शब्दार्थ—जीता=(१) जीवित (२) विजयी। आंन=अन्य। अमीता=अमैत्रीपूर्ण, अनुराग न रखने वाला। रीता=रिक्त। बन=(प्र० अ०) हृदय। फंद=बंधन, धोखा। निचीता=निश्चित।

संदर्भ—इस पद में बताया गया है कि शुद्ध हृदय के बिना सच्ची भक्ति असम्भव है। पापंड से जीव अपने को ही नष्ट करता है।

व्याख्या—कबीरदास कहते है कि जो राम की भक्ति करता है, उसी का जीवन सार्थक है और वस्तुतः वही काम, क्रोध आदि दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त कर सकता है। भक्ति शुद्ध हृदय से होनी चाहिए। जो केवल दिखावे के लिए हाथ मे माला लेकर जप करते है और भगवत् गीता का पाठ करते है, किन्तु हृदय से कपटी और कुटिल है, उनके समस्त वाह्याचार निरर्थक है। जिन्होने अपने हृदय को शुद्ध नही किया है, उनका सारा जीवन आडम्बरपूर्ण कथन-श्रवण मे ही बीत जाता है। ऐसे पापंडी जीवन भर विभिन्न देवी-देवताओ की पूजा करते रहते है, किन्तु परम-प्रभु से अनुराग नहीं रखते।

कबीरदास कहते है कि हे बावले जीव ! तू धन और यौवन पर व्यर्थ गर्व करता है। अंत समय मे सब यही रह जाएगा और तुझे इस संसार से खाली हाथ जाना होगा। मूढ जीव दूसरों को ठगने के लिए अपने हृदय मे छल-कपट का जाल या पाश बिछाकर स्वय निश्चिन्त विचरता है। उसे यह ज्ञान नही रहता है कि वस्तुतः वह स्वयं उसी पाश मे आबद्ध है और एक दिन सहसा काल उसका उसी प्रकार वध कर देगा जैसे चीता जंगली पशु का शिकार करता है।

अलंकार—(१) जीता-जीता मे—यमक।
(२) जैसे म्रिग को चीता रे—उपमा।

राग—सोरठ।

(२६४)

राम मोहि तारि कहाँ लै जइहौ[1]।
सो बैकुंठ कहौ धौं[2] कैसा करि पसाउ[3] मोहि दइहौ ॥ टेक ॥
जउ तुम मोकौं दूरि करत हौ[4] तौ मोहि मुकुति बतावहु।
एकमेक रमि रह्यौ सभनि[5] मैं तौ काहे भरमावहु ॥
तारन तरनु तबै लगि कहिए जब लगि तत्त न जाँनाँ।
एक रांम देखा[6] सबहिन मैं कहै कबीर मन मॉनाँ ॥

शब्दार्थ—तारि=भवसागर से पार करके। पसाउ=प्रसाद, कृपा। तत्त=तत्त्व। तारन=उद्धार करने की बात। तरन=उद्धार होने की बात।

संदर्भ—कबीर ने इस पद मे बताया है कि वास्तविक मुक्ति वैकुण्ठ नही है। वास्तविक मुक्ति है—सबमे परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार, विश्व में परमात्म-चेतना।

व्याख्या—लोक मे यह विश्वास है कि भव-सागर पार करके मुक्त जीव वैकुण्ठ मे जाएगा। कबीर कहते है कि हे प्रभु ! आप कृपा करके यह बताइए कि भव-सागर पार कराकर आप मुझे कहाँ ले जाएँगे ? आप अपनी कृपा से जिस वैकुण्ठ को देंगे, वह कहाँ है और कैसा है ?

यदि आप मुझे अपने से पृथक् रखते है तो फिर मुक्ति क्या होगी ? यह आप मुझे समझाइए। जब यह सत्य है कि आप सर्वव्यापी है, आप सबके भीतर विद्यमान है, तब फिर मुक्ति देकर अन्यत्र वैकुण्ठ नामक स्थान मे जाने की भ्रान्ति क्यों फैलाई जाती है ? उद्धारक और उद्धार की बात की सार्थकता तभी तक है, जब तक परमतत्व

---

१. ना० प्र०-जैहौ। २. ना० प्र०-धूँ। ३. ना० प्र०-पसाव। ४. ना० प्र०-जे मेरे जीव दोइ जाँनत हौ। ५. ना० प्र०-रह्या सबनि। ६. ना० प्र०-देख्या।

के रहस्य का ज्ञान नही होता। वस्तुतः मुक्ति तो वह स्थिति है जिसमें राम का दर्शन सभी में हो, जिसमे परमात्मा और जीवात्मा के एकत्व की अनुभूति हो। हे प्रभु ! मैंने यह साक्षात्कार कर लिया है, सबमे आपको देख लिया है। अब मेरा मन पूर्ण रूप से आश्वस्त हो गया है कि यही वास्तविक मुक्ति है। वैकुण्ठ आदि अन्यत्र जाना मुक्ति नही है।

कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

'अनजाने को नरक सरग है, जाने को कछु नाही।'

राग—गौरी।

(२६५)

राम मोहि सतगुर मिले अनेक कलानिधि परमतत्त सुखदाई।
कांम अगिनि[1] तन जरत रह्यो[2] है, हरि रसि छिरकि बुझाई ॥ टेक॥
दरस परस तैं दुरमति नासी, दीन रटनि लौ[3] आई।
पाषंड भरम कपाट खोलि कै, अनभै कथा सुनाई॥
यहु संसार गंभीर अधिक जल, को गहि लावै तीरा।
नाव जिहाज खेवइया साधू, उतरे दास कबीरा॥

शब्दार्थ—कलानिधि = निर्माता। अनभै = भयरहित। नाव = नाम।

संदर्भ—इस पद मे सद्गुरु की महिमा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे प्रभो ! मुझे ऐसे कलानिधि सद्गुरु मिले हैं, जिन्होंने अपने उपदेश-रसायन से मेरा रूपान्तरण कर दिया है और जिनके द्वारा मुझे परमानंद-रूप तत्व की प्राप्ति हो गई है, जिससे मैं सदा आनंद का अनुभव करता हूँ।

यह शरीर काम रूपी अग्नि के कारण निरन्तर जल रहा था। सद्गुरु ने प्रभु के रस को छिड़ककर उस अग्नि को बुझा दिया। सद्गुरु के दर्शन और स्पर्श अर्थात् सामीप्य से दुर्बुद्धि का नाश हो गया और इस दीन का ध्यान प्रभु-स्मरण मे लग गया। उन्होंने पाखड और अज्ञान के कपाट खोलकर, उस अद्वैत का दर्शन करा दिया जिससे सारा भय मिट जाता है। यह संसार ऐसा सागर है जिसका जल अथाह और अधिक है। सद्गुरु के सिवाय ऐसा कौन है जो ऐसे सागर को पार कराकर किनारे लगा

१. ना० प्र०–अगनि। २. ना० प्र०–रह्यौ। ३. ना० प्र०–ल्यौ।

सके। प्रभु का नाम-स्मरण ही जहाज है, उसके केवट संत सद्गुरु हैं। उनकी कृपा से यह दास कबीर भवसागर पार हो गया।

अलंकार—(१) काँम अगिनि—रूपक।
(२) को गहि लावै तीरा—वक्रोक्ति।
(३) नाव जिहाज.......कबीरा—सांग रूपक।

राग—रामकली।

(२६६)

राम रसु पीआ[1] रे।
तातैं[2] बिसरि गए रस और॥ टेक॥
रे मन तेरो कोइ[3] नहीं खैंचि लेइ जिनि भारु।
बिरखि बसेरौ पंखि को तैसौ[4] यहु संसारु॥
और मुएँ क्या[5] रोइए जउ आपा थिरु न रहाइ।
जो उपजा सो बिनसिहै दुख[6] करि रोवै बलाइ॥
जँह[7] को उपजी तहँ रची पीवत मरदन लाग।
कहै कबीर चित चेतिआ रांम सुमिरि बैराग॥

शब्दार्थ—रामरस = परमात्मा के साक्षात्कार का आनंद, तुरीयावस्था, उन्मनी अवस्था, सहजावस्था—ये सभी 'राम रस' के पर्यायवाची है। पीआ = आस्वादन किया। जिनि = जो। मुए = मरने पर। जउ = यदि। थिरु = स्थिर। रोवै बलाइ (मुहा०) = आपत्ति स्वयं रोती है अर्थात् व्यर्थ है। पीवत = पीते समय।

संदर्भ—इस पद में कबीर ने सासारिक भोग और विषय-रस की अपेक्षा राम-रस की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैंने प्रभु के साक्षात्कार का आनद प्राप्त कर लिया है। उस रस के आस्वादन के सामने अन्य सभी रस फीके पड़ गए हैं। वह कहते हैं कि हे मन ! इस संसार मे तेरा कोई ऐसा नही है जो तेरे (कर्मों के) भार को वहन कर सके। तुझे ही अपने कर्मों के भार को वहन करना पड़ेगा अर्थात् अपने कर्मों का फल तुझे ही भोगना पड़ेगा। जिस प्रकार वृक्ष पर पक्षी का बसेरा केवल रातभर के लिए होता है, वैसे ही हे जीव ! तेरा इस ससार मे निवास अल्पकाल के लिए है। दूसरों के मरने पर क्या रोया जाय, जबकि अपना ही जीवन स्थायी नही है। जो

१. ना० प्र०, गुप्त—पाइया। २. ना० प्र०, गुप्त—तार्थै। ३. ना० प्र०, गुप्त—तेरा को। ४. ना० प्र०, गुप्त—ऐसा माया जाल। ५. ना० प्र०, गुप्त—मरत का। ६. ना० प्र०, गुप्त—तार्थै दुख। ७. ना० प्र०, गुप्त—जहाँ उपज्या तहाँ फिरि रच्या रे।

पैदा हुआ है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। अत. उस पर दु.ख करना अथवा रोना व्यर्थ है।

मानव जीवन का वैचित्र्य यह है कि वह नारी से उत्पन्न होता है और नारी में ही अनुरक्त हो जाता है। वह बालपन में ही स्तन-पान करते समय कुच मसलने लगता है। मानव मे जो स्वाभाविक राग की प्रवृत्ति है, वही उसे संसार में फँसाए रखती है। हे मन ! अब तूने ससार की असारता को समझ लिया है और यह भी देख लिया है कि राग ही बंधन का कारण है। इसलिए तू अब विरक्त होकर, राग को पृथक् कर राम का स्मरण कर।

तुलनीय—जो उपजा सो विनसिहै—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
(श्रीमद्भगवद् गीता २।२७)

अलंकार—चौथी पक्ति मे उपमा।

राग—गौरी।

(२६७)

राम राइ कासनि करौं पुकारा।
ऐसे तुम्ह साहिब जाननिहारा ॥ टेक ॥
इन्द्री सबल निबल मैं माधौ, बहुत करैं बरियाई।
लै धरि जाँहि तहाँ दुख पइए, बुधि बल कछु न बसाई ॥
मैं बपुरौ का अलप मूँढ़ मति, कहा भए जे लूटे।
मुनि जन सती सिद्ध अरु साधक, तेऊ न आए छूटे ॥
जोगी जती तपी सन्यासी, अहनिसि खोजैं काया।
मै मेरी करि बहुत बिगूते, बिषै बाघ जग खाया ॥
ऐकत छाँडि जाँहि घर घरनीं, तिन भी बहुत उपाया।
कहै कबीर कछु समुझि न परई, विषम तुम्हारी माया ॥

शब्दार्थ—बरियाई=हठपूर्वक। न बसाई=वश नही चलता। बपुरौ=बेचारा। अहनिसि=दिनरात। बिगूते=नष्ट होते हैं। जे=यदि। ऐकत=एकान्तवास। घरनी=पत्नी। उपाया=उत्पन्न किया।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे विषयों की आकर्षण शक्ति और प्रबलता का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे संसार के स्वामी राम ! किससे निवेदन करूँ ? आप स्वयं सभी के हृदय की बात जानने वाले है। हे प्रभु ! मैं दुर्बल हूँ और इन्द्रियाँ सबल है। वे बहुत जबर्दस्ती करती है। वे हठपूर्वक मुझे पकड़कर जिन विषयों की ओर ले जाती है, वहाँ दुःख ही मिलता है, फिर भी मेरे बुद्धि-बल का वश नही चलता और मैं विवश होकर उधर ही खिंच जाता हूँ। हमारे जैसे बेचारों की क्या गिनती ? जिनकी मति अल्प और मूढ है। यदि इन इन्द्रियों ने मुझे लूट लिया तो इसमे आश्चर्य ही क्या ? बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, सत्य के अनुगामी, सिद्ध और साधक भी इनके आकर्षण से नही बच सके है। योगी, यती, तपस्वी और संन्यासी दिन-रात शारीरिक सुखो की खोज मे लगे रहते है। वे अहं और ममत्व के चक्कर मे पड़कर ठगे जाते है। विषय रूपी व्याघ्र सारे संसार को खा जाता है। जो लोग घर-घरनी (पत्नी) अर्थात् गृहस्थ जीवन का परित्याग कर एकान्तवास करते है, वे भी अपने लिए अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा कर लेते है। कबीर कहते है कि हे प्रभु ! तुम्हारी माया बहुत टेढ़ी है। उसका मर्म समझ मे नही आता।

अलंकार—(१) मुनि जन.......छूटे—सम्बन्धातिशयोक्ति।
(२) बिषै बाघ—रूपक।

राग—रामकली।

(२६८)

राम राइ तेरी गति जांनी[1] न जाई।
जो जस करिहै सो तस पइहै, राजा राम नियाई ॥ टेक ॥
जैसी कहै करै जो तैसी, तौ तिरत न लागै बारा।
कहता कहि गया सुनता सुनि[2] गया, करनीं[3] कठिन अपारा ॥
सुरही तिन चरि अमृत सरबै, लेर भवंगहि पाई।
अनेक जतन करि निग्रह कीजै, बिषै बिकार न जाई ॥
संत करै असंत की संगति, तासों कहा बसाई।
कहै कबीर ताके भ्रम छूटै, जे रहे राम लौ[4] लाई ॥

शब्दार्थ—गति = लीला। नियाई = न्यायकर्त्ता। तिरत = उद्धार। सुरही = सुरभि, गाय। तिण = तृण, घास। अमृत = दूध। सरबै = स्रवित करती है। लेर = बछडा। भवंगहि = भुजंग, सर्प। पाई (फा० पांई) = पैताना। निग्रह = नियन्त्रण।

संदर्भ—इस पद मे कथनी-करनी मे सामञ्जस्य और विषय-विकार से बचने का उपदेश दिया गया है।

१. ना० प्र०—जाँणी। २. ना० प्र०—सुँणि। ३. ना० प्र०—करणीं। ४. ना० प्र०—ल्यौ।

व्याख्या—कवीर कहते है कि हे जगत् के स्वामी राम ! तुम्हारी लीला समझ में नही आती। केवल इतना स्पष्ट है कि प्रभु ऐसे स्वामी है, जो सच्चा न्याय करते है। जिसका जैसा कर्म होता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। सत्कर्म की वात तो सभी करते है, किन्तु उसे आचरण मे नही लाते। यदि कथनी-करनी में सामञ्जस्य हो जाय तो उद्धार होने मे विलम्व न लगे। उपदेशक लोग उपदेश सुना जाते है और श्रोता उसे सुनते भी है, किन्तु उसे आचरण में लाना वहुत कठिन होता है। गाय घास चरकर दूव देती है, किन्तु उसके वछडे के सामने सर्प मौजूद है जिसके करण वह दूव पी नही पाता। ऐसे ही जीव श्रुति-स्मृति का अमृतमय उपदेश विपय रूपी सर्प के कारण जीवन मे चरितार्थ नही कर पाता। विपय का विकार वडा विकराल होता है, वह लाख प्रयत्न करने पर भी दूर नही होता। प्रायः साधु वेश धारण करने वाले असाधुओं की सगति करते है। ऐसे लोगो को कैसे वचाया जा सकता है ? कवीर कहते है कि उसी का अज्ञान मिट सकता है, जो राम मे अनुरक्त है।

तुलनीय— पर उपदेस कुसल वहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥—तुलसी

अलंकार— (१) सुरही··· पाई—दृष्टान्त।
(२) अनेक जतन ·जाई—विशेपोक्ति

राग—रामकली।

(२६९)

राम राम राम रमि रहिए।
साकत[१] सेती भूलि न कहिए॥ टेक॥
का सुनहां कौं सुम्रित सुनाएँ, का साकत पहिं[२] हरि गुन गाएँ।
कउवा कहा कपूर खवाए[३], का बिसहर कौं दूध पिआए।
[४]अंम्रित लै लै नींव सिचाई[५], कहै कबीर वाकी बांनि न जाई॥

शब्दार्थ—साकत=वाममार्गी शाक्त। सुनहा=श्वान, कुत्ता। सुम्रित= स्मृति। विसहर=विपधर, सर्प। नीव=नीम। वानि=स्वभाव।

संदर्भ—इस पद मे कवीर ने विपयलिप्त जनो की निन्दा की है और वताया है कि सत्सग और भक्ति का भी उन पर प्रभाव नही पड़ता है।

१. ना० प्र०-सापित। २. ना० प्र०-पै। ३. तिवारी-चराए। ४. ना० प्र० की प्रति में यहाँ एक पँक्ति और है-सापित सुनहाँ दोऊ भाई, वो नींदै वौ भौंकत जाई। ५. ना० प्र०-स्यँचाई।

व्याख्या—कबीर कहते है कि राम नाम का निरन्तर जप करते रहो और तुम्हारा चित्त सदैव राम मे रमण करता रहे। किन्तु विपयलिप्त शाक्तो को यह उपदेश देना व्यर्थ है। कुत्ते को मनुस्मृतियाँ आदि स्मृति सुनाने से क्या लाभ ? वाममार्गी शाक्त के समक्ष हरि का गुणगान व्यर्थ है। काग पक्षी को कपूर खिलाने और सर्प को दूध पिलाने से कोई लाभ नही। कबीर कहते हैं कि नीम जैसे कडुए वृक्ष को यदि अमृत से भी सीचा जाय तो भी उसका कडुएपन का स्वभाव नष्ट नही हो सकता।

तुलनीय—तजो मन हरि बिमुखनि कौ सग।
जिनकै सग कुमति उपजति है परत भजन मैं भंग॥
कहा होत पय पान कराए बिष नहिं तजत भुजंग।
कागहि कहा कपूर चुगाए स्वान न्हवाए गंग॥
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग।
गज कौ कहा सरित अन्हवाए बहुरि धरै वह ढंग॥
पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतौ करत निषंग।
सूरदास खल कारी कामरि चढत न दूजौ रग॥

—सूरदास

अलंकार—(१) राम राम राम रमि रहिए—अनुप्रास।
(२) पूरे पद मे उदाहरण, वक्रोक्ति।
(३) अंम्रित लै ······जाई—विशेषोक्ति।

राग—आसावरी।

(२७०)

रामुरा झीं झीं[1] जंतर बाजै, कर चरन बिहूना नाचै।
कर बिनु बाजै सुनै स्रवन बिनु, स्रवन सरोता[2] सोई।
पाट[3] न सुवस सभा बिनु अवसर, बूझहु मुनि जन लोई॥
इन्द्री बिनु भोग स्वाद जिभ्या बिनु, अक्षय पिंड बिहूना।
जागत चोर मंदिर तहँ मूसै, खसम अछत घर सूना॥
बीज बिनु अंकुर पेड़ बिनु तरवर, बिन फूले फल फरिया।
बाँझ के कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पग तरवर चढ़िया॥
मसि[4] बिनु द्वात कलम बिनु कागद, बिनु अक्षर सुधि होई।
सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहै[5] कबीर जन सोई॥

---

१. शुक०–झिन झिन। २ शुक०–स्रोता। ३ शुक०–पाटन सुजस। ४. शुक०–मसी। ५. वि०–कहहिं कबिर।

शब्दार्थ—रामुरा=राम जिसके राजा हैं अर्थात् जीव। विहूना=विना, रहित। सरोता=स्रोता। पाट=वस्त्र। सुवस=सुन्दर रूप से सजा हुआ। अक्षय=अविनाशी। पिंड=शरीर। अछत=होते हुए। मसि=स्याही। द्वात=दावात।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में प्रत्यगात्मा, प्राणशक्ति और जीवात्मा की स्थिति का निरूपण किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे जीव! शरीर के भीतर निरन्तर अनाहत नाद होता रहता है और हाथ-पैर के बिना ही मन नाचता रहता है अर्थात् नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करता रहता है।

अगली पंक्तियों में कबीर प्रत्यगात्मा, प्राणशक्ति और जीव की स्थिति का बोध कराते हैं। प्रत्यगात्मा साक्षि-चैतन्य है, द्रष्टा है। प्राणशक्ति में होने वाले अनाहत नाद के द्वारा उसका संकेत मिलता है। जीव अन्तःकरण, प्राण और पांचभौतिक शरीर का समष्टि रूप है।

शरीर के भीतर विना हाथ के एक वाजा वजता रहता है अर्थात् अनाहत ध्वनि प्राणशक्ति के द्वारा होती रहती है। सुरति (प्रत्यगात्मा) उसको विना कान के सुनती रहती है। यह सुरति श्रवण की भी श्रोता है। केनोपनिषद् (१।२) में कहा गया है—श्रोत्रस्य श्रोता अर्थात् प्रत्यगात्मा श्रवण का भी श्रोता है। वह बिना वस्त्रों के ही सुन्दर रूप से सजा हुआ है और बिना नियत समय के ही वहाँ सभा होती रहती है अर्थात् वह नित्य सचेतन है। हे मुनियो! इस मर्म को समझो। वह प्रत्यगात्मा विना इन्द्रियों के भोग करता है, जिह्वा के विना सभी पदार्थों का स्वाद लेता है। वह विना शरीर वाला है। अतः अक्षय और अविनाशी है। प्रत्यगात्मा सदैव जाग्रत रहता है, किन्तु उसके हृदय रूपी भवन में काम, क्रोध आदि लूट मचाते रहते हैं। घर का स्वामी प्रत्यगात्मा इसी शरीर में विद्यमान है, फिर भी घर सूना है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यगात्मा का प्रभाव नही रह पाता। मन और इन्द्रियाँ ही सक्रिय रहती हैं। इसीलिए प्रत्यगात्मा की दृष्टि से घर सूना (शून्य) है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जीव जब सुषुप्ति की अवस्था में रहता है, तब उसको किसी वस्तु का वोध नहीं रहता। यही शून्य की स्थिति है। स्वामी प्रत्यगात्मा तब भी जाग्रत रहता है।

जीव की संसारी दशा व्यक्त है, किन्तु उसका कारण अव्यक्त है। उसके जीवन का अंकुर व्यक्त है, किन्तु बीज का पता नही है। यहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि वासनाएँ अंकुर है जो स्पष्ट रूप से भासित हैं, किन्तु उन संचित कर्म रूपी बीजों का पता नही है, जिनके कारण वासनाएँ अंकुरित हुई है। इसी प्रकार उसके सांसारिक जीवन का महान् वृक्ष तो खड़ा है, किन्तु उसका मूल पौधा (कर्म) अव्यक्त

है। सामान्यतः बिना फूल के फल नही होता। मानव-जीवन मे सुख-दु:ख आदि फल तो स्पष्ट है, किन्तु उनके मूल कारण-शुभाशुभ कर्मो (पुष्पों) का पता नही है।

वंध्या (बाँझ) के पुत्र उत्पन्न होता है, जो बिना पैरों के वृक्ष पर चढता है। यहाँ बांझ माया का प्रतीक है, पुत्र मन का और वृक्ष संसार का। माया द्वारा आविर्भूत मन संसार रूपी वृक्ष पर आरोहण करता है अर्थात् संसार मे विचरण करता है। कबीर कहते है कि वही जीव मुक्त है जिसका जीवन ऐसा पवित्र है जैसे बिना काली स्याही के दावात, ऐसा श्वेत-पत्र है जिस पर लेखनी नही चली है। यह आत्मा स्वसंवेद्य है। अतः उसकी सुधि अर्थात् साक्षात्कार बिना अक्षर अर्थात् शब्द के हो जाता है, जिसका सहज स्वभाविक स्वरूप बिना परोक्ष ज्ञान (सुधि) के व्यक्त हो जाता है और जो बिना परोक्ष ज्ञान के शाश्वत ज्ञाता है।

अलंकार—(१) पूरे पद मे—विभावना।
(२) खसम अछत घर सूना—विशेषोक्ति।
(३) जागत चोर मंदिर तहँ मूसै—विरोधाभास।

(२७१)

रामुराय चली बिनांवन माहो।
घर छोड़ै जाइ जुलाहो॥ टेक॥
गज नव गज दस गज उनइस की पुरिया एक तनाई।
सात सूत दै गंड बहत्तरि पाट लागु अधिकाई॥
गजैं[1] न मिनिए तौलि न तुलिए पहजर्न सेर अढ़ाई।
अढ़ाई[2] मै जे पाव घटै तौ करकच करै घरहाई॥
दिन[3] की बेठ खसम सौं बरकस तापर लगो तिहाई।
भींगी पुरिया घर[4] ही छांड़ी चला जुलाह रिसाई॥
छोछी[5] नली कांम नहि आवै लपटि रही उरझाई।
छांडि पसार रांम भजु बउरे कहै[6] कबीर समझाई॥

शब्दार्थ—रामुराय = राम राजा, यहाँ तात्पर्य 'जीव' से है। माहो (सं० मुग्धा) = नव वधू (प्र० अ०) माया। घर = (प्र० अ०) शरीर। जुलाहो = (प्र० अ०) जीव। नव गज = (प्र० अ०) नव द्वार (दो नेत्र, दो कान, दो नासा

---

१. वि०-तापट तुलना (तुलै-) गज न अमाई, पैसन सेर अढ़ाई। २. वि०—तामहँ घटै वढै रतिवो नहिं। ३ वि०—निति उठि वेठ खसम सों वरवस, तापर लागु तिहाई। ४. वि०—काम न आवै, जोलहा चला रिसाई। ५. वि—कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, जिहि यह सिस्टि उपाई। ६. वि०—भौ सागर कठिनाई।

छिद्र, मुख, गुदा, लिंग)। दस गज=(प्र० अ०) दस इन्द्रियाँ। उनइस गज=(प्र० अ०) सूक्ष्म शरीर (पाँच प्राण+पाँच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) +पाँच सूक्ष्म इन्द्रिय शक्तियाँ+अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार)। पुरिया=पूरना, वह नली जिस पर जुलाहे बाने को बुनने के पहले फैलाते हैं। (प्र० अ०) शरीर। तनाई=फैलाया। सात सूत=(प्र० अ०) सात धातुएँ (रस, रक्त, मास, वसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र)। गंड (सं०)=गाँठ। गंड वहत्तर=(प्र० अ०) १६ कण्डराये (मोटी नसें)+१६ जाल (पतली नसें)+४ रज्जु+७ सेवनी+१४ अस्थिसघात+१४ सीमन्त+१ त्वचा) इन सबसे शरीर बँधा रहता है। मिनिए=गज से नापना। पहजन=(प्रा०-प्रवज्जण), मानने को, अनुमानतः। करकच=झगड़ा। घरहाई=घरवाली, पत्नी (प्र० अ०) माया। वेठ (सं० वेष्टि)=काम-काज। पाट=वस्त्र (प्र० अ०) शरीर। खसम=पति (प्र० अ०) जीव। बरकस=बलवश, बरबस, बलपूर्वक। तिहाई=त्रिताप (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधि-भौतिक)। भींगी पुरिया=(प्र० अ०) वृद्ध शरीर। रिसाई=खिन्न होकर। छोछी=रिक्त। नली=नलिका, ढरकी के भीतर की नली जिस पर तार लपेटा रहता है। (प्र० अ०) शरीर। तापर=फिर भी। पसार=प्रसार।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे वस्त्र-निर्माण के प्रतीक द्वारा शरीर की संरचना का उल्लेख करते हुए कबीर यह चेतावनी देते हैं कि अन्ततः वह जीर्ण होकर निरर्थक हो जाता हैं। अतः शरीर की आसक्ति छोड़कर प्रभु का भजन करो।

व्याख्या—जीव जब शरीर छोड़कर प्रयाण करता है, माया तब भी उसका पीछा नही छोडती। वह शरीर के द्वारा नए शरीर रूपी वस्त्र की संरचना करवाती है। जुलाहे के द्वारा वस्त्र बनाने की प्रक्रिया के प्रतीक के द्वारा कबीर शरीर के निर्माण का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहते है कि इस शरीर रूपी वस्त्र के बनाने में नव गज (शरीर के नव द्वार), दस गज (दस इन्द्रियाँ) और उन्नीस गज (सूक्ष्म शरीर) कपड़ा लगा। इसमे सात सूत (सात धातुएँ) लगे, वहत्तर गाँठों से इसे जोड़ दिया गया। इस प्रकार इसके बनाने में पर्याप्त वस्त्र लगा।

इस शरीर रूपी वस्त्र को न तो गज से नापा जा सकता है और न इसे बटखरे से तौला जा सकता है। अनुमानतः यह ढाई सेर (जन्म के समय) समझा जाता है। यदि इसकी (शरीर रूपी वस्त्र की) बनावट मे थोड़ी भी कमी हो जाय तो घरवाली (माया) झगडा मचाती है। यह माया जीव (खसम) से नाना प्रकार के कार्य बरबस करवाती है। फिर भी उसे (जीव को) शांति नहीं मिलती। उसे त्रिताप घेरे रहते है। जब शरीर वृद्ध हो जाता है, तब जीव खिन्न होकर उसे छोड़ कर

चल देता है। जीव के निकल जाने पर यह शरीर रूपी वस्त्र निरर्थक हो जाता है और उसके धागे (अवयव) उलझे पडे रहते है। कबीर चेतावनी देते हुए कहते है कि हे वावले जीव ! इस शरीर रूपी वस्त्र के प्रसार को छोडकर राम की उपासना करो।

अलंकार—(१) रूपकातिशयोक्ति।
(२) गजै न मिनिए—व्यतिरेक।

राग—रामकली।

(२७२)

रामुरा संसै गांठि न छूटै, तातै पकरि पकरि जम लूटै।
होय मिसकीन[1] कुलीन कहावै, तूँ जोगी सन्यासी।
ज्ञानी गुनी सूर कवि दाता, या मति किनहु न नासी॥
सुम्रिति[2] वेद पुरान पढ़ै सब, अनुभौ भाव न[3] दरसै।
लोह हिरन्य होय धौं कैसे, जो नहिं पारस परसै॥
जियत न तरेउ मुए का तरिहौ, जियतहि जो न[4] तरे।
गहि[5] परतीत कीन्ह जिन्ह जासो, सोइ तहाँ अमरे॥
जो कछु कियो ग्यान अग्याना, सोई समुझ सयाना।
कहै कबीर तासों का कहिए, जो देखत दृष्टि भुलाना॥

शब्दार्थ—रामुरा=राम जिसके राजा है अर्थात् जीव। संसै = सशय, शका। जम=मृत्यु, काल। मिसकीन (अ०)=दीन, असहाय। कुलीन=उत्तम कुल में उत्पन्न। हिरन्य=स्वर्ण। परसै = स्पर्श करे।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि सशयात्मा का विनाश होता है। जो विश्व के मूल मे स्थित परमशक्ति के प्रति निष्ठा रखता है, उसी का उद्धार होता है।

व्याख्या—हे जीव ! सशय की ग्रंथि तो छूटती नही, इसलिए काल वार-बार जीवन-धन लूटता है। हे जीव ! है तो तू दीन और असहाय। किन्तु अपने को कुलीन, योगी, सन्यासी, ज्ञानी, गुणी, वीर, कवि और दानी कहलाता है। इस भेद-वुद्धि को अपने भीतर से कोई न निकाल सका। प्रायः लोग स्मृति, वेद, पुराण आदि का अध्ययन करते है, किन्तु अनुभव का भाव अर्थात् साक्षात् ज्ञान किसी पर प्रकट नही होता। जव तक पारस का स्पर्श न हो, तब तक लोहा स्वर्ण कैसे वन सकता है ?

---

१. शुक०–कुलीन मिस्कीन। २. शुक०–स्मृति। ३. शुक०–भावना। ४. शुक०–नहिं। ५. शुक०–गही।

तात्पर्य यह है कि जब तक हृदय मे विद्यमान प्रत्यगात्मा से सस्पर्श नही होता, तब तक वेदादि का अध्ययन करने से जीव मे कोई परिवर्तन नही आ सकता।

प्राय लोग समझते है कि धर्म ग्रथो के अध्ययन से हम मरणोपरान्त मोक्ष प्राप्त कर लेगे। किन्तु जब इस जीवन मे ही भव-सागर पार न कर सके तो मरने के बाद क्या पार करोगे ? वास्तविक मुक्ति इसी जीवन मे होती है।

विश्व के केन्द्र मे एक परम शक्ति है। जो दृढ विश्वास के साथ उससे सम्पर्क करता है, वह उसी स्थिति मे अमर हो जाता है। हे तथाकथित चतुर जनो ! तुमने ज्ञान अथवा अज्ञान मे जो भी कर्म किये है, उन्हें समझो तथा सारे विश्व के मूल में जो तत्व है, उसे विश्वासपूर्वक ग्रहण करो। कबीर कहते है कि जो आँख रहते हुए भी अंधा है, उसे मैं क्या समझाऊँ ?

अलंकार—(१) लोह हिरण्य ·· परसै—दृष्टान्त।
(२) जियत न····· तरै—वक्रोक्ति।

(२७३)

राम सुमिरि नर बावरे।
तोरी सदा न देहियां रे ॥ टेक ॥
यह माया कहौ कौन की काकै संग लागी रे।
गुदरी सी उठि जाइगी चित चेति अभागी रे ॥
सोनैं को लंका बनीं भइ धूर की धांनीं रे।
सोइ रावन की साहिबी छिन मांहि बिलानीं रे ॥
बारह जोजन कै बिषै चले छत्र की छहियाँ रे।
सोइ जिरजोधन ग्वँह गए मिलि माटी महियाँ रे ॥
कहै कबीर पुकारि कै इहाँ कोइ न अपनां रे।
यहु जियरा चलि जाइगा जस रैंनि का सपनां रे ॥

शब्दार्थ—बावरे=बावला। देहियाँ=शरीर। माया=वैभव। धूर=धूलि। धानी=स्थान, जगह। बिलानी=नष्ट। बिषै (स० विषय)=राज्य, विस्तार। जिरजोधन=दुर्योधन।

संदर्भ—इस पद मे सांसारिक ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे बावले मानव ! तुम प्रभु का स्मरण करो। तुम्हारा यह शरीर शाश्वत नही है। इसके प्रति मोह व्यर्थ है। सांसारिक वैभव न

तो सदैव किसी का होकर रहता है और न साथ जाता है। हे अभागे ! तुम इसे अपने चित्त में विचार करो। यह तुम्हारा सारा वैभव गुदड़ी के समान नष्ट हो जाएगा। रावण की सोने की लंका भी अन्ततः धूलि मे मिल गई और रावण का ऐश्वर्य क्षण-मात्र मे नष्ट हो गया। वह दुर्योधन, जिसके राज्य का विस्तार बारह योजन का था और जो छत्र की छाया मे चलता था, अब कहाँ रहा ? वह भी मिट्टी मे मिल गया। कबीर कहते है कि इस संसार के प्रति ममत्व का भाव व्यर्थ है। यहाँ कोई अपना नही है। यह प्राण वैसे ही चला जाएगा जैसे रात्रि का स्वप्न अर्थात् जीवन क्षण-भंगुर है।

अलंकार—उपमा, दृष्टान्त।

राग—विलावल।

(२७४)

राम सुमिरि पछिताइगा।
पापी जियरा लोभ करत है आजु कालि उठि जाइगा ॥ टेक ॥
लालच लागै जनम गँवाया माया भरमि भुलाइगा।
धन जोबन का गरब न कीजै कागद ज्यौं गरि जाइगा ॥
जब जम आइ केस गहि पटकै ता छिन कछु न बसाइगा।
सुमिरन भजन दया नहि कीन्हीं तौ मुखि चोटा खाइगा ॥
धरमराइ जब लेखा मांगै क्या मुख लै कै जाइगा।
कहत कबीर सुनहु रे संतौ साध संगति तरि जाइगा ॥

शब्दार्थ—जियरा = जीव। लागै = लिए, वश मे। गरि = गल जाना। बसाइगा = वश चलना। चोटा = चोट।

व्याकरण—कबीर कहते है कि हे जीव ! तू राम का स्मरण कर, अन्यथा बाद में पछताना पडेगा। यह पापी जीव लोभग्रस्त हो जाता है। इसका ध्यान नहीं रखता कि अल्पकाल मे ही उसका निधन हो जाएगा। माया के भ्रम मे पड़कर, परमार्थ को भूलकर जीव लोभ के वश मे पड़ जाता है और अपना जीवन नष्ट कर देता है। हे जीव ! धन और यौवन का गर्व मत कर। यह वैसे ही नष्ट हो जाएगा जैसे जल में कागज गल जाता है। जब काल केश पकडकर तुझे पटकेगा अर्थात् जब मृत्यु का समय आएगा, तब तेरा कुछ भी वश न चलेगा। यदि तूने जीवन मे स्मरण, भजन और जीवों पर दया नही की तो तुझे मुँह की खानी पड़ेगी। जब धर्मराज तेरे कर्मों का हिसाब माँगेगा, तब तू किस मुँह से उसके सामने उपस्थित रहेगा। कबीरदास कहते है कि हे संतो ! सुनो ! जीव सत्संग से ही भवसागर पार कर सकता है।

अलंकार—कागद ज्यो गरि जाइगा—उपमा ।

राग—सोरठ ।

(२७५)

राम सुमिरि राम सुमिरि राम सुंमिरि भाई।
रांम नांम सुमिरन बिनु बूड़त अधिकाई ॥ टेक ॥
बनिता सुत देह ग्रेह संपति सुखदाई।
इन्ह मै कछु नांहि तेरौ काल अवधि आई ॥
अजामेल गज गनिका पतित करम कीन्हें।
तेऊ उतरि पारि गए रांम नांम लीन्हें ॥
सूकर कूकर जोनि भ्रमे तऊ नां लाज आई।
रांम नांम छांड़ि अंम्रित काहे बिखु खाई।
तजि भरम करम बिधि निखेध रांम नामुं लेही।
गुर प्रसादि जन कबीर रांमु करि सनेही।

शब्दार्थ—वनिता = स्त्री । सुत = पुत्र । सूकर = सुअर । कूकर = कुत्ता । बिखु = विष ।

संदर्भ—साधना मे नाम-महिमा की बडी विशेपता रही है । निर्गुण तथा सगुण दोनों पथियो ने नाम जप की महिमा का उल्लेख किया है । कबीर ने भी नाम-स्मरण पर बहुत बल दिया है ।

व्याख्या—प्रस्तुत पद मे वह कहते है कि हे भाइयो ! राम का स्मरण करो । राम नाम के स्मरण के बिना जीव प्रगाढ रूप से भव-सागर मे डूब जाता है । हे जीव ! तू स्त्री, पुत्र, शरीर, घर, सम्पत्ति आदि जिनको अपना परम प्रिय और सुख का साधन समझता है, वे वस्तुत: तेरे स्व-त्व नही है । उनसे तेरा वियोग होना अवश्यंभावी है । उन सबको अपने समय पर काल ग्रस लेगा । अजामिल, गज और गणिका ने जीवन भर कुकर्म किए, किन्तु वे भी राम-नाम के स्मरण से भव-सागर पार कर गए । हे जीव ! तू सुअर और कुत्ते जैसी निम्न योनियो मे भ्रमण करता रहा, फिर भी तुझे लज्जा न आई । तू राम-नाम रूपी अमृत को छोड़कर विपय-विप का सेवन क्यों करता है ? तू विभिन्न पथों के चक्कर में न पड़कर, तथा-विहित और निपिद्ध कर्मों को छोडकर केवल राम-नाम का स्मरण कर । भक्त कबीर कहते है कि गुरु की कृपा द्वारा तू राम को अपना प्रिय बना ।

टिप्पणी—(१) इस पद की दो पक्तियाँ (वनिता सुत ··· अवधि आई) सूरसागर में भी मिलती है (दे० सूरसागर, पद ३३०, पक्तियाँ ५।६, ना० प्र० स०) ।

डॉ० पारसनाथ तिवारी ने इस पद को कबीर-कृत ही माना है। किन्तु भाषा और प्रतिपादन शैली की दृष्टि से यह सूर अथवा तुलसी की ही कृति प्रतीत होती है। यह पद किसी अन्य पाठ मे मिलता भी नही है।

(२) अजामिल—कान्यकुब्ज देश का एक कर्मनिष्ठ ब्राह्मण, जो बाद में दासी के प्रेम में पड़ गया था। उसी के पाश मे बँधकर उसने अपनी पत्नी को भी छोड़ दिया और निंदित जीविका से जीवन-निर्वाह करने लगा। उसके दासी से दस पुत्र थे। सबसे छोटे पुत्र का नाम नारायण था। मरते समय उसने 'नारायण' को पुकारा। इससे वह सभी पापों से मुक्त हो गया।

(३) गज—एक हाथी जो ग्राह के चंगुल मे फँस जाने पर प्रभु-नाम के स्मरण से ग्राह के चंगुल से मुक्त हुआ।

(४) गणिका—विदेह की पिंगला नामक वेश्या, जो नित्य वेश्यावृत्ति से जीविका चलाती थी। एक दिन बहुत प्रतीक्षा के बाद भी कोई ग्राहक नही आया। उसे अपने कर्म पर बडी ग्लानि हुई। वह उसे छोडकर भगवद्भजन करने लगी। इससे वह मुक्त हो गई।

अलंकार—(१) राम नाम सुमिरन बिनु—विनोक्ति।
(२) राम नाम छाड़ि अमृत—रूपक।

राग—धनाश्री।

(२७६)

रामहि गावै औरहि समुझावै, हरि जाने बिनु सकल[१] फिरै।
जेहि मुख वेद गायत्री उच्चर, जाके[२] वचन संसार तरै।
जाके पाँव जगत उठि लागे, सो ब्राह्मन जीव[३] वध करै।
अपने ऊँच नीच घर भोजन, घीन कर्म करि उदर[४] भरै॥
ग्रहन अमावस ढुकि ढुकि माँगै, कर दीपक लिए कूप परै।
एकादसी बरत नहि जानै, भूत प्रेत हठि हृदय धरै॥
तजि कपूर गांठि[५] बिख बांधै, ग्यान गँवाय के मुगुध[६] फिरै।
छीजै साह चोर प्रतिपालै, संत जना को कूटि करै॥
कहै कबीर[७] जिभ्या के लंपट, यहि विधि प्रानी नरक परै॥

शब्दार्थ—सकल=सभी लोग। फिरै=चक्कर लगाते है। तरै=उद्धार।

---

१. शुक०, वि०–विकल। २. शुक०–ताके। ३. वि०–जिव। ४. वि०–वोद्र। ५. वि०–गांठी। ६. शु०–मुग्ध। ७. वि०–कबिर।

घीन=घृणित। ढुकि ढुकि=घुसकर। मुगुध=अविवेकी, मोहग्रस्त। छीजै=नष्ट हो रहे है। साह=साधु। कूटि=उपहास। लंपट=विपयी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे ढोगी ब्राह्मणो के बाह्याचार पर प्रहार किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि ढोगी ब्राह्मण प्रभु का मर्म नहीं जानते, किन्तु उसका गान करते है और लोगो को उपदेश देते हैं। वे ब्राह्मण जिनके मुख से वेद-गायत्री का उच्चारण होता रहता है और जिनके उपदेश से यह समझा जाता है कि संसार का उद्धार हो जाएगा और ससार के लोग जिनका प्रातःकाल उठकर चरणस्पर्श करते है, वही ब्राह्मण जीव-हत्या करते है। वे स्वय कुलीन होने का अभिमान करते है, किन्तु दक्षिणा के लिए नीच के घर का भोजन करते है और घृणित कर्म करके उदर पोपण करते है। सूर्य-चन्द्र आदि के ग्रहण लगने पर तथा अमावस्या आदि तिथियो पर घुस-घुसकर दान माँगते है। ऐसे लोग हाथ में शास्त्र रूपी दीपक लिए हुए है तथापि मोह-लोभ रूपी कुएँ मे गिरते रहते है। वे एकादशी के व्रत का मर्म नही समझते और आग्रहपूर्वक भूत-प्रेत आदि की पूजा करते हैं। वे पुण्य कर्म रूपी कपूर को छोडकर वासना रूपी विप को ही हृदय मे धारण करते है, ज्ञान की उपेक्षा करके मोह मे पडे भ्रमण करते रहते है। वे सज्जनो को कष्ट देते है, चोरो की रक्षा करते हैं तथा सतो का उपहास करते है। वे स्वादिष्ट व्यञ्जन के विपयी होते हैं। ऐसे लोग अन्ततः नरक मे ही गिरते है।

अलंकार—(१) कर दीपक लिए कूप परै—विशेषोक्ति, लोकोक्ति।
(२) कपूर, बिख में रूपकातिशयोक्ति।

(२७७)

रे मन जाहि जहाँ तोहि भावै।
अब न कोइ[1] तेरे अंकुस लावै ॥ टेक ॥
जहँ जहँ[2] जाइ तहाँ तँह[3] रॉमा, हरि पद चीन्हि कियो विश्रामा।
तन रंजित तब देखियत दोई, प्रगट्यौ ग्यान जहाँ तहँ सोई।
लीन निरंतर बपु बिसराया, कहैं कबीर सुखसागर पाया ॥

शब्दार्थ—अकुस=बंधन। रजित=अनुरक्त, आसक्त। बपु=शरीर।

संदर्भ—मन जब तक शरीर और अंत करण से तादात्म्य रखता है, तब तक वह विपय-सुखो की ओर प्रवृत्त रहता है। जब वह आत्मचेतना मे लीन हो जाता है, तब वह रूपान्तरित हो जाता है। उसका स्वभाव बदल जाता है। तब विषयो के प्रति

---

१. ना० प्र०—कोई। २. ना० प्र०—जहाँ जहाँ। ३. ना० प्र०—तहाँ।

उसकी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। प्रस्तुत पद मे मन की इसी रूपान्तरित अवस्था का वर्णन किया गया हे।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रभु के साक्षात्कार से मेरे मन की ऐसी अवस्था हो गई हैं कि अब उसे चतुर्दिक् प्रभु ही दिखाई पड़ते हैं। अब उसे किसी अन्य पदार्थ के प्रति अनुराग नही रह गया है। इसलिए वह कहते है कि हे मन! अब तेरे ऊपर बंधन या नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं रह गई है। अब तेरी जहाँ इच्छा हो, वहाँ जा।

अब मन जिधर जाता है, उधर राम ही दिखलाई पडते हैं। प्रभु के स्वरूप के परिचय के बाद मन को पूर्ण शाति प्राप्त हो गई है। जब तक वह देह मे अनुरक्त था, तब तक 'मैं और वह' का द्वैत-भाव बना रहता था, किन्तु प्रभु का परिचय होने पर मन जहाँ जाता है, वहाँ प्रभु ही दिखाई पड़ता है। अब मेरा मन सदैव प्रभु मे लीन रहता है। देह से उसका तादात्म्य समाप्त हो गया है। कबीर कहते है कि अब मैंने सुख के सागर प्रभु को प्राप्त कर लिया है।

टिप्पणी—मन की दो अवस्थाएँ होती है—साधनावस्था और साध्यावस्था। साधनावस्था मे विषयोन्मुखता के कारण मन के नियन्त्रण की आवश्यकता रहती है। किन्तु साध्यावस्था मे मन रूपान्तरित हो जाता है, प्रभु मे लीन रहता है। अतः उसके नियन्त्रण की आवश्यकता नही रहती।

तुलनीय—उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध॥

—तुलसी

राग—गौरी।

(२७८)

रैंनि गई मत[1] दिनु भी जाइ।
भँवर उड़े बग[2] बैठे आइ॥ टेक॥
थरहर[3] कंपै बाला जीउ, नां जांनौं[4] क्या करिहै पीउ।
कांचै करवै रहै न पांनीं, हंस उड़ा[5] काया कुम्हिलानीं।
काग[6] उड़ावत भुजा[7] पिरांनीं, कहै कबीर यहु[8] कथा सिरानी॥

---

१. ना० प्र०—मति। २. ना० प्र०—वन। ३. ना० प्र०—थरहर थरहर कंपै जीव। ४. ना० प्र०—जौंनू का। ५. ना० प्र०—उड्या। ६. ना० प्र०—तिवारी-कउवा। ७. ना० प्रा—मेरी बहियाँ ८. ना० प्र०—मेरी

शब्दार्थ—रैनि=रात्रि (प्र० अ०) युवावस्था। दिन=(प्र० अ०) अनुभव की प्रौढावस्था। भँवर=भ्रमर (प्र० अ०) काले केश। बग=बगुला (प्र० अ०) श्वेत केश। करवै=टोंटीदार लोटा। सिरानी=समाप्त हो गई।

संदर्भ—इस पद मे मुग्धा नववधू के प्रतीक द्वारा कबीर यह दिखलाना चाहते है कि संकोचवश युवावस्था को व्यर्थ ही गवाँ दिया, प्रिय से मिलन न हो सका। वह यह भी उपदेश देते है कि शेष जीवन को प्रिय मिलन के लिए लगाओ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि झिझक और सोच-विचार में सारी रात बीत गई अर्थात् युवावस्था समाप्त हो गई और मिलन न हो सका। कही ऐसा न हो कि दिन भी यो ही समाप्त हो जाय अर्थात् आगे का शेष जीवन भी कही निरर्थक न चला जाय ! भ्रमर रूपी काले केश चले गये और बग रूपी श्वेत केश उनके स्थान पर आ गए। फिर भी प्रिय मिलन के लिए यत्न नही किया गया।

यह नासमझ जीव मुग्धा बाला के समान इस भय से काँपता है कि प्रिय से मिलन मे न जाने क्या गति होगी ? जीव को यह भय बना रहता है कि प्रभु से संयुक्त होने पर कही उसका अस्तित्व ही न समाप्त हो जाय ? यह शरीर मिट्टी के कच्चे पात्र के समान है। इसमे जीवन रूपी जल अधिक समय तक नही टिक सकता। जब जीव रूपी हंस इस शरीर को छोडकर चला जाता है, तब यह शरीर मलिन होकर नष्ट हो जाता है।

प्रियतम के शुभागमन की प्रतीक्षा में प्रिया का हाथ काग उड़ाते-उड़ाते दर्द करने लगा। फिर भी प्रिय से मिलन न हो सका अर्थात् मानव का जीवन प्रभु-मिलन के संकल्प-विकल्प में ही समाप्त हो जाता है। वह केवल आकांक्षा की ही स्थिति में रह जाता है, उसकी सिद्धि के लिए कोई यत्न नही करता। फलतः प्रभु से मिलन नही हो पाता। कबीर कहते है कि प्रेम-कथा इसी प्रकार समाप्त हो गई।

टिप्पणी—थरहर कपै बाला···· ···· ····

जायसी ने पद्मावती की मनःस्थिति का भी इसी प्रकार वर्णन किया है—

अनचिन्ह पिउ काँपै मन माँहा। का मैं कहब गहब जब बाँहा॥
बारि बएस गौ प्रीति न जानी। तरुनी भइ मैमंत भुलानी॥

—पद्मावत, रत्नसेन भेंट खण्ड

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—भैरव।

(२७९)

लाज न मरहु कहहु घरु मेरा।
अंत की बार नहीं कछु तेरा॥ टेक॥

उपजै निपजै निपजि समाई, नैनन देखत यह जगु जाई।
बहुत जतन करि काया पाली, मरती बार अगिनि सँग जाली।
चोआ चंदन मरदन अंगा, सो तनु जलै काठ कै संगा।
कहै कबीर सुनहु रे गुनियाँ, बिनसैगो रूप देखै सभ दुनियाँ॥

शब्दार्थ—निपजै=बढना, पुष्ट होना। समाई=नष्ट हो जाना, लीन हो जाना। जाली=जला दिया जाता है। चोआ=सुगधित द्रव पदार्थ। गुनियाँ=गुण-वाले, समझदार।

व्याख्या—कबीर चेतावनी देते हुए कहते है कि हे मनुष्यो! तुम धन-सम्पत्ति और घर के ममत्व में पड़े रहते हो और उसे अपना कहते हुए तुम्हे लज्जा नही आती। मरण के समय किसी का कुछ नही रह जाता।

ससार के सभी पदार्थों का जीवन क्षणिक है। प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है और कुछ काल के लिए वृद्धि पाता है और फिर बढकर अत मे नष्ट हो जाता है। उत्पत्ति, स्थिति और सहार जगत् की लीला है। देखते-देखते संसार की सभी वस्तुएँ नष्ट हो जाती है। नाना प्रकार के प्रयत्न करके मनुष्य इस शरीर का पालन-पोषण करता है। किन्तु मृत्यु के समय वह अग्नि मे जला दिया जाता है। जिस शरीर को चोवा, चदन आदि के द्वारा सुगधित रखते है, वह अन्ततः लकडी के साथ जलता है। कबीर कहते है कि हे समझदार जीवो! इस तथ्य को अच्छी तरह समझकर अपने मन मे निश्चित कर लो कि जिस रूप पर तुम्हे इतना गर्व है, वह एक दिन विनष्ट हो जाएगा और सारा संसार इसे समाप्त होते देखेगा।

राग—सोरठ।

(२८०)

लाधा है कछु लाधा है, ताकी पारिष को न लहै।
अबरन एक अकल अबिनासी, घटि घटि आप रहै॥ टेक॥
तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिनती[1] ग्यॉन न होई।
नॉ सो भारी नॉ सो हलका, ताकी पारिष लषै न कोई॥
जामै हम सोई हम ही मैं, नीर मिले जल एक हुवा।
यौं जॉनै[2] तौ कोई न मरिहै, बिन जॉनै[3] तैं बहुत मुवा॥
दास कबीर प्रेम रस पाया, पीवनहार[4] न पाऊँ।
बिधनॉ बचन पिछाँड़त नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊँ॥

१. ना० प्र०—गिणंती। २. ना० प्र०—जॉणै। ३. ना० प्र०—जॉणैं। ४. ना० प्र०—पीवणहार।

शब्दार्थ—लाधा = लब्ध किया, प्राप्त किया। पारिप = परख, पहचान। को = कोई। लहै = प्राप्त करता है। अबरन = वर्णरहित, रंगहीन। अकल=(कला अथवा अंश से रहित, निरवयव। (२) सर्जनशक्ति की पूर्व अवस्था, निर्गुण। एक = अद्वितीय। नीर = जल। विधनाँ = ब्रह्मा।

संदर्भ—इस पद मे ब्रह्मानुभूति की दशा का वर्णन है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैंने परमतत्व का अनुभव किया है। कोई भी उसे पहचान नही पाता है। वह परम तत्त्व अवर्ण है, अद्वितीय है, निरवयव है, अविनाशी है और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में सहज रूप से विद्यमान है। उसका न तौल है, न मोल या माप। गिनती से उसका ज्ञान नही हो सकता अर्थात् उसकी गणना संभव नही। वह सँख्या से परे है। वह न भारी है, न हल्का। उसे कोई पहचान नही पाता। हम उसी मे है और वह भी हमारे भीतर ही है। जब तक उसका साक्षात्कार नही होता, तब तक हम उससे अलग होने का अनुभव करते है। किन्तु साक्षात्कार होने पर द्वैत समाप्त हो जाता है, जैसे पृथक् जल सागर मे जाकर उसी में विलीन हो जाता है। उसका साक्षात्कार होने पर जीव अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है और साक्षात्कार न होने पर जीव काल के चक्र मे पडा रहता है, उसका आवागमन बना रहता है। कबीर को उसका साक्षात्कार होने से प्रेमरस की प्राप्ति हो गई है। वह कहते है कि मुझे कोई ऐसा नही मिलता जो उस रस का पीनेवाला हो। ब्रह्मा भी इस वचन को नही पहचानते। मेरे हृदय मे जो अनुभव हुआ है, उसे निकालकर किसे दिखलाऊँ ?

तुलनीय—नीर मिले जल एक हुआ ·······

यथा नद्य. स्पन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त· परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥८॥
—मुण्डक उपनिषद्, ३/२

'जैसे बहती हुई नदियाँ अपना नाम-रूप त्यागकर समुद्र मे जा मिलती है और समुद्र हो जाती है, वैसे ही परमपुरुष का साक्षात्कार करनेवाला नाम-रूप से मुक्त होकर दिव्य परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।'

अलंकार—नीर मिले जल एक हुआ—दृष्टान्त।

राग—रामकली।

(२८१)

लोका जांनि न भूलहु भाई।
खालिक खलक खलक मंहि[1] खालिक सब घटि[2] रहा समाई॥ टेक॥

---

१. ना० प्र०–मैं। २. ना० प्र०–घट रह्यो।

अव्वलि[1] अल्लह नूर उपाया कुदरति के सभ बंदे।
एक[2] नूर तैं[3] सब जग कीआ कौन भले कौन मंदे[4] ॥
ता अल्ला की गति नहि जांनी गुर गुड़ दीन्हां[5] मीठा।
कहै कबीर मै पूरा पाया सब घटि साहिब दीठा ॥

शब्दार्थ—लोका=लोग। खालिक (अ०-खालिक)=सृष्टिकर्त्ता, ईश्वर। खलक=(अ०—खलक)=सृष्टि के प्राणी, संसार। अव्वलि=सर्व प्रथम। नूर (अ०)=ज्योति। कुदरति (अ०-कुद्रत)=निसर्ग, शक्ति, ईश्वरी माया। गुर= सद्गुरु। दीठा=देखा।

संदर्भ—कबीर स्रष्टा और सृष्टि मे अभेद मानते है और यह प्रतिपादित करते है कि सृष्टि के सभी प्राणियो मे प्रभु विद्यमान है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे लोगो! तुम जान-बूझकर सरासर भूल न करो। खालिक और खलक अर्थात् सृष्टिकर्ता और सृष्टि मे भेद नही है। सारी सृष्टि उसी की अभिव्यक्ति है। वह सृष्टि के प्रत्येक प्राणी मे परिव्याप्त है।

प्रभु ने सर्वप्रथम एक ज्योति का निर्माण किया। सभी उसी की दैवी शक्ति के परिणाम है। जब सारा जगत् और उसके प्राणी उसी एक ज्योति से उत्पन्न हुए है तो फिर किसको श्रेष्ठ माना जाय और किसको तुच्छ? उस प्रभु के मर्म को किसी ने नही समझा। मुझे सद्गुरु ने मधुर उपदेश दिया, जिसके परिणामस्वरूप मैंने 'पूर्ण' का परिचय प्राप्त कर लिया और सभी प्राणियों मे उसी प्रभु का दर्शन-लाभ किया।

टिप्पणी—कबीर ने खालिक और खलक अर्थात् स्रष्टा और सृष्टि मे अभेद माना है। यह सर्वोत्तम अद्वैतवाद है। शकर की माया के आश्रय का अद्वैतवाद नहीं है।

अलंकार—(१) खालिक...... समाई—अनुप्रास।
(२) एक नूर.......मदे—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(२८२)

लोका तुम ज कहत हौ, नंद कौ नंदन नंद कहौ धूं काकौ रे।
धरनि अकास दोऊ नहि होते तब यहु नंद कहाँ थौ रे ॥ टेक ॥
लख चौरासी जीअ[6] जोनि महि भ्रमंत भ्रमंत नंद थाकौ रे।
अबिनासी[7] उपजै नहि बिनसै संत सुजस कहैं ताकौ रे ॥

१. ना० प्र०-अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा। २. ना० प्र०—ता। ३. ना० प्र०—थें। ४. ना० प्र०—मंदा। ५. ना० प्र०—दीया। ६. ना० प्र०—जीव जंत मैं। ७. तिवारी—भगति हेतु औतार लियौ है, भाग बडो बपुरा थौ रे।

जनमै मरै न संकटि आवै[1] नांव निरंजन जाकौ रे।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ भगति करै हरि ताकौ रे॥

शब्दार्थ—लोका=लोगो। घू=धौं। थौ=था। जनमै=जन्म लेना। उपजै=उत्पन्न होना।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने निरंजन, निर्गुण प्रभु की विशेषता बताई है।

व्याख्या—वह कहते है कि हे लोगो ! तुम कहते हो कि नन्द का नन्दन करने वाले कृष्ण, प्रभु या ईश्वर है। फिर यह बताओ कि नन्द किसके पुत्र है ? जब पृथ्वी और आकाश का अस्तित्व नही था, तब तथाकथित प्रभु के पिता—नन्द—कहाँ थे ?

वास्तविक प्रभु तो वह है जो जन्म-मरण से परे है तथा जिन पर कभी कोई संकट नही आता है और जिनका नाम निरंजन है अर्थात् जो माया की सीमा से अतीत है। जिस पर माया का अधिकार है, उसीका जन्म-मरण होता है। प्रभु तो अविनाशी है। उनकी न उत्पत्ति होती है, न विनाश। सन्त लोग इसी रूप मे उनका यशगान करते है। प्रभु के जो पिता 'नन्द' कहे जाते है, वह तो स्वयं चौरासी लाख योनियो में चक्कर काटते हुए थक गए है अर्थात् वह साधारण जीव है। कबीर के प्रभु ऐसे सर्व-शक्तिमान् निरंजन ब्रह्म है, जिनकी उपासना स्वयं हरि (कृष्ण) करते है।

अलंकार—नन्द को नन्दन—अनुप्रास।

राग—गौरी।

(२८३)

लोग कहैं गोबरधनधारी,
ताको मोहि अचंभौ भारी॥ टेक॥
अष्ट कुली परबत जाके पग की रैनाँ, सातौं सायर अंजन नैनाँ।
ए उपमाँ हरि किती एक ओपै, अनेक मेरु[2] नख ऊपरि रोपै॥
धरनि अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहै न साखी।
सिव बिरंचि नारद जस गावैं, कहै कबीर वाको पार न पावैं॥

शब्दार्थ—रैनाँ=रेणु, धूलि। सायर=सागर। किती=कहाँ तक। ओपै=उपयुक्त। रोपै=टिकाना। अधर=बिना आधार के। मुगधा=मूढ़। साखी=गवाही। बिरचि=ब्रह्मा।

संदर्भ—प्रभु की शक्ति अनन्त और अतुलनीय है। सामान्य जन उसका अनुमान नही लगा सकते।

---

१. तिवारी–जाकौ माई न बापौ रे। २. ना० प्र०–मरे।

व्याख्या—प्रायः लोग यह कहते है कि प्रभु ने गोवर्धन पर्वत उठा लिया। यह कितना कठिन कार्य है। कबीर कहते हैं कि मुझे ऐसे लोगों की बुद्धि पर बहुत आश्चर्य होता है। आठो कुल के पर्वत जिसके चरणों की धूलि हैं तथा सातो सागर जिसके नेत्रो का अंजन है, उसके लिए एक सामान्य पर्वत उठा लेना कौन बड़ी बात है? गोवर्धनधारी की उपमा उसके लिए कहाँ तक समीचीन है?, वस्तुतः वह अनेक सुमेरु पर्वत अपने नाखून के ऊपर टिका सकते हैं। फिर साधारण गोवर्धन पर्वत उठाना कौन बड़ी बात है? जिस ईश्वर ने पृथ्वी और आकाश को बिना किसी आधार के टिका रखा है, मूढ लोग उसकी क्या साक्षी देंगे? अर्थात् उसकी शक्ति का साक्ष्य ये लोग क्या देंगे? जिसका यशगान शिव, ब्रह्मा, नारद आदि सभी करते है, उसकी शक्ति का पार कौन पा सकता है?

टिप्पणी—सप्त सागर—दुग्ध, दधि, घृत, क्षार, इक्षुरस, मद्य, जल।

राग—भैरव।

(२८४)

लोग बोलैं दूरि[1] गए कबीर[2], या[3] मति कोइ कोइ जानै[4] धीर।
दसरथ सुत तिहुँ लोकहिं जाना, राम[5] नाम का मरम है आना॥
जेहि जिव[6] जानि परा जस लेखा, रजु[7] को कहे उरग सम पेखा।
जद्यपि फल उत्तम गुन जाना, हरि[7] छोड़ि मन[8] मुक्ति अनुमाना।
हरि अधार जस मीनहि नीरा, और[9] जतन कछु कहै कबीरा॥

शब्दार्थ—मति=अपरोक्ष अनुभूति। मर्म=रहस्य। उरग=सर्प। रजु=रज्जु, रस्सी। पेखा=देखा।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने शुद्ध चैतन्य को ही वास्तविक राम मानने का उपदेश दिया है और उसकी प्राप्ति के लिए आत्मसमर्पण को ही एक मात्र उपाय बताया है।

व्याख्या—लोग कहते हैं कि कबीर दूर तक पहुँच गए है—सत्यलोक, ब्रह्मलोक तक चले गए हैं। प्रश्न दूर और निकट का नही है। यह तो अपरोक्ष अनुभूति का प्रश्न है, जिसे कोई धीर पुरुष ही समझ सकता है। दशरथ के पुत्र राम को सभी जानते है। वे तीनो लोकों मे प्रसिद्ध हैं। किन्तु राम नाम का रहस्य ही कुछ और है। जिस प्राणी की बुद्धि जहाँ तक पहुँचती है वह उसी ढंग से सोचता है और देखता है। यहाँ तक कि कुछ लोग रज्जु को ही भ्रान्तिवश सर्प समझ लेते हैं। यद्यपि ब्रह्म-प्राप्ति मे चारो फल और उत्तम गुण विद्यमान है तथापि उस ब्रह्म की प्राप्ति बाह्य उपायों से

१. शुक०–दुरे। २. शुक०–कबीरा। ३. शुक०–यह मंत। ४. शुक०–धीरा, वि०–गा धीर। ५. शुक०–राम राम का मर्महि आना। ६. शुक०–जिय। ७. शुक०–रज। ८. वि०–मुकुती उनमाना। ९. वि०–अवर।

सम्भव नही है। उसकी प्राप्ति आत्मसमर्पण से ही सम्भव है। अन्य उपायों से मुक्ति की प्राप्ति मन की कल्पना मात्र है। जिस प्रकार मीन के लिए जल ही आधार है, उसी प्रकार जब सुरति सदा प्रभु को अपना आधार बना लेती है और सदा उसमे लीन रहती है, तभी हरि की प्राप्ति हो सकती है, वास्तविक मुक्ति हो सकती है। कबीर कहते है कि यह अन्य उपायो से भिन्न सच्चा रहस्यपूर्ण मार्ग है।

टिप्पणी—रमन्ते योगिमो यस्मिन् स रामः अर्थात् शुद्ध चैतन्य ही राम है, जिसमें योगी रमण करते है। यही राम नाम का मर्म है।

अलंकार—(१) राम नाम का मर्म है आना—भेदकातिशयोक्ति।
(२) रजु को कहे—दृष्टान्त।
(३) हरि अधार····नीरा—उपमा।

(२८५)

लोगा[1] तुम हौ मति के भोरा।
जउ कासी तनु तजहि कबीरा तौ रामहि कौन[2] निहोरा॥
जो[3] जन भाउ भगति कछु जानैं ताकौं अचरजु काहो।
जैसे[4] जल जलहो ढुरि मिलियौ त्यौं ढुरि मिल्यौ जुलाहो॥
कहै[5] कबीर सुनहु रे लोई[6] भरमि[7] न भूलहु कोई।
क्या[8] कासी क्या[9] मगहर[10] ऊसर हिर्दै राम जौ[11] होई॥

शब्दार्थ—भोरा = भोले। निहोरा = अनुग्रह, आसरा। ढुरि = लुढककर। लोई = लोग।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि किसी स्थान विशेष मे निवास से या काल विशेष मे अध्यात्म-पद की प्राप्ति नही होती। प्रभु के प्रेम और अनुग्रह से ही उसकी प्राप्ति होती है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे लोगो! तुम बहुत भोली मति के हो, जो अंधविश्वासो मे फँस जाते हो। मोक्ष का सम्बंध किसी स्थान-विशेष से नही होता।

---

१. ना० प्र०-लोका मति के भोरा रे। २. ना० प्र०-कहाँ। ३ ना० प्र०-तब हम वेसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा। ४. ना० प्र०-ज्यूँ जल मैं जल पैसि न निकसै। ५. ना० प्र० की प्रति में यहाँ दो पँक्तियाँ और है—

राम भगति परि जाकौ हित चित, ताकौ अचरज काहा।
गुरु प्रसाद साध की संगति, जग जीतैं जाइ जुलाहा॥

६. ना० प्र०-संतौ। ७. ना० प्र०-भ्रमि परै जिनि कोई। ८. ना० प्र०-जस। ९. ना० प्र०-तस। १०. तिवारी-महगर अरवर। ११. ना० प्र०-सति।

यदि काशी में ही शरीर छोडने से मुक्ति होती है तो फिर प्रभु-भक्ति और उनके ऊपर भरोसा करने से क्या लाभ ?

जो लोग भक्ति के मर्म को समझते हैं, उनके लिए यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि यह जुलाहा कबीर प्रभु से उसी प्रकार तादात्म्य कर लेगा, जैसे जल ढुलककर जल मे जा मिलता है। कबीर कहते है कि हे लोगो ! सुनो। कोई इस भ्रम में न पडे कि स्थान-विशेष में ही मुक्ति होती है। यदि राम के प्रति सच्ची भक्ति है तो उसके लिए तथाकथित पवित्र काशी और तथाकथित महत्वहीन मगहर मे कोई अतर नही।

अलकार—उपमा।

राग—धनाश्री।

(२८६)

वह बिरवा चीन्है जो कोई, जरा मरन रहिते[1] तन होई।
बिरवा एक सकल संसारा, पेड़ एक फूटल तिनि[2] डारा।
मध्य कि डार[3] चारि फल लागा, साखा पत्र गिनै को वाका।
बेलि एक त्रिभुवन लपटानी, बाँधे ते छूटहिं नहिं ज्ञानी।
कहैं कबीर हम जात[4] पुकारा, पंडित होय सो लेइ बिचारा॥

शब्दार्थ—बिरवा=वृक्ष (प्र० अ०) संसार। जरा = वृद्धावस्था। तिनि-डारा = तीन शाखाएँ (प्र० अ०) सत्व, रजस्, तमस्। चारि फल = धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। साखा पत्र = वासनाएँ। वेलि = अविद्याजन्य आशा-तृष्णा।

संदर्भ—ससार-वृक्ष मे तृष्णा रूपी वेलि लिपटी हुई है। उससे मुक्त होने पर ही जीव का उद्धार हो सकता है।

व्याख्या—यह संसार एक वृक्ष के सदृश है। जो इसे विवेकपूर्वक पहचान लेता है, वह जरा-मरण से मुक्त हो जाता है। इस ससार-वृक्ष मे तीन मुख्य शाखाएँ (रजस्, सत्व, तमस्) है। उसकी मध्य शाखा मे (सत्व मे) चार फल-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-लगे है तथा उसमे वासनाओ के असंख्य पत्ते और छोटी-छोटी शाखाएँ है। उन्हें कौन गिन सकता है ? इस पूरे वृक्ष (त्रिभुवन-भूः, भुवः, स्वः) में अविद्याजन्य तृष्णा की बेलि लिपटी हुई है। वह लोगो को ऐसा जकड़ लेती है कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी उससे छूट नही पाते। कबीर कहते है कि हम बार-बार यह समझा रहे है। जो ज्ञानी हो,

---

१ शुक०–रहित। २. वि०–तीनि। ३. शुक०–की डारि। ४. शुक–आति।

वह मेरे कथन पर विचार करे। ससार-वृक्ष से लिपटी तृष्णा-वेलि से जब तक जीव मुक्त नही होता, तब तक उसका उद्धार नही हो सकता।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(२८७)

वा घर की सुधि कोइ न बतावै, जा घर तैं जिउ आया हो।
काया छांडि चला जब हंसा कहौं न कहाँ समाया हो ॥ टेक ॥
धरती अकास पवन नहि पानीं नहि तब आदी माया हो।
ब्रह्मां विष्नु महेस नहीं तब जीव कहाँ तैं आया हो ॥
मै मेरी ममता कै कारनि बार बार पछिताया हो।
लखि नहि परै नाम साहेब का फिरि फिरि भटका खाया हो ॥
मेरो प्रीति पीव सौं लागी उलटि निरंजन ध्याया हो।
कहै कबीर सुनौ भाई साधौ वा घर विरलै पाया हो ॥

शब्दार्थ—सुधि=स्मृति। हंसा=जीव। आदी=आदि। भटका=भटकना। निरंजन=अजनरहित, मायारहित, प्रभु, ईश्वर।

संदर्भ—जीव का मूल निरजन ब्रह्म है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा पच तत्वों और माया का भी वहाँ पता नही है, फिर भी इनकी सत्ता उसी के द्वारा है। अतः अहता, ममता को छोड़कर उसी परमतत्व की आराधना करनी चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि कोई भी उस मूल स्रोत का पता नही बता सकता, जहाँ से जीव का उद्भव हुआ है। जब जीव इस शरीर को छोडकर परलोक सिधारता है, उस समय की स्थिति को भी कोई नही बता पाता कि वह कहाँ गया ?

उस मूल स्रोत मे न पृथ्वी है, न आकाश है, न पवन है, न जल है और न आदि (सृष्टि करने वाली) माया है। वहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश का भी अस्तित्व नही है। तब यह जीव कहाँ से आया ? सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, माया सृष्टि का साधन है और जीव की काया पंच तत्वो से निर्मित है। परन्तु मूल मे इनमे से किसी का पता नही है। फिर जीव कहाँ से आया ?

यह जीव अहता और ममता के कारण संसार में भटकता फिरता है और उन्हीं के कारण इसको सारा दु.ख भी झेलना पड़ता है। प्रभु की सत्ता का परिचय न होने के कारण वह भ्रम मे पड़ा रहता है।

कबीर कहते है कि सृष्टि का मूल परमतत्व निरंजन है। मेरा प्रेम उसी से हो

गया है और मेरा चित्त पलट कर, प्रत्यङ्मुखी होकर उसी मे लग गया है। उस मूल तत्व को बिरले ही जानते है।

राग—मारू।

(२८८)

बिनती[1] एक रांम सुंनि थोरी,
अब न बचाइ राखि पति मोरी ॥ टेक ॥
जैसे मंदला तुमहि बजावा, तैसे नाचत मैं दुख पावा।
जे मसि लागी सबै छुड़ावौ, अब मोहि जनि बहु रूप[2] कछावौ।
कहै कबीर मेरी नाच उठावौ, तुम्हरे[3] चरन कंवल दिखलावौ ॥

शब्दार्थ—बचाइ=पृथक्। पति=प्रतिष्ठा, लाज। मदला=मर्दल, वाद्य-विशेष। कछावौ=धारण कराओ। मसि=स्याही।

सदर्भ—इस पद में कबीर कहते है कि हे प्रभु! भिन्न-भिन्न जन्मो के प्रपंच से मैं थक गया हूँ। अब मुझे शरण मे लेकर ससरण से मुक्त कीजिए।

व्याख्या—हे प्रभु! मेरी थोडी सी विनती सुन लीजिए। मुझे अपने से पृथक् मत कीजिए। मेरी लाज की रक्षा कीजिए। आपने जिस ताल से मर्दल बजाया अर्थात् आपकी माया ने जिस रूप मे मुझे आकृष्ट किया, उसी रूप से मै नाचता रहा अर्थात् जीवन मे उसी प्रकार से अभिनय करता रहा और इन सारे अभिनयो मे दु'ख ही भोगता रहा। मुझमे पाप की जो कालिमा लग गई है, उससे मुक्त करो। अब मुझे भिन्न-भिन्न रूपो मे अभिनय के लिए विवश न करो अर्थात् नाना प्रकार के रूप धारण न कराओ। कबीर कहते है कि अब मुझे जन्म-मरण से मुक्त कर दो। मुझे भिन्न-भिन्न रूपो मे नाचना न पड़े। कृपाकर अब मुझे अपने चरण-कमलो मे शरण दीजिए।

अलंकार—चरन कंवल—रूपक।

राग—गौरी।

(२८९)

संतो मंहतो सुमिरो[4] सोई, काल फांस जो[5] बांचा होई।
दत्तात्रेय मर्म नहि जाना, मिथ्या स्वाद भुलाना।
सलिल[6] को मथिकै घृत को काढ़िनि, ताहि समाधि समाना ॥

---

१. ना० प्र०–बीनती। २. ना० प्र०– रूपक छावौ। ३. ना० प्र०–तुम्हारे। ४. वि०–सुमिरहु। ५. वि०–सो। ६. वि०–सलिता मथि के।

गोरख पवन राखि नहि जाना, जोग जुक्ति अनुमाना।
रिधि[1] सिधि संजम बहुतेरा, पार ब्रह्म नहि जाना॥
बसिष्ठ स्रेष्ठ[2] विद्या सम्पूरन, राम ऐसे सिख साखा।
जाहि राम को कर्ता कहिए, तिनहु को काल न राखा॥
हिन्दू कहैं हमहि लै जारो,[3] तुर्क कहैं मोर पीर।
दोऊ[4] आप दीनन में झगरैं, ठाढ़े देखहि हंस कबीर॥

शब्दार्थ—बांचा = बचा हुआ। सलिल = जल। पवन = प्राण। राखि = निरोधकर। सजम = धारणा, ध्यान, समाधि की समन्वित क्रिया। सिख = शिष्य। पीर (फा०) = गुरु। दीनन = धर्म।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में बताया गया है कि उस प्रभु का स्मरण करना चाहिए जो काल के पाश से परे है, अमर है। अन्य सभी देव-देवी काल-कवलित हो जाते हैं।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे श्रेष्ठ संतो! उस प्रभु का स्मरण करो, जो अविनाशी है, जो काल के बंधन से परे है। दत्तात्रेय जैसे ऋषि भी उस परम तत्व के मर्म को न जान सके और समाधि के स्वाद मे व्यर्थ ही लगे रहे, जो कि साधन-मात्र है, परम पद नही है। कठिन तपस्या द्वारा समाधि की अवस्था को प्राप्त करना वैसे ही व्यर्थ का श्रम है जैसे जल को मथकर घृत निकालने का प्रयास। गोरखनाथ ने भी प्राण का निरोध किया, प्राणायाम किया, किन्तु वास्तविक अविनाशी तत्व को न जान सके। वह केवल हठयोग की युक्ति से उसका अनुमान मात्र करते रहे, वास्तविक अविनाशी को प्राप्त न कर सके। उन्होंने संयम के द्वारा अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ प्राप्त की, किन्तु परब्रह्म को न जान सके। वशिष्ठ मुनि ज्ञानी थे, श्रेष्ठ विद्या से सम्पन्न थे। राम जैसे महापुरुष उनकी शिष्य-परम्परा में हुए। वह वशिष्ठ भी अविनाशी परब्रह्म को न जान पाए और उसी 'राम' तक उनकी पहुँच हुई जिनको भ्रम-वश लोग 'कर्त्ता' मानते है तथा जो स्वयं काल द्वारा विनाश को प्राप्त हुए। अविनाशी परम तत्व को न समझने वाले देहाभिमानी जीव के ही चक्कर मे पड़े रहते हैं। ऐसे ही देहाभिमानी हिन्दू अपने गुरु को मरणोपरान्त जलाने के लिए झगड़ते हैं और मुसलमान अपने पीर को गाड़ने का हठ करते है। दोनों लोग अपने-अपने धर्म के नाम पर विवाद करते है, किन्तु विवेकी (हंस) कबीर तटस्थ भाव से इस झगड़े को देखते है अथवा कबीर कहते है कि विवेकी जीव इस विकार में न पड़कर तटस्थ भाव से इस सघर्ष को देखते रहते है।

अलकार—लोकोक्ति।

---

१. वि०—रीधि सीधि। २. वि०—सिस्ट। ३. वि०—जारव। ४. वि०—दोनौं आय दीन मँह। शु०क० की प्रति में 'ठाढ़े' नहीं है।

(२९०)

संतो अचरज एक भौ भारी, पुत्र धरल[1] महतारी।
पिता के संगहि[2] भई बावरी, कन्या रहलि कुंवारी ॥
खसमहि छोड़ि ससुर संग गौनी, सो किन लेहु बिचारी।
भाई के संग[3] सासुर गौनी, सासुहि सावत दीन्हा ॥
ननद भौज परपंच रच्यो है, मोर नाम कहि लीन्हा।
समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरबारी ॥
कहै कबीर सुनो हो संतो, पुरुष जन्म भौ नारी।

शब्दार्थ—धरल = पकड लिया। पुत्र = (प्र० अ०) मन। महतारी = माता (प्र० अ०) माया। पिता = (प्र० अ०) ब्रह्म। कन्या = (प्र० अ०) माया। खसमहि = पति को (प्र० अ०) साक्षि चैतन्य पुरुष। ससुर = (प्र० अ०) देवी-देवता। गौनी = गमन किया। सासुहि = (प्र० अ०) प्रवृत्ति। सावत = सौतिया डाह। भाई = (प्र० अ०) अविवेक। सासुर = श्वशुरालय (प्र० अ०) संसार। सासु = (प्र० अ०) भक्ति। ननद = (प्र० अ०) कुमति। भौज = भाई की पत्नी (प्र० अ०) अविद्या। मोर = ममत्व। समधी = जिसकी 'धी' (बुद्धि) सम है, सन्त। घरबारी = घरवाली, रखैल। सहज = स्वभावत.।

संदर्भ—इस पद मे माया के स्वरूप और विविध कार्यो का वर्णन है।

व्याख्या—हे सन्तो ! एक बड़े आश्चर्य की बात है कि माँ (माया) ने पुत्र (मन) को ही अपने प्रेम मे फांस लिया है। वह कन्या (माया) कुमारी थी, किन्तु, अपने पिता (ब्रह्म) के पीछे दीवानी हो गई। उसका वास्तविक पति साक्षि-चैतन्य होना चाहिए। किन्तु वह चैतन्य पुरुष को छोडकर अन्य देवों के साथ चली गई। इसका विचार क्यो नही करते हो ? वह अपने भाई (अविवेक) के साथ संसार रूपी श्वशुरालय मे आई और भक्ति रूपी सासु से सौतियाडाह करने लगी। कुमति रूपी ननद और अविद्या रूपी माया ने सारे संसार का प्रपंच रचा है तथा सारे ममत्व का कारण बन गई है। वह समत्व बुद्धि वाले सन्तों के साथ नही रहती। वह स्वभावतः दुर्जनों की घरवाली (रखैल) बनी रहती है। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो ! चैतन्य पुरुष ही माया रूपी नारी का रूप धारण करता है। यह माया कही अन्यत्र से नही आई है।

अलंकार—(१) रूपकातिशयोक्ति।
(२) 'समधी' शब्द मे श्लेष।
(३) पुरुष जन्म भौ नारी—विरोधाभास।

---

१. वि०–धइल। २. वि०–सगे। ३. वि०–संगे।

(२९१)

संतो अचरज एक भौ भारी, कहौं तो को पतियाई।
एकै पुरुष एक है नारी, ताकर करहु बिचारा।
एकै अंड सकल चौरासी, भर्म[1] भुला संसारा॥
एकै[2] नारी जाल पसारा, जग महँ[3] भया अंदेसा।
खोजत खोजत[4] अंत न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेसा॥
नाग फांस लीये घट भीतर, मूसिन सब[5] जग झारी।
ग्यान खडग बिनु सब जग जूझै, पकरि न काहू पाई॥
आपुहि[6] मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई।
कहहि कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लिया जगाई॥

शब्दार्थ—पतियाई=विश्वास करेगा। पुरुष=चैतन्य पुरुष। नारी=(प्र० अ०) माया। अंड=ब्रह्माण्ड। चौरासी=चौरासी लाख योनियाँ। अंदेसा=(फा० अंदेशः)=संशय। मूसिन=चुरा लिया। झारी=सम्पूर्ण रूप से। नाग फाँस=(प्र० आ०) काम, क्रोध आदि बंधन।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में बताया गया है कि ब्रह्म एक ही माया के द्वारा सारे संसार की सृष्टि करता है और वही माया अज्ञान तथा मोह के कारण सबको अपने पाश में बाँधे रहती है। यह बंधन केवल ज्ञान के द्वारा छिन्न हो सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि एक बड़े आश्चर्य की बात है। यदि मैं उसे कहूँ तो कौन विश्वास करेगा? आश्चर्य क्या है? सामान्यतः संसार में अनेक नारी-पुरुष हैं, जिनसे संसार चलता है। किन्तु वस्तुतः एक ही पुरुष (ब्रह्म) और एक ही नारी (माया) है, जिससे सारे संसार का प्रसार हुआ है। इस तथ्य पर विचार करो। एक ही ब्रह्माण्ड में चौरासी लाख योनियाँ विद्यमान हैं। सारा संसार भ्रम में पड़ा है। पूरे विश्व में सृष्टि का जाल एक ही नारी (माया) ने फैलाया है और सारा संसार संशय में पड़ा हुआ है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी खोजते-खोजते थक गए, किन्तु माया के प्रसार का अन्त न पा सके। प्रत्येक व्यक्ति काम, क्रोध आदि के भयंकर एवं दुर्निवार पाश से जकड़ा हुआ है और इसी के द्वारा माया ने सारे संसार का पूर्ण रूप से हरण कर लिया है। ज्ञान रूपी तलवार के बिना सारा संसार उससे पराजित हो जाता है। कोई उसे अपने वश में नहीं कर पाता।

इस संसार रूपी वृक्ष का मूल, फूल और फुलवारी माया ही है। यहाँ 'मूल' का तात्पर्य है—अविद्या, 'फूल' नाना प्रकार के कर्म है और 'फुलवारी' सारी सृष्टि है।

---

१. वि०—भरम। २. वि—एकहि। ३. शुक०—में। ४. शुक०—काहु। ५. वि०—सभ।
६. शुक०—आपै।

वही माया मन और इन्द्रियों के माध्यम से सभी वस्तुओं का भोग भी करती है। कबीर कहते हैं कि उन्ही लोगों का उद्धार हो सकता हैं, जिन्हे गुरु मोह रूपी निद्रा से जगा देता है।

अलंकार—(१) ज्ञान खडग—रूपक।
(२) ज्ञान खडग बिनु सब जग जूझै—विभावना।

(२९२)

संतो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, ना कहूँ गया न आया॥
क्या मकसूद मच्छ कछ[1] होना, संखासुर न संहारा।
है दयाल द्रोह नहिं वाके, कहहु कौन को मारा॥
वै करता नहिं[2] ब्राह कहाया, धरनि धरो नहिं भारा।
ई सब काम साहेब के नाहीं, झूठ कहै संसारा॥
खंभ फोरि जो बाहर होई, तेहि[3] पतिजै सब कोई।
हिरनाकुस नख उदर[4] बिदारे, सो कर्त्ता नहिं होई॥
बावन रूप न बलि को जाँचो[5], जो जाँचै सो माया।
बिना विवेक सकल जग भरमै, माया जग भरमाया॥
परसुराम छत्री नहिं मार्‌यो[6], ई छल माया कीन्हा।
सतगुर भक्ति भेद नहिं पायो,[7] जीवन[8] मिथ्या कीन्हा[9]॥
सिरजनहार न ब्याहो सीता, जल पषान नहिं बंधा।
वै रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा॥
गोपी ग्वाल न गोकुल आए, करते कंस न मारा।
मेहरबान[10] सबहिन को साहब, ना जीता ना हारा॥
वै करता नहि बुद्ध[11] कहावै, नहीं असुर संहारा।
ज्ञानहीन कर्ता सब[12] भर्मे, माया जग भरमाया॥
वै करता नहिं भये कलंकी, नहीं[13] कलिंहि गहि मारा।
ई छलबल सब माया कीन्हा, यतिन सतिन सब टारा॥
दस अवतार ईसरी माया, कर्त्ता कै जिन पूजा।
कहै कबीर सुनो हो संतो, उपजै खपै सो दूजा॥

---

१. शुक०—कच्छ। २. शुक०—न वराह कहाए। ३. वि०—ताहि। ४. वि०—वोद्र विदारी। ५. शुक०—जाचै। ६. वि०—मारा। ७. शुक०—जाने। ८. शुक०—जीवहिं। ९. शुक०—दीन्हा। १०. शुक०—है मेहरवान सवन। ११. शुक०—वौद्ध। १२. शुक०—कै। १३. शुक०—नहिं कालिगहि मारा।

शब्दार्थ—प्रतिपाल=रक्षक। काल=भक्षक। मकसूद (अ० मकसद)=उद्देश्य। मच्छ=मत्स्यावतार। कछ=कच्छपावतार। संखासुर=एक राक्षस। बराह=वाराह अवतार। पतिजै=विश्वास करना। जांचै=याचना करना, भीख माँगना। भेद=मर्म। पषान=पाषाण, पत्थर। कर ते=कर से, हाथ से। कलकी=कल्कि अवतार। हारा=हटाया, नष्ट किया। खपै=नष्ट होता है।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे अवतारवाद का खण्डन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे सन्तो! आना-जाना अथवा उत्पन्न होना और नष्ट होना माया का कार्य है। ईश्वर न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है। अत उसका अवतार नही हो सकता। वह सबका रक्षक है। उसको कोई नष्ट नही कर सकता। वह कही न आता है, न जाता है अर्थात् वह न उत्पन्न होता है, न उसका विनाश होता है। वह अनादि और अनन्त है। मत्स्य अथवा कच्छप अवतार लेने में उसका क्या प्रयोजन हो सकता है? उसने संखासुर का सहार नही किया। वह दयालु है। उनमें किसी के प्रति द्रोह नही हो सकता, तब फिर बताओ किसने किसको मारा? वह सारे ससार का स्रष्टा है। उन्होने वाराह अवतार लेकर पृथ्वी का भार नही धारण किया। ये सारे कार्य ईश्वर के नही हो सकते। लोग व्यर्थ मे कहते है कि ईश्वर ने अवतार लेकर ये कार्य किए। नृसिह अवतार मे सभी विश्वास करते हैं, जो खम्भ फोड़कर प्रकट हुए थे और हिरण्यकशिपु के उदर को नख से विदीर्ण किया था। यह कार्य स्रष्टा या प्रभु का नही हो सकता। प्रभु ने वामन रूप धारण करके बलि से याचना नही की। याचना करने वाला माया द्वारा उत्पन्न कोई पुरुष ही हो सकता है। सारा संसार अज्ञान के कारण भ्रम मे पड़ा हुआ है। यह भ्रम भी माया की उपज है। परशुराम के रूप मे ईश्वर ने क्षत्रियो का संहार नही किया। यह कार्य माया का था। वास्तव मे अवतारवाद मे विश्वास करने वाले लोग सद्गुरु से भक्ति के मर्म को नही सीखते और अपने जीवन को निरर्थक बना देते है। जो सबका स्रष्टा है, वह सीता से विवाह कैसे कर मकता है? राम का अवतार लेकर उसने पत्थरो से सेतु का निर्माण नही किया। उस 'एक' राम की उपासना करनी चाहिए जो सर्वव्यापी है। जो अवतारी व्यक्ति की उपासना करते है, वे अज्ञ है। प्रभु ने कृष्ण के रूप मे भी अवतार नही लिया और न गोकुल में गोपी और ग्वालो के यहाँ आए। उन्होने अपने हाथ से कस का भी वध नही किया। प्रभु सब पर दया करता है। उसने न तो किसी से युद्ध करके विजय प्राप्त कोया और न वह किसी से पराजित हुआ। उन्होने बुद्ध अवतार भी नही लिया और न किसी असुर को मारा। सभी अज्ञानी लोग वास्तविक कर्ता के सम्बन्ध मे भ्रम मे पडे हुए है। माया ने सबको भ्रम में डाल दिया है। प्रभु ने कल्कि का अवतार भी नहीं धारण किया। और न कलि को पकड़कर मारा। यह

सारा प्रपच माया का है। माया ने ही साधको और यतियो को पथभ्रष्ट किया है। लोगों द्वारा ईश्वर के रूप मे पूज्य दस अवतार केवल उसकी माया के रूप हैं। कबीर कहते हैं कि जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, वह ईश्वर नही है, कुछ अन्य ही है अर्थात् माया का कार्य है।

तुलनीय—(१) कबीर ने एक रमैनी मे भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

तेहि साहब के लागहु साथा, दुइ दुख मेटिकै रहहु सनाथा।
दसरथ कुल अवतरि नहिं आया, नहिं लंका के रावं सताया।
नही देवकी के गर्भहिं आया, नही जसोदै गोद खेलाया।
प्रिथिमी रवन दवन नही करिया, पैठि पताल नही वलि छलिया।
नही बलिराज से माँडी रारी, नहि हरिनाकुस बधल पछारी।
होय बराह धरनि नहिं धरिया, छत्री मारि निछत्र न करिया ॥७५॥

(२) कर्ता के इसी स्वरूप का वर्णन गीता मे भी मिलता है—

नान्य गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च पर वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

(१४।१९)

'जिस काल मे द्रष्टा तीनो गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता है ओर तोनो गुगो से परे मुझ परमात्मा को जानता है, उस अवस्था मे वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है।'

टिप्पणी—(१) माया अथवा प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है और जो कुछ भी रूप, आकृति आदि हैं, वे माया के ही कार्य हैं। यही तथ्य गीता के उपर्युक्त श्लोक में भी कहा गया है।

(२) संखासुर—एक दैत्य जो ब्रह्मा से वेद चुराकर समुद्र मे जा छिपा था। उसका वध करने के लिए विष्णु ने मत्स्यावतार लिया।

अलंकार—कहहु कौन को मारा—वक्रोक्ति।

(२९३)

संतौ ई मुरदन कै गांउँ।
तन धरि कोई रहन न पावै काकौ लीजै नांउँ ॥ टेक ॥
पीर मुवा पैगम्बर मूवा मूवा जिंदा जोगी।
राजा मूवा परजा मूवा मूवा बैद औ रोगी ॥

चंदौ मरिहै सुरजौ मरिहै मरिहै धरनि अकासा।
चौदह भुवन चौधरी मरिहै काको धरिऐ आसा॥
नौ हू मूवा दस हू मूवा मूवा सहस अठासी।
तैंतिस कोटि देवता मूए परे काल की पासी॥
एकहि जोति सकल घट व्यापक दूजा तत्त न होई।
कहै कबीर सुनौ रे संतौ भटकि मरै जनि कोई॥

शब्दार्थ—मुरदन (फा०-मुर्दः)=मरणशील। जिंदा (फा०-ज़िंदा)=जीवित। पासी=पाश, फंदा। मूवा=मृत, मर गया। चौधरी=(चतुर+धर) मुखिआ, अगुआ, मालिक। पीर (फ़ा०)=धर्मगुरु। पैगम्बर (फा०)=ईश्वर का दूत।

सदर्भ—इस पद में बताया गया है कि संसार मरणशील है, केवल आत्मा अमर है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यह संसार मरण-धर्मा है, मृत्युलोक है। यहाँ शरीर धारण करनेवाला कोई सदैव जीवित नही रहने पाता। किसका नाम लिया जाय ? अर्थात् कोई भी ऐसा नही हुआ जिसके विषय मे कहा जा सकता हो कि वह सदा जीवित रहा।

इस संसार से पीर और पैगम्बर तो बहुत पहले चले गए और अभी जो जीवित योगी थे, वे भी मर गए। राजा और प्रजा तथा वैद और रोगी सभी मृत्यु को प्राप्त होते है। प्रलय के समय न तो सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी और आकाश रह जाएँगे और न चौदहो लोको के स्वामी-विष्णु ही रह जाएँगे। फिर किसके बचने की आशा की जाय। नौ ग्रह, दस अवतार, अट्ठासी हजार मुनि तथा तैंतीस करोड देवता भी मर गए। सभी काल के फदे में पड़ते हैं। कबीर कहते है कि एक ही आत्मज्योति सभी के शरीर में व्याप्त है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा तत्व नही है। अकेला वही अविनाशी हे। अन्य किसी मे अमरत्व की खोज मे भटकना व्यर्थ है।

टिप्पणी— (१) चौदह भुवन-सात स्वर्ग (भूः, भुवः, स्वर्ग, जन, तप, मह, सत्य)+सात पाताल, (अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल, पाताल)
(२) नौ ग्रह—सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, वृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु।
(२) दस अवतार—मच्छ, कच्छ, वराह, नृसिह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि।

अलंकार— (१) मूवा जिंदा जोगी–विरोधाभास ।
(२) काकी धरिऐ आसा–वक्रोक्ति ।

राग—आसावारी ।

(२९४)

संतो ऐसि[1] भूल जग माहीं, जाते जीव[2] मिथ्या में जाहीं ।
पहिले भूले ब्रह्म अखंडित, झाँई आपुहि मानी ।
झांई मानत[3] इच्छा कीनी[4], इच्छा ते अभिमानी ।।
अभिमानी कर्ता ह्वै[5] बैठे, नाना पंथ चलाया ।
वही[6] भरम में सब जग भूला, भूल का मरम न पाया ।।
लख चौरासी भूल[7] ते कहिये, भूल[8] ते जग बिरचाया ।
जो है सनातन सोई भूला, अब सोइ भूलहि खाया ।।
भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहि लखाई ।
कहैं कबीर भूल की औषध, पारख सबकी भाई ।।

शब्दार्थ—झाई = परछाई, प्रतिबिम्ब । मर्म = रहस्य । बिरचाया = रचना किया । पारख = विवेक ।

संदर्भ—आत्मविस्मृति से ही संसरण होता है । उसी के कारण नाना प्रकार की योनियो मे जीव भ्रमण करता है । आत्म-स्मृति से ही मुक्ति होती है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे संतो ! इस संसार मे अज्ञान के ही कारण माया का अस्तित्व है । उसी अज्ञान के कारण जीव असत् माया मे फँसता है । अखण्ड-स्वरूप ब्रह्म सर्वप्रथम अज्ञान का आश्रय बनता है अर्थात् अपने स्वरूप को भूल जाता है और प्रतिबिम्ब को ही अपना स्वरूप मान लेता है । बुद्धिगत प्रतिबिंब को वास्तविक स्वरूप मानते ही इच्छा उत्पन्न होती है । उस इच्छा से ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि त्रिदेव, सत्व, रजस्, तमस् गुणो से उपहित होकर अपने को कर्त्ता मान बैठे । इस प्रकार परिच्छिन्न गुणों द्वारा सीमित वे अपने को ही सच्चा स्वरूप मानने लगे । यही अभिमान है । इसी अभिमान के फलस्वरूप उन्होंने अपने को कर्त्ता मानकर नाना पथों का प्रवर्त्तन किया । सारा ससार इसी भ्रम मे पड़ा हुआ है । इस भ्रम का मर्म किसी की समझ में न आया । इसी अज्ञानवश जीव चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता रहता है ।। इसी अज्ञान से संसार की रचना हुई है । जिसे हम सनातन तत्व कहते है, सर्वप्रथम उसी मे अख्याति (अज्ञान) आरम्भ हुई । उसी अज्ञान ने सारे ससार को नष्ट कर

१. वि०–ऐसी भुल । २. वि०–जिव । ३. शुक०–भूलत । ४. शुक०–कीना । ५. शुक०–हो ६. शुक०–वाही भूल, वि०–वोहि भूल । ७. शुक०–भूतल । ८. शुक०–भूतल ।

डाला। यह अज्ञान तभी मिट सकता है, जब वास्तविक विवेकी, ज्ञानी गुरु मिले, जो अपने विवेक के द्वारा सत्य वस्तु की पहचान करा दे। कबीर कहते हैं कि हे भाई! सारे अज्ञान की औषध आत्मस्वरूप की पहचान ही है।

टिप्पणी—इस पद मे 'भूल' या अज्ञान शब्द का प्रयोग 'जानबूझकर आत्म-विस्मृति' के अर्थ मे हुआ है। उस स्वरूप की स्मृति ही वह 'पारख' है, जो 'भूल' को मिटाती है। आत्मस्वरूप की विस्मृति के ही कारण जीव को चौरासी लाख योनियो मे भटकना पड़ता है।

(२९५)

संतौ कहौं तो को पतियाई, झूठ कहत, साँच बनि आई॥
लौकै रतन अवेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साँई।
चिमिकि चिमिकि चिमिकै दृग [1]दुहु दिस, अर्ब रहा छिरिआई॥
आपै गुरू क्रिपा कछु कीन्हा[2], निगुंन अलख लखाई।
सहज समाधि उनमुनी जागै, सहज मिलै रघुराई॥
जहँ जहँ देखौ तहँ[3] तहँ सोई, मन मानिक बेध्यो हीरा।
परम तत्व गुरु[4] ही से पावै, कहै उपदेस कबीरा॥

शब्दार्थ—पतियाई=विश्वास करेगा। अवेध=अखण्ड। रतन=हीरा (प्र० च०) आत्मा। लौकै=दिखाई पड़ता है। अमोलिक=अमूल्य। चिमिकि=चमककर। अर्व=अरब, सौ करोड। दृग=दृक्, द्रष्टा। छिरिआई=फैला हुआ। अलख= अलक्ष्य।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने बतलाया है कि परमतत्व आत्मा के रूप में सब मे विद्यमान है। किन्तु केवल सद्गुरु की कृपा से ही उसका साक्षात्कार हो सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे संतो! मेरे कथन पर कौन विश्वास करेगा? वह कहने मे असत्य प्रतीत होता है, किन्तु अनुभव में सत्य है। अखण्ड एवं अमूल्य आत्मा रूपी रत्न प्रकाशित होता रहता है। परन्तु वह ऐसा रत्न है जिसका न कोई ग्राहक है, न स्वामी अर्थात् वह सर्वव्यापी है, किसी विशेष का नही। वह न किसी व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति है और न कोई उसे खरीद सकता है। वह द्रष्टा है। द्रष्टा के रूप मे वह चारो ओर प्रकाशमान है। उसका प्रसार अनंत जीवादि के रूप मे है अर्थात् वह सर्वव्यापी है। गुरु कृपा कर उस अलक्ष्य एवं निराकार तत्व को आत्म-रूप में लखा देता है अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करा देता है। उसकी कृपा से सहज समाधि की उपलब्धि हो जाती है और उन्मनी अवस्था जग जाती है। फिर

१. वि०–दहुँ। २. वि०–कीन्हो। ३. शुक०–जँह। ४. वि०–यह गुरु ते पावो।

स्वभावतः अनायास राम मिल जाते है। तब साधक को सर्वत्र राम के ही दर्शन होते है। सामान्यत: मन का स्वभाव विकल्प करना है। विकल्पात्मक मन से निर्विकल्पात्मक आत्मा का साक्षात्कार नही किया जा सकता है। गुरु-कृपा से जब आत्मा रूपी हीरे के द्वारा मन-माणिक्य बिंध जाता है और उसकी विकल्पात्मक स्थिति समाप्त हो जाती है, तभी परमतत्व का साक्षात्कार होता है और सारा विश्व राममय प्रतीत होने लगता है। यह परम तत्व केवल गुरु के द्वारा ही उपलभ्य है। कबीर का उपासक जनों के प्रति यही उपदेश है।

टिप्पणी—(१) सहज समाधि—

समाधि दो प्रकार की होती है—(१) यत्नसाध्य समाधि और (२) सहज समाधि।

यत्नसाध्य समाधि कुछ समय के लिए ही हो सकती है। उसके टूटने पर मन अपनी विकल्पात्मक अवस्था मे आ जाता है। किन्तु जब मन राम मे अत्यधिक रत हो जाता है, तब वह समाधि (संयोग) स्वाभाविक हो जाती है। मन प्रभु मे निरन्तर युक्त (मिला) रहता है। यही सहज समाधि है।

(२) उन्मनी—कबीर के अनुसार राम या प्रभु का मन। भागवती चेतना।

(३) मुद्रा—(१) शरीर के अवयवो का विशेष विन्यास।

(२) मुदं राति इति मुद्रा अर्थात् वह अवस्था जो आध्यात्मिक आनंद प्रदायक है। वह सर्वोच्च अवस्था है।

अलंकार—(१) रतन, हीरा आदि शब्दो मे रूपकातिशयोक्ति।

(२) निर्गुन अलख लखाई—विरोधाभास।

(३) मन-मानिक—रूपक।

(२९६)

सतो घर में[1] झगरा भारी।
राति दिवस मिलि उठि उठि लागै, पॉच ढोटा एक नारी ॥ टेक ॥
न्यारो न्यारो भोजन चाहैं, पांचौ अधिक सवादी।
कोई काहु को[2] हटा न मानै, आपुहि आप मुरादी ॥
दुर्मति केर दोहागिनि[3] भेटै, ढोटहि चॉप[4] चपेरे।
कहै कबीर सोई जन मेरा, जो घर की रारि निबेरे ॥

शब्दार्थ—घर = (प्र० अ०) शरीर। पाँच ढोटा = पाँच लड़के (प्र० अ०) पंच ज्ञानेन्द्रियाँ। एक नारी = (प्र० अ०) कुबुद्धि। भोजन = (प्र० अ०) विषय।

१ वि०–मंह। २ वि०–का। ३. शुक०–दुहागिनी। ४ वि०–चापि।

सवादी = स्वादपरायण । हूटा = निवारण । मुरादी (फा०) = अभिलाषी । दोहागिनि = दुर्भाग्य । चाँप = पकड़कर । चपेटे = दबाती है । रारि = झगड़ा । निवेरे = निवारण करे, निपटावे ।

संदर्भ– इस पद मे कबीर ने यह बताया है कि वास्तविक भक्त वही है जो अपनी इन्द्रियो और बुद्धि को वश मे रखता है ।

व्याख्या—वह कहते है कि हे संतो ! शरीर रूपी घर मे अविवेक के कारण भारी संघर्ष चला करता है । एक नारी (कुबुद्धि) और पाँच लड़के (ज्ञानेन्द्रियाँ) रात-दिन झगड़ा करते रहते है । ये पाँचो स्वाद-परायण है और उनके स्वाद भी भिन्न भिन्न है—नेत्र रूप चाहते है, श्रवण मधुर शब्द चाहते है, नाक सुगंध चाहती है, आदि । इनमे से कोई किसी की रोक-टोक नही मानता, क्योकि प्रत्येक अपनी अभिलाषा पूरी करना चाहता है । वह व्यक्ति जो इस दुर्बुद्धि के दुर्भाग्यपूर्ण व्यवहार को मिटा सकता हो अर्थात् बुद्धि को वश में कर सकता हो और इस आन्तरिक संघर्ष को निपटा सकता हो, वही सच्चा भक्त है ।

टिप्पणी—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, त्वचा, रसना ।
उनके भोजन—रूप, शब्द, गध, स्पर्श, रस ।

अलंकार—समासोक्ति ।

(२९७)

संतो देखत जग बौराना ।
साँच कहौं तो मारन धावै, झूठे[1] जग पतियाना ॥ टेक ॥
नेमी देखा धरमी देखा, प्रात करै असनाना ।
आतम मारि पखानहि पूजै, उनमें[2] कछु नहि ज्ञाना ॥
बहुतक देखा पीर औलिया, पढ़ै कितेब[3] कुराना ।
कै मुरीद तदबीर बतावैं, उनमें उहै जो ज्ञाना ॥
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन में बहुत गुमाना ।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गर्व[5] भुलाना ॥
टोपी पहिरे माला पहिरे, छाप तिलक अनुमाना ।
साखी सब्दहि गावत भूले, आतम खबरि न जाना ॥

---

१. वि०–झूठहि । २. वि०–उनिमँह किछुउ न । ३. शुक०–किताब । ४. शुक०–घर । ५. शुक०–गर्भ ।

हिन्दू कहै मोहि राम पियारा, तुर्क[1] कहै रहिमाना।
आपस में दोउ[2] लरि लरि मूए, मर्म न काहू जाना॥
घर घर मन्तर देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना।
गुरु के सहित सिख्य सब बूड़े, अंत काल पछिताना॥
कहै कबीर सुनो हो संतो, ई सब भर्म[3] भुलाना।
केतिक कहौं कहा नहिं मानै, सहजै सहज समाना॥

शब्दार्थ—पतियाना = विश्वास करता है। नेमी = नियम पालन करने वाला। धरमी = धर्म का पापंड करने वाला। पखानहि = पत्थर को। पीर (फा०) = धर्म गुरु। औलिया (अ०) = सत। मुरीद (अ०) = शिष्य। तदबीर (अ०) = उपाय। डिभ = दम्भ। गुमाना (फा०) = अभिमान। पीतर = पीतल। रहिमाना (अ०) = दयालु। महिमा = गुरु महत्व।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने बाह्याचार पर प्रहार किया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे संतो! वस्तुतः लोग पागल हो गए हैं। उन्हे झूठे वचनों और आश्वासनों मे विश्वास है और वे सच्चाई का विरोध करते हैं।

मैंने ऐसे बहुत से लोगों को देखा है जो नियम और धर्म का आडम्बर करते है, नित्य प्रातः उठकर स्नान करते है, चैतन्य आत्मा का तिरस्कार करके निर्जीव पत्थर की पूजा करते हैं। उनमे केवल ऊपरी कर्मकाण्ड है, किन्तु भीतर से वे शून्य हैं। मैंने बहुत से धर्मगुरुओं और संतों (पीर-औलिया) को देखा हैं, जो नित्य कुरान का पाठ करते है और अपने शिष्यो को उनकी स्वार्थ सिद्धि के लिए तरह-तरह के उपाय बताते है। उन बेचारो का ज्ञान यही तक सीमित है। कुछ लोग आसन लगाकर धर्म का दम्भ करते है और अहकार से भरे रहते हैं, पीपल और पत्थर की मूर्तियों का पूजन करते हैं तथा तीर्थ यात्रा करके इस गर्व मे भूले रहते है कि हम बड़े धर्मात्मा है। कुछ लोग धर्म के नाम पर विशेष प्रकार की टोपी पहनते हैं, माला धारण करते है, शरीर में छाप और मस्तक पर तिलक लगाते है। कुछ लोग आत्म-तत्व से अनभिज्ञ केवल साखी-शब्दी के गाने मे ही भूले रहते हैं। हिन्दू कहते है कि मुझे राम प्रिय है और मुसलमान रहीम को प्रिय मानते है। दोनों धर्म के नाम पर आपस मे लड मरते है और तथ्य के रहस्य को समझ नही पाते। गुरु-महत्व के अभिमान मे तथाकथित गुरुवा लोग घर-घर मंत्र देते घूमते हैं। अज्ञानवश ऐसे गुरुओं के साथ शिष्य भी नष्ट हो जाते है और अंत समय मे पछताते हैं। कबीर कहते है कि हे संतो! ये सब भ्रम के कारण भटक गए है। मैं कितना ही समझाता

---

१. वि०-तुरुक। २. शुक०-दोऊ लरि। ३. शुक०-गर्भ।

हूँ, किन्तु कोई मेरी बात नही मानता। वे भोले भाले लोग, सरलतावश उन सरल बाह्याचारों में लगे रहते है जिनके द्वारा उनको स्वर्ग और मुक्ति का आश्वासन दिया जाता है।

(२९८)

संतो धागा टूटा गगन विनसि गया सवद जु कहाँ समाई।
एहि[१] संसा मोहि निस दिन व्यापै कोइ न कहै समझाई ॥ टेक ॥
नहीं ब्रह्मण्ड पिंड[२] पुनि नांही पंच तत्त भी नांहीं।
इला पिंगला[३] सुखमनि नांहीं ए गुण कहां समांहीं ॥
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहि तहियां रचनहार पुनि नांहीं।
जोवनहार[४] अतीत सदा संगि ए गुण तहाँ समांहीं ॥
टूटै[५] बंधै बंधै पुनि टूटै जव[६] जब होइ विनासा।
तव को ठाकुर अव को सेवग को काकै विसवासा ॥
कहै कबीर यहु गगन न विनसै जौ धागा उनमांनां।
सीखें सुनें पढ़े का होई जौ नहि पदहि समांनां ॥

शब्दार्थ—धागा=सूत्र (प्र० अ०) ध्यान का सूत्र। गगन=आकाश, गगन-मण्डल। रचनहार=कर्त्ता, अहंकारी जीव। सवद=अनाहत शब्द। जोवनहार=साक्षिचैतन्य। उनमांना=उन्मनी अवस्था में। समांनां=लीन हो गया।

संदर्भ—इस पद में वताया गया है कि संसार मे अनाहत शब्द से लेकर पंच तत्व तक सभी कुछ नश्वर है। केवल सारशब्द जो कि परम तत्व है और जिसे शब्द ब्रह्म भी कहते है, वही अविनाशी है। उसका अनुभव उन्मनी अवस्था मे पहुँचने पर ही हो सकता है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि हे संतो! जब ध्यान का सूत्र टूट जाता है, तब साधक का सम्बंध उस गगन मण्डल से खण्डित हो जाता है जिससे वह अनाहत शब्द सुनता है। मुझे यह शका निरन्तर बनी रहती है कि फिर वह शब्द कहाँ चला जाता है ? मुझे इसका समाधान किसी से नही मिलता।

इसी प्रश्न के सदर्भ मे वह सभी पदार्थों की नश्वरता दिखलाते हुए कहते है कि केवल सारशब्द ही परमतत्व है और वह शाश्वत है। परमार्थ मे न ब्रह्माण्ड है, न पिंड और न पचतत्व। उसमे इडा-पिंगला- सुपुम्ना आदि भी नही है। ये पदार्थ कहाँ समाविष्ट हो जाते है ? परमार्थ मे न गृह-द्वार है और न वहाँ उसके रचयिता जीव

१. ना० प्र०–ए। २. ना० प्र०–प्यंड। ३. ना० प्र०–प्यंगुला। ४ ति०–जोडनहारो सदा अतीता इह कहिऐ किसु माहीं,। ५. ना० प्र०–तूटै। ६. ना० प्र०–तव तव।

का ही कोई अस्तित्व है ? ये सारे पदार्थ उस साक्षि-चैतन्य मे लीन हो जाते है जो इन सबसे अतीत है और शाश्वत है। वही परमतत्व इनका आदि भी है और अवसान भी है। सांसारिक पदार्थ नश्वर है। ये टूटते और बँधते है और बँधकर फिर टूटते है। एक जन्म मे जो स्वामी था, दूसरे मे वही सेवक बन जाता है। अत. सम्बंधो के स्थायित्व पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ?

पद के प्रारम्भ मे उठाई गई शका का समाधान करते हुए कबीर कहते है कि यदि ध्यान-सूत्र उन्मनी मे स्थिर हो जाय तो चित्त का सम्बध सारशब्द से हो जाएगा और तब पता चलेगा कि एक ऐसी अवस्था हैं, जहाँ शब्द शाश्वत है। जो इस परमतत्व में (जो कि ब्रह्मपद है) लीन हो जाता है, वह सार शब्द का अनुभव ग्रंथों के अध्ययन और श्रवण से कभी प्राप्त नही हो सकता।

टिप्पणी—(१) इस पद की पहली पक्ति मे यह शंका उठाई गई है कि अनाहत शब्द, जिसे साधक परम श्रेय समझता है, गगन-मण्डल से सम्पर्क छूटने पर कहाँ चला जाता है ? इसका समाधान वह उपान्त्य पद मे देते हुए बताते है कि सार शब्द मे सब कुछ समा जाता है। वही सबका आदि और अत है। सारशब्द ही साधक का परम पद है और उस पद का साक्षात्कार चित्त के उन्मनी अवस्था मे पहुँचने पर हो सकता है। कबीर ने अन्यत्र भी कहा है—

जाप मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाइ।
सुरति समानी शब्द मे, ताहि काल नहिं खाइ।।

यहाँ 'शब्द' का तात्पर्य है—सारशब्द, जिसका सकेत कबीर ने प्रस्तुत पद मे किया है।

(२) जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना मार्ग से चक्रो का भेदन करती हुई शून्य चक्र (गगन मण्डल या ब्रह्मरन्ध्र) मे जा मिलती है, तब साधक को अनाहत शब्द सुनाई देता है। पर शब्द भी शाश्वत नही है। केवल परम सारशब्द ही शाश्वत है। वही परम तत्व है। अन्य पदार्थो के समान अनाहत शब्द का भी उसी मे अवसान होता है।

अलंकार—(१) रूपकातिशयोक्ति।
(२) अंतिम पक्ति मे वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(२९९)

संतो पांडे निपुन कसाई।
बकरा मारि भैंसा पर धावैं, दिल में दर्द न आई।।

करि अस्नान तिलक दै वैठे, विधि से देवि पुजाई।
आतम राम[1] पलक में विनसे, रुधिर कि नदी वहाई॥
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिए, सभा माँहि अधिकाई।
इन्हते दीक्षा सव कोई माँगै, हँसि आवै[2] मोहि भाई॥
पाप कटन को कथा सुनावहिं, कर्म करावहिं नीचा।
वूड़त[3] दोउ परस्पर देखा, जम लाए हैं खींचा[4]॥
गाय बधे तेहि तुरका कहिए, इन्हते वे क्या छोटे।
कहहिं कवीर सुनहु हो संतो, कलि में ब्राह्मन खोटे॥

शव्दार्थ—निपुन=पूर्ण। विधि=नियम। खोटे=नीच।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे कवीर ने देवी-देवताओ के नाम पर होनेवाली पशु-वलि को निन्दा की है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि हे सन्तो! तथाकथित व्राह्मण पूरे कसाई होते है। वे स्नानादि करके तिलक लगाकर यजमान से नियमपूर्वक देवी की पूजा करवाते है और उसको प्रसन्न करने के लिए वकरे तथा भैसे की वलि चढ़ाते हैं। ऐसा करने मे उनके हृदय मे तृणमात्र पीडा नही होती। पशु वध से रुधिर की नदी वह जाती है और जीव पलमात्र में शरीर छोड़ देता है। ऐसे कर्म करने वाले लोग अपने को अत्यन्त पवित्र और कुलीन कहते हैं। सभा के मध्य भी उनको श्रेष्ठता तथा महत्ता प्रदान की जाती है। ऐसे वधिको से सभी लोग दीक्षा लेते है। यह देखकर मुझे हँसी आती है। वे पाप काटने के लिए सत्य-नारायण आदि की कथा सुनाते है, दूसरी ओर लोगो को निम्नातिनिम्न कार्यों मे प्रवृत्त कराते है। मैंने ऐसे पुरोहित और यजमान दोनो को नष्ट होते देखा है। यमराज उनको घसीटकर ले जाते है। गाय का वध करने वालो के लिए वे लोग अपमानजनक ढग से 'तुर्क' शव्द का प्रयोग करते है। क्या वे स्वय इन तुर्कों से कम नीच है? कवीर कहते है कि हे सन्तो! सुनो। कलियुग मे व्राह्मण वहुत नीच हो गए हैं।

अलंकार—गाय वधे ···· छोटे—वक्रोक्ति।

(३००)

संतो बोले ते जग मारैं।
अनबोले ते कैसक[5] बनिहै, सव्दहिं कोइ न बिचारैं॥

---

१. शुक०—मारि। २. वि०—आवत। ३.—वि०—हम तो दोउ परस्पर देखा। ४. वि०—
५. क०— से।

पहिले जन्म पूत[1] को भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत की एकै नारी, ई अचरज को काछे॥
दुंदुर[2] राजा टीका बैठे, बिखहर करै खवासी।
स्वान बापुरो धरनि ढाकनो, बिल्ली घर की[3] दासी॥
काग[4] दुकाग कारकुन आगे, बैल करै पटवारी।
कहै कबीर सुनो हो संतो, भैंसे न्याव निवारी॥

शब्दार्थ--सब्दहि = उपदेश। पूत=पुत्र (प्र० अ०) जीव। बाप = पिता (प्र० अ०) ईश्वर। नारी = (प्र० अ०) माया। काछे = हटाएगा। दुदुर= (स० उदुर) चूहा=(प्र० अ०) अहकार। टीका=गद्दी। बिखहर=विषधर, सर्प (प्र० अ०) मन। खवासी (अ०)=सेवा का काम। स्वान=कुत्ता (प्र० अ०) अज्ञान। धरनि=पृथ्वी=(प्र० अ०) वुद्धि। ढाकनो=छिपाना। बिल्ली= (प्र० अ०) कुवुद्धि। काग दुकाग=छोटे-वड़े कौए (प्र० अ०) निम्न प्रवृत्तियाँ। वैल=(प्र० अ०) अविवेक। पटवारी=आय-व्यय का लेखा रखनेवाला। भैंसे = (प्र० अ०) वंचक गुरु। न्याव=न्याय। निवारी=निपटाना।

संदर्भ—प्रस्तुत उलटवाँसी के द्वारा कबीर ने जीवन के वैषम्य और वैचित्र्य को चित्रित किया है।

व्याख्या—कवीर कहते है कि हे सतो! यदि मैं स्पष्ट वात कहता हूँ तो लोगो को बुरा लगेगा और वह मारने के लिए दौड़ेगे और बिना कहे भी कैसे काम चलेगा। मेरे कहने पर भी कोई ध्यान नही देता। यद्यपि यह कटु सत्य है, फिर भी कहना ही पडता है।

यह विपरीत स्थिति देखिए। पुत्र पहले पैदा हुआ और पिता बाद में अर्थात् जीव संसार मे आता है तो भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार वह ईश्वर के विभिन्न रूपो की कल्पना करता है। मनुष्यो द्वारा ईश्वर के नाना रूपो की कल्पना ही पिता का वाद मे पैदा होना है। दूसरा आश्चर्य यह है कि पिता-पुत्र दोनो की माया रूपी नारी एक ही है। माया से दोनो जुड़े हुए हैं। इस अनहोनी वात को कौन हटा सकता है? तीसरा आश्चर्य यह हैं कि अहकार रूपी चूहा सम्राट् वना बैठा है और मन रूपी सर्प सेवा कर रहा है। एक अन्य वैचित्र्य यह है कि अज्ञान रूपी श्वान वुद्धि रूपी पृथ्वी को आच्छादित किए है और कुवुद्धि रूपी विल्ली हृदय रूपी घर का कार्य सम्हाले हुए है। काम, क्रोध आदि निम्न प्रवृत्तियाँ जीवन की प्रबध-कर्त्ता वन गई है और अविवेक रूपी वैल

---

१. शुक०—पुत्र। २. शुक०—दुदा। ३. शुक०, वि०—में। ४. शुक०—कार दुकार कार कटि आगे, वि०—कागदकार कारकुड आगे।

उनके सामने कर्मों का लेखा रखता है। कबीर कहते हैं कि हे संतो! सुनो। एक आश्चर्य और है कि न्याय करने वाले वंचक गुरु (भैंस) हैं।

टिप्पणी—पूरे पद मे उलटवाँसी है।

(३०१)

संतो भक्ती[1] सतगुर आनी।
नारी एक पुरुष दुइ जाए[2], बूझो पंडित ज्ञानी॥ टेक॥
पाहन फोरि गंग एक निकरी, चहुँ दिसि पानी पानी।
तेहि[3] पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहरि[4] समानी॥
उड़ि माखी तरवर को[5] लागी, बोलै एकै बानी।
वहि माखी को माखा नाहीं, गर्भ[6] रहा बिनु पानी॥
नारी सकल पुरुष वहि[7] खायो, ताते रहेउँ अकेला।
कहहि कबीर जो अबकी समुझै,[8] सोई गुरू[9] हम चेला॥

शब्दार्थ—आनी=लाए। नारी=(प्र० अ०) भक्ति। दो पुरुष=(प्र० अ०) ज्ञान, वैराग्य। पाहन=प्रस्तर (प्र० अ०) शुष्क अन्तःकरण। पानी=(प्र० अ०) सुख व शाति। दरिया=नदी (प्र० अ०) भव, ससार। माखी=(प्र० अ०) मन। माखा=पति। पानी=(प्र० अ०) वीर्य।

सदर्भ—इस पद में कबीर ने यह बतलाया है कि भक्ति मे मन के रूपान्तरण की क्षमता है, जिससे जीव कैवल्यावस्था मे पहुँच सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मुझे सद्गुरु की कृपा से भक्ति प्राप्त हुई। भक्ति रूपी नारी से ज्ञान और वैराग्य नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। ज्ञानी पुरुषो से पूछने पर इसका पता चल जाएगा।

पत्थर के समान शुष्क अन्त.करण को भेदकर भक्ति रूपी गगा निकली, परिणामस्वरूप चारो ओर सुख और शाति का जल फैल गया। उस भक्ति रूपी जल मे राग-द्वेष रूपी दो पर्वत डूब गए और उसकी लहर मे संसार रूपी नदी समा गई अर्थात् भक्ति के आवेग से सासारिकता समाप्त हो गई। भक्ति रूपी तरग के प्रभाव से भिन्न-भिन्न विषयो का आस्वाद लेने वाली मन रूपी मक्षिका उडकर ब्रह्म रूपी श्रेष्ठ वृक्ष पर जा बैठी और अब यह कहने लगी कि प्रत्यगात्मा ही सब कुछ है। भक्ति का उद्रेक होने पर मन का रूपान्तरण हो गया। वह साक्षि-स्वरूप चैतन्य हो गया। भक्ति के

---

१. शुक०—भक्ति। २ वि०—जाया। ३. वि०—तिहि। ४. शुक०—लहर। ५. वि०—ते। ६. वि०—गरभ। ७ शुक०—वै। ८ शक०—बूझै। ९. शुक०—गुरु।

प्रभाव से मन सामान्य धरातल से उठकर साक्षि-चैतन्य-स्वरूप हो गया अर्थात् उसका दूसरा जन्म हुआ। यह जन्म या रूपान्तरण बाह्य साधन के बिना हुआ। इसी तथ्य को कबीर ने इन शब्दों मे कहा है कि मन रूपी मक्खी का कोई माखा (पति) नही है और विना वीर्य के गर्भ रह गया।

भक्ति रूपी नारी ने काम, क्रोध आदि पुरुषों को विनष्ट कर दिया। जीव के समस्त वधन माया अथवा प्रकृति के कारण होते है। भक्ति के प्रभाव से सारे वंधन टूट गए। वह माया के प्रभाव से मुक्त होकर, एकाकी आत्मस्वरूप मे स्थित हो गया अर्थात् कैवल्यावस्था मे आ गया। कवीर कहते है कि 'अवकी' अर्थात् इस मानव जीवन मे ही सत्यात्मा को समझने की सम्भावना है। इस मर्म को जो समझ जाय, मैं उसे गुरु मानने को तैयार हूँ।

टिप्पणी—श्रीमद्भागवत मे भी कहा गया है कि भक्ति के दो पुत्र है—ज्ञान और वैराग्य। नारद-भक्ति सवाद मे भक्ति नारद से कहती है—

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे, तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥ ४५॥
(अध्याय १)

अलंकार—(१) पूरे पद में रूपकातिशयोक्ति।
(२) दरिया लहरि समानी–विरोधाभास।
(३) गर्भ रहा विनु पानी-विभावना।

(३०२)

संतौ भाई आई ग्यांन की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ांनी[1] माया रहै न बाँधी रे॥ टेक॥
दुचिते[2] की दोइ थूंनि[3] गिरांनी मोह बलेंडा[4] टूटा।
[*]त्रिसनां छांनि परी धर ऊपरि दुरमति भांडा फूटा॥
आंधी पाछै जो जल बरसै[5] तिहि तेरा[6] जन भींनां।
कहै[7] कबीर मनि भया प्रगासा उदै भानु जब चीनां॥

---

१. ना० प्र०, गुप्त०-सवै उड़ाणी। २. ना० प्र०, गुप्त-हित चित। ३. ना० प्र०, गुप्त-द्वै थूँनी। ४. ना० प्र०-वलीडा है।* तीन पक्तियों के वाद ना० प्र० व गुप्त की प्रतियों में निम्नलिखित दो पक्तियाँ और है–

जोग जुगति करि संतौं बाँधी, निरचू चुवै न पाणी।
कूड़कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाणी॥

५. ना० प्र०, गुप्त-वूठा। ६. ना० प्र०–प्रेम हरा। ७. ना० प्र०, गुप्त-कहै कवीर भान के प्रगटे उदित भया तम पीना।

शब्दार्थ—टाटी=टटिया या पर्दा। दुचिते=चित्त की दो अवस्थाएँ—(१) विषयासक्ति और (२) बाह्याचार। थूनि=खम्भा, स्तम्भ। बलेंडा=छाजन मे बीच का वेडा या बल्ली, बड़ेर। छानि=छप्पर। धर=धरा, पृथ्वी। दुरमति=कुबुद्धि। भाडा=बर्तन। भीनां=भीग गया, रससिक्त। मनि=मन मे। जन=भक्त, सेवक। खीना=क्षीण।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने बताया है कि अज्ञान का आवरण हटने पर ही ज्ञान का प्रकाश होता है और भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस तथ्य को उन्होने छप्पर आँधी और वर्षा के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है।

व्याख्या—इस रूपक मे ज्ञान को आँधी बताया गया है। आँधी आने पर छप्पर या छाजन नष्ट-भ्रष्ट हो जाते है। ज्ञान की आँधी आने पर भ्रम की टटिया उड जाती है। वह टटिया माया की रस्सी से ही बँधी थी। वह रस्सी भी छिन्न-भिन्न हो गई। छप्पर को रोकने के लिए जो खम्भे लगे थे, वे भी आँधी के थपेड़ो से ध्वस्त हो गए। ये दो खम्भे चित्त की दो अवस्थाओ-विषयासक्ति और बाह्याचार-के थे। ज्ञान रूपी आँधी के थपेडे से वे भी नष्ट हो गए। उस तृष्णा रूपी छप्पर का मुख्य आधार मोह रूपी वडेर (बाँस या बल्ली) भी भग्न हो गया। फलस्वरूप वह छप्पर धराशायी हो गया अर्थात् तृष्णा विनष्ट हो गई। छप्पर के गिरने पर अर्थात् तृष्णा के नष्ट होने पर कुमति रूपी बर्तन भी टूट गया।

सामान्यतः आँधी के बाद वर्षा होती है। ज्ञान की आँधी के बाद प्रेमाभक्ति रूपी जल की वर्षा हुई। इस प्रेमाभक्ति की वर्षा से प्रभु का भक्त रसस्नात हो गया। कबीर कहते है कि ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने पर उसके मन मे दिव्य प्रकाश छा गया और उसने अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया।

टिप्पणी—इससे मिलता रूपक 'धम्मपद'[1] के एक पद मे मिलता है। भगवान् बुद्ध के हृदय मे प्रकाश या ज्ञान का आविर्भाव होने पर उनके मुख से जो प्रथम उद्गार निकला था, वह इस पद मे निबद्ध है—

> अनेक जाति ससारं संधाविस्सं अनिब्बिसं।
> गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुन ॥ १५३ ॥
> गहकारक दिट्ठोऽसि पुन गेहं न काहसि।
> सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूट विसखितं ॥
> विसखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥ १५४ ॥

1. P. L. Vaidya-Oriental Book Agency, 1934.

"मैं इस शरीर रूपी घर को बनानेवाले की खोज करता हुआ अज्ञानवश अनेक जन्मो में संसार मे आता हुआ दौड लगाता रहा। बार-बार जन्म लेना दु.खदायी है। हे घर के बनाने वाले! मैंने अब तुझे देख लिया है। अब तू पुन. घर न बना पाएगा। तेरा गृहकूट (बडेर) विशृंखलित हो गया है और उसमे लगी शहतीरें भग्न हो गई है। चित्त के सभी संस्कार नष्ट हो गए है और तृष्णा का क्षय हो गया है।"

इस पद को बौद्धधर्म मे बुद्ध का सिंहगर्जन कहा जाता है। भगवान् बुद्ध ने अविद्या या अज्ञान को शरीर रूपी गृह का 'कूट' कहा है और कबीर ने भी उसे 'बलेंडा' कहा है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि अज्ञान रूपी कूट के भग्न होने पर तृष्णा का क्षय हो जाता है और कबीर भी कहते है कि मोह रूपी बलेडा के टूटने पर तृष्णा रूपी छाजन धराशायी हो जाती है।

अलंकार—साग रूपक।

राग—गौरी।

(३०३)

संतो मते मातु जन रंगी।
पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सतसंगी[1]॥
अरध[2] उरध ले भट्ठी रोपिनि, ब्रह्म[3] अगिनि परजारी।
मूंदे मदन काटि कर्म कस्मल, संतत चुवत अगारी॥
गोरखदत्त वसिष्ट व्यास कपि[4], नारद सुक मुनि जोरी।
बैठे सभा संभु सनकादिक, तहँ फिरे अधर कटोरी॥
अंबरीख औ जाग[5] जनक जड़, सेख सहस मुख पाना[6]।
कहँ लौं गनौं अनंत कोटि लौं, अमहल महल दिवाना॥
ध्रुव प्रहलाद बिभीखन माते, माती सेवरी[7] नारी।
निर्गुन[8] ब्रह्म माते[9] बिन्द्राबन, अजहूँ लागि[10] खुमारी॥
सुर नर मुनि यति[11] पीर औलिया, जिन रे पिया तिन्ह जाना।
कहहिं कबीर गूँगे की[12] सक्कर, क्यों[13] करि करै बखाना॥

शब्दार्थ—मते=नाना प्रकार के मतो मे। मातु=मस्त रहते है। रगी=अनुरागी। कसारस=कषाय रस। गारी=निचोड़ना। कस्मल (सं. कश्मल)=

---

१. शुक०—सतरंगी। २. वि०—अरधे उरधे भाठी। ३. शुक०—लेत कसारस गारा, वि०—ले कसाव रस गारी। ४. शुक०—कवि। ५. शुक०—याज्ञ। ६. शुक०—फाना। ७. वि०—सिव की ८. वि०—सगुन। ९. शुक०—मते। १० शुक०—लागु। ११. शुक०—तिय। १२. शुक०—का शक्कर। १३. शुक०—कर कदे।

पाप। अरध='अधर' का तद्भव, नीचे। उरध=ऊर्ध्व, ऊपर। सतत=लगातार। अगारी=आगार, हृदय। दत्त=दत्तात्रेय। कपि=हनुमान। मुनि जोरी=नर-नारायण की जोडी। जाग=याज्ञवल्क्य। जड=जड़ भरत। सेख=शेपनाग। अमहल=सर्वाधिष्ठान, वह महल जिसका कोई आश्रय नही है। खुमारी (अ०)=नशा। यति=यती, तपस्वी। पीर (फा०)=धर्मगुरु। औलिया (अ०)=सिद्ध।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने यह बताया है कि सामान्यत: लोग विभिन्न वादो मे माते रहते हैं, किन्तु जो भक्ति रूपी सुधारस का पान करते है, वास्तविक नशे मे वेही है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सामान्यतया वादो से रजित चित्त वाले लोग अपने-अपने मतो अथवा वादो मे माते रहते है, जब कि सत्य मतवादो से परे है। इनके विपरीत सच्चे सतसगी भगवत् प्रेम का अमृत रस पान करके उसी मे मस्त रहते है।

इस अमृत रस-निर्माण की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। साधारणत: जब महुए आदि की शराब बनाई जाती है, तब उसे टुकडो मे काटकर एक पात्र मे भर दिया जाता है। फिर उस पात्र के मुख को बंद कर दिया जाता है। उसमे एक नली लगी रहती है। उस पात्र को भट्ठी पर चढाकर उसके नीचे अग्नि प्रज्वलित करते हैं। तब भाप के द्वारा उसका रस नली के द्वारा दूसरे पात्र मे गिरता है। यही सुरा है। यहाँ इसी प्रतीक के माध्यम से कबीर कहते है कि नीचे (मूलाधार चक्र) और ऊपर (सहस्रार चक्र) की भट्ठी बनाई गई, फिर उसे ब्रह्माग्नि से प्रज्वलित किया गया। पाप-कर्मो को काटकर पात्र मे रखा गया और काम रूपी मुख को बद कर दिया गया। इससे हृदय रूपी आगार मे निरन्तर भगवत् प्रेमरस रूपी सुरा टपकने लगी।

श्रेष्ठ योगी, भक्त एवं ज्ञानी इसी सुधारस का पान करते है। इसी सुधारस का पान करने के लिए योगी गोरखनाथ, दत्तात्रेय, ज्ञानी वशिष्ठ, वेदव्यास तथा भक्त हनुमान, नारद, शुकदेव, नर-नारायण, शिव, सनकादि सभा मे बैठते है और उनके अधरो पर इस रस का प्याला फिरता है। इसी रस का पान अंबरीष, याज्ञवल्क्य, जनक, जडभरत और शेषनाग अपने सहस्रमुख से करते है। मैं कहाँ तक गिनाऊँ? अनत कोटि भक्त इसी रस का पान करते हुए उस महल मे दीवाने रहते है जिसका कोई आश्रय नही है अर्थात् निर्गुण, निराकार ब्रह्म के प्रेम-रस मे मग्न रहते है। इस रस का पान करके ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण और सेवरी मगन रहे। वृन्दावन मे श्रीकृष्ण भी उसी निर्गुण, निराकार ब्रह्म के प्रेमरस मे माते रहते है।

इस प्रेम रस का नशा क्षणिक नही है। इन भक्तो मे उसका नशा सतत विद्यमान रहता है। कबीर कहते है कि देवता, मनुष्य, मुनि, तपस्वी, पीर और औलिया आदि मे जिसने इस रस का पान किया है, वही इसके मर्म को जानता है। इसका आनंद गूंगे के द्वारा खाई गई शक्कर के समान है, जिसका वर्णन कैसे हो सकता है ?

तुलनीय—(१) सतो मते मातु जन रंगी....

यही भाव केनोपनिषद् मे मिलता है—

'यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः'

—(केन० २।३)

अर्थात् जो मन, बुद्धि के द्वारा उसको न जानने का प्रयत्न करता है, वही वास्तव मे उसे जानता है। जो उसे मन-बुद्धि से जानने की चेष्टा करता है, वह उसे बिल्कुल नही जानता है।

(२) निर्गुन ब्रह्म माते बिन्द्राबन....

गीता मे भी कहा गया है—

अव्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यन्ते मामबुद्धयः।
पर भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (७।२४)

'बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम और अविनाशी परम भाव को न जानते हुए, मुझे व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ मानते है।'

टिप्पणी—(१) **गोरखनाथ**—प्रसिद्ध नाथयोगी, मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य, नाथ सम्प्रदाय के सर्वाधिक प्रतिभा-सम्पन्न साधक।

(२) **वसिष्ठ**—एक प्राचीन ऋषि। वेदों से लेकर रामायण तक इनकी चर्चा मिलती है। यह वरुण के पुत्र माने गए है। अरुंधती इनकी पत्नी थी। यह सूर्य वंश के पुरोहित थे। विश्वामित्र से इनका सघर्ष प्रसिद्ध है।

(३) **व्यास**—पराशर ऋषि के पुत्र, इन्होने वेदो का सग्रह, विभाजन और संपादन किया। १८ पुराणो, भागवत, महाभारत आदि के रचयिता। कुछ विद्वानों के मत से व्यास कोई व्यक्ति नही है, अपितु उपाधि है। व्यास कई हुए है, जो परम भक्त थे।

(४) **शुकदेव**—कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के पुत्र, पुराणो के ज्ञाता। इन्होने परीक्षित को मृत्यु के पूर्व मोक्ष-धर्म का उपदेश दिया था।

(५) **सनकादि**—ब्रह्मा के चार मानस पुत्र-सनक, सनंदन, सनत्कुमार और सनातन। इनके मुख मे निरतर 'श्री हरि शरण' मत्र रहता है। इनकी अवस्था सदैव पाँच वर्ष की रहती है। इन्होने नारद को भगवत्-तत्व का उपदेश दिया था।

(६) **अंबरीष**—इक्ष्वाकु की २८वीं पीढ़ी में उत्पन्न अयोध्या के राजा नाभाग के पुत्र। भगवान् के प्रसिद्ध भक्त। इनके कारण विष्णु भगवान् ने दुर्वासा ऋषि के ऊपर चक्र चलाया था। यह मन्त्रद्रष्टा थे।

(७) **याज्ञवल्क्य**—वैशम्पायन के शिष्य एवं प्रसिद्ध ऋषि। इनकी दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और गार्गी। यह प्रसिद्ध स्मृतिकार थे। राजा जनक के दरबार में रहते थे।

(८) **जड़ भरत**—ऋषभ के पुत्र। यह संसार की वासना से बचने के लिए जडवत् रहते थे।

(९) **शेषनाग**-- नागराज अनंत का नाम। भगवान् विष्णु के शय्या-रूप। इनकी धर्म में अटल श्रद्धा थी।

(१०) **ध्रुव**—राजा उत्तानपाद के पुत्र। इनकी माता का नाम सुनीति था। अपनी विमाता सुरुचि के अपमानजनक व्यवहार के कारण इन्हें बड़ी ग्लानि हुई। अतः पाँच वर्ष की आयु में ही यमुना तट पर मधुवन में तप करने चले गए। इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् ने इन्हें अचल पद दिया।

(११) **सेवरी**--मतंग ऋषि की शिष्या। प्रसिद्ध रामभक्त।

अलंकार—(१) तीसरी-चौथी पंक्तियों में रूपकातिशयोक्ति।

(२) अमहल महल में विरोधाभास।

(३०४)

संतो राह दुनों हम[१] दीठा।
हिन्दू तुरुक[२] हटा नहिं मानैं, स्वाद सबनि को मीठा॥
हिन्दू बरत एकादसि[३] साधैं, दूध सिंघारा सेती।
अन[४] को त्यागैं मन नहिं हटकैं, पारन करैं सगोती॥
तुरुक रोजा निमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारैं।
इनको भिस्त कहाँ ते होइहै[५], जो साँझै मुरगी मारैं॥
हिन्दु कि दया मेहर तुरकन की, दूनो घट से[६] त्यागी।
वैं हलाल वैं झटका मारैं, आगि दुनौ घर लागी॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै[७] लखाई[८]।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ[९] खुदाई॥

---

१. शुक०–हम। २. शुक०–तुर्क। ३. शुक०–एकादसी। ४. शुक०–अन्न। ५. शुक०–होवे। ६. वि०–सों। ७. शुक०–सोइ। ८. वि०–बताई। ९. शुक०–कहुँ।

शब्दार्थ—दीठा=देखा। राह=मार्ग। हटा=मना करने से। बरत=व्रत। सेती=से, द्वारा। पारन=व्रत के बाद का भोजन। सगोती=गोश्त, आमिष। गुजारै (फा०)=पढ़ते हैं। बिसमिल (फा०)=आहत, क्षत, घायल। बाँग (फा०)=अजान। भिस्त (फा० बिहिश्त)=स्वर्ग। मेहर (फा०)=दया।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम धर्मो के बाह्याचार पर प्रहार किया है तथा यह बताया है कि पारमार्थिक सत्य एक है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मैंने हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों को अच्छी तरह समझ लिया है। दोनो धर्मो के अनुयायी स्वाद के माधुर्य के वशीभूत है और दोनो मना करने से नही मानते। हिन्दू लोग दूध और सिंघाडा की पूडी और हलुवा के सेवन से एकादशी का व्रत रखते है। वे अन्न का त्याग करते है, किन्तु मन की वासना का परित्याग नही कर पाते तथा व्रत की समाप्ति पर सामिष भोजन करके पारन करते है।

मुसलमान रोजा रखते हैं, नमाज पढते है और अजान देते है, किन्तु पशुओं का वध करते है। जो दिन भर रोजा रहने के बाद सायंकाल होते ही मुर्गी का वध करते है, ऐसे हिंसको को भला स्वर्ग कैसे प्राप्त हो सकता है? हिन्दू 'दया' शब्द का प्रयोग करते है और मुसलमान 'मेहर' का। किन्तु वास्तव मे हृदय से दोनो ने दया और मेहर को छोड़ दिया है। मुसलमान हलाल के द्वारा मास को विहित मानते है और हिन्दू झटके के द्वारा। वस्तुत. दोनो विनाश के पथ पर है। सद्गुरु ने यही बताया है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों का वास्तविक मार्ग एक ही है—ईश्वर से प्रेम और जीव-दया। कबीर कहते है कि हे संतो! सुनो। जीव-वध को विहित न राम ने बताया है और न खुदा ने।

अलंकार—(१) इन्ह को ·· ·· मारै—वक्रोक्ति।
(२) 'न' शब्द मे देहरी दीपक।

(३०५)

संतो सो अनभै पद गहिए।
कला अतीत आदि निधि निरमल, ताको[1] सदा बिचारत रहिए॥टेक॥
सो काजी जाको काल न व्यापै, सो पंडित पद बूझै।
सो ब्रह्मा जो ब्रह्म बिचारै, सो जोगी जग सूझै॥
उदै न अस्त सूर नहि ससिहर, ताकौ भाव भजन करि लीजै।
काया थैं कछु दूरि बिचारै, तास गुरू मन दीजै॥

---

१. ना० प्र०—ताकूँ।

जार्‌यौ जरै न काट्यौ सूखै[1], उतपति प्रलै न आवै।
निराकार अखंड मंडल मै, पाँचौ तत्त समावै॥
लोचन अछत सबै अँधियारा, विन लोचन जग सूझै।
परदा[2] खोलि मिलै हरि ताको, जो या अरर्थाह बूझै॥
आदि अनंत उभै पख निरमल, द्रिष्टि न देखा जाई।
ज्वाला उठी अकास प्रजल्यौ, सीतल अधिक समाई॥
एक[3] निगंध वासनाँ प्रगटै, जग थैं रहै अकेला।
प्रॉन पुरिस काया पैं विछुरै, राखि लेहु गुर चेला॥
भागा भर्म भया मन असथिर, निद्रा नेह नसाँना।
घट की ज्योति जगत परगासा,[4] माया सोक बुझाना॥
ब्रम्ह नालि[5] जे संमि करि राखै, आवागमन न होई।
कहै कबीर धुनि लहरि प्रगटी, सहजि मिलैगा सोई॥

शब्दार्थ—अनभै=भयरहित, अभय। कला=(१) सोलह आध्यात्मिक कलाएँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पचप्राण और मन) (२) काल का एक अंश—१·६ मिनट। काजी=विचारक। ससिहर=शशधर, चन्द्रमा। अछित=अक्षत, होते हुए। पख=पक्ष। प्रजल्यौ=प्रज्वलित होता है। निगंध=गंधरहित। असथिर=स्थिर, एकाग्र। नेह=आसक्ति। ब्रह्मनालि=सुषुम्ना। संमि=तुल्यबल। धुनि=अनाहत नाद। लहरि=तरंग।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने परमतत्व के स्वरूप का सकेत किया है जो अनादि और अनत है तथा सभी का आदि और अंत भी है। उसी पद को प्राप्त करने पर जीव अभय हो सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे सतो! उस अभय पद को ग्रहण करो जो सबका आदि निर्मल स्रोत है तथा काल से परे है। उसी का सदा ध्यान करते रहो। मुसलमानो मे वास्तविक विचारक वही है, जो काल से परे है और हिन्दुओ में वही वास्तविक पडित है, जो ब्रह्मपद के रहस्य को समझता है। वही वास्तविक ब्राह्मण है जो ब्रह्म मे विशेष रूप से विचरण करता है। सच्चा योगी वही है जो जगत् के रहस्य को जान चुका है। वह परमतत्व स्वयप्रकाश्य है—वहाँ न सूर्य है न चन्द्र। उसका न उदय होता है, न अवसान। उसीकी विश्वासपूर्वक आराधना करनी चाहिए। ऐसा गुरु जिसकी गति केवल शरीर तक ही नही है, उसके अतिरिक्त भी जो विचार करता है, उसे मन मे धारण करना चाहिए। परमतत्व जलाने से जल नही सकता और

१. ना० प्र०—सूकै। २. ना० प्र०—पड़दा। ३. ना० प्र०—एकनि गंध ४. ना० प्र०—प्रकास्या। ५. ना० प्र०—बंकनालि।

काटने से सूख नही सकता। उसकी न उत्पत्ति है, न विनाश! वह एक निराकार अखण्ड मण्डल है, जिसमे पाँचो तत्व समा जाते हैं। उस परमतत्व की जानकारी के बिना नेत्र रहते हुए भी सब अंधकारमय है और उसकी जानकारी से, बिना नेत्र के ही जगत् का सारा रहस्य ज्ञात हो जाता है। जो इस परमार्थ को समझता है, उससे प्रभु, अज्ञान का आवरण हटाकर, मिलते हैं। जहाँ से सृष्टि है (आदि) और जिसमे सभी का प्रलय होता है (जो सबका अंत है) उस ब्रह्म के दोनो पक्ष निर्मल है। वह चर्म-चक्षुओ से देखा नही जा सकता। उसके ज्ञान से एक परम ज्योति का आविर्भाव होता है और सारा आकाश प्रदीप्त हो उठता है और जीव को शाति और शीतलता का अनुभव होने लगता है। ऐसे साधक को विश्व की समस्त गधों से परे एक इच्छा प्रकट होती है। यह प्रभु-मिलन की वासना होती है। ऐसी दशा मे वह संसार मे रहते हुए भी उससे पृथक् हो जाता है अर्थात् कैवल्य-दशा को प्राप्त हो जाता है। उसका देह-भाव समाप्त हो जाता है। वह चैतन्य-मात्र रह जाता है। हे गुरु-शिष्यो! यह समझ लो, इसे हृदय में धारण कर लो कि चैतन्य काया से पृथक् है। इस ज्ञान से भ्रम दूर हो जाता हैं, मन एकाग्र हो जाता है, अज्ञान रूपी निद्रा और आसक्ति समाप्त हो जाती तथा अन्त करण मे ऐसी ज्योति जगती है जिससे सारा संसार जगमगा उठता है और मायाजन्य शोक समाप्त हो जाता है। यदि कोई साधक ब्रह्मनाल अर्थात् सुषुम्ना मे प्राण और अपान वायु को समतुल्य रखे तो वह आवागमन से छुटकारा पा जाएगा, अनाहत नाद की तरंग प्रकट हो जाएगी और सहजस्वरूप ब्रह्म का सहज मे ही साक्षा-त्कार हो जाएगा।

टिप्पणी—सामान्यत. मनुष्य के भीतर प्राण और अपान वायुएँ विषम रूप से चलती है। जब ये दोनो सम अर्थात् तुल्यबल हो जाती है, तब दोनो की क्रिया बन्द हो जाती है और उदान वायु की प्रेरणा से कुण्डलिनी सुषुम्ना मे जाग्रत होकर चक्रो का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र मे जाकर मिल जाती है।

तुलनीय—(१) उदै न अस्त सूर नहि ससिहर.......

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

—कठो०

(२) जार्यो जरै न काट्यो सूखै.......

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्य सर्वगत. स्थाणुरचलोऽयं सनातन ॥ २५ ॥
(गीता—अध्याय—२)

अलंकार—(१) जार्‌यो जरै न—विशेषोक्ति ।
(२) विन लोचन जग सूझै—विभावना ।
(३) ज्वाला उठी अकास प्रजल्यौ—विरोधाभास ।
(४) निद्रा नेह—रूपक ।
(५) घट की ज्योति जगत परगासा—असगति ।

राग—रामकली ।

(३०६)

सतगुर संग होरी खेलिए ।
जातैं जरा मरन भ्रम जाइ ॥ टेक ॥
ध्यांन जुगति की करि पिचकारी खिमा खेलावनहार[1] ।
आतम ब्रह्म जो खेलन लागे काया नग्र मझार ॥
ग्यांन गली मै होरी खेलै मची प्रेम की कीच ।
लोभ मोह दोऊ कढ़ि भागे सुनि सुनि सबद अतीत ॥
त्रिकुटी महल मैं बाजा बाजै होत छतीसौं राग ।
सुरति सखी जहँ देखि तमासा सतगुर खेलै फाग ॥
सतगुरु मिलिया फगुवा दीया पैंड़ा दिया बताइ ।
कहै कबीर सोई ततबेता जीवन मुक्ति समाइ ॥

शब्दार्थ—जरा=वृद्धावस्था । खिमा=क्षमा । जुगति=युक्ति, उपाय । नग्र=नगर । मझार=मध्य मे । अतीत=न्यारा, परे । फगुआ=फाग के उपलक्ष मे दिया जाने वाला उपहार । पैंडा=मार्ग, रास्ता । ततबेता=तत्ववेत्ता, परमार्थ जाननेवाला ।

संदर्भ—इस पद मे फाग के रूपक द्वारा कबीर ने बताया है कि सतगुरु के साथ ध्यान, ज्ञान, प्रेम और सुरति की होली खेलने से जीव जीवन्मुक्त हो जाता है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सद्‌गुरु के साथ ऐसी होली खेलो, जिससे जरा, मरण और भ्रम की स्थिति समाप्त हो जाय । होली खेलने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए वह कहते है कि काया रूपी नगरी मे आत्मा रूपी ब्रह्म, ध्यान रूपी युक्ति की पिचकारी से होली खेलता है । इस खेल मे क्षमा उसका सहायक है । ज्ञान की गली

१. तिवारी—चलावनहार ।

मे होली का खेल हो रहा है। आत्मा प्रेम के रंग में सराबोर है। सार शब्द की अभिव्यक्ति होने पर लोभ और मोह दोनों निकल भागे। त्रिकुटी (दोनों भौहों के मध्य का स्थान) मे अनाहत की ध्वनि हो रही है, जिससे छत्तीसो राग का आनंद मिल रहा है। इस प्रकार आत्मा सद्गुरु के साथ फाग खेलता है और सुरति इस उत्सव का आनन्द लेती है। सद्गुरु ने फाग का उपहार दिया और प्रभु तक जाने का मार्ग बता दिया। कबीर कहते है कि वही तत्ववेत्ता है जिसने 'जीवन्मुक्ति' प्राप्त कर ली है।

वह इस पद मे कहना चाहते है कि जीवन मे फाग का उत्सव ध्यान, ज्ञान, प्रेम और सुरति से खेलने से जीव 'जीवन्मुक्त' हो जाता है और जरा-मरण से मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी—**छत्तीस राग**=सगीतशास्त्र में कुछ लोग मूलराग पाँच मानते है और उनसे जन्य छ-छ रागिनी मानते है। इस प्रकार ३० रागिनियाँ होती है। कुछ लोग छः मूलराग मानते है और प्रत्येक की छ-छः जन्य रागिनियाँ बताते है। इस प्रकार ३६ रागिनियाँ हुई। कबीर ने 'छत्तीस राग' द्वारा इनका सकेत किया है।

अलंकार—सांग रूपक।

राग—काफी।

(३०७)

सतगुर साह संत सौदागर तहं मैं चलि कै जाऊं जी।
मन की मुहर धरौं गुरु आगैं ग्यान कै घोड़ा लाऊं जी॥ टेक॥
सहज पलांन चित कै चाबुक लौ को लगांम लगाऊँ जी
विवेक विचार भरौं तन तरगस सुरति कमांन चढ़ाऊं जी।
धीर गंभीर खड़ग लिए मुदगर माया कै कोट ढहाऊं जी।
मोह मस्त मैवासी राजा ताकौं पकड़ि मंगाऊं जी।
रिपु कै दल मैं सहजहिं रौंदौं अनहद तबल घुराऊं जी।
कहै कबीर मेरै सिर परि साहेब मैं ताकौं सीस नवाऊँ जी॥

शब्दार्थ—साह=(२) नरेश, राजा (२) सत, फकीर। सौदागर (फा०)= व्यापारी। मुहर=मुद्रा, अशर्फी। पलान=गद्दी। लौ=ध्यान। तरगस=तर-कस, तूणीर। कमान (फा०)=धनुष। कोट=दुर्ग, किला। मैवासी=गढपति। तवल=अवनद्ध वाद्य, चमडे से मढा हुआ बाजा, घुराऊँ=वजाऊँ।

संदर्भ—इस पद मे मोह रूपी गढपति और उसकी सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए ज्ञान रूपी अश्व का रूपक बाँधा गया है। यह अश्व तथा युद्ध के सहायक उपकरण सद्गुरु से ही प्राप्त हो सकते है।

व्याख्या—सद्गुरु सभी प्रकार से श्रेष्ठ संत सौदागर हैं। मैं चलकर उन्ही के पास जाना चाहता हूँ। मैं उनके सन्मुख मन रूपी मुद्रा रखकर उनसे ज्ञान रुपी अश्व प्राप्त करूँगा। इस ज्ञान-अश्व पर 'सहज' की गद्दी बिछाऊँगा, उसमें ध्यान की लगाम लगाऊँगा और चित्त रूपी चाबुक हाथ में लूँगा। शरीर रूपी तूणीर में विवेक और विचार के बाण भरूँगा और सुरति रूपी धनुष चढाऊँगा। धैर्य की तलवार और गम्भीरता के मुद्गर द्वारा माया के दुर्ग को ध्वस्त करूँगा और मोह रूपी उन्मत्त गढ़पति सम्राट को बंदी बनाऊँगा। इस प्रकार राजा को अधीन करके शत्रु-पक्ष के सैन्य-दल को सरलतापूर्वक रौंद डालूँगा और तब विजय का अनाहत नाद रूपी डंका बजाऊँगा। कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ही मेरे पूज्य स्वामी हैं। मैं उनके समक्ष नतमस्तक होऊँगा।

टिप्पणी—(१) मध्यकालीन संत कवियो ने मोह-विवेक युद्ध के रूपक का सामान्य रूप से प्रयोग किया है। प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास का 'मोह-विवेक युद्ध' नामक एक लघुकाव्य मिलता है। तुलसीदास ने भी मोह रूपी रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए इसी रूपक का प्रयोग किया है (देखिए=विनयपत्रिका-पद सं० ५८) इस शत्रु पर विजय प्राप्त-करने के लिए जिस रथ की आवश्यकता होती है, उसका वर्णन मानस की इन पक्तियो मे भी मिलता है—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा पताका॥
बल बिवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचडा। बर बिग्यान कठिन कोदडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥

(२) **सहज**—सभी के भीतर स्वभावत. विद्यमान भागवती चेतना अथवा रामरस।

(३) **लौ**=यह शब्द निष्कम्प दीप-शिखा के लिए आया है। जिस प्रकार निर्वात निष्कम्प दीप-शिखा निश्चल रहती है उसी प्रकार चित्त को ध्येय मे निश्चल रूप से लगाना अथवा अटूट ध्यान।

(४) **सुरति**=चित्त की एकतानता।

(५) **अनहद**=अनाहत नाद, यह बिना आघात का आभ्यतरिक नाद होता है जो नादानुसधान द्वारा साधक को सुनाई देता है।

अलंकार—(१) पूरे पद मे सांग रूपक ।
(२) 'साह' शब्द मे श्लेष ।
(३) 'धीर गभीर खडग लिए मुद्गर' मे यथासख्य ।

राग—गौरी ।

(३०८)

सति रॉम सतगुर की सेवा,
पूजहु रांम निरंजन देवा ॥ टेक ॥
जल कै मंजन जो गति होई, मीनां नित ही न्हावै ।
जैसा मीनां तैसा नरा, फिरि फिरि जोनी आवै ॥
मन मै मैला तीर्थ न्हावै, तिनि बैकुंठ न जांना ।
पाखंड करि करि जगत भुलॉनाॅ, नॉहिन रॉम अयॉनाॅ ॥
हिरदै कठोर मरै बानारसि, नरक न बंच्या जाई ।
हरि को दास मरै जो मगहरि, सेनां सकल तिराई ॥
पाठ पुरॉन वेद नहीं सुमृत, तहाॅ बसै निरकारा ।
कहै कबीर एक ही ध्यावो, बावलिया संसारा ॥

शब्दार्थ—सति = सत्य । निरजन = माया से अलिप्त । मजन = स्नान । गति = मोक्ष । जोनी = योनि, जन्म । अयानाँ = अज्ञानी । बच्या = बचना । सेनां = समूह । तिराई = पार हो सकते है । बावलिया = पागल ।

सदर्भ—बाह्याचार से प्रभु का मिलन नही हो सकता । उसकी प्राप्ति सच्ची भक्ति से ही हो सकती ह । भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि राम और सद्गुरु की सेवा ही सत्य और जीवन का सार है । उस राम की पूजा करो जो माया से सर्वथा अलिप्त है । यदि जल मे स्नान करने से ही मुक्ति होती है तो मछली निरन्तर जल मे ही रहती है, उसे अवश्यमेव मुक्ति मिल जानी चाहिए । जो स्थिति मछली की है, वही मनुष्य की है । जल मे स्नान करने से मुक्ति नही मिलती । उसे पुन. पुन जन्म लेना पडता है । जिसके मन मे मलिनता है, वह तीर्थो मे केवल शरीर के प्रक्षालन से मोक्ष नही प्राप्त कर सकता । सारा ससार अपने अज्ञानवश पापड मे भूला हुआ है । राम ऐसे अज्ञानी नही है कि वह लोगो के पापड को समझते नही । उन्हे भुलावे में नही लाया जा सकता । हृदय मे भक्ति का अभाव और निर्दयता रहने पर वाराणसी मे मरने पर भी मुक्ति सभव नही है । वह नरक से नही वच सकता । यदि प्रभु का भक्त मगहर मे भी मरे तो वह अपने सभी भक्त साथियो के सहित भव-सागर पार कर लेता है ।

पुराणो का पाठ, वेद और स्मृतियाँ व्यक्ति को वहाँ तक नही पहुँचा सकती, जहाँ निराकार ब्रह्म का वास है। कबीर कहते है कि उसी एक निरंजन, निराकार प्रभु का ध्यान करो। बाह्याचार मे फँसा सारा जगत् बावला है।

राग—भैरव

(३०९)

सभ खलक[1] सयानी मै बौरा।
मै[2] बिगर्‌यौ बिगरै मति औरा॥ टेक॥
विद्या न पढ़उं[3] बाद नहिं जानौं, हरि गुन कथत सुनत बउरानौं।
आपि[4] न बौरा रांम कियौ बउरा, सतिगुरु जारि गयौ भ्रम मोरा।
मै[5] बिगर्‌यौ अपनौं मति खोई, मेरे भरमि भूलउ मति कोई।
सो बउरा जो आपु न पछांनैं, आपु पछानैं त एकै जानैं।
अबहिं न माता सु कबहुँ न माता, कह कबीर रांमै रंगि राता॥

शब्दार्थ—खलक (अ० खल्क)=ससार, सृष्टि के प्राणी। बाद=तर्क, मत। आपु=स्वय। माता=मत्त, मस्त। राता=रत, अनुरक्त।

संदर्भ—कबीर ने इस पद मे यह बतलाया हैं कि वास्तविक सयाना वही है, जो प्रभु-प्रेम मे दीवाना हो।

व्याख्या—वह कहते है कि लोग मुझे बावला और अपने को सयाना समझते है। ऐसे लोग अपनी चतुराई अपने पास रखे। मेरे लिए मेरा बावलापन ही अच्छा है। मुझे वैसी चतुराई नही चाहिए। यदि प्रभु-प्रेम के कारण लोग मुझे ससार के काम का नही समझते, बिगडा हुआ समझते है तो मेरे लिए यह बावलापन ही श्रेयस्कर है। जो लोग मुझे बिगडा हुआ समझते है, वे अपने को सम्हालें। कही मेरी तरह बिगड न जायँ ?

मै न तो शास्त्रज्ञ हूँ और न तर्कवाद तथा मत-मतान्तर के ही चक्कर मे पडता हूँ। मैं तो प्रभु के गुण-कथन और श्रवण मे ही दीवाना रहता हूँ। मैं अपने से बावला नही बना हूँ। राम के प्रेम ने मुझे बावला बना दिया है। सद्‌गुरु ने मेरे भ्रम को इस प्रकार मिटा दिया है कि उसका कोई अवशेष नही बचा। लोग समझते है कि मैं

---

१. ना० प्र०–दुनी। २ ना० प्र०–हम बिगरे बिगरौ जिनि औरा। ३. ना० प्र०–पढ़ूँ। ४ ना० प्र०–मैं नहीं। ५. ना० प्र० की प्रति में अंतिम तीन पंक्तियाँ नहीं है, उनके स्थान पर ये दो पक्तियाँ है—

कॉम क्रोध दोउ भए विकारा, आपहि आप जरै संसारा।
मीठो कहा जाहि जो भावै, दास कबीर रॉम गुन गावै।

अपनी मति खोकर भ्रम मे पड़ गया हूँ। ऐसे लोग भूलकर भी मेरे जैसे भ्रम में न पड़ें।

सच बात तो यह है कि वस्तुत: वही पागल है जो अपने वास्तविक 'स्व' को नही जानता। जब व्यक्ति अपने 'स्व' को पहचान लेता है, तब वह सबको उसी 'स्व' के परिप्रेक्ष्य में एक ही रूप मे देखता है। उसकी भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है। यदि प्राणी मानव जीवन पाकर प्रभु के प्रेम मे दीवाना न हो गया तो फिर कभी नही हो सकता। कबीर कहते है कि प्रभु के प्रति इतना अनुराग हो कि चित्त उनके रंग मे रँग जाय।

तुलनीय—(१) सो बउरा जो आपु न पिछाने··· ···

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत ॥ (ईशा०—७)

'जिस ज्ञानी के लिए सब प्राणी आत्मवत् हो गए, उस एकत्व के द्रष्टा का मोह और शोक समाप्त हो जाता है।'

× × × ×

(२) इश्क चमन महबूब का यहाँ न आवै कोय।
आवै तौ जीवै नही, जिऐ तौ बौरा होय ॥

अलंकार—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(३१०)

सभै मदिमाते कोऊ[1] न जाग।
संग[2] ही चोर घरु मुसन लाग ॥ टेक ॥
जोगी माते धरि धियांन, पंडित माते पढ़ि पुरांन।
तपा जु माते तप कै भेव, सन्यासी माते अहंमेव।
जागै सुखदेउ[3] ऊधौ अकूरु, हणवंत जागै लै लंगूरु।
संकर जागै चरन सेव, कलि जागे नांमां जैदेव।
जागत[4] सोवत बहु प्रकार, गुरुमुखि जागै सोई सारु।
चचंल मन के अधम काम, कहै कबीर भजि रांम नांम ॥

---

१. ना० प्र०—कोई। २. ना० प्र०—ताथैं संग। ३. ना० प्र०—सुक उधव अकूर। ४ ना० प्र०— में अंतिम दो पंक्तियाँ इस प्रकार है—

ए अभिमान सब मन के काँम, ए अभिमान नहीं रही ठाम।
आतमाँ राम कौ मन बिश्राम, कहि कबीर भजि राँम नाँम ॥

शब्दार्थ—मुसन=चोरी करने लगा। माते=अहंकार में चूर। तपा=तपस्वी। भेव=रहस्य में। अकूरु=अक्रूर। हणवंत=हनुमान। नामा=नामदेव।

संदर्भ—ससार के सभी प्राणी अहंकार-मद में अपने को भूले हुए है अर्थात् सोये हुए हैं। वास्तव मे वही जाग्रत है जो गुरुमुख के द्वारा राम नाम में अनुरक्त है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि संसार मे सभी अहंकार-मद के नशे मे है, कोई जग नही रहा है। इसलिए साथ मे लगे हुए काम-क्रोध आदि तस्कर शरीर रूपी घर में घुसकर चोरी कर रहे हैं।

जोगी अपने ध्यान के गर्व मे चूर है और शास्त्री पडित धर्मग्रंथो मे उलझे हुए हैं। तपस्वी लोग तप के रहस्य के प्रदर्शन मे भूले हुए है और सन्यासी अहंकार-ग्रस्त है।

वस्तुत शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, और लगूरधारी हनुमान जैसे भक्त ही जगे हुए थे। शकर भी प्रभु की भक्ति के द्वारा जाग्रतावस्था मे रहे और कलियुग मे सत नामदेव और जयदेव सदृश भक्त ही जगे हुए कहला सकते है। सामान्यतया जागना और सोना तो अनेक प्रकार का होता है—एक आध्यात्मिक जागरण है जो कि शारीरिक शयन में भी विद्यमान रहता है, दूसरा शारीरिक जागरण है जो अध्यात्म-दृष्टि से शयन ही है। गुरुमुख के द्वारा जगना ही जागरण का सार है अर्थात् आध्यात्मिक जागरण सच्चा जागरण है।

चचल मन के सभी कार्य अधम कामनाओ से प्रेरित रहते है। कबीर का कहना है कि राम की भक्ति ही वास्तविक जागरण है।

तुलनीय—(१) या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
—(गीता २/६९)

× × ×

(२) मैं केहि कहौं विपति अति भारी।
श्रीरघुबीर धीर हितकारी॥ १॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा।
तहँ बसे आइ बहु चोरा॥ २॥
अति कठिन करहिं बर जोरा।
मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥ ३॥
(विनयपत्रिका)

टिप्पणी—(१) **शुकदेव**—कृष्णद्वैपायन व्यास के पुत्र, पुराणों के ज्ञाता। इन्होंने राजा परीक्षित को मृत्यु के पहले मोक्षधर्म दिया था, जो इन्होंने अपने पिता तथा महाराज जनक से सीखा था।

(२) **उद्धव**—बृहस्पति के शिष्य, वृष्णियों के मन्त्री और श्रीकृष्ण के सखा। श्रीकृष्ण ने अंतिम दिनों में इन्हें बदरिकाश्रम जा, वल्कल वस्त्र पहन तथा कंदमूल फल खाकर तपस्या करने को कहा, तदनन्तर अलकनंदा के दर्शन करने की सलाह दी। श्रीकृष्ण के उपदेशानुसार इन्होंने बदरिकाश्रम को अपना निवासस्थान बनाया, जहाँ इनके जीवन के शेष दिन बीते थे।

(३) **अक्रूर**—श्वफल्क के पुत्र, श्रीकृष्ण के चाचा। श्री कृष्ण और बलराम इन्हीं के साथ मथुरा गए थे।

(४) **हनुमान**—प्रसिद्ध रामभक्त एवं अनन्य सेवक, अंजनी के गर्भ से उत्पन्न वायुपुत्र। इनकी पूजा पूरे भारतवर्ष में होती है।

(५) **नामदेव**—महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत, समय लगभग १४वीं शताब्दी, ज्ञानदेव के समकालीन। मराठी में अभगों की रचना की, 'आदि ग्रंथ' में कुछ रचनाएँ संगृहीत। डॉ० भगीरथ मिश्र ने इनकी सभी उपलब्ध हिन्दी रचनाओं को 'संत नामदेव की हिन्दी पदावली' नाम से प्रकाशित कराया है, जिसमें २३० पद और १३ साखियाँ हैं।

(६) **जयदेव**—गीतगोविंद के प्रसिद्ध रचयिता, १३वीं शताब्दी के कवि। भक्तमाल में इनकी प्रशंसा की गई है। ये संस्कृत के साथ हिन्दी में भी काव्य रचना करते थे।

अलंकार—'काम' शब्द में श्लेष।

राग—बसंत।

(३११)

सरवर तटि हंसिनी[1] तिसाई।
जुगति बिनाँ हरि जल पिया न जाई॥ टेक॥
पीया चाहै तौ लै खग सारी, उड़ि न सकै दोऊ पर भारी।
कुंभ लिए[2] ठाढ़ी पनिहारी, गुन[3] बिन नीर भरै कैसे नारी।
कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिलै राम राई॥

शब्दार्थ—सरवर = जलाशय (प्र० अ०) आत्मानंद। हंसिनी = (प्र० अ०) जीवात्मा। तिसाई = प्यासी। जुगति = साधना की युक्ति। हरिजल = परमानन्द।

---

१. ना० प्र०–हंसणीं। २. ना० प्र०–लीयें। ३. ना० प्र०–गुँण।

सारी=गमन करना। पर=पख। कुभ=(प्र० अ०) अन्तःकरण। पनिहारी=(प्र० अ०) कुण्डलिनी। गुन=डोरी (प्र० अ०) भक्ति, साधना। वुधि=उपाय, मार्ग।

संदर्भ—परमतत्व सभी प्राणियो के भीतर विद्यमान है। किन्तु साधना के बिना उससे सम्पर्क नही हो पाता।

व्याख्या—कबीर कहते है कि यद्यपि भीतर आत्मानंद रूपी सरोवर विद्यमान है, तथापि जीवात्मा रूपी हंसिनी सरोवर से युक्त नही हो पाती। वह तट पर बैठी प्यास से व्याकुल है। साधना की युक्ति के बिना उस सरोवर का जल पीना संभव नही है। यदि यह जीवात्मा (हसिनी) जल (परमानद) पीना चाहती है तो उसे तट छोड़कर सरोवर के भीतर गमन करना होगा। किन्तु उसके दोनो पख (अज्ञान और संशय के) इतने भारी है कि वह उडने में असमर्थ है। कुण्डलिनी रूपी पनिहारिन अन्त करण रूपी घट लिए खडी है। किन्तु डोरी (भक्ति या साधना) के बिना वह बेचारी नारी जल कैसे भरे? कबीर कहते है कि सद्गुरु ने एक उपाय बता दिया है। उस मार्ग से जगत् के स्वामी राम सहज भाव से मिल जाते है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

राग—सोरठ।

(३१२)

साँई के संग सासुर आई।
संग न सूतो स्वाद न मानी, गयो[1] जौवन सपने की नाँई॥
जना चारि मिलि लगन[2] सुधाये, जना पाँच मिलि माँड़ौ छाए[3]।
सखी[4] सहेली मंगल गावैं, दुख सुख माथे हलदी चढ़ावें।
नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई[5] पतिआई।
अरघा दे लै चली सुआसिनि, चौके राँड़ भई संग साँई।
भयो विवाह चली बिनु दुलहा, बाट जात समधो[6] समुझाई।
कहैं कबीर हम गौने जैबे, तरब कंत लै तूर[7] बजाई॥

शब्दार्थ—साँई=प्रत्यगात्मा, शुद्ध चैतन्य। सासुर=श्वशुरालय (प्र० अ०) संसार। चारि जना=अन्त करण चतुष्टय। पांच जना=पच भौतिक तत्व। मांडौ=(प्र० अ०) शरीर। सखी सहेली=इन्द्रियाँ। गांठि=जड़-चेतन की ग्रन्थि। पति-

---

१. वि०-गौ। २. वि०-सुध यो। ३ वि-छायो। ४. वि०-सहेलरी। ५. शुक०-पति आई। ६ शुक०-मुसकाई। ७ शुक०-बजैबे।

आई=(१) विश्वास कर लिया। (२) पति मान लिया। भाई=(१) प्रिय लगी, (२) बन्धु (प्र० अ०) मन। अरघा=अर्घ्य (दूब, दधि, अक्षत, जल के द्वारा पूजा)। सुआसिनि=सौभाग्यवती (प्र० अ०) वचक गुरुआ लोगो की वाणियाँ। समधी=(१) जिसकी 'धी' (बुद्धि) सम है, सद्गुरु (२) समधी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे जीव को वधू का प्रतीक मानकर उसके विवाह के वर्णन द्वारा यह बताया गया है कि वधू रूपी जीव ने किस प्रकार अपने सच्चे स्वामी को भुला दिया है।

व्याख्या – जीव रूपी वधू शुद्ध चैतन्य अर्थात् प्रत्यगात्मा के साथ संसार रूपी श्वशुरालय मे आई है। उसने अपने वास्तविक प्रियतम के साथ प्रेम नही किया और परमानन्द का आस्वादन नही किया। उसका यह नर तन रूपी यौवन स्वप्नवत् समाप्त हो गया।

इस ससार मे आने पर जीव रूपी वधू अपने सच्चे पति को भूल गई और शरीर-प्राण रूपी कृत्रिम पति के साथ विवाह का उपक्रम किया। इस विवाह मे अन्तःकरण चतुष्टय ने मिलकर उसकी सगाई निश्चित की और पचतत्वो ने मिलकर शरीर रूपी मडप तैयार किया, जिसमे उसका विवाह होने वाला है। उसके इस विवाह के अवसर पर इन्द्रियाँ (सखी-सहेली) मगल गीत गाती है अर्थात् शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि का भोग प्रस्तुत करती है तथा सुख-दु.ख रूपी हल्दी चढ़ाने का संस्कार करती है। जीव मन के वश मे हो जाता है। वह मन भाँवर का सस्कार कराता है अर्थात् मन नाना प्रकार के सकल्प-विकल्प, हर्ष-शोक आदि वासनाओ के चक्कर मे पड जाता है। विवाह के अवसर पर वर-वधू की गाँठ जोडी जाती है। यहाँ तात्पर्य है कि जीव मे चित्-जड़ की ग्रन्थि पड गई और उसने अपने भाई मन को ही अपना पति (स्वामी) मान लिया। इसका दूसरा भाव यह भी है कि जीव ने मन पर विश्वास कर लिया, उसी को प्रिय मान लिया।

विवाह के बाद सौभाग्यवती स्त्रियाँ वधू को ससम्मान लेकर चलती है। यहाँ तात्पर्य यह है कि वचक गुरुवा लोगो की आकर्षक वाणी जीव को ससार मे प्रवृत्त करती है। इस प्रकार सच्चे पति (प्रत्यगात्मा) के विद्यमान रहते हुए भी वह भाँवर पडते ही विधवा हो गई अर्थात् वास्तविक पति से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। शरीर रूपी पति से सम्बन्ध स्थापित होने पर सच्चे पति के बिना इसी झूठे पति के साथ उसने जीवन-यात्रा प्रारम्भ की। इस जीवन-यात्रा मे उसे सद्गुरु (समधी) मिले। उन्होने उसे बताया कि उसका सच्चा पति कौन है? कबीर कहते है कि हम सच्चे पति के साथ द्विरागमन करेंगे और तुरही बजाकर सच्चे स्वामी के साथ भव-सागर पार कर जाएँगे।

अलंकार—(१) पूरे पद मे रूपकातिशयोक्ति ।
(२) भाई व पतिआई मे श्लेष ।
(३) चौके राँड़ भई सग साँई—विरोधाभास ।
(४) भयो विवाह चली बिनु दुलहा—विभावना ।

(३१३)

साधौ बाघिनि खाइ गई लोई ।
खातां जांन न कोई ॥ टेक ॥
काजल टीकि चसम मटकावै कसि कसि बाँधै गाढ़ी ।
लुभुकी लुभुकि चरै अभिअंतर खात करेजा काढ़ी ॥
कांन गहि काजी नाक गहि मुल्ला पंडित कै आँखी फोरी ।
सींगी रिखि औ गुर कनफूंका बाघिनि सभै मरोरी ॥
अर इन्द्रादिक वर ब्रह्मादिक ते बाघिनि धरि खाया ।
गिरि गोवर्धन नख पर राख्यौ ते बाघिनि मुख आया ॥
उतपति परलै जनी बघिनियाँ सतगुर एह बिचारी ।
कहै कबीर सुनौं भाई साधौ हमसूँ बाघिनि न्यारी ॥

शब्दार्थ—बाघिनि = (प्र० अ०) माया । लोई = लोग । टीकि = लगाकर । चसम = (फा० चश्म) नेत्र, आँख । गाढ़ी = भली भाँति । लुभुकी लुभुकि = लपककर । सीगी रिखि = श्रृंगी ऋषि । मरोडी = ऐंठ दिया, मरोड़ दिया । अर = तेजयुक्त । वर = श्रेष्ठ । जनी = उत्पन्न किया ।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने माया की मोहिनी तथा सृष्टि-सहारिणी शक्ति का मोहक वर्णन किया है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि माया ने संसार के लोगो को नष्ट कर डाला है । आश्चर्य यह है कि उमकी इस विनाशक क्रिया को कोई समझा नही । वह अपने मोहिनी रूप मे, काजल लगाकर, कटाक्ष करती है और लोगो को भलीभाँति कसकर अपने बंधन में डाल लेती है । वह लपक-लपक कर भीतर ही भीतर घात करती है और कलेजा खा जाती है अर्थात् काम के रूप में वह अन्त.करण मे विद्यमान रहती है और जीव को विनाश-पथ को ओर ढकेल देती है ।

धर्म के मठाधीशो—काजी, मुल्ला, पंडित–को भी वह अपने प्रभाव मे रखती है, काजी का कान पकडकर, मुल्ला की नाक ऐंठकर और पंडित की आँख फोड़कर वह अपने वश मे कर लेती है । माया रूपी व्याघ्री ने जंगल मे एकान्तवासी श्रृंगी ऋषि तथा कनफुंकवा गुरु को भी अपने वश मे कर रखा है । तेज और ऐश्वर्य सम्पन्न

इन्द्र आदि तथा श्रेष्ठ ब्रह्मा आदि को भी माया ने विवश कर दिया। गोवर्धन पर्वत को नख पर धारण करने वाले कृष्ण जैसे महापुरुष और वीर को भी माया ने अपने वश मे कर लिया।

अतिम पंक्ति मे कबीर माया की सृष्टि और प्रलय करने की क्षमता का उल्लेख करते हुए कहते है कि संसार की उत्पत्ति के साथ उसका विनाश भी उसके द्वारा होता है। सद्गुरु ने विचार करके यह बतलाया है। कबीर कहते है कि हे संतो! सुनो! मैंने माया पर विजय प्राप्त कर ली है। वह मुझ से दूर ही रहती है।

राग—विहागडा।

(३१४)

साधौ भगति भेख तें न्यारी।
मन पवनां पांचौं बसि कीया तिन या राह सँवारी ॥ टेक ॥
काया कोट मैं अमर न रहनां कागद का घर कीन्हां।
माला तिलक तिर्यौ नहि कोई परम तत्त नहि चीन्हां ॥
गोरखनाथ न मुद्रा पहिरी मस्तक नहीं मुँड़ाया।
ऐसे भगत भया भू ऊपरि गुरु पै राज छुड़ाया ॥
ग्रभबास मै सुमिरन कीन्हां सुखदेव कौंन सु माला।
कहै कबीर सब भेख भुलांनां मूल छाँड़ि गहि डाला ॥

शब्दार्थ—भेख = वाह्याडम्बर। न्यारी = पृथक्, भिन्न। पाँचो पवन = पच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान)। सँवारी = सम्पन्न किया। कोट = गढ। तिर्यौ = मोक्ष प्राप्त किया। मुद्रा = स्फटिक का कुण्डल। राज = शासन, अधिकार। ग्रभवास = गर्भवास।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे वाह्याडम्बर की निरर्थकता वताते हुए कवीर कहते है कि वास्तविक प्रभु-भक्ति स्मरण मे है।

व्याख्या—वह कहते है कि हे सतो! वास्तविक भक्ति वाह्याडम्बर से भिन्न है। सच्चे भक्त वही हो सकते है जिन्होंने मन और पच प्राण को अपने वश में कर लिया है।

शरीर रूपी दुर्ग मे कोई सदैव नही बना रहता। शरीर नश्वर है, वह कागज के घर के समान है। जिसने परमतत्त्व परमात्मा को नही पहचाना है, वह केवल माला और तिलक धारण करने से मोक्ष नही प्राप्त कर सकता। गोरखनाथ कभी वाह्याडम्वर के चक्कर मे नही पडे। मुद्रा धारण करने और मस्तक मुँड़ाने मे उनका अनुराग नही था। वह इतने प्रतापी भक्त थे कि स्वयं अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को एक सुन्दरी के अधिकार-पाश से मुक्त किया था। शुकदेव ने वारह वर्प के गर्भवास

काल मे ही भगवद् भक्ति अर्जित कर ली थी। उन्होंने गर्भ मे माला कहाँ धारण की थी ? कबीर कहते है कि सभी लोग बाह्याडम्बर में ही भूले हुए है। वे भगवद्-भक्ति रूपी मूल को छोडकर बाह्याचार रूपी डाल को पकड़े हुए है।

अलकार—(१) काया कोट—रूपक।
(२) ग्रभवास··· माला—वक्रोक्ति।
(३) मूल, डाला—रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(३१५)

साधौ सो जन उतरे पारा।
जिन मन तैं आपा डारा ॥ टेक ॥
कोई कहै मै ग्यानी रे भाई कोई कहै मैं त्यागी।
कोई कहै मै इन्द्री जीती अहं सभनि कौ लागी ॥
कोई कहै मैं जोगी रे भाई कोई कहै मैं भोगी।
मै तैं आपा दूरि न डारा कैसे जीवै रोगी ॥
कोई कहै मै दाता रे भाई काई कहै मै तपसी।
निज तत नांउँ निहचै नहि जांनां सब माया मै खपसी ॥
कोई कहै मैं जगतो जांनौं कोई कहै मै रहनी।
आतम देव सौं परचा नांहीं यह सब झूठी कहनी ॥
कोई कहै धरम सब साधे और बरत सब कीन्हा।
आपा कौ आंटी नहि निकसी करज बहुत सिरि लीन्हा ॥
गरब गुमांना सब दूरि निवारै करनी कौ बल नाहीं।
कहै कबीर साहेब का बंदा पहुँचा हरिपद माँही ॥

शब्दार्थ—आपा = अहंभाव। खपसी = नष्ट होना। जुगुती = युक्ति। आटी = अटी, गिरह, ऐंठन। गुमान = घमन्ड। निवारै = दूर करे, अलग करे।

सदर्भ—प्रस्तुत पद में बताया गया है कि बाह्याचार से प्रभु की प्राप्ति नही हो सकती। अहं भाव को त्यागकर सच्ची भक्ति से उनको प्राप्त किया जा सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि वही भवसागर पार कर सकता है जिसने अपने मन से अहं-भाव पूर्ण रूप से निकाल दिया है। इस संसार मे किसी को अपने ज्ञान का अहभाव है, वह अपने को चतुर विद्वान् घोषित करता है; किसी को त्याग का अभिमान है, वह अपने को त्यागी घोपित करता है और किसी को इन्द्रियजय का अभिमान है। तात्पर्य यह है कि सभी अहभाव से ग्रस्त है।

किसी को अपने योग का अहंकार है और किसी को भोग का। सच बात तो यह है कि जिसने अहंभाव का त्याग नही किया, वह वस्तुतः रोगी है और ऐसे रोगी का कोई उपचार नही।

किसी को अपने दान का अभिमान है और किसी को तपस्या का। वस्तुतः इन लोगो ने निश्चय ही आत्मतत्व का साक्षात्कार नही किया। ये सब माया की चपेट में नष्ट हो रहे है।

कोई कहता है कि मुझे प्रभु तक पहुँचने की युक्ति ज्ञात हो गई है और कोई कहता है कि मैं तो उसी मे स्थित हूँ। वस्तुतः इन सभी को दिव्य आत्मतत्व का परिचय नही है। उनका सारा कथन असत्य है।

कुछ लोग कहते है कि हमने पूजा, पाठ, दान, तीर्थयात्रा आदि सभी धर्माचारों को पूरा कर लिया है और एकादशी आदि व्रतो का पालन किया है। लेकिन ऐसे लोगो के चित्त से अहंभाव की ऐंठन नही गई। वस्तुतः ये सारे बाह्याचार कर्ज के समान है, मूलधन नही। मूलधन है—आत्मतत्व।

कबीर कहते है कि चित्त से धर्मात्मा-पुण्यात्मा बनने का गर्व दूर करो। इस प्रकार के बाह्याचरण में मुक्ति दिलाने की सामर्थ्य नही है। प्रभु का सच्चा भक्त ही हरिपद को प्राप्त कर सकता है।

अलंकार—मैं तै—रोगी—वक्रोक्ति।

राग—आसावरी।

(३१६)

सार सबद गहि[1] बांचिहौ मांनौ इतबारा।
या संसार सभै बँधा जम जाल पसारा॥ टेक॥
अजर[2] अमर एक बिरिछ निरंजन डारा।
तिरदेवा साखा भए पाती संसारा॥
ब्रह्मां बेद सही किया सिव जोग पसारा।
बिस्नु माया परगट[3] किया उरलै ब्यौहारा॥
कौर भए सब जीयरा लिए बिख कर[4] चारा।
करम की पासी[5] लाय कै पकर्‌यौ संसारा॥
जोति सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा।
तीनि लोक दसहूँ दिसा जम रोकै द्वारा॥

---

१. बि०—से। २. बि०—आदि-पुरुष एक वृक्ष है। ३. बि०—उतपति। ४. बि०—के। ५. तिवारी—बंसी डारि कै।

अमल मिटावौं तासु का पठवौं भव पारा।
कहै कवीर निरभय[1] करौं जो[2] होइ हमारा॥

शब्दार्थ—सार शब्द = वह सामान्य परा शक्ति जिसे 'शब्द ब्रह्म' कहा गया है, जो वाच्य-वाचक दोनो है। जहाँ पद और अर्थ एक है, जो सारी सृष्टि का मूल है। इतवार (अ०-एतवार) = विश्वास। त्रिरिछ = वृक्ष (प्र० अ०) ब्रह्म। निरजन = काल पुरुष। तिरदेवा = त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश)। सही = प्रकट। उरलै = निराला। कीर = तोता। जीयरा = जीव, प्राणी। चारा = भोजन, खाद्य-पदार्थ। अमल = शासन।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि जो सारशब्द को सिद्ध करके प्रभु की शरण में आ गया है, वह सभी देवो तथा यमराज का शासन मिटाकर भव-सागर पार हो जाएगा।

व्याख्या—कवीर कहते हैं कि मेरा विश्वास मानो, 'सार शब्द' ग्रहण करके ही भव (आवागमन) से वच सकते हो। यमराज के द्वारा फैलाए गए जाल में यह सारा ससार फँसा हुआ है अर्थात् सभी प्राणी जन्म-मृत्यु के वंधन में वँधे है।

रूपक शैली मे कवीर कहते है कि ब्रह्म रूपी एक अजर-अमर वृक्ष है, जिसका स्कध कालपुरुष या निरजन है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश नामक तीनों देव उसकी शाखाएँ है और सारा ससार पत्तियाँ है। अव वह तीनो देवो के कार्य वतला रहे हैं। ब्रह्मा ने वेद का निर्माण किया, शिव ने योग का प्रसार किया और विष्णु ने माया प्रकट की, जिसका व्यवहार वडा निराला (विचित्र) है।

इस वृक्ष पर सभी जीव तोते के रूप मे स्थित होकर विषय रूपी विष का सेवन कर रहे है। फलस्वरूप कर्म के वधन मे पडकर आवागमन के चक्कर मे फँसे रहते हैं। परम ज्योति के सदृश यमराज का अधिकार चारो ओर व्याप्त है। उसने तीनो लोको और दसो दिशाओ मे सभी प्राणियो का मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध कर रखा है। कवीर कहते है कि जो हमारा होकर रहे अर्थात् हमारी शिक्षा ग्रहण करे, उसको मैं यमराज के शासन से मुक्त कर, अभय दान कर, भव-सागर से पार उतार दूँगा।

अलंकार—सांग रूपक।

राग—विलावल।

---

१. तिवारी–अमर। २. वि०–परखौ टकसारा।

(३१७)

सार सुख पाइए रे।
रँगि रमहु[1] आतमांरांम ॥ टेक ॥
बनहि बसें का कीजिए जौ[2] मन नहीं तजै बिकार।
घर बन समसरि[3] जिनि किया ते बिरला संसार।
का जटा भसम लेपन किए कहा गुफा में बास।
मन जीतें[4] जग जीतिऐ जौं बिखिया तैं रहै उदास।
सहज[5] भाइ जे ऊपजै ताका किसा मांन अभिमांन।
आपा पर सम चीनिऐ तब मिलै आतमांरांम।
कहै कबीर क्रिपा भई गुरु ग्यान कहा[6] समझाइ।
हिरदै स्री हरि भेटिया अब[7] मन अनत[8] न जाइ॥

शब्दार्थ—सार सुख=सच्चा सुख, वास्तविक सुख। रमहु=रमना। समसरि=सदृश, बराबर। बिखिया=विषय। भाइ=भाव। किसा=कैसा। ताका=उसका। समि=बराबर।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे अन्त साधना का प्रतिपादन किया गया है तथा बाह्याचार का खंडन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीवो ! अपने को आत्मतत्व मे रग लो और दिन-रात उसी मे रमण करो। यही रमण वास्तविक सुख है। विषयो मे रमण सच्चा सुख नही है।

चित्त-शुद्धि पर जोर देते हुए वह कहते है कि यदि चित्त का विकार नही गया, विषयो के प्रति राग बना हुआ है तो संन्यास धारण करके बन मे जाकर बसने से क्या लाभ हो सकता है ? वास्तविक वैराग्य ससार से पलायन नही है, चित्त से राग का निकल जाना है। लोग सन्यास लेकर बन मे इसलिए जाते है कि वे ससार के प्रलोभनो से दूर रह सके। जो घर मे ही रहकर विषयो से दूर रहता है, उसने घर-वन को समान कर लिया है। ऐसे लोग संसार मे बिरले हैं।

---

१. तिवारी–रवहु। २. ना० प्र०–जे। ३. ना० प्र०–तंत संम। ४. ना० प्र०– जीत्यां। ५. तिवारी की प्रति में ये पंक्तियाँ है—

काजल देइ सभै कोई चखि चाहन मांहि विनांन।
जिनि लोइन मन मोहिया, ते लोइन परवान॥

६. ना० प्रा०–कह्या। ७. ना० प्र०–जे। ८. ना० प्र०–अनतै नहीं।

यदि चित्त विकारग्रस्त है तो जटा धारण करने से, शरीर पर भस्म का लेप करने से तथा गुफा में एकान्त वास करने से भी क्या लाभ ? यदि विषयों से असम्पृक्त रहकर मन को वश में कर लिया जाय तो सासारिक विषयों पर उसका पूर्ण अधिकार हो जाता है।

यदि किसी में विषयों के प्रति सहज भाव से विरक्ति उत्पन्न हो जाय तो उसके लिए कैसा सम्मान और कैसा अभिमान अर्थात् वह अहंकार और सम्मान की इच्छा से परे हो जाता है। आत्मतत्व का साक्षात्कार तभी हो सकता है, जब अपने-पराए का भेद मिट जाय अर्थात् समदृष्टि आ जाए। कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ने कृपा की और समझाकर वास्तविक आत्मज्ञान प्रदान किया। परिणामस्वरूप हृदय में विद्यमान आत्म रूप श्री हरि से भेंट हो गई और मन उसी में ऐसा रम गया कि अब अन्यत्र कही नही जाता।

टिप्पणी—(१) संस्कृत में एक स्थान पर कहा गया है कि विषयो के मध्य वसते हुए भी शुद्ध बुद्धिवाला उनमें नही बसता। दुर्बुद्धि व्यक्ति विषयो में न वसते हुए भी उनमें निरन्तर बसा रहता है :—

वसन् विषय-मध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान्।
वसत्येव हि दुर्बुद्धिरसत्सु विषयेष्वपि ॥

(२) गीता में भी कहा गया है कि :—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (२।५६)

× × ×

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहकारः स शातिमधिगच्छति ॥ (२।७१)

अलंकार—बनहि बसे .... विकार—वक्रोक्ति।
राग—केदार।

(३१८)

सावज न होय[1] भाई सावज न होय[2], वाकी मांसु भखै सब कोय।[3]
सावज एक सकल संसारा, अविगत वाकी बाता।
पेट फारि जो देखिए रे भाई, आहि करेज न आँता॥
ऐसो[4] वाको मांसु रे भाई, पल पल मांसु बिकाई।

---

१. शुक०—होई। २. शुक०—होई। ३ शुक—कोई। ४. शुक० ऐसी वाकी।

हाड़ गोड़ ले घूर पँवारिन, आगि धुँवाँ नहि खाई ॥
सिर औ[1] सींग कछू नहि वाके, पूँछ कहाँ वह पावे।
सब पंडित मिलि धंधे परिया, कबिरा बनौरी[2] गावे॥

शब्दार्थ—सावज=जंगली पशु, शिकार। भखै=भक्षण करना। अविगत = समझ के बाहर। घूर = कूढे का ढेर। पँवारै=फेंकना। बनौरी=विवाह के अवसर का मंगल गीत।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे माया रूप संसार की तुलना शिकार के पशु से की गई है। सभी लोग इस संसार के विषय भोगो मे उसी प्रकार लिप्त रहते है जैसे खाद्य पशु के आहार के लिए प्रयत्नशील रहते है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि लोग माया रूपी ससार को शिकार का पशु समझकर उसका माँस भक्षण करते है अर्थात् विषयों का सेवन करते है। किन्तु वास्तव मे वह खाद्य पशु नही है। यह सारा संसार एक माया रूपी पशु है, किन्तु उसका मर्म समझ के बाहर है। वह ऐसा विचित्र पशु है कि यदि उसका पेट फाड़कर देखा जाय तो न उसके कलेजा है, न आँत अर्थात् वह भोग्य पशु नही है। यद्यपि वह स्थूल खाद्य पशु नही है, फिर भी उसका मांस प्रत्येक क्षण बिकता है अर्थात् लोग विषयों का भोग निरन्तर करते रहते है। यह माया रूपी पशु ऐसा विचित्र है कि उसके निकृष्ट रूप का लोग त्याग कर देते है तथा मोहक रूप का भोग करते है। उस पर आग तथा धुएँ का प्रभाव नहीं पड़ता। उसके न सिर है, न सींग और न पूँछ अर्थात् वह अशरीरी है। कबीर कहते है कि उसके रहस्य को न समझ पाने के कारण बड़े-बडे पडित उलझन मे पड़े रहते है, फिर भी उसका मंगल गीत गाते है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि पडित लोग उसका रहस्य न समझ पाने के कारण उलझन मे पड़े रहते है। किन्तु कबीर वास्तविकता को समझ गए है, इसलिए मंगल गीत गाते है।

अलंकार—विभावना, विशेषोक्ति।

(३१९)

सुभागे केहि कारन लोभ लागे, रतन जनम खोयो।
पूरब जन्म भूमि[3] के कारन, बीज काहे को बोयो॥
बुंद से जिन्ह पिंड सँजोयो[4], अग्निहि कुंड रहाया[5]।
जब[6] दस मास मता के गर्भे, बहुरि[7] के लागल माया॥

---

१. शुक०- और। २. शुक-बनौरा। ३. शुक०-भूम्य। ४. शुक०-सजायो। ५.-शुक०-रहायो। ६ बि०-दसे मास माता के गरभे। ७. बि०-बहुरी।

वारहु ते पुनि वृद्ध[1] हुवा जव, होनिहार सो होया।
जब जम ऐंहैं बाँधि चले हैं, नैन भरी भरि रोया॥
जीवन की जनि[2] राखहु आसा, काल धरे है स्वासा।
बाजी है संसार कबीरा, चित्त चेति डारो पासा[3]॥

शब्दार्थ—सुभागे = सुन्दर भाग्यवाले। भूमि = मिट्टी। मता = माता। वारहु = वालक से। बाजी = जुएँ का खेल।

संदर्भ—मानव शरीर बडे भाग्य से मिलता है। इस जीवन में शुभ कर्म करना चाहिए, अन्यथा बुरे कर्म करने से इस संसार में पुनः आना पड़ेगा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे भाग्यशाली मनुष्यो! किस लोभ से तुम इतने अभागे हो गए हो कि मानव जन्म रूपी रत्न को व्यर्थ में खो रहे हो। पूर्व जन्म के संस्कार ही भूमि है और कर्म बीज है। तुम ऐसे कर्म रूपी बीज क्यों बोते हो, जिससे पुनः संसार मे आना पड़े, जिस कर्म रूपी बीज के कारण वीर्य से शरीर बना और गर्भाशय में रखा गया। दस मास माता के गर्भ में रहने के बाद जन्म लिया। जन्म लेते ही माया साथ लग गई। बाल्यकाल बीता, वृद्धावस्था आई और जीवन मे घटित होने वाले सभी कार्य सम्पन्न हुए। अंत में यमराज आकर बाँधकर ले जाएँगे तो सभी लोग खूब आँसू बहाकर रोएँगे। यह जीवन क्षणभगुर है। बहुत दिन जीवन की आशा मत रखो, क्योंकि काल श्वास की डोरी पकड़े हुए है। कबीर कहते हैं कि यह सांसारिक जीवन जुएँ के खेल के समान है, बहुत सावधान होकर इस जीवन रूपी खेल में, कर्म रूपी पासा फेंको अर्थात् शुभ कर्म करो, अशुभ कर्म न करो, अन्यथा इस संसार में पुन. आना पड़ेगा।

अलंकार—रूपक।

(३२०)

सुवटा डरपत रहु मेरे भाई, तोहि डराई देत बिलाई।
तीनि बार रूँधै इक दिन मैं, कबहुँक खता खवाई॥
या मंजारी मुगध न मानैं, सब दुनिया डहकाई।
रानां राव रंक कौं व्यापै, करि करि प्रीति सवाई॥
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई।
लाखौं माँहि तैं लेत अचानक, काहू न देत दिखाई॥

---

१ वि०–बिरध हुआ हैं, होति रहा तो हूवा। २. शुक०– जलि आस राखहु। ३. शुक०– फांसा।

शब्दार्थ—सुवटा = शुक, तोता (प्र० अ०) जीव । बिलाई = बिल्ली (प्र० अ०) माया । रूँधैं = घेरना, अवरुद्ध करना । खता = अपराध, चूक । मंजारी = बिल्ली (प्र० अ०) माया । मुगध = मूढ । डहकाई = धोखा देना । उबरै = उद्धार करना । सरनाई = शरण ।

संदर्भ—इस पद मे जीवन की नश्वरता दिखाते हुए माया से सावधान रहने की चेतावनी दी गई है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव रूपी शुक ! तू माया रूपी बिल्ली से डरता रह । यह माया रूपी बिल्ली तुझे भय से त्रस्त करती रहती है । यह एक ही दिन मे तुझे अनेक बार त्रस्त करती है और कभी भी चूक पड़ने पर नष्ट कर देती है । यह माया रूपी बिल्ली किसी की सुनती नही । इसके समक्ष अनुनय-विनय से कोई लाभ नही । इसने सारे ससार को धोखा दे रखा है । इसने धनी-दरिद्र सभी को प्रेम दिखलाकर अपने वश मे कर रखा है । कबीर कहते है कि हे जीव ! केवल प्रभु की शरण मे जाने से ही उद्धार होगा । जब वह काल रूप मे आती है तो किसी को दिखाई नही पड़ती । किन्तु लाखो लोगो के मध्य से किसी को भी अचानक उठा ले जाती है ।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति ।

राग—गौरी ।

(३२१)

सो जोगी जाकै सहज भाइ ।
अकल प्रीति की भीख खाइ ।। टेक ।।
सबद अनाहद सींगी नाद, काम क्रोध विषया न बाद ।
मन मुद्रा जाकै गुर कौ ग्यॉन, त्रिकुट कोट मैं धरत ध्यान ।
काया कासी खोजै बास, तहाँ जोति सरूप भयौ परकास ।
ग्यॉन मेषली सहज भाइ, बंकनालि कौ रस खाइ ।
जोग मूल कौ देइ बंद, कहि कबीर थिर होइ कंद ।

शब्दार्थ—भाइ = भाव । अकल = अखण्ड । सीगी = वाद्य विशेष । वाद = तर्क-वितर्क । मुद्रा = कान का कुण्डल । कोट = गढ, दुर्ग । त्रिकुटी = भौंहो के मध्य का स्थान । मेषली = करधनी । बंक नालि = वक्र नाल । बंद = बंध । कंद = गाँठदार पदार्थ ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि सच्चा योगी वह है जो बाह्य वेश-भूषा तथा साधना और आचार का आन्तरिक रूपान्तरण करके सहज भाव मे स्थित रहता है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सच्चा योगी वही है जो सहज भाव अर्थात् आत्मस्वरूप में स्थित है तथा जो ईश्वर के अखण्ड प्रेम की भिक्षा खाकर जीवनयापन करता है। उसके भीतर अनाहत शब्द शृंगी नाद के समान ध्वनित होता रहता है तथा उसमे विषयासक्ति समाप्त हो जाती है। वह तर्क-वितर्क नही करता है। गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही जिसके मन को स्थिर करने वाली मुद्रा होती है। वह त्रिकुटी रूपी गढ में परमतत्व का ध्यान करता है। वह मन को शुद्ध करने वाले ज्ञान-जल से स्नान करता है तथा गुरु द्वारा प्रदत्त मंत्र का ध्यान करता है। वह भौगोलिक काशी को महत्व नहीं देता है, बल्कि काया रूपी काशी में निवास करता है। वहाँ ज्योति-स्वरूप परमात्मा का प्रकाश होता रहता है। योगी मूंज की मेखला (कटिसूत्र) धारण करते है। कबीर कहते है कि उसकी अपेक्षा सहज भाव रूपी ज्ञान की मेखला धारण करने वाला सच्चा योगी होता है। साधारण योगी भौतिक रस का पान करते है, किन्तु सच्चा योगी वक्रनाल द्वारा प्रसृत अमृत रस का पान करता है। सामान्य योगी कोपीन के द्वारा गुप्तांगो को ढकते है, किन्तु वास्तविक योगी वह है जो 'मूलबध' का प्रयोग करता है, जिससे उसका 'कंद' स्थिर हो जाता है।

टिप्पणी—(१) बंक नालि।

पीयूषिका ग्रंथि से एक वक्र नालिका तालुस्थान तक आई है, जिसे 'बंक नाल' कहते है। इसके अन्य नाम है—राजदन्त तथा शखिनी। इसी नालिका के माध्यम से अमृत रस तालु में स्थित एक अत्यत सूक्ष्म छिद्र तक आता है। इसी छिद्र को संतों ने 'दशम द्वार या दसवाँ द्वार' कहा है।

(२) **मूलबंध**—एड़ी से गुदा और लिंग के बीच के स्थान को दबाकर गुदा को आकुंचित करके अपान वायु को ऊपर खीचने की क्रिया से गुदा आकुचित हो जाती है। उस स्थिति को 'मूल बध' कहते है :—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥
अधोगतिमपान वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबंध हि योगिन. ॥ ६२ ॥

—हठयोगप्रदीपिका—तृ० अध्याय

इस मूलबध से प्राण और अपान तथा नाद-बिंदु का समीकरण होता है और कुण्डलिनी का जागरण होता है—

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबंधेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशय. ॥ ६४ ॥
—(हठ० प्रदी०, तृ० अध्याय)

कंद—सामान्यतः किसी भी गाँठदार पदार्थ को कंद कहते है, जैसे जिमीकंद, शकर कंद आदि। गुदा और लिंग मे गाँठदार स्थिति होती है। उसे भी कंद कहते है। मूलबंध से उसमें स्थिरता प्राप्त होती है।

अलंकार—(१) सांग रूपक।
(२) व्यतिरेक की ध्वनि।

राग—बसंत।

(३२२)

हंसा प्यारे सरवर तजि कँह[1] जाय।
जेहि सरवर बिच मोतिया चुगते[2], बहुबिधि केलि कराय॥
सूखे ताल पुरइन जल छाँड़े, कमल गए[3] कुम्हिलाय।
कहैं[4] कबीर जो अबकी बिछुरे, बहुरि मिलो कब आय॥

शब्दार्थ—हंसा=जीव। सरवर=सरोवर (प्र० अ०) शरीर। मोतिया=(प्र० अ०) ऐश्वर्य सुख। केलि=विहार। पुरइन=कमल पत्र (प्र० अ०) नेत्र। जल=(प्र० अ०) प्राण। कमल=(प्र० अ०) हृदय।

संदर्भ—मानव शरीर से ही साधना संभव है। अत. इसी जीवन मे साधना कर लेनी चाहिए। पता नही मरने के बाद यह तन मिले या न मिले।

व्याख्या—कबीर कहते है कि जीव जिस शरीर (सरोवर) में रह कर ऐश्वर्य-सुख (मोती) का भोग करता है और नाना प्रकार से विहार करता है, वह अन्ततः उसे छोड़कर कहाँ जाता है? यहाँ ताल शरीर का, पुरइन नेत्र का और कमल हृदय का प्रतीक हैं। मृत्यु के समय शरीर सूख जाता है, कमल-पत्र तुल्य नेत्र भी इस शरीर का साथ नहीं देते और हृदय-कमल भी सूख जाता है। कबीर कहते हैं कि हे जीवो! विचार करो। इस शरीर से वियुक्त होने पर पुनः यह मानव-तन कब मिलेगा, जिससे साधना कर सकोगे? मानव-शरीर बड़े भाग्य से मिलता है। वही साधना का धाम है।

---

१. वि०-कहाँ। २. वि०-चुगत होते। ३. वि०-गइल। ४. वि०-कहहिं कबीर अबकी के बिछुरे।

अलंकार—(१) रूपकातिशयोक्ति ।
(२) अंतिम पंक्ति में वक्रोक्ति ।

(३२३)

हंसा संसय छूरी कुहिया, गइया पिये बछरुवे दुहिया ।
घर घर साउज [1]खेलै अहेरा, पारथ ओटा लेई ।
पानी माँहि तलफि गौ[2] भूभुरि, धूरि हिलोरा देई ॥
धरती बरसै बादर भीजै, भींट भए पैराऊँ ।
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बिंधा[3] पाँऊँ ॥
जौलों कर डोलै पग चालै, तौलों[4] आस न कीजै ।
कहै कबीर जेहि चलत न दीसै, तासु बचन क्या लीजै ॥

शब्दार्थ—कुहिया = घातक । गइया = गाय (प्र० अ०) माया । बछरुवे = बछडे को (प्र० अ०) जीव को । साउज = जंगली पशु-पक्षी । (प्र० अ०) काम-क्रोध । अहेरा = शिकार । पारथ = पारधी, शिकारी (प्र० अ०) जीव । ओटा = आड । पानी = (प्र० अ०) शांति, आनंद । भू-भुरि = पृथ्वी का मल । धूरि = धूल (प्र० अ०) विषय । हिलोरा = लहर, मौज । धरती = (प्र० अ०) मतों को धारण करने वाली बुद्धि । बादर = (प्र० अ०) अज्ञानी जीव । भींट = टीलेदार भूमि (प्र० अ०) विषय विकार । पैराऊ = तैरने योग्य । हंस = जीव । ताल = (प्र० अ०) शरीर । चहले = कीचड (प्र० अ०) विषय । बिंधा = फँसा हुआ । पाऊँ = पैर । आस = तृष्णा ।

सदर्भ—इस पद में कबीर ने यह बतलाया है कि जो परमात्मा में विश्वास नही करते, माया उनका दोहन करती रहती है और शरीर छूटने पर भी वे वासना से मुक्त नही हो पाते ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव ! संशय रूपी छूरी घातक होती है । माया (गइया) जीव (बछडे) का दोहन करती है । प्रत्येक शरीर मे कामादि पाशविक वृत्तियाँ शिकार करती है और जीव देवी-देवताओ की ओट पकड़ता है । यह जीव यद्यपि आनंदस्वरूप जल (आत्मा) का वासी है, फिर भी तड़पता रहता है, अशात रहता है । वह विषय रूपी त्रिताप की लहरो मे भटकता रहता है । नाना मतो को धारण करने वाली बुद्धि वर्षा करती रहती है अर्थात् वह नाना प्रकार के मतो से प्रभावित होता रहता है । अज्ञानी जीव उनसे भीगता रहता है, उनमें फँसा रहता

---

१. वि०–करै । २. शुक०–गई भुभुरी । ३. शुक–बिंदा । ४. वि०–तौ लगि ।

है। संशय-जल इतना गहरा हो गया है कि जीव उसी मे तैरता रहता है। जीव (हंस) उड़ जाता है और शरीर (तालाब) सूख जाता है। फिर भी उस हंस का पैर विषय-वासना रूपी कीचड़ मे फँसा रहता है अर्थात् जीव वासना के कीचड़ से सम्पृक्त रहता है। जब तक हाथ पैर चलते है अर्थात् जीवन है, तब तक तृष्णा से अलग रहो। कबीर कहते है कि जो अपने सिद्धान्तो को आचरण मे रूपान्तरित नही करता, उसका उपदेश व्यर्थ है।

टिप्पणी—इस पद मे उलटवाँसी है।

(३२४)

हंसा हो चित चेतु सबेरा[१], इन्ह परपंच करल[२] बहुतेरा।
पाषंड रूप रचो[३] इन तिरगुन, तेहि पाषंड भूलल संसारा॥
घर के खसम बधिक वै राजा, परजा का धौं करै विचारा॥
भगति[४] न जानै भगत कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा।
आगे बड़े ऐसही बूड़े[५], तिनहुँ न मानल कहा हमारा॥
कहा[६] हमार गाँठि दृढ़ बाँधे, निसि बासर रहियो हुसियारा।
ये कलि गुरू बड़े परपंची, डारि ठगौरी सब जग मारा॥
बेद कितेब[७] दुइ फँद पसारा, तेहि फंदे परु आप बिचारा।
कहै कबीर ते हंस न बिसरै, जेहिमा मिले छुड़ावनहारा॥

शब्दार्थ—हसा=जीव। इन्ह=गुरुवा लोग। परपंच=प्रपंच, झमेला। घर=(प्र० अ०) शरीर। कैलिन=किया। ठगौरी=ठगने की कला।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने वचक गुरुआ लोगों से मनुष्यो को सावधान किया है। ये गुरुआ बाह्याचार में फँसाकर लोगो को पथभ्रष्ट करते थे।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे मनुष्यो ! जल्दी चेत जाओ। वंचक गुरुआ लोगो ने बहुत झमेला मचा रखा है। इन लोगो ने वेद-शास्त्र आदि रचा है, जिनका क्षेत्र त्रैगुण्य के भीतर ही है अर्थात् प्रकृति की विकृति के भीतर ही है। इस पाषंड के चक्कर मे सारा संसार पडा है। इन लोगो से दीक्षित शरीर रूपी घर का स्वामी मन-जीवन को विनाश-पथ की ओर ले जाता है। वेचारा जीव (प्रजा) क्या कर सकता है ? अथवा जीव मे विवेक नही रह जाता है। ये गुरुआ लोग भक्ति का मर्म नही समझते, किन्तु भक्त होने का ढोंग रचते है। ये परम पद (अमृत) को छोड़कर

---

१. वि०—सकेरा। २ वि०—कैल। ३. वि०—रचिन्हि इन्हि। ४. शुक०—भक्ति। ५. वि०—भूले। ६. वि०—कहलि हमारी गाँठी बाँधहु। ७. शुक०—किताब।

विषय-विष का सेवन एवं प्रचार करते हैं। अतीत में बड़े-बड़े लोग इसी प्रपंच में नष्ट हो गए। उन्होने तात्कालिक सद्गुरु का उपदेश नही माना। हमारा उपदेश भली प्रकार से हृदय में धारण कर लो। वह यह है कि निरन्तर इन वंचक गुरुआ लोगों से सावधान रहो। इस कलियुग में गुरुआ लोग बड़े धोखेबाज हैं। वे ठगने की कला से सारे संसार को नष्ट करते हैं। इनके द्वारा दो जाल फैलाए गए हैं—वेद और कुरान। इन फंदो के आधार पर वे अपने मनोनुकूल उपदेश देते रहते हैं। आधार वेद या कुरान रहता है, किन्तु ये उपदेश अपनी इच्छानुसार देते हैं। कबीर कहते हैं कि वे जीव सत्य से विचलित नही हो सकते, जिनको बंधन से छुड़ाने वाला सद्गुरु मिल गया हो।

तुलनीय—पाषंड रूप रचो इन तिरगुन.........

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

(गीता—२।४५)

'हे अर्जुन ! सभी वेद तीनो गुणो के विषयो को प्रकाशित करते है। इसलिए तू निष्कामी, सुख-दुःखादि से रहित, नित्य वस्तु में स्थित, योगक्षेम को न चाहने वाला और आत्मपरायण हो।'

अलंकार—तीसरी पंक्ति में रूपकातिशयोक्ति व श्लेष।

(३२५)

हम तौ एक एक करि जांनां।
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग जिन नाहिन पहिचांनां॥ टेक॥
एकै पवन एक ही पानीं एकै जोति [1]समांनां।
एकै खाक गढ़े[2] सब भांड़े एकै[3] कोंहरा सांनां॥
जैसे[4] बाढ़ी काष्ट ही काटै अगिनि न काटै कोई।
सब घटि अंतरि तूंही व्यापक धरै सरूपै सोई॥
माया[5] देखि कै जगत लुभांनां काहे रे नर गरबांनां।
निरभै[6] भया कछू नहि व्यापै कहै कबीर बिवांनां॥

शब्दार्थ—दोजग=(फा० दोज़ख) नरक। समांनां=व्यास। खाक (फा०)= मिट्टी, रज, धूलि। भांडे=बर्तन। कोहरा=कुम्भकार। सांनां=मिट्टी को मिलाना।

---

१. ना० प्र०—संमारा। २. ना० प्र०—घड़े। ३ ना० प्र०—एक ही सिरजनहारा। ४. तिवारी की प्रति में पाँचवीं-छठी पंक्तियाँ नहीं है। ५. ना० प्र०—माया मोहे अर्थ देखि करि काहे कूं गरबांनां। ६. तिवारी—कहै कबीर सुनौ भाई साधौ गुरु (हरि ?) के हाथि काहे न बिकांनां।

संदर्भ—इस पद में कबीर ने बताया है कि समस्त जगत् मे एक ही तत्व व्याप्त है, केवल नाम-रूप का भेद है। नाम-रूप के विनाश से तत्व का विनाश नही होता।

व्याख्या—हमने भलीभांति छानबीन करके समझ लिया है कि परम तत्व एक ही है। जिन्होंने परमार्थ को नही पहचाना है और द्वैत की भावना रखते हैं, उन्ही का पतन होता है। ससार मे एक ही पवन, एक ही जल और एक ही ज्योति सर्वत्र व्याप्त है। एक ही मिट्टी से संसार के सभी पदार्थ बनाए गए है और उन सवका बनाने वाला कुम्भकार भी एक ही है अर्थात् सारी सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण एक ही ईश्वर है। जैसे बढई काठ की लकड़ी काटकर भिन्न-भिन्न पदार्थ वनाता है, किन्तु सभी काष्ठ-खण्डो मे व्याप्त अग्नि को नहीं काट सकता। वह सबमे व्याप्त है। इसी प्रकार वह परब्रह्म चेतन ही सब पदार्थो मे व्याप्त है। उसका चैतन्य-स्वरूप कण-कण में विद्यमान है। उसी की सत्ता से सबकी सत्ता है। उसी ने सारा रूप धारण किया है। जैसे काठ के कटने से अग्नि का विनाश नही होता, वैसे ही पदार्थों के विनाश से उसमें व्याप्त चेतन का विनाश नही होता।

सारा जगत् माया के कारण ऐश्वर्य, सम्पत्ति आदि में लुभाया रहता है। हे मानव ! तू क्षणभंगुर ऐश्वर्य, सम्पत्ति आदि पर क्या गर्व करता है ? अद्वैत भाव में मस्त कबीर कहते है कि जिसको अद्वैत का भान हो जाता है, उसकी एकत्व की चेतना बनी रहती है। भय दो से, द्वैत से होता है—द्वैतात् वै भय भवति। इसीलिए जिसकी अद्वैत में निष्ठा है, वह निर्भय हो जाता है। उसमे शंका, मोह, भय आदि का कोई अवकाश नही रह जाता है।

अलंकार—(१) एक-एक—यमक।
(२) जैसे बाढ़ी—उदाहरण।

राग—गौरी।

(१२६)

हम न मरैं मरिहै संसारा।
हमको[1] मिला जिआवनहारा ॥ टेक ॥
***साकत मरहिं[2] संत जन-जीवहिं[3] भरि भरि रांम रसाइन पीवहिं[4]।**
हरि मरिहै तौ हमहूँ मरिहै, हरि न मरै हम काहे कौ मरिहैं।
कहै कबीर मन मनहि मिलावा, अमर भए सुखसागर पावा ॥

---

१. ना० प्र० हमकूँ मिल्या *. ना० प्र० की प्रति में यहाँ एक पंक्ति और है—
अब न मरौं मरनै मन माना।
तेन मूए जिनि रांम न जाना ॥
२. ना० प्र०–मरै। ३. ना० प्र०–जीवै। ४. ना० प्र०–पीवै।

शब्दार्थ—साकत = शाक्त। जिआवनहारा = अमरत्व प्रदान करने वाला, प्रभु।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि भक्ति ही वह संजीवनी है जिससे अमरत्व प्राप्त हो सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि संसार मे सभी मर जाएँगे, किन्तु भक्त नही मरेंगे, क्योंकि भक्त को अमरत्व प्रदान करने वाला प्रभु मिल गया है। शक्ति के उपासक शाक्त भी मर जाते हैं, किन्तु प्रभु के भक्त राम-रसायन का पान करके जीवित रहते हैं। भक्ति के द्वारा भक्त और प्रभु का सायुज्य हो जाता है। इसलिए भक्त के मरने का प्रश्न ही नही रह जाता। यतः हरि नही मरते, अतः भक्त कैसे मरेगा? कबीर कहते है कि भक्त का आत्म-तत्व परमात्म-तत्व से मिल जाता है। इस प्रकार वह अमर होकर असीम ब्रह्मानंद का अनुभव करता है।

टिप्पणी—राम रसाइंन—

वैद्यक के अनुसार 'रसायन' वह औषध है जिसके प्रयोग से काया क्षीण नही होती। राम रसायन वह औषध है जिससे अमरत्व की प्राप्ति होती है।

अलंकार—हरि न मरै हमं काहे को मरिहैं—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(३२७)

हमारे गुर दीन्हीं अजब जरी।
कहा कहौं कछु कहत न आवै अम्रित रसन भरी॥ टेक॥
याही तैं मोहि प्यारी लागी लैकै गुपुत धरी।
पांचौं नाग पचीसौं नांगिनि सूंघत तुरत मरी।
डांइनि एक सकल जग खायौ सो भी देखि डरी।
कहै कबीर भया घट निरमल सकल बियाधि टरी॥

शब्दार्थ—जरी = जडी-बूटी। रसन = रस से। गुपुत धरी = सुरक्षित रखा। पांचौ नाग = पंच ज्ञानेन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, रसना, त्वक्)। पचीसौं नागिनि = पाँच तत्वो से निःसृत पचीस मानसिक और शारीरिक विकार—

आकाश से काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय = ५
अग्नि से क्षुधा, तृषा, आलस्य, निद्रा, मैथुन = ५
वायु से चलन, बलन, धावन, पसारन, संकोचन = ५
जल से लार, रक्त, पसीना, मूत्र, वीर्य = ५
पृथ्वी से हाड, मास, त्वचा, नाडी, रोम = ५
= २५

घट = काया, जीवन। डांइन = (प्र० अ०) माया। बियाधि = व्याधि, त्रिताप (आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक)।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मेरे गुरु ने शब्द रूपी एक अद्भुत जडी मुझे दी। इसकी महिमा अनिर्वचनीय है। उसका वर्णन नही किया जा सकता। वह अमृत-रस से परिपूर्ण है। इसी कारण वह मुझे अत्यंत प्रिय है और मैंने उसे प्राप्त कर अत्यंत सावधानी से सुरक्षित रखा है। जैसे सपेरा झोले मे छिपाकर रखी हुई जड़ी नाग-नागिनि को सुँघाकर उन्हे निश्चेष्ट करके अपने वश मे रखता है, उसी प्रकार गुरु द्वारा प्रदत्त शब्द रूपी जड़ी से मैंने पाँचो इन्द्रियो तथा पाँच तत्वों से नि.सृत मानसिक और शारीरिक (Psycho-Physical) विकारो को वश मे कर रखा है। अव उनका मेरे ऊपर कोई प्रभाव नही पड सकता है। वे मेरे लिए मृत हो गए है। सारे ससार को अपने वश मे रखकर विनाश करनेवाली माया रूपी डाकिनी भी इस जड़ी को देखकर, भयभीत होकर पीछे मुड जाती है। उसे इसके निकट आने का साहस नही रह जाता। इस जड़ी से मेरा जीवन निर्मल हो गया और समस्त त्रिताप समाप्त हो गए।

टिप्पणी—(१) **जरी**—जड़ी वह शब्द है जो गुरु शिष्य को दीक्षा के समय देता है। वह शब्द साधक के भीतर मन-प्राण-नाडियों में व्याप्त होकर उसे निर्मल वना देता है और उसके भीतर आध्यात्मिक रूपान्तरण हो जाता है।

(२) **पांचौ नाग पचीसौ नागिनि**—जिस प्रकार नाग-नागिनि के डँसने से व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है, वैसे ही पाँच तत्व और उनसे निसृत विकारों के प्रभाव से व्यक्ति की आध्यात्मिक मृत्यु हो जाती है।

अलंकार—(१) पूरे पद मे व्यतिरेक अलंकार।
(२) नाग-नागिनि और डाइनि मे रूपकातिशयोक्ति।
(३) सूंघत तुरत मरी—अक्रमातिशयोक्ति।

राग—धनाश्री।

(३२८)

हमारै गुर बड़े भ्रिंगी।
आंनि कीटक करत भ्रिंग सो आपतैं रंगी॥ टेक॥
पाइं औरै पंख औरै और रंग रंगी।
जाति पांति न लखै कोई भगत भौ भंगी।
नदी नांला मिले गंगा कहावैं गंगी।
समांनीं दरियाव दरिया पार नां लंघी।

चलत मनसा अचल कीन्हीं मांहि मन पंगी।
तत्त मैं निहतत्त दरसा संग मे संगी।
बंध तै निर्बंध कीया तोरि सब तंगी।
कहै कबीर अगम किया गम रांम रंग रंगी॥

शब्दार्थ—भ्रिंगी = भृंग, बिलनी, एक प्रकार का कीड़ा जिसके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वह किसी कीडे के चारो ओर मँडराते हुए तब तक 'भिन्न-भिन्न' की ध्वनि करता रहता है, जब तक कि वह उसी के समान भृंग में परिवर्तित नही हो जाता। आनि = लाकर। कीटक = कीड़ा। पाइं = पैर। भौ भंगी = संसार का भंजन करने वाला। दरियाव (फा०) = नदियाँ। दरिया (फा०) = समुद्र। पंगी = पंगु। निहत्तत्त = निष्तत्व, परमात्मा। निर्बंध = बंधन मुक्त। तंगी = सीमाएँ। अगम = अगम्य। गम = गम्य।

व्याख्या—हमारे गुरु भृंग के समान है। जैसे भृंग अन्य कीडे को लाकर अपने रूप मे परिवर्तित कर लेता है, उसी प्रकार वह शिष्य को अपना जैसा बना लेते है। यद्यपि कीट के पैर, पख, रंग आदि भिन्न होते हैं तथापि भृंग उसको अपने ही रूप में रूपान्तरित कर लेता है, उसी प्रकार गुरु भी शिष्य की जाति-पाँति का विचार किए बिना, केवल उसकी भक्ति को देखकर, उसके भवजन्य तापो का भजन या विनाश कर देते है। जिस प्रकार साधारण नदियाँ और नाले गगा में मिलने पर 'गंगा' ही कहे जाते है। गंगा मे मिलने पर उनके सभी दोष दूर हो जाते हैं तथा जिस प्रकार नदियाँ अपार समुद्र में मिलने पर उसी सागर के रूप में परिवर्तित हो जाती है, उसी प्रकार जब गुरु शिष्य को मिलाकर एकरस कर लेता है, तब ससीम से असीम की स्थिति को प्राप्त गुरु के सदृश शिष्य भी हो जाता है।

गुरु शिष्य के चचल मन को भीतर ही भीतर अचल करके समाहित कर देता है। पांच तत्वो के स्थूल और सूक्ष्म शरीर के भीतर गुरु उस परम तत्व का दर्शन करा देता है जो इन तत्वो से परे है। इस प्रकार शिष्य गुरु का संगी अर्थात् उसके सदृश बन जाता है।

गुरु शिष्य के सारे बधनो को तोड करके उसे बंध से निर्बंध अर्थात् मुक्त कर देता है। कबीर कहते है कि वह शिष्य को राम के रग में रगकर अगम्य को गम्य बना देता है।

टिप्पणी—भगत—सत सम्प्रदाय मे शिष्य प्रायः 'भगत' कहे जाते है।

अलंकार—प्रथम पंक्ति मे रूपक ।

पाँचवी पक्ति में—दृष्टान्त, तद्‌गुण । 'चलत-अचल, तत्त-निहृतत्त, वध-निर्वंध तथा अगम-गम' मे विरोधाभास ।

राग—सोरठ ।

(३२९)

हमारे रॉम रहीम करीमा केसो, अलह रॉम सति सोई ।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई ॥टेक॥
इनकै काजी मुलाँ पीर पैकंबर, रोजा पछिम निवाजा ।
इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा ।
तुरक मसीति देहुरै हिन्दू, दुहूंठा रॉम खुदाई ।
जहॉ मसीति देहुरा नॉहीं, तहँ काकी ठकुराई ।
हिन्दू तुरक दोऊ रह टूटी, फूटी अरु कनराई ।
अरध उरध दसहूं दिसि जित तित, पूरि रहा[1] राम राई ।
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी रहि चलि भाई ।
हिन्दू तुरक का करता एकैं, ता गति लखी न जाई ॥

शब्दार्थ—रहीम (अ०)=दयालु । करीमा (अ०)=कृपालु । केसो= केशव । सति=सत्य । बिसमिल (अ० बिस्मिल्लाह)=ईश्वर । बिसम्भर=विश्वम्भर, प्रभु । काजी (अ० काजी)=न्यायकर्ता । मुलां (अ० मुल्ला)=मस्जिद मे अजान देने वाला । पीर (फा०)=धर्मगुरु । पैकंबर (फा०-पैगम्बर)=ईशदूत । रोजा (फा०-रोज.)=व्रत, उपवास । निवाजा=नमाज-(अ०) । ग्यारसि=एकदशी व्रत । दिज=द्विज, ब्राह्मण । दिवाजा=दीपार्चन, आरती । मसीति (फा०)= मस्जिद । देहुरै=देवालय मे । दुहूंठा=दोनो स्थानो पर । खुदाई (फा०)=प्रभुता । ठकुराई=प्रभुता, स्वामित्व । तूटी=त्रुटिपूर्ण । रह=राह; मार्ग । कनराई=किनारे, वास्तविक मार्ग से हटकर । अरध उरध=ऊपर-नीचे । राई=राजा । फकीरा (अ० फकीर)=साधु, संत ।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि ईश्वर एक है। नाम-भेद और बाह्याचार के कारण हिन्दू और मुसलमान प्रभु को अलग-अलग मानते है, जो कि एक भ्रान्ति है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हमारे लिए राम और रहीम, केशव और करीम, राम और अल्लाह सभी समान रूप से एक ही सत्य है। कोई बिस्मिल्लाह के स्थान,

---

१. ना० प्र०-रह्या ।

पर विश्वम्भर कहता है, किन्तु है मूलत. दोनो एक ही। दोनो मे कोई अंतर नही। मुसलमानो के धर्म में काजी, मुल्ला, पीर, पैगम्बर का प्रयोग है, वे रोजा रखते है और पश्चिम की ओर मुंह करके नमाज पढ़ते है। हिन्दू लोग पूर्व दिशा की ओर प्रार्थना करते है, देवताओ और ब्राह्मणो की पूजा करते है, एकादशी का व्रत रखते हैं, गगा स्नान करते है और दीपार्चन करते है। मुसलमान मस्जिद में ईश्वर का स्थान मानते है और हिन्दू मन्दिर मे। किन्तु प्रभु की प्रभुता दोनों स्थानो मे है। जहाँ न मस्जिद है, न देवालय, वहाँ किसकी प्रभुता मानी जाएगी ? वस्तुत उसका स्वामित्व सर्वत्र है। वह सर्वव्यापी है। हिन्दू-मुसलमान दोनो का रास्ता त्रुटिपूर्ण है, भ्रष्ट है और वास्तविक मार्ग से हट गया है। वस्तुतः ऊपर-नीचे, दशो दिशाओं में राम परिव्यास है। सत कबीर कहते है कि हे भाई ! अपनी आत्मा के अनुसार धर्माचरण करो। हिन्दू-मुसलमान दोनो का कर्ता एक ही है। उसका मर्म किसी की समझ मे नही आता।

अलंकार—तहँ काकी ठकुराई—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

(३३०)

हरि का विलोवनां बिलोइ मेरी माई।
ऐसे विलोइ जामैं तत्त न जाई ॥ टेक ॥
तनु करि मटुकी मनहिं बिलोइ, ता मटुकी महिं सबद संजोइ।
इला पिंगुला सुखमन नारी, वेगि विलोइ ठाढ़ी छछिहारी।
कहै कबीर गुजरी बौरांनी। मटुकी फूटी जोति संमांनी ॥

शब्दार्थ—विलोवना = वह पदार्थ जिसे विलोया जाता है। विलोई = मथना। तत्त = तत्व, सार। बिलोइ = वह पदार्थ जो विलोया जाय। सँजोइ = तैयार करना, भरना। छछिहारी = छाछ को विलोवने वाली। गुजरी = स्त्री (आ० अ०) जीवात्मा। वौरानी = मस्त हो गई।

संदर्भ—इस पद में दही के मथने के रूपक द्वारा कबीर ने यह उपदेश दिया है कि प्रभु के लिए इस जीवन को मथ कर उसका सार प्रभु को समर्पित कर देना चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव ! तुम इस जीवन रूपी विलोवन पदार्थ को हरि के लिए मथो अर्थात् इस जीवन को दिव्य बनाओ। इसके तत्व को हरि को समर्पित करो। इसका मथन इस प्रकार करो कि सारे जीवन का सार प्रभु के लिए समर्पित हो जाय, व्यर्थ न जाय।

बिलोने के लिए चार पदार्थो की आवश्यकता होती है—(१) दही या छाछ (२) मथने वाली स्त्री, (३) मटकी, (४) छींटा देने के लिए जल। यहाँ तन मटकी है, मन दही या छाछ है, जिसे बिलोना चाहिए, इड़ा-पिगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ मथने वाली नारियाँ है और शब्द का छींटा डाला गया है, जिससे इस मन का सार (मक्खन) ऊपर आ जाता है। सार निकल आने पर यह जीवात्मा (गूजरी) मस्त हो जाता है, आनंद से चकित रह जाता है। जब इस शरीर (मटकी) का पतन होता है, तब व्यष्टि-चैतन्य समष्टि-चैतन्य मे समाविष्ट हो जाता है।

अलकर—साग रूपक।

राग—भैरव।

(३३१)

हरि के खारे बरे[1] पकाए, जिनि जांनें[2] तिन खाए।
ग्यांन[3] अचेत फिरैं नर लोई, ताथैं जनम जनम डहकाए ॥ टेक ॥
धौल मंदलिया बैल रबाबी कउवा ताल बजावै।
पहिरि चोलनां[4] गादह नाचै भैसा निरति करावै[5]।
सिंघ ज बैठा पान कातरै घूंस गिलौरा लावे।
उंदरी बपुरी मंगल गावै कछुवा[6] संख बजावै।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ गड़री परबत खावा।
चकवा बैसि अंगारै निगलै समद अकासा धावा ॥

शब्दार्थ—खारे=क्षार, कडुवे। बरे=बडा। लोई=लोग। डहकाए = भटकते हुए, धोखा खाते। धौल = धौर, कबूतर के समान श्वेत पक्षी। मदलिया = मर्दल बजाने वाला। रबाबी = रवाब बजाने वाला। चोलना = वस्त्र। निरति = नृत्य। घूँस = एक प्रकार का बड़ा चूहा। गिलौरा = पान का बीड़ा। उंदरी = चुहिया। बपुरी = बेचारी। गडरी = एक प्रकार की घास। संमद = समुद्र।

सदर्भ—इस पद मे प्रतीकात्मक शैली मे यह बतलाया गया है कि जीव मे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती है—(१) निम्नकोटि की पाशविक प्रवृत्तियाँ और (२) उच्चकोटि की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ। ज्ञानी जीव पाशविक प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण रखता हुआ, उन्हें अध्यात्म की उपलब्धि का साधन बनाता है और अज्ञानी जीव निम्न कोटि की प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर विषयवासना मे फँसकर भटकता फिरता है। इन प्रवृत्तियो के लिए कबीर ने विभिन्न पशुओं को प्रतीक के रूप मे लिया है।

---

१. ना० प्र०- बडे। २. ना० प्र०-जारे। ३. तिवारी की प्रति में यह पँक्ति नही है। ४. ना० प्र०-चोल नांगा दह। ५. ना० प्र०- कहावै। ६. ना० प्र०-कछू एक आनँद सुनावै।

व्याख्या—वह कहते हैं कि प्रभु ने कड़ुए बड़े पकाए हैं। उनको ठीक ढग से वे ही खा सकते हैं जो उनके मर्म को जानते हैं अर्थात् प्रभु ने मानव में कतिपय ऐसी प्रवृत्तियाँ रची हैं जो उसे नीचे की ओर ले जा सकती हैं। जो ज्ञानी हैं, वे उनका स्वरूप जानते हुए, उनका सदुपयोग करके उन्हे अध्यात्म की ओर मोड सकते हैं। 'जिनि जाने तिन खाए'—का यही भाव है। किन्तु सामान्यत लोग ज्ञान से अचेत होकर अर्थात् अज्ञानी रहकर भटकते फिरते हैं और जन्म-जन्मान्तर धोखा खाते हैं, आवागमन के चक्कर मे पड़े रहते हैं।

अविद्याग्रस्त जीव पाशविक प्रवृत्तियो द्वारा किस प्रकार नचाया जाता है, इसे कबीर प्रतीकों के माध्यम से चित्रित करते हुए कहते हैं कि बैल (मोह) मर्दल बजाता है, बैल (लोभ) रबाब बजाता है और काग (तृष्णा) ताल देता है, गदहा (अविद्याग्रस्त जीव) चोलना (काम-क्रोध) पहनकर नृत्य करता है और भैंसा (विषय वासना या निम्न सस्कार) नृत्य कराता है। चित्त में विद्यमान संस्कार जीव को नाना प्रकार से नचाते रहते हैं। सिंह (जीव) बैठा हुआ पान कतरता रहता है और चूहा उनके बीड़े बनाता रहता है अर्थात् जीव विषय-भोग के साधन जुटाता रहता है और मन उनका भोग करता रहता है। बेचारी चुहिया (रागात्मिका वृत्ति) मंगल गाती है और कछुआ (विषयासक्ति) शख बजाता है अर्थात् रागात्मक वृत्ति विषयों को सुखकर समझकर उनका अभिनन्दन करती है और विषयासक्ति उनका समर्थन करती हैं। कबीर कहते हैं कि घास (पाशविक प्रवृत्तियाँ) पर्वत (जीवात्मा) को खा जाती हैं अर्थात् तुच्छ विषय जीवात्मा जैसे महान् तत्व को भ्रष्ट कर देते हैं। (यहाँ 'घास' तुच्छता का बोधक है और 'पर्वत' मे महत्ता की व्यञ्जना है)। चकवा (अन्त करण) बैठा अगार (ज्ञान) निगल रहा है अर्थात् विषयासक्त अन्त करण ज्ञान की ज्योति को ग्रस लेता है। समुद्र (काम) आकाश (निर्मल आत्मा) तक धावा बोलता है अर्थात् काम की तरगे निर्मल आत्मा को भी मलिन कर देती है।

टिप्पणी—(१) व्यास ने 'पातजल योग' के बारहवे सूत्र के भाष्य मे कहा है कि चित्त मे दो प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं—पराङ्मुखी प्रवृत्ति और प्रत्यङ्मुखी प्रवृत्ति।

'चित्तनदीनामोभयतोवाहिनी। वहति कल्याणाय, वहति पापाय च। या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेक-विषय-निम्ना सा कल्याणवहा, ससार-प्राग्भाराऽविवेक विषय निम्ना पापवहा।'

भाव यह है कि सामान्यतया नदियाँ केवल ऊपर से नीचे की ओर बहती है, किन्तु चित्त रूपी नदी विचित्र है। वह बाहर-भीतर दोनो ओर बहनेवाली है। वह प्रत्यगात्मा की ओर भी बह सकती है और पराङ्मुखी विषयो की ओर भी। उसके

पराङ्मुखी विषयो की ओर बहने का फल होता है--जन्म, मरणादि दु.ख। जब वह विवेक-मार्ग की ओर ढलती हुई कैवल्य पर्यन्त वहती है तो 'कल्याणवहा' कहलाती है और जब संसाराभिमुख होकर अविवेक-मार्ग पर ढलती हुई भोगपर्यन्त बहती है, तब वह 'पापवहा' कहलाती है।

(२) प्रस्तुत पद मे कबीर ने जो कहा है, उससे मिलता-जुलता भाव सूरदास के निम्नलिखित पद मे मिलता है :--

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा-सब्द-रसाल।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असगत चाल।
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेटा बाँधौ, लोभ-तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई, जल-थल सुधि नहि काल।
सूरदास की सबै अबिद्या, दूरि करौ नंदलाल॥

(३) मदंल—मृदंग जाति का एक अवनद्ध (चमडे से मढ़ा हुआ) वाद्य।

(४) रवाब—एक प्रकार का तन्त्री-वाद्य।

अलकार—रूपकातिशयोक्ति, विरोधाभास।

राग—गौरी।

(३३२)

हरि कौ नाउँ तत त्रिलोक सार,
लैलीन भये जे उतरे पार॥ टेक॥
इक जंगम इक जटाधार, इक अंग बिभूति करै अपार।
इक मुनियर इक मनहुँ लीन, ऐसैं होत होत जग जात खीन।
इक आराधैं सकति सीव, इक परदा[1] दे दे बधैं जीव।
इक कुल देवो[2] कौं जपहि जाप, त्रिभुवनपति भूले त्रिबिध ताप।
अन्नहिं[3] छाँडि इक पिवहिं[4] दूध, हरि न मिलै बिन हिरदै सूध।
कहैं कबीर ऐसैं बिचारि, राम बिना को उतरे पार॥

शब्दार्थ—तत = तत्व। लैलीन = लौलीन। जंगम = दाक्षिणात्य लिंगायत शैव सम्प्रदाय। ये लोग शिवलिंग धारण करते है। जटाधार = जटाधारी। विभूति =

१. ना० प्र० पड़दा। २. ना० प्र०—देव्याँ। ३. ना० प्र०—अनहिं। ४ ना० प्र०—पीवहिं।

राख। मनहुँ = मन मे ही लीन अर्थात् मौनव्रती। खीन = क्षीण। सकति = शक्ति। परदा = छिपकर। सूध = शुद्ध।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे बाह्याचार की निरर्थकता बताते हुए प्रभु-भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि तीनो लोको में प्रभु का नाम-स्मरण ही सार-तत्व है जो उस नाम-जप मे लीन रहते है, वे भव-सागर से पार हो जाते है।

बाह्याचार निरर्थक है। उससे लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकती। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए वह कहते है कि जंगम सम्प्रदाय के लोग शिवलिंग धारण करते है, कुछ लोग जटाएँ बढ़ाते है, कुछ लोग शरीर पर खूब भस्म लगाते हैं, कुछ ऐसे मुनि होते है जो मन मे ही लीन रहते है अर्थात मौनव्रती होते हैं। इसी प्रकार के बाह्याचारो मे संसार नष्ट हो रहा है। कुछ लोग शिव और शक्ति की आराधना करते है, कुछ लोग प्रभु-भक्त होने का दम्भ करते है, किन्तु छिपकर जीव-वध करते है, कुछ लोग कुलदेवी की उपासना में लगे रहते है। सारांश यह है कि लोग तीनो लोको के स्वामी को भूल जाते है और त्रिताप से ग्रस्त रहते है। कुछ लोग अन्न छोड़कर केवल दूध पीते है। किन्तु इन बाह्याचारो से सिद्धि नही प्राप्त हो सकती। जब तक हृदय शुद्ध नही है, तब तक प्रभु से मिलन नही हो सकता। कबीर विचार कर यह कहते है कि प्रभु-भक्ति के बिना भव-सागर से पार जाना संभव नही है।

तुलनीय—
सूधे मन सूधे वचन सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुबर प्रेम प्रसूति॥
—तुलसी, दोहावली।

अलंकार—अंतिम पंक्ति मे वक्रोक्ति।

राग—वसंत।

(३३३)

हरि जननी मै बालक तेरा[१]।
काहे न अवगुन[२] बकसहु मेरा[३] ॥टेक॥
सुत अपराध करत[४] है केते, जननी के चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करै जौ घाता, तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर इक[५] बुद्धि विचारी, बालक[६] दुखी दुखी महतारी॥

१. गुप्त—तोरा २. ना० प्र०, गुप्त—औगुण। ३. गुप्त-मोरा। ४. ना० प्र०, गुप्त—करै दिन। ५. ना० प्र०, गुप्त-एक बुधि ६, गुप्त-बालिक।

शब्दार्थ—अवगुन=अपराध, विकार, बुराइयाँ। बकसहु (फा०)=क्षमा करो। केते=कितने। घाता=घात, चोट। हेत=स्नेह।

व्याख्या—हे प्रभु ! तुम मेरी माँ के सदृश हो और मैं तुम्हारा बालक हूँ। मेरे अवगुणो को तुम क्यो नही क्षमा करते हो ? बालक न जाने कितने अपराध करता है, किन्तु जननी उसे अपने चित्त मे स्थान नही देती। यदि बालक माँ के केश पकडकर चोट करता है, तब भी माँ उसके प्रति स्नेह मे कमी नही करती। कबीर बुद्धि से विचार करके कहते है कि यदि बालक को कष्ट होता है तो माँ भी दुःखी होती है।

टिप्पणी—(१) तुलसीदास ने भी कहा है—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥

(२) **अलंकार**—काहे न अवगुन बकसहु मेरा—वक्रोक्ति।

(३) **राग**—गौरी।

(३३४)

हरिजन हंस दसा लिएं[1] डोलै।
निरमल नांव चुनैं[2] जस बोलै॥टेक॥
मांन सरोवर तट के बासी, रांम चरन चित आंन[3] उदासी।
मुकताहल बिनु[4] चंचु न लावै, मौनि गहै[5] कै हरि गुन गावै।
कउवा[6] कुबुधि निकट नहिं[7] आवै, सो[8] हंसा निज दरसन पावै।
कहै कबीर सोई जन तेरा[9], खीर[10] नीर का करै निबेरा।

शब्दार्थ—हरिजन=प्रभु के भक्त। हंस दसा = शुद्धात्मा या माया से मुक्त स्थिति। आन = अन्य। चंचु = चोच। मुकताहल = मोती, मुक्ताफल। खीर = क्षीर, दूध। निबेरा = अलगाव। निज दरसन = आत्म-साक्षात्कार।

व्याख्या—इस पद मे कबीर ने माया से मुक्त, शुद्ध चित्त, प्रभु के सच्चे भक्त का वर्णन किया है।

वह कहते है कि भगवान् का सच्चा भक्त शुद्धात्मा की स्थिति मे पहुँचकर विचरता है, व्यवहार करता है। जिस प्रकार हस साधारण वस्तुओ को ग्रहण नहीं

१. गुस-लाये। २. ना० प्र०, गुस-चवे, वि०—चुनी चुनि, शु चुनि चुनि ४. बीजक की प्रतियों में दूसरी-तीसरी पंक्तियों का क्रम उलटा है। ३. शु०, वि०—अन्त। ४. शु०, वि०—लिए चोंच लोभावै। ५. शु०, वि०—की हरि-जस गावैं ६. वि०—कागा। ७ ना० प्र०, गुस-नही। ८. शु०, वि०—प्रतिदिन हंसा दरसन पावै। ९. शु० वि०—मेरा। १०. शु०, वि०—नीर-क्षीर।

करता, केवल स्वच्छ, शुद्ध मोती ग्रहण करता है, उसी प्रकार प्रभु का शुद्धात्मा भक्त राम के स्वच्छ नाम का उच्चारण करता है और उनकी कीर्ति का गुणगान करता है। जिस प्रकार हंस केवल मानसरोवर के तट पर ही रहता है, अन्यत्र नही जाता, उसी प्रकार प्रभु के सच्चे भक्त का शुद्ध चित्त मे ही वास रहता है अर्थात् उसका चित्त ज्ञान और भक्ति मे ही रमता है। उनका चित्त सदैव राम के चरणों में ही रत रहता है, अन्य वस्तुओं के प्रति वह तटस्थ रहता है। जिस प्रकार हंस मुक्ताफल के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में चोच भी नही लगाता, उसी प्रकार प्रभु का भक्त ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु मे अपना चित नही लगाते। वह या तो मौन रहता है अथवा प्रभु का गुणगान करता रहता है। कुबुद्धि रूपी काग उस मुक्तात्मा रूपी हंस के पास नही फटकने पाता। ऐसा शुद्धात्मा विवेकी भक्त ही आत्म-साक्षात्कार का लाभ पाता है। जिस प्रकार सच्चा हंस वही माना जाता जाता है जो नीर-क्षीर का विवेक कर पाता है, उसी प्रकार प्रभु का सच्चा भक्त वही है जो सत्-असत्, नित्य-अनित्य, शुभ-अशुभ का विवेक कर सकता हो। ऐसा ही शुद्धात्मा प्रभु का सच्चा भक्त होता है।

अलंकार—(१) पूरे पद में सांग रूपक।
(२) 'मान सरोवर' में श्लेप।
(३) 'कउवा कुबुधि' मे रूपक।

टिप्पणी—(१) 'हंस' 'अहं सः' का संक्षिप्त रूप है। इसमे 'अ' और 'सः' के विसर्ग का लोप हो गया है। 'अहं सः' का तात्पर्य है—जीव में इस ज्ञान का होना कि मैं ब्रह्म हूं। मेरी चेतना भागवती है।
(२) यहाँ पर 'मानसरोवर' ब्रह्मरंध्र के शून्य शिखर का प्रतीक है।
(३) तुलनीय—

जड चेतन गुन दोप मय, विस्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुन गहहि पय, परिहरि वारि विकार॥

—तुलसी

राग—भैरव।

(३३५)

हरि ठग जगत[1] ठगौरी लाई।
हरि[2] के वियोग कैसे जियौं[3] मेरी माई॥ टेक॥

१. ना० प्र०—जग कौं। २. शुक०, वि०—हरि वियोग कस जियहु रे भाई। ३. ना० प्र०—जीऊँ।

कौन[1] पुरिख को काकी नारी, अभिअंतरि तुम्ह लेहु बिचारी।
कौन पूत को काकौ बाप, कौन[3] मरै को सहै संताप।
कहै कबीर ठग सौं मन मांना, गई ठगौरी ठग[4] पहिचाना॥

शब्दार्थ—ठगौरी = भ्रम मे डालने वाली क्रिया या चतुराई। अभिअतरि = अभ्यंतर, भीतर। संताप = कष्ट।

संदर्भ—प्रभु की माया के कारण जीव भ्रम मे पड़ा रहता है। वह संसार की स्थिति को समझ नही पाता है। इसी तथ्य का वर्णन प्रस्तुत पद मे किया गया है।

व्याख्या—भगवान् ऐसे विचित्र ठग है कि उन्होने अपनी ठगी की क्रिया से अर्थात् अपनी माया द्वारा जगत् को आच्छादित कर रखा है। परिणामस्वरूप बेचारे जीव को यह पता ही नही चलता कि इसी जगत् मे हरि ओतप्रोत है। माया के कारण स्वयं हरि हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते है। परन्तु मेरे भीतर एक आध्यात्मिक भूख है। जिस हरि ने अपने को छिपा रखा है, उनको देखे विना मैं कैसे जीवित रह सकता हूँ।

पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि सभी संबंध मायाजन्य है। सांसारिक जीव दिन-रात इसी मे फँसा रहता है। ये सारे भेद शरीर को लेकर है। वस्तुतः आत्मा की दृष्टि से कौन किसका पुरुष है और कौन किसकी नारी है ? कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता ? कौन मरता है और कौन संताप करता है ? अर्थात् जन्म-मरण, शोक आदि शरीर और मन को लेकर है। इस बात को अपने भीतर अच्छी तरह विचार कर देखो। आत्मा न किसी का पिता है, न पुत्र, न पति है, न पत्नी। वह अजर और अमर है, शोकरहित है।

कबीर कहते है कि उस हरि रूपी ठग मे मेरा मन अनुरक्त हो गया है। इसलिए मैंने प्रभु के वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया है और अब उनकी मायिक चतुराई का मेरे ऊपर कोई प्रभाव नही पड़ सकता।

शंकराचार्य ने भी कहा है—

का तव कान्ता कस्ते पुत्रः,
संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्त्वं भो वा कुत आयातः,
तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः॥

अलकार—वक्रोक्ति।

राग—गौरी।

---

१. शुक०–को काको पुरुष कवन काको नारी। २. शुक, वि०–अकथ कथा यम दृष्टि पसारी। ३. शुक, वि०–कोरे। ४. शुक०, वि०–जब ठग।

(३३६)

हरि नांव[1] न जपसि गँवारा।
क्या सोचहि बारंबारा॥ टेक॥
पंच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूटहि दिवसउ[2] संझा।
जउ गढ़पति मुहकम होई, तौ लूटि सकै[3] नां कोई।
अँधियारे दीपक चहिऐ, तब वस्तु[4] अगोचर लहिऐ।
जब वस्तु अगोचर पाई, तब दीपक रह्यौ[5] समाई।
जौ दरसन देखा[6] चहिए, तौ दरपन मांजत रहिऐ।
जब दरपन लागै काई, तब दरसन किया न जाई।
का पढ़िए का गुनिऐं, का वेद पुरांनां सुनिऐं।
पढ़ें गुनें क्या[7] होई, जउ[8] सहज न मिलिऔ सोई।
कहै कबीर मै जांनां, मै जांनां मन पतियांनां।
पतियांनां जौ न पतीजै। तौ अंधे कौं[9] का कीजै॥

शब्दार्थ—पच चोर=काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर। संझा=संध्या। गढ़=दुर्ग (प्र० अ०) शरीर। मुहकम (अ०)=दृढ। दीपक=(प्र० अ०) ज्ञान। अगोचर=(१) जो प्रत्यक्ष नही है (२) परमतत्व जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे है। लहिऐ=प्राप्त कीजिए। दरपन=दर्पण (प्र० अ०) अन्तःकरण। काई=मैल (प्र० अ०) विषय वासना। सहज=(१) चैतन्य, (२) सरलता से। गुनिऐं=चिन्तन-मनन। पतीजै=भरोसा करे। पतियाना=निष्ठा।

व्याख्या—कबीरदास कहते है कि हे अज्ञानी जीव ! तू भगवत् नाम का जप क्यों नही करता है ? तू किस सोच-विचार मे पड़ा हुआ है ? इस शरीर रूपी दुर्ग मे काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर आदि पाँच चोर घुसे हुए है जो रात- दिन तेरे दुर्ग को लूटते है अर्थात् आध्यात्मिक निधि का संचय नही होने देते। इस कारण वह आत्म-स्वरूप मे स्थित नही हो पाता। यदि गढ़ का स्वामी-जीवात्मा दृढ हो अर्थात् इन चोरो से टक्कर ले सके तो ये चोर उसकी निधि को नही लूट सकते। जैसे अँधेरी कोठरी मे रखी कोई वस्तु जो दिखाई न पडती हो तो दीपक द्वारा उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, वैसे ही अविद्या रूपी अधकार के कारण जो परमतत्व अगोचर (अप्रत्यक्ष) है, उसका ज्ञान रूपी दीपक के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है। दीपक ज्ञान-वृत्ति के समान है। जब अगोचर वस्तु अर्थात् परम तत्व, साक्षि-चैतन्य का साक्षात्कार हो

---

१. ना० प्र०–कौ नाव न लेह गँवारा। २. ना० प्र०–दिवस र। ३. ना० प्र०–न सकै। ४. ना० प्र०–वस्त। ५. ना० प्र०–रह्या। ६. ना० प्र०–देख्या। ७. ना० प्र०–मति। ८. ना० प्र०–मैं सहजैं पाया सोई। ९. ना० प्र०–कूँ।

जाता है, तब ज्ञान-वृत्ति का कार्य समाप्त हो जाता है, ज्ञान का ज्ञातृ मे विलय हो जाता है। यही दीपक का समा जाना है।

यदि परमतत्व का साक्षात्कार करना है तो अन्तःकरण रूपी दर्पण को साधना के द्वारा निर्मल रखना चाहिए जिससे वह तत्व हृदय मे सरलता से प्रतिबिम्बित हो सके। जब अन्तःकरण रूपी दर्पण मे विषय-वासना का मैल जम जाएगा, तब साक्षात्कार सभव न हो सकेगा।

पुस्तकों के अध्ययन और चिन्तन-मनन से क्या लाभ ? वेद-पुराणो के श्रवण से भी क्या लाभ हो सकता है ? पढ़ना और मनन करना तो केवल मन की वृत्ति है। इससे केवल नाना प्रकार के विकल्प उदित होते रहते है। वह तो केवल सहज-भाव से ही मिलता है, जहाँ विकल्पो का उपशम हो गया है। और वह है भी स्वरूप मे सहज, स्वाभाविक रूप से विद्यमान। वह न कार्य है, न साध्य। संस्कारो और विषय-वासनाओं के नष्ट होने पर और चंचल मन के लय होने पर उस स्वाभाविक स्थिति का स्वतः अनुभव होता है।

कबीर कहते है कि मैने उस परमतत्व का साक्षात्कार कर लिया है। अतः उसमे मेरी पूर्ण प्रतीति अर्थात् निष्ठा हो गई है। इसी आधार पर मैं उपर्युक्त चेतावनी दे रहा हूँ। यदि निष्ठावान् व्यक्ति पर भी भरोसा न किया जाय तो फिर संसार मे ऐसे अंधे के लिए कोई दूसरा उपाय नही है।

अलंकार—(१) चोर, गढ़, गढ़पति, दीपक आदि मे रूपकातिशयोक्ति।
(२) अगोचर, सहज मे श्लेष।
(३) अगोचर लहिए—विरोधाभास।
(४) का पढिएँ का गुनिएँ—वक्रोक्ति।

राग—सोरठ।

(३३७)

हरि बिन भरमि बिगूचे[1] गंदा।
जापहिं[2] जाउँ आपु[3] छुटकावन ते बांधे[4] बहु फंदा॥ टेक॥
जोगी कहहिं जोग सिधि[5] नीकी और[6] न दूजा भाई।
लुंचित[7] मुंडित मोनि जटाधर एहिं[8] कहहिं सिधि पाई॥
पंडित[9] गुनी सूर कबि दाता एहि कहहि बड़ हमहीं।

---

१. ना० प्र०–विगूते, वि०–विगुरचे। २. वि०–जहँ जहँ गयो अपनपौ खोयो। ३. ना० प्र०–आपनपौ छुड़ावण। ४. ना० प्र०–बांधे, वि०–फँदे। ५. ति०–भल मीठा, वि०–है नीकी। ६. वि०–दुतिया अवर। ७. वि०–चुंडित। ८. ना० प्र०–ए जु, वि०–तिनहुं कहाँ। ९. वि०–ज्ञानी।

जहँ[1] ते उपजे तहँई समाने हरि[2] पद बिसरा जबहीं ॥
तजि[3] बावैं दाहिनैं बिकारा हरि पद दिढ़ करि गहिए।
कहै कबीर गूँगै गुड़ खाया पूछे[4] तैं क्या कहिए॥

शब्दार्थ—बिगूचे (सं० विकुचित)=असमजस मे पड़ जाना। लुचित= केशो को नोचने वाले श्रावक-जैन। मुडित=मूँड मुड़ाए सन्यासी। मोनि=मौनी लोग।

सदर्भ—इस पद मे प्रतिपादित किया गया है कि मोक्ष के लिए प्रभु भक्ति ही सच्चा मार्ग है, अन्य साधन व्यर्थ है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रभु-भक्ति के बिना लोग मलिन भ्रम रूपी असमजस मे पड़ जाते है। मैं अपने मोक्ष के लिए जिसके पास जाता हूँ, उसे स्वय अनेक प्रकार के बंधनों मे फँसा हुआ देखता हूँ।

योगियो का यह दावा है कि उत्तम सिद्धि ध्यान-योग से ही प्राप्त हो सकती है। उसके लिए दूसरा कोई उपाय नही है। विभिन्न सम्प्रदायो के साधक अपने पथ की साधना को ही सिद्धि का एकमात्र उपाय बताते हैं। केश नोचने वाले जैन श्रावक, सिर मुँड़ानेवाले संन्यासी, मौनी और जटाधारी साधु कहते है कि हमने सिद्धि प्राप्त कर ली है। हमारा मार्ग सर्वोत्तम है। विद्वान् शास्त्री, बडे-बड़े तपस्वी, कवि और दानी कहते है कि सबसे बड़े हमी है। किन्तु जिन्होने भगवान् को विस्मृत कर दिया है, वह माया से मुक्त नही हो सकते है। जिस माया से उनका जन्म हुआ है, वे पुन· उसी मे पडते है। अपने चतुर्दिक् विकारों को छोडकर, प्रभु-चरण को दृढता-पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। प्रभुभक्ति से जो स्थिति प्राप्त होती है, वह केवल स्व-सवेद्य है, अकथनीय है। उसका अनुभव किया जा सकता है, वर्णन नही। पूछने पर उसका वर्णन वैसे ही असम्भव हो जाता है, जैसे गूंगे द्वारा गुड के स्वाद का वर्णन सम्भव नही है।

अलंकार—अतिम पक्ति मे दृष्टान्त।

राग—गौरी।

---

१. ना० प्र०-जहा का उपज्या तहां विलाना। २, वि०-छूटि गयल सभ तवही। ३. ना० प्र० में यहाँ दो पॅक्तिया और है—

वार पार की खबरि न जानी, फिर्‍यौ सकल बन ऐस।
यहु मन बोहिथ के कउवा ज्यूँ, रह्यौ ठग्यौ सौ वैसें॥

४. वि०-बाएँ दहिने तजो बिकारा. निजुकै हरिपद गहिया। ५. ना० प्र०- बूझै तौ, वि०-पूछे से का कहिया।

(३३८)

हरि बोलि सुवा बार बार,
तेरी ढिग मिनी[1] कछू करि पुकार ॥ टेक ॥
अंजन मंजन तजि विकार, सतगुर समझायो तत सार ।
साधु संगति मिलि करि बसंत, भौ बंद न छूटै जुग जुगंत ।
कहै कबीर मन भया अनंद, अनंत कला भेटे गोबिंद[2] ॥

शब्दार्थ—सुवा = तोता (प्र० अ०) जीव । मिनी=बिल्ली, मिनकी (प्र० अ०) मृत्यु । वसंत=(प्र० अ०) आनंद । भौ बद=संसार का बँधन ।

सदर्भ—प्रस्तुत पद मे बताया गया है कि प्रभु का स्मरण ही जीवन का सार है ।

व्याख्या—कबीर जीव को सम्बोधित करते हुए कहते है कि हे जीव ! तू प्रभु का निरन्तर स्मरण कर । मृत्यु रूपी बिल्ली तेरे निकट ही उपस्थित है । पता नही कब वह झपट्टा मार दे । अतः तू प्रभु की भक्ति कर । तेरा स्नानादि शृगार सब विकार मात्र है । सद्गुरु ने सारतत्व बता दिया है । उसी को ग्रहण कर । सार तत्व है—प्रभु-स्मरण । सत्संग द्वारा जीवन का आनद प्राप्त करो, अन्यथा भव-बधन युग-युगान्तर तक नही छूटेगा । कवीर कहते है कि अनत कला वाले प्रभु के मिलने पर मन शात हो गया ।

अलकार—प्रथम पक्ति मे रूपकातिशयोक्ति ।

राग—वसंत ।

(३३९)

हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया ।
रांम बड़े मैं तनक लहुरिया ॥ टेक ॥
किएउं सिंगारु मिलन कै ताईं, हरि न मिले जग जीवन गुसाईं ।
घनि पिउ एकै संगि बसेरा, सेज एक पै मिलन दुहेरा ।
धन्नि सुहागिनि जो पिय भावै, कह कबीर फिरि जनमि न आवै ॥

शब्दार्थ—बहुरिया = वहू, पत्नी । तनक = थोड़ी । लहुरिया = छोटी । घनि = स्त्री, पत्नी । ताई = लिए । दुहेरा = कठिन, अप्राप्य ।

व्याख्या—प्रभु मेरे प्रियतम है और मैं उनकी विवाहिता वधू हूँ । मेरे पति वडे है और मैं उनसे थोडी छोटी हूँ । मैंने अपने प्रियतम से मिलने के लिए पूर्ण शृंगार

---

१. ना० प्र०—मींनां । २. ना० प्र० —गोव्यंद ।

किया। किन्तु सारे ससार के जीवन के स्वामी अपने प्रियतम से मिलन न हो सका। आश्चर्य तो यह है कि पति-पत्नी का वास एक साथ ही है, एक सेज पर है, फिर भी दोनो का मिलन नही हो पाता है। कबीर कहते है कि वह सौभाग्यवती धन्य है जो प्रियतम की चहेती है। उसका पुनः जन्म नही होता।

विशेष—इस रूपक में कबीर ने यह दिखलाया है कि प्रियतम परमात्मा अंशी है और प्रिया जीव अंश हे। अशी अश से बड़ा होता है, किन्तु दोनो में भेद नही होता। सागर और तरंग जल रूप से एक ही है। किन्तु सागर तरग से बहुत बड़ा होता है। इसी भाव को कबीर ने 'राम बडे मैं तनक लहुरिया' द्वारा व्यक्त किया है।

यह बहुरिया सासारिक श्रृंगार मे ही लगी रही अर्थात् जीव तीर्थ, व्रत, मदिर, काबा आदि बाह्य अनुष्ठानो द्वारा प्रभु को प्रसन्न करने मे लगा रहा। किन्तु इनके द्वारा प्रभु से मिलन नही होता।

यद्यपि अन्तर्यामी प्रभु और जीव दोनो का निवास एक ही शरीर में है, किन्तु दोनो का मिलन नही हो पाता। कबीर कहते है कि यदि इन दोनो का मिलन हो जाय तो पुनः जन्म नही होता।

अलंकार—(१) पूरे पद में रूपकातिशयोक्ति।
(२) सेज एक पै मिलन दुहेरा—विरोधाभास।
(३) धनि-धन्नि—यमक।

राग—गौरी।

(३४०)

हरि रंग लागा हरि रंग लागा।
मेरै मन का संसै भागा॥ टेक॥
जब हम रहलीं हठिल दिवांनी तब पिय मुखां न बोला।
जब दासी भई खाक बराबरि साहिब अंतर खोला॥
सांचे मन तैं साहिब नेरै झूठै मन तैं भागा।
हरिजन हरि सौं ऐसे मिलिया जस सोनै संग सुहागा॥
लोक लाज कुल की मरजादा तोरि दियौ जस धागा।
कहै कबीर गुर पूरा पाया भाग हमारा जागा॥

शब्दार्थ—रंग = प्रेम। संसै = सदेह, सशय। हठिल = हठ करने वाली, मानिनी। मुखा = मुख से। गुर = रहस्य।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मेरा मन प्रभु के प्रेम मे अनुरक्त हो गया है।

अतः मेरे मन के सभी संशय समाप्त हो गए है। जब तक मेरे मे आपापन था, मैं अपने को अलग मानने का हठ किए हुए था, तब तक प्रिय मुझसे बोले तक नही। जब मैंने आपापन छोडकर, अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया, तब उन्होने मेरे अंतर का पर्दा खोल दिया। प्रभु से मिलन सच्चे प्रेम से ही सभव है। वह कृत्रिम पूजा-पाठ से अलग रहते हैं। हरि का वास्तविक भक्त उनसे उसी प्रकार पूर्णरूप से मिल जाता है जैसे सोने मे सुहागा मिल जाता है। कबीर कहते है कि मैंने समस्त सासारिक सम्बंधों की सीमाओ को तागे के समान तोड डाला और तब मेरे हृदय मे पूर्ण रूप से रहस्य का उद्घाटन हो गया और हमारा भाग्य जग गया, प्रभु से मिलन हो गया।

अलकार—उपमा।

राग—सोरठ।

(३४१)

हरि हिरदै रे अनत कत चाहौ,
भूलै भरम दुनीं कत बाहौ ॥ टेक ॥
जग परबोधि होत नर खाली, करते उदर उपाया।
आतमराम न चीन्हैं संतौ, क्यूं रमि लै रामराया ॥
लागै प्यास नीर सो पीवै, बिन लागै नहिं पीवै।
खोजै तत्त मिलै अविनासी, बिन खोजै नहिं जीवै ॥
कहैं कबीर कठिन यह करनीं, जैसी षंडे धारा।
उलटी चाल मिलै परब्रह्म कौं, सो सतगुरू हमारा ॥

शब्दार्थ—अनत = अन्यत्र। बाहो = खोजते हो। परबोधि = उपदेश देकर। तत्त = तत्व, सार। षडे = खड्ग, तलवार।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने बतलाया है कि जो भौतिकता से विमुख होकर प्रभु की ओर उन्मुख होता है, वह उन्हे अपने भीतर ही पा लेता है।

व्याख्या—प्रभु हृदय में ही विद्यमान है। तुम भ्रम मे भूले हुए उन्हे अन्यत्र ससार मे कहाँ खोजते हो ? प्रायः लोग संसार को ज्ञान का उपदेश देते है। किन्तु वे स्वयं ज्ञानरहित है। उनका उपदेश देना केवल उदर पोषण का धधा है। वे अन्तः विद्यमान राम को पहचानते नही। वह राजा राम मे किस प्रकार तन्मय हो सकते है ? जिसको प्यास लगती है, वही जल पीता है। जिसे प्यास नही है, वह जल क्या पीएगा ? अर्थात् जिसके भीतर प्रभु के लिए तीव्र वेदना है, वही उसकी खोज करेगा, दूसरा नही। वह अविनाशी तत्व खोजने से अपने भीतर ही मिल जाता है। जिसके अन्तर मे प्रभु-मिलन की उत्कण्ठा पैदा हो गई है, वह बिना खोजे जीवित ही नही रह

सकता। कबीर कहते है कि यह साधना बहुत ही कठिन है, तलवार की धार पर चलने के समान है। जो भौतिकता से पराङ्मुख होकर प्रभु की ओर उन्मुख होता है, वह परब्रह्म को प्राप्त होता है। ऐसा ही व्यक्ति हमारा गुरु है।

अलंकार—(१) क्यूं रमि लै रामराया—वक्रोक्ति।
(२) लागै प्यास……पीवै—दृष्टान्त।
(३) जैसी षडे धारा—उपमा।

राग—रामकली।

(३४२)

हिंडोलनाँ तहाँ झूलै आतम राँम।
प्रेम भगति हिंडोलनाँ, सब संतनि को बिसराम[1] ॥ टेक ॥
चंद सूर दोइ खंभवा, बंक नालि की डोरि।
झूलें पंच पियारियाँ, तहँ झूले जीय मोर॥
द्वादस गम के अंतरा, तहाँ अमृत कौ ग्रास।
जिनि यह अमृत चाखिया, सो ठाकुर हँम दास॥
सहज सुंनि कौ नेहरौ, गगन मंडल सिरिमौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जो हम झूलैं हिंडोल॥
अरध उरध की गंगा जमुना, मूल कँवल कौ घाट
षट चक्र की गागरी, त्रिवेणी संगम बाट॥
नाद विंद[2] की नाव री, राँम नाँम कनिहार।
कहै कबीर गुन[3] गाइ ले, गुरगमि उतरौ पार॥

शब्दार्थ—हिंडोलना=झूला। आतम राम=शुद्ध चैतन्य। चद=(प्र० अ०) इडा। सूर = सूर्य (प्र० अ०) पिगला। ग्रास=आहार। बंक नालि=सहस्रार के नीचे कपाल-कुहर से होकर तालु तक एक विस्तृत वक्रनाल है, जिसके द्वारा सोमरस टपकता है। पच पियारियाँ=पंच प्राण (प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान)। द्वादस गम को अतरा = हृदय से बारह अगुल की पहुँच पर अर्थात् सहस्रार। तंत्रो के अनुसार हृदय से बारह अगुल के अतर पर सहस्रार मे चित्त की स्थिति होती है। तंत्रों मे इसे 'शिव द्वादशान्त' कहते है। सहज सुनि=वह सहजावस्था जो सभी दृश्य पदार्थो से रहित है, सब ज्ञेय से परे है। नैहरौ=नैहर, पितृगृह। गगन मंडल=सहस्रार। आगरी= श्रेष्ठ। दोऊ कुल=पितृकुल व श्वशुरकुल, (प्र० अ०) इहलोक व परलोक। अरध= अधर, नीचे। उरध = ऊर्ध्व, ऊपर। मूल कवँल = मूलाधार चक्र। त्रिवेणी=आज्ञा चक्र

१. ना० प्र०–विश्राम। २. ना० प्र०–व्यंद। ३. ना० प्र०–गुण।

(इडा-पिंगला-सुषुम्ना का सगमस्थल)। नाव = नौका। कनिहार = कर्णधार। गुर-गमि = गुरु के रहस्य-ज्ञान से।

संदर्भ—प्रस्तुत पद मे हिंडोलना के रूपक द्वारा कबीर यह बतलाते है कि शरीर के भीतर प्रेम-भक्ति के झूले मे आत्मा रूपी राम पच प्राण के साथ आनंद मना रहे है। इसी के दूसरे अंश मे यह बताया गया है कि जीवात्मा मूलाधार से यात्रा करता हुआ आज्ञाचक्र के संगम को पार करके ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है, तब अमृत का पान करता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि प्रेमाभक्ति रूपी एक झूला है जिसमे आत्मा रूपी राम अर्थात् शुद्ध चैतन्य झूल रहे है। वही प्रेमाभक्ति सभी संतो के लिए विश्राम-दायिनी है। झूले का विवरण देते हुए वह कहते है कि उसमे इडा-पिंगला के दो खंभे लगे है और वक्रनालि की डोरी है। इस झूले मे पंचप्राण के साथ जीवात्मा आनद ले रहा है। हृदय से ऊपर बारह अंगुल के अतर पर (जिसे द्वादशान्त कहते है) सहस्रार है, वही पर अमृत का आहार उपलब्ध है। जिसने इस अमृत का रसास्वादन किया है, उसे हम सिद्ध मानते है। वही स्वामी है, मै उसका दास हूँ। गगन-मंडल मे जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमे विद्यमान् सहजशून्य ही मेरा नैहर है। यदि हम इस आध्यात्मिक झूले पर झूल सके तो हमारे दोनो कुल—पितृकुल और श्वशुरकुल अर्थात् इहलोक और परलोक श्रेष्ठ हो जाएँगे।

इसी आध्यात्मिक स्थिति को अब नदी के रूपक द्वारा स्पष्ट करते हुए वह कहते है कि इडा-पिंगला जो एक दूसरे के ऊपर होती हुई सुषुम्ना मार्ग से जाती है, वही गगा-यमुना नदियाँ है, मूलाधार चक्र ही घाट है, जहाँ से आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ होती है। मानव शरीर मे नाद-बिन्दु की प्रतीकात्मक कुण्डलिनी वह नौका है जिस पर जीवात्मा रूपी यात्री षट्चक्रो के सारतत्व (गगरी) को ग्रहण करते हुए आज्ञाचक्र रूपी त्रिवेणी पर पहुँचता है। राम की भक्ति ही इस नौका का कर्णधार है। कबीर कहते है कि गुरु के रहस्य-ज्ञान से राम का गुण गाते हुए भव-सागर से पार हो जाओ।

टिप्पणी—

(१) **अरध-उरध**—इड़ा-पिंगला नाडियाँ सुषुम्ना के ऊपर एक दूसरे के ऊपर से होती हुई, आज्ञाचक्र मे सुषुम्ना से मिलती है।

(२) **नाद-बिंदु**—ब्रह्म की सृष्टि-उन्मुखता के उल्लास के स्पन्द को नाद कहते है। यह ज्योति और ध्वनि दोनों की अव्यक्त अवस्था है। इसी नाद को परावाक्,

परावाणी, कुल-कुण्डलिनी, मातृका आदि भी कहते हैं। शैवागम में इसी नाद को आत्ममाया, महामाया, योगमाया आदि भी कहा गया है। कहीं-कहीं पर इसे परा-संवित और प्रतिभा भी कहा गया है। यह एक शक्ति है। जब यह घनीभूत होती है, तब बिंदु के रूप में व्यक्त होती है। इसी बिंदु मे सारी सृष्टि समाविष्ट है। जैसे मनुष्य के 'बिंदु' में शरीर के सभी अवयव संभाव्य रूप मे निहित रहते हैं, उसी प्रकार 'बिंदु' में सारी सृष्टि सम्भाव्य रूप मे निहित रहती है।

अलंकार—साग रूपक।

राग—गौरी।

(३४३)

है कोई गुरु[1] ग्यांनीं जगत महि उलटि वेद बूझै।
पनिआँ महि पावक जरै अंधे[2] आंखिन सूझै॥ टेक॥
गाइ नाहर खाइओ हरिनि[3] खायो चीता।
काग[4] लंगर फांदिया[5] वटेरै बाज जीता॥
मूस तौ मंजार खायो स्यारि खायो स्वांनां।
आदि कौ उदेस[6] जांनै तासु[7] वेस[8] वांनां॥
एक[9] ही दादुल खायो पाँच हूँ भुवंगा।
कहै[10] कबीर पुकारि कै हैं दोउ एक संगा॥

शब्दार्थ—पानियां=जल (प्र० अ०) प्रपच। पावक=अग्नि (प्र० अ०) आध्यात्मिक ज्ञान। गाइ = गौ (प्र० अ०) अविद्या। नाहर = सिंह (प्र० अ०) जीव। हरिनि = मृग (प्र० अ०) तृष्णा। चीता = (प्र० अ०) सतोष। काग = कौआ (प्र० अ०) अविवेक। लंगर = एक शिकारी पक्षी (प्र० अ०) विवेक। फांदिया = फँसा लिया। वटेरै = वटेर (प्र० अ०) अज्ञान। बाज = (प्र० अ०) ज्ञान। मूस = चूहा (प्र० अ०) विषयासक्ति। बिलाव = मार्जार (प्र० अ०) बुद्धि। स्यारि = शृगाल (प्र० अ०) संकल्प-विकल्प। स्वाना = कुत्ता (प्र० अ०) निर्विकल्प। आदि = आत्मतत्व। उदेस = उपदेश। वेस वाना = वेश भूषा। दादुल = मेंढक (प्र० अ०) भ्रम। पांच भुवंगा = पाँच सर्प (प्र० अ०) पच ज्ञानेन्द्रियाँ।

---

१. ना० प्र०—जगत गुर ग्यांनीं। २. वि०—अँधहि आँखि न, ना० प्र०—अँधरे को सूझै। ३. ना० प्र०—काटि काटि अंगा। ४. ना० प्र०—कागिल गर फाँदिया। ५. वि०—फादिकै। ६. ना० प्र०—आदेस करत, वि०—ऊ देस। ७. ना० प्र०—कहै कबीर ग्यांनीं। ८. तिवारी-बीस। ९. ना० प्र०—एकनि। १०. ना० प्र० में अंतिम-पक्ति नहीं है।

संदर्भ—मानव मन मे परस्पर विरोधी वृत्तियाँ विद्यमान है। दुःख इस बात का है कि उच्च कोटि की वृत्तियो पर निम्न कोटि की वृत्तियों का अधिकार है। संकेत इस बात का है कि उच्चकोटि की वृत्तियों का अधिकार होने पर ही मानव का कल्याण हो सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि क्या संसार मे कोई ऐसा ज्ञानी गुरु है जो इस उलटे वेद (ज्ञान) को समझता हो। इसी ज्ञान का वर्णन करते हुए वह कहते है कि संसार रूपी प्रपंच (पानी) मे ज्ञान का तेज (अग्नि) भस्म होता चला जा रहा है और अज्ञानी (अंधे) ज्ञानी होने का दावा करते है।

अविद्या (गाय) ने जीव (सिंह) को ग्रस लिया है और तृष्णा (हरिन) ने संतोष (चीता) को खा डाला है। अविवेक (काग) ने विवेक (शिकारी पक्षी) को फंसा रखा है और अज्ञान (बटेर) का ज्ञान (बाज) पर अधिकार हो गया है। विषयासक्ति (मूस) ने बुद्धि (बिलाव) को भ्रष्ट कर डाला है। संकल्प-विकल्प (सियार) ने निर्विकल्प (श्वान) को दबा लिया है। जो आत्म-तत्व के उपदेश को ग्रहण करता है, उसी योगी का वेश-बाना शोभा देता है। (कही-कही पर 'उदेश' के स्थान पर 'ऊ देस' पाठ मिलता है। इसका अर्थ होगा—अपना वास्तविक देश—निज पद अर्थात् आत्म-तत्व को जो अपना वास्तविक देश समझता है, उसका वेश-बाना सच्चा है)।

कबीर कहते है कि एक मात्र भ्रम (दादुर) ने पंच ज्ञानेन्द्रियों (भुवंगों) को नष्ट कर डाला है। ऊपर गिनाई गई परस्पर विरोधी वृत्तियो का स्थान एक ही है—मानव मन।

अलंकार—(१) विरोधाभास।
(२) अतिम पंक्ति मे व्यतिरेक।

राग—रामकली।

(३४४)

है कोई संत सहज सुख अंतरि[1] जाकौं जप तप देउं दलाली।
एक बूंद भरि देइ रांम रस ज्यूं मदु[2] देइ कलाली॥ टेक॥
काया कलाली लाहनि मेलेउँ[3] गुरु[4] का सबद गुड़ कीन्हा।
त्रिसनां[5] कांम क्रोध मद मतसर काटि काटि कस[6] दीन्हां॥

---

१. ना० प्र० उपजै। २. ना० प्र०—मरि। ३. ना० प्र०—करिहू। ४. ना० प्र०—गुरू। ५. ना० प्र०—कांम क्रोध मोह मद मंछर। ६. तिवारी—कसि।

भवन चतुरदस भाठी पुरई ब्रह्म अगिनि[1] परजारी।
मुद्रा[2] मदन[3] सहज धुनि लागी[4] सुखमन पोतनहारी॥
नीझर झरै अमीरस निकसै इहिं[5] मद रावल छाका।
कहै कबीर यहु बास विकट अति ग्यांन गुरू लै बांका॥

शब्दार्थ—सहज = आत्मा का स्वाभाविक चिदानद स्वरूप। अंतरि = भीतर मे। दलाली = मध्यस्थता का पारिश्रमिक। मदु = शराब, मदिरा। कलाली = कलवारिन, मदिरा बनाने और पिलाने वाली। लाहनि>लाहन = वह पदार्थ जिससे खमीर उठाकर मदिरा बनाई जाती है। कस = मदिरा मे तीखापन लाने के लिए डाला गया पदार्थ। पुरई = निर्मित किया। परजारी = प्रज्वलित किया। मदन = (१) मोम (२) प्रेम। सुखमन = सुषुम्ना। पोतनहारी = ठंडक लाने के लिए गीला कपडा लगाने वाली भपके की नली। नीझर = निर्झर, झरना। अमीरस = अमृतरस। रावल = राजा, सरदार (प्र० अ०) जोवात्मा। बास = गध। विकट = तीक्ष्ण। बाका = विरला।

संदर्भ—यहाँ कबीर ने मदिरा के रूपक द्वारा सहस्रार से झरते हुए अमृत रस के पान करने का चित्र अकित किया है। इस सम्बंध मे उन्होंने मदिरा बनाने की पूरी प्रक्रिया का उल्लेख किया है। मदिरा बनाने वाले को कलाल या कलाली (कलवारिन) कहते है। वह गुड़ की शराब बना रही है। शराब बनाते समय खमीर उठाने के लिए जो पदार्थ डाला जाता है उसे 'लाहन' कहते है। उसमे तीखापन लाने के लिए जो पदार्थ डाला जाता है, वह 'कस' कहलाता है। शराब तैयार करने के लिए एक भाठी या भट्ठी तैयार की जाती है, जिस्मे ईंधन द्वारा आग प्रज्वलित की जाती है। उस भाठी के ऊपर भभका रखा जाता है, जिसमे मदिरा बनाने की सामग्री रहती है। उस भपके के मुख को कार्क से बद कर देते है। कार्क मे एक छिद्र रहता है, जिसमे एक नली लगाते है। कार्क के छिद्र को पूरी तरह बद करने के लिए नली के चारों ओर मोम लगा देते हैं, जिससे भाप बाहर न निकल सके। नली के ऊपर एक गीला कपड़ा लपेटते है और उसे पानी से भिगोते रहते है, जिससे भपके से निकलनेवाली भाप शीतल द्रव बनकर नली के नीचे रखे हुए पात्र मे मद्य के रूप मे गिरती रहती है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि क्या कोई ऐसा सिद्ध संत है जो अन्तस् मे विद्यमान सहज (स्वाभाविक) आनद को जाग्रत कर सके। मैं ऐसे संत को अपने जप, तप आदि साधनों को दलाली के रूप मे देने को प्रस्तुत हूँ। जिस प्रकार मदिरा पिलाने

---

१. ना० प्र०–अगनि। २. ना० प्र०– मूँदे। ३. तिवारी–मदक। ४. ना० प्र०–उपजी। ५. ना० प्र०–तिहि।

वाली मद्य पिलाकर मस्त कर देती है, उसी प्रकार यदि कोई संत राम-रस की एक बूंद मुझे दे तो मैं उसका बहुत अनुगृहीत रहूँगा।

उस मदिरा रूपी राम रस को तैयार करने के लिए मैं कलाली को लाहन के रूप में अपनी काया देने को प्रस्तुत हूँ। उसमें 'गुरु' के शब्द को गुड़ के रूप में डालूंगा। अपने भीतर विद्यमान तृष्णा, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि विकारों को मैं कस के रूप में डालूंगा। शरीर में विद्यमान स्थूल-सूक्ष्म कोषों से भाठी निर्मित करूँगा और ब्रह्म-ज्ञान रूपी अग्नि से उस भाठी को प्रज्वलित करूँगा। प्रेम रूपी मोम से भपके के छिद्र को अच्छी तरह बंद कर दूँगा। सुषुम्ना नाड़ी (नली) में अनाहत नाद की सहज ध्वनि उत्पन्न होगी और भीतर कपाल कुहर के झरने से अमृत रस झरेगा। उसी मदिरा को जीवात्मा रूपी रावल पीकर तृप्त हो जाएगा। इस मदिरा की गंध बहुत तीक्ष्ण है। कोई विरला ज्ञानसिद्ध पुरुष ही इस मदिरा को सहन करने की क्षमता रखता है।

टिप्पणी—

(१) **सहज**—अन्तस् में विद्यमान आत्मा की स्वाभाविक चिदानंद स्थिति।

(२) **भवन चतुरदस**—यहाँ 'चौदह भुवन' को व्यस्त रूप में नहीं नहीं लेना है, बल्कि समस्त रूप में, लाक्षणिक अर्थ में, शरीर के भीतर जो स्थूल और सूक्ष्म कोष विद्यमान हैं, उसी अर्थ में लेना है।

(३) **ब्रह्म अगिनि**—ज्ञान की अग्नि। गीता में भी ज्ञान को अग्नि कहा गया है—ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

(४) **'मदन'** शब्द में श्लेष है। इसका एक अर्थ है—प्रेम और दूसरा अर्थ है—मोम। इसमें व्यञ्जना यह है कि ज्ञान की अग्नि तो प्रज्वलित होगी ही, साथ में प्रेम या भक्ति की भी आवश्यकता होगी, जिससे उस अग्नि द्वारा निकली भाप को रोका जा सके।

तुलनीय—

ईकीस ब्रह्मंड भाठी चिगावैं, पीवत सदा मतिवालं,
मनसा कलालिनि भरि भरि देवै आछा आछा मद नां प्यालं ॥ टेक ॥

अमृत दापी भाठी भरिया, ता मधै गुड़ झकोल्या।
मन महुवा तन धातुवा, वनासपती अठारै मोल्यां ॥ १ ॥

भ्रमर गुफा मैं मन थरि ध्यावै, बैस्या आसण वाली।
चेतनि रावल यह भरि छाक्या, जुग जुग लागी ताली ॥ २ ॥

तृकुटी संगम कूपा भरिया, मद नीपज्या अपारं।
कुसमल होता ते झड़ि पड़िया, रहि गया तहाँ तत सारं ॥ ३ ॥

—गोरखवानी, पद २८

अलंकार—वक्रोक्ति, श्लेष, सांग रूपक, व्यतिरेक।

राग—रामकली।

(३४५)

है साधू संसार मैं कँवला जल मांहीं।
सदा सरबदा संगि रहै जल परसत नांहीं ॥ टेक ॥
जल केरी ज्यौं कुकुही जल मांहि रहाई।
पांनीं पंख लिपै नहीं कछु असर न जाई ॥
मींन तलै जल ऊपरै कछु लगै न भारा।
आड़ अटक मांनै नहीं पौंड़ै जलधारा ॥
जैसै सीप समंद मैं चित देइ अकासा।
कूर्म[1] कला है खेलही तस साहेब दासा ॥
जुगति जंबूरै पाइया बिसहर लपटाई।
वाकौ बिख व्यापै नहीं गुरगंमि सो पाई ॥
षट रस भोजन बिजना बहु पाक मिठाई।
जिम्या लेस लगै नहीं उनकै चिकनाई ॥
बांबी मै बिसहर बसै कोई पकरि न पावै।
कहै कबीर कोई गारड़ू तापैं सहजैं आवै ॥

शब्दार्थ—कँवला = कमल। कुकुही = जलमुर्गी। लिपै = लिप्त। तलै = तैरती है। आड-अटक = विघ्न-बाधा। पौंड़ै=तैरती है। जंबूरै = मदारी। बिसहर= विषधर, सर्प। जुगति = युक्ति। गुरगमि = रहस्य का ज्ञान। बिजना = व्यंजन। पाक = पकवान। गारडू = गारुड़ि, सर्प का मंत्र जाननेवाला।

व्याख्या—इस पद में कबीर संतो का लक्षण बताते हुए कहते है कि वे संसार रूपी जल मे कमलवत् रहते है। उन पर विषयो का कोई प्रभाव नही पड़ता। इसे कबीर ने कई दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया है।

संत संसार में उसी प्रकार रहते है जैसे कमल जल मे। जिस प्रकार सदा जल में रहते हुए भी कमल-पत्र उससे सिक्त नही होता, उसी प्रकार सदा विषयो के बीच

---

१. तिवारी—कुंभ।

रहते हुए भी सत उनमें आसक्त नही होते। जिस प्रकार जलमुर्गी जल मे ही रहती है, किन्तु उसके पंख पर जल का प्रभाव नही होने पाता; जिस प्रकार मछली जल के ऊपर बिना प्रयास के, विना किसी विघ्न-बाधा के सहज रूप से तैरती रहती है, उसी प्रकार सत भी विषयो के विष से प्रभावित हुए बिना सहज रूप से जीवनयापन करते है। जिस प्रकार सीप समुद्र मे रहते हुए भी स्वाति-बूंद की आशा मे आकाश की ओर टकटकी लगाए रहती हैं, उसी प्रकार संत संसार मे रहते हुए भी प्रभु की ओर चित्त लगाए रहते है। जिस प्रकार कछुआ बाहरी खतरे से रक्षार्थ अपने अंगो को भीतर समेट लेने की कला जानता है, उसी प्रकार संत विषयो के आकर्षण से बचने के लिए अपनी वृत्ति को अन्तर्मुखी बना लेने की कला जानता है। जिस प्रकार मदारी ऐसी युक्ति जानता है और उस रहस्य का ज्ञान प्राप्त किए हुए है जिससे सर्प को लिपटा लेने पर भी उस पर विष का प्रभाव नही पड़ता, उसी प्रकार सतो को वह युक्ति ज्ञात है जिससे विषयो के भीतर रहते हुए भी उन पर विषयो का प्रभाव नही रहता। जिस प्रकार व्यक्ति जिह्वा के द्वारा नाना प्रकार के षट् रस व्यंजन, पकवान तथा मिठाई आदि को चखता है, किन्तु उनकी चिकनाई का लेशमात्र प्रभाव जिह्वा पर नही पडता, उसी प्रकार संत विषयो का अनुभव करते रहने पर भी उनके आकर्षण में बँधते नही। कबीर कहते है कि जिस प्रकार बिल मे रहने वाले सर्प को सामान्य व्यक्ति पकड़ नहीं सकते, किन्तु गारुड़ि के मत्र के प्रभाव से वह स्वय ही खिचा चला आता है और उसके पूर्ण नियन्त्रण मे रहता है, उसी प्रकार प्रभु के भक्त भी विषयों को अपने पूर्ण नियन्त्रण मे रखते है। उनका विष उन पर व्याप्त नही होता।

तुलनीय:—

> वसन् विषयमध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान्।
> वसत्येव हि दुर्बुद्धिः असत्सु विषयेष्वपि ॥

अलंकार—दृष्टान्त।

राग—सोरठ।

(३४६)

है हजूरि कत[1] दूरि बतावहु।
दुंदर बाँधहु[2] सुंदर पावहु ॥ टेक ॥
सो मुल्ला[3] जो मन सौं लरै, अहनिसि काल चक्र सौं भिरै।
काल पुरख[4] का मरदै मांनु, तिस[5] मुल्ला को सदा सलांम।

---

१. ना० प्र०—क्या दूर बतावै। २. ना० प्र०—बाँधै सुंदर पावै। ३. ना० प्र०—मुलनां। ४. ना० प्र०—चक्र। ५. ना० प्र०—ताँ मुलनाँ।

काजी सो जो काया बिचारै, काया[1] की अगिनि ब्रह्म परजारै।
सुपिनैं बिंदु न देईं झरनां, तिसु काजी कउ जरा न मरना।
सो सुरतान जु दुइ[2] सर तानैं, बाहरि जाता भीतरि आंनैं।
गगन मंडल महि[3] लसकरु करै, सो सुरतानु छत्र सिरि धरै।
जोगी गोरख गोरख करै, हिन्दू रांम नांम ऊचरै।
मुसलमांन कहै एक खुदाइ, कबीर का स्वामीं रह्या[4] समाइ॥

शब्दार्थ—हजूरि = (अ० हजूर) प्रत्यक्ष, आमने सामने। कत = (सं० कुत) क्यों। दुदर = चूहा (प्र० अ०) काम, क्रोध, लोभ आदि विकार। मुल्ला (अ०) = मौलवी, विद्वान। अहनिसि = दिन-रात। मानु = अभिमान। सलाम (अ०) = प्रणाम। काजी = (अ०-काज़ी) न्यायाधीश। परजारै = प्रज्वलित करे। बिंदु = वीर्य। जरा = वृद्धावस्था। मरना = मृत्यु। सुरतानु = (अ०-सुलतान) शासक, राजा। सर = बाण। लसकर = (फा० लश्कर) भीड़, सेना। छत्र = राज चिह्न।

संदर्भ—इस पद मे बताया गया है कि परमतत्व अपने भीतर ही विद्यमान है और बाह्य जगत् मे जो भी हमारा ग्राह्य है, वह सब चैतन्य की ही अभिव्यक्ति है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि परमतत्व तो प्रत्यक्ष, आमने-सामने है। उसे दूर क्यो बताते हो ? अपने चित्त के विकारो (दुदर) को रोको और सुंदर पदार्थ को प्राप्त करो।

सच्चा मौलवी (विद्वान्) वही है जो मन से युद्ध करता है और दिन-रात काल-चक्र से भिडता रहता है। वह कालपुरुष के अभिमान को रौंद डालता है। ऐसे विद्वान् के समक्ष मैं नतमस्तक हूँ। मै उसे प्रणाम करता हूँ। सच्चा न्यायाधीश वह है जो अपने जीवन के सम्बन्ध मे विचार करता है, न्याय करता है और उसके भीतर जो ब्रह्माग्नि है, उसे प्रज्वलित करता है। जो स्वप्न में भी कामवासना से प्रेरित नही होता है और जरा-मरण को अपने वश मे कर लेता है। सच्चा सर तानने वाला (सुलतान) वही है जो दो सरो का सधान करता है, बाहर जाते हुए तीर को भीतर लाता है।

ज्ञेय और ज्ञात का ज्ञान सभी देहधारियो के लिए सामान्य है, किन्तु योगी की विशेषता यह है कि वह इस सम्बन्ध के विषय मे सजग रहता है अर्थात् वह यह समझता है कि ग्राह्य या ज्ञेय सर्वदा ग्राहक या ज्ञाता से सम्बद्ध रहता है। बिना ज्ञाता से सम्बद्ध हुए कोई ज्ञेय हो ही नही सकता। जहाँ से ज्ञाता का उदय होता है और

---

१. ना० प्र०—अहनिसि ब्रह्म अगनि प्रजारै। २. ना० प्र०—द्वै सुर। ३. ना० प्र०—मैं। ४. ना० प्र०—घटि घटि रह्यौ समाइ।

जिसमे उसकी विश्रान्ति होती है, उसका योगी को सदा भान रहता है। यहाँ सुलतान योगी है। तीर का बाहर जाना ग्राह्य का बोध है और तीर का भीतर लौटकर आना अपनी सचेतनता के विषय मे जागरूकता है। वही सुलतान राज-छत्र का अधिकारी है जो अपने शक्ति-समूह को गगन-मडल मे केन्द्रित करता है, अपना डेरा शून्य-चक्र मे डाल देता है।

गोरखपथी योगी 'गोरख गोरख' चिल्लाता है। हिन्दू 'राम' नाम का उच्चारण करता है। मुसलमान कहता है कि खुदा एक है, जो सातवे आसमान मे स्थित है। कबीर का प्रभु सर्वत्र व्याप्त है।

अलंकार·—सुरतान, सुर ताने मे यमक की व्यजना।

राग——भैरव।

(३४७)

है हरिजन सौं जगत लरत है।
फुनिगा कतहूँ[1] गरुड़ भखत है॥ टेक॥
अचिरज एक देखहु संसारा, सुनहाँ खेदै कुंजर असवारा।
ऐसा एक अचंभौ देखा, जंबुक करै केहरि सौं[2] लेखा।
कहै कबीर राम भजि भाई, दास अधम गति कबहुँ न जाई॥

शब्दार्थ—हरिजन = भक्त। जगत=विषय सुख। फुनिगा = पतगा। सुनहाँ = श्वान। कुजर = हाथी। जंबुक = गीदड। केहरि = सिह। लेखा = हिसाव-किताब। दास = भक्त।

संदर्भ—इस पद मे कबीर ने भक्त की महिमा का गान किया है और यह बताया है कि सासारिक प्रलोभन का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ता।

व्याख्या—वह कहते है कि यह विचित्र बात है कि भक्त को विषय-वासना आकृष्ट करने का प्रयत्न करती है। किन्तु उसे सफलता नही प्राप्त हो सकती। क्या भला पतंगा गरुड को खा सकता है? संसार मे एक आश्चर्य की बात दिखाई पडती है कि जो भक्त प्रभु-प्रेम रूपी हाथी पर सवार है, विषय-श्वान भौकता हुआ उसका पीछा करता है। मैंने एक और आश्चर्य देखा कि सशय रूपी गीदड़ ज्ञान रूपी सिंह से लेखा-जोखा माँगता है। कबीर कहते है कि हे भाई! राम की भक्ति करो। राम का भक्त कभी अधम गति को नही प्राप्त होता।

---

१. ना० प्र०-कैसे। २. ना० प्र०- सूँ।

अलंकार—(१) फुनिगा कतहूँ गरुड भखत है—वक्रोक्ति।
(२) सुनहां खेदै............असवारा—विरोधाभास।
(३) रूपकातिशयोक्ति।

राग—गौरी।

(३४८)

हो[1] दारी के ले देउँ तोहि गारी, तैं समुझु[2] सुपंथ बिचारी।
घरहू के[3] नाह जो अपना, तिंनहू से भेंट न सपना।
ब्राह्मन[4] छत्री बानी, तिनहू कहल नहि मानी।
जोगी जंगम जेते, आपु[5] गहे हैं तेते।
कहैं कबीर एक जोगी, वे तो भरमि भरमि भौ भोगी॥

शब्दार्थ—दारी के = दासी के पुत्र। तै = तुम। सुपंथ = विहंगम मार्ग। नाह = नाथ, आत्मा। बानी = बनिया, वैश्य। कहल = कहना, उपदेश। जंगम = विशेष सम्प्रदाय के शैव साधक। आपु = आपा।

संदर्भ—इस पद में विहंगम मार्ग का वैशिष्ट्य बताते हुए उसके द्वारा आत्म-साक्षात्कार का उपदेश दिया गया है।

व्याख्या—कबीर स्नेह मे अपशब्द का प्रयोग करते हुए अपने शिष्यो से कहते है कि अरे दासी के जने! देखो तुम्हे गाली देनी पडती है। तुम अच्छी प्रकार से विचार कर श्रेष्ठ मार्ग अर्थात् विहगम मार्ग को समझो। यह सोचो कि तुम्हारे भीतर वास्तविक स्वामी विद्यमान है, किन्तु स्वप्न मे भी तुम उनसे भेट नही करते हो। इस शरीर का वास्तविक स्वामी आत्मा है। उसे भुलाकर मन, इन्द्रियादि की क्रियाओ मे लगे रहते हो। इस स्वामी से मिलन विहंगम मार्ग से ही हो सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो मे से किसी ने मेरा उपदेश नही माना। जोगी तथा जंगम सम्प्रदाय के तथाकथित सत भी आपा के चक्कर मे पडे हुए है। कबीर कहते है कि सच्चा योगी वही है जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, अन्य लोग आपा के भ्रम मे भटकते हुए केवल भोगी ही बने रहते है।

अलंकार—(१) घर के नाह ··सपना—विशेषोक्ति।
(२) जोगी, जोगी मे यमक।

---

१. शुक०—हो द्वारिका। २. शुक०—समुझि। ३. शुक० की प्रति में नहीं है। ४. शुक०—ब्राह्मन औ क्षत्री बानी, सो तिनहूँ कलह नहिं मानी। ५. शुक०—व आपु गए है तेते।

(३४९)

हो बलैया कब देखौंगी तोहि।
अह निस आतुर दरसन कारनि, ऐसी व्यापै मोहि ॥ टेक ॥
नैन हमारे तुम्ह कूँ चाहैं, रती न मानैं हारि।
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि ॥
सुनहु हमारी दादि गुसाँई, अब जिन करहु बधीर।
तुम्ह धीरज मैं आतुर स्वामी, काचै भांडै नीर ॥
बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहि बाँधै धीर।
देह छतां तुम्ह मिलहु कृपा करि, आरतिवंत कबीर ॥

शब्दार्थ—बलैया = न्यौछावर। अहनिस = दिन रात। दादि (फा०) = न्याय, प्रशंसा, विनती। बधीर (सं० बधिर) = बहरापन, अनसुनी। भाँड़ै=बर्तन। छता = अक्षत, रहते हुए। आरतिवंत = दुःखी।

संदर्भ—प्रस्तुत पद में विरहिणी रूपी आत्मा की प्रभु-मिलन के लिए आतुरता दिखाई गई है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मैं तुम पर न्यौछावर जाता हूँ। मुझे कब दर्शन दोगे ? तुम्हारी वियोग-व्यथा इस प्रकार व्याप्त हो रही है कि मैं तुम्हारे दर्शन के लिए दिन-रात बेचैन हूँ। हमारे नेत्र तुम्हारे दर्शन के लिए तड़पते रहते हैं और समझाने पर भी शांत नहीं होते हैं। तुम स्वयं विचार करके देखो। विरह की अग्नि सारे शरीर को जला रही है। हे प्रभु ! मेरी बिनती सुनो। अब अनसुनी मत करो। हे प्रभु ! तुम धैर्यस्वरूप हो और मैं सर्वथा आतुर हूँ। अब मुझमें धैर्य नहीं रह गया है। इस शरीर में मेरे प्राण कच्चे घड़े में जल के समान है। पता नहीं, कब शरीर-घट फूट जाय और प्राण निकल जायँ। हे माधव ! न जाने कितने जन्मों से तुमसे वियोग हुआ है। मैं तुमसे मिलने के लिए व्याकुल हूँ। मन अधीर हो रहा है। इस शरीर में प्राण रहते ही तुम कृपा कर मिलो। कबीर तुम्हारे लिए बहुत दुःखी है।

अलंकार—(१) विरह अगिनि—रूपक।
(२) काँचे भाँड़ै नीर—उपमा।

राग—सोरठ।

(३५०)

हौं बारी मुख फेरि पियारे।
करवट दै मोहि काहे कौं मारे ॥ टेक ॥

करवत भला न करवट तोरी, लागु गलै सुनु विनती मोरी ।
हंम तुम बीच भयौ नहिं कोई, तुमहिं सो कंत नारी हंम सोई ।
कहत कबीर सुनौ रे लोई, अब तुम्हरी परतीति न होई ।।

शब्दार्थ—बारी=किशोरी, नवयुवती । करवत = वह आरा या चक्र जिसके नीचे लोग शुभ फल की आशा मे प्राण देते थे । बीच = अतर । लोई = लोग अथवा कबीर की पत्नी । परतीति = प्रतीति, निश्चय ।

व्याख्या—प्रस्तुत पद मे मुग्धा नायिका का रूपक बाँधते हुए कबीर कहते हैं कि हे प्रियतम ! मैं किशोरी बाला हूँ । तुम मेरी ओर मुँह करो । एक ही शय्या पर होते हुए भी दूसरी ओर करवट लेकर तुम मुझे क्यो व्यथित करते हो ? तुम्हारी करवट अर्थात् दूसरी ओर मुख कर लेटने की अपेक्षा तो करवत अर्थात् वह आरा का चक्र अच्छा है जिसके नीचे लोग प्राण दे देते है । अतएव मेरी प्रार्थना सुनो । दिल खोलकर मुझसे गले लगो । हमारे तुम्हारे बीच कोई अंतर नही है । पहचान लो, ध्यान रखो तुम मेरे वही एक मात्र कत हो और मैं तुम्हारी वही एक मात्र काता हूँ । कबीर कहते है कि हे लोई ! सुनो, मुझे विचित्र अनुभव हुआ है । अपने प्रियतम सदा अपने ही रहेगे, इसका कोई ठिकाना नही है । हे मेरे प्रिय प्रभु ! बडी कठिनाई के बाद मे तुम्हे रिझा पाई हूँ । तुम्हारे ऊपर मेरा भरोसा नही है । तुम कही फिर फिसल न जाओ ।

टिप्पणी—यहाँ 'लोई' शब्द का प्रयोग पादपूर्णार्थक प्रतीत होता है । इसका अर्थ चाहे 'लोग' लें या 'कबीर की पत्नी', 'तुम्हरी' सर्वनाम केवल कंत के लिए ही उपयुक्त हो सकता है, लोई के लिए नही ।

अलंकार—'करवत करवट' मे यमक की ध्वनि ।

राग—आसावरी

परिशिष्ट

१

कबीर-बीजक के अन्य काव्य-रूप

१. ज्ञान-चौंतीसा
२. विप्रमतीसी
३. कहरा
४. बसन्त
५. चाँचर
६. बेलि
७. बिरहुली
८. हिंडोला

(१) ज्ञान-चौंतीसा

ओ[1] ऊँकार आदि जो जानै, लिखि कै मेटै ताहि सो मानै।
ओ[2] ऊँकार कहै[3] सभ कोई, जिन्ह यह लखा सो बिरला[4] होई ॥

संदर्भ—इसमे ओंकार मिलाकर ३४ अक्षर होते हैं—पाँच वर्ग (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) य, र, ल, व, श, ष, स, ह और ॐ। इन अक्षरों के आधार पर ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। छद का प्रारंभ प्रत्येक अक्षर से हुआ है।

व्याख्या—ओकार 'ओ' से प्रारम्भ होता है। अतः पहले 'ओ' से ज्ञान की चर्चा है। बहुत से लोग गुरु अथवा शास्त्र से सुनकर सभी का मूल ओंकार समझते है। परन्तु वह अपने अज्ञान के कारण उस ओंकार को वास्तविक समझते हैं, जो लिखकर मिटाया जा सकता है। लिखावट केवल प्रतीक है। वे उसी को सत्य मान लेते है। इस ओकार का उच्चारण और जप सभी करते है। किन्तु जिन्होंने इसको चेतनस्वरूप समझ लिया है, ऐसे लोग विरले है। अक्षर वाला ओकार केवल प्रतीक है। वह ब्रह्म को समझने का साधन मात्र है। वास्तविक ओकार चेतनस्वरूप है। उस प्रतीक अक्षर के द्वारा जो वास्तविक चेतनस्वरूप को समझते है, ऐसे लोग ससार मे कम ही हैं।

क[5] का कमल किरन मँह[6] पावै, ससि बिगसित संपुट नहिं आवै।
तहाँ कुसुभ[7] रंग जो पावै, औगह गहि कै गँगन रहावै ॥

शब्दार्थ—कुसुंभ रंग = केसरिया रंग, अग्नि शिखा, ज्योति का प्रकाश। औगह = अवगाह, अथाह। गँगन = हृदयाकाश।

सदर्भ—'क' हृदयकमल में स्थित कुसुंभी रंग की ज्योति का संकेत करता है।

व्याख्या—जो हृदय कमल की ज्योति मे स्वरूप को पाता हैं, उसकी चन्द्र (सूर्य) नाड़ी विकसित हो जाती है और उसमे आच्छादन नही रह जाता है। उसका आत्म-स्वरूप प्रकट हो जाता है। उस हृदय कमल मे देदीप्यमान अग्निशिखा के समान ज्योति का जो अनुभव करता है, वह उस अथाह रहस्यमय उपलब्धि को प्राप्त कर लेता है और उसका चित्र हृदयाकाश मे स्थित हो जाता है।

---

१. वि०–वो ओंकार। २. वि०–वोमोंकार। ३. शुक०–कहता। ४. शुक०, वि०–विरले। ५. वि०–काका। ६. शुक०–में। ७ शुक०–कुसुम।

ख[1] खा चाहै खोरि मनावै, ख समहि छाँडि दहूँ[2] दिसि धावै।
खसमहि छोड़ि छिमा होय[3] रहई, होय न खीन[4] अखै पद लहई ॥

शब्दार्थ—मनावै = शांत करे।

संदर्भ—'ख' से दो तथ्यो की ओर सकेत है—(१) इद्रियो के दोष और (२) खसम।

व्याख्या—इद्रियो के दोपों का परिहार करना चाहिए। मन सहित इन्द्रियाँ वास्तविक पति को छोडकर इधर-उधर भटकाती रहती है। अनात्म रूपी स्वामी को छोड़कर शाति धारण करना चाहिए, तभी वास्तविक स्वामी, जो कभी क्षीण नहीं होता है, जो परमपद है, उसकी प्राप्ति होती है।

ग[5] गा गुरु के वचनहि मान, दूसर सब्द करै[6] नहि कान।
तहाँ बिहंगम कतहुँ[7] न जाई, औगह गहि के गगॅन रहाई ॥

शब्दार्थ—विहगम = पक्षी (प्र० अ०) मन।

सदर्भ—'ग' से गुरु-उपदेश का महत्त्व वताया गया है।

व्याख्या—गुरु के उपदेश में पूरा विश्वास रखना चाहिए, किसी अन्य की वाणी पर ध्यान नही देना चाहिए। सामान्यत' चचल मन रूपी पक्षी की गति परम पद तक नही है। गुरु-उपदेश से उस अगाध सत्य को पकड़कर वही मन हृदयाकाश मे स्थित हो जाता है।

घ[8] घा घट बिनसे घट होई, घट ही में घट राखु समोई।
जौ घट घटै घटहि[9] फिरि आवै, घट ही मैं[10] फिरि घटहि समावै ॥

शब्दार्थ—घट = शरीर। समोई = लय करना, मिलाना।

संदर्भ—'घ' से घट (शरीर) की स्थिति वताई गई है।

व्याख्या—साधारणत एक शरीर के विनष्ट होने पर दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है। किन्तु योग की प्रक्रिया द्वारा एक शरीर का दूसरे शरीर मे लय करना चाहिए। योग की प्रक्रिया द्वारा दो प्रकार से अनात्म से अपने को पृथक् किया जाता है—(१) निपेधात्मक मार्ग—इसमे योगी यह अभ्यास करता है कि हम शरीर से पृथक् आत्मा है। इससे अनात्म से आत्म-तत्त्व अलग होता है। (२) लय मार्ग—

---

१. वि०—खाखा। २. शुक०—दोजख कौ। ३. वि०—हो रहिये। ४. शुक०—खिन्न। ५. वि०—गागा। ६. शुक०, वि०—करो। ७. शुक०, वि०—कबहुँ। ८. वि०—घाघा। ९. शुक०—घटही १०. वि०—में।

सत मत मे शरीर पाँच प्रकार के माने गए है—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, कैवल्य, हस। लय मार्ग के द्वारा स्थूल को सूक्ष्म मे, सूक्ष्म को कारण मे, कारण को कैवल्य मे ओर कैवल्य को हंसदेह मे लय करना होता है। हंसदेह आत्मा ही है। इसी के लिए कबीर कहते है कि एक शरीर को दूसरे शरीर मे लय करो।

एक घट (शरीर) नष्ट होने पर जीव दूसरे घट मे आता है। जन्म-मरण की प्रक्रिया चलती रहती है। चूँकि एक शरीर के बाद दूसरा शरीर बनता रहता है, अतः शरीर को चैतन्य मे लय कर दो।

ङ ङा निरखत निसु दिन जाई, निरखत रहा नैन रतनाई।
निमिष एक जो निरखै पावै, ताहि निमिष मँह[1] नैन छिपावै॥

शब्दार्थ—निरखत=देखते-देखते। रतनाई=लालिमा।

संदर्भ—'ङ' सानुनासिक ध्वनि है। अतः इससे ज्ञान की बात कही गई है। इसमे विषयों के प्रभाव का वर्णन है।

व्याख्या—मानव के दिन-रात विषयो को देखने अर्थात् उसके प्रति आसक्ति मे व्यतीत होते है। विषयों के अनुराग से उसके नेत्र लाल हो जाते है अर्थात् उसका चित्त वासनामय हो जाता है। विषयों का ऐसा प्रभाव होता है कि यदि एक क्षण के लिए उसके प्रति आकर्षण हुआ तो उसी क्षण के विषय विवेक रूपी नेत्रो को ढक लेते है।

च चा[3] चित्र रचो बहु[4] भारी, चित्र[5] छोड़ि तैं चेतु चित्रकारी।
जिन्ह यह चित्र विचित्र उखेला,[6] चित्र छोड़ि तैं चेतु चितेला॥

शब्दार्थ—चित्रकारी=निर्माता। उखेला=उरेहा, बनाया। चितेला=चित्रकार।

संदर्भ—'च' से ससार के चित्र अर्थात् पदार्थो का संकेत है।

व्याख्या—प्रभु ने संसार मे अनेक चित्रों का निर्माण किया है। इन चित्रों (पदार्थो) को छोड़कर उनके निर्माता प्रभु का चिंतन करो। जिसने नाना प्रकार के चित्रो का निर्माण किया है, उसी चित्रकार का चिंतन करो। चित्रों के प्रति मोह छोडो।

छ[7] छा आहि छत्रपति पासा, छकि किन[8] रहै मेटि सब[9] आसा।
मैं तोहीं छिन छिन समुझाया, खसम छोंडि कस आपु बँधाया॥

---

१. हंसदास—ना ना। २. वि०—में। ३. वि०—चाचा। ४. शुक०, वि०—बड़। ५. शुक०—चित्रहि छाड़ि। ६ शुक०—हो खेला। ७. वि०—छाछा। ८. शुक०—क्यों न रहेउ। ९. शुक०—अव।

शब्दार्थ—छत्रपति=राजा (प्र० अ०) परमात्मा। छकि=तृप्त होना। आहि=है।

सन्दर्भ—'छ' से बताया गया है कि परमात्मा घट ही मे विद्यमान है।

व्याख्या—परमात्मा अपने पास ही है। वह प्रत्येक घट मे विद्यमान है। तब फिर सारी तृष्णा त्यागकर उसके आनन्द-रस से क्यो नही तृप्त होते हो? मैंने तुम्हें बार-बार समझाया है। स्वामी को छोडकर तुमने स्वयं को बंधन मे क्यो डाल लिया है?

ज[1] जा ई तन जियतहि जारो,[2] जोवन जारि जुक्ति तन[3] पारो[4]।
जौं कछु जुक्ति जानि परिजरै,[5] घटही जोति उजियारी करै॥

सदर्भ—'ज' से बताया गया है कि अनात्म को छोडकर विवेक द्वारा आत्म को पकडो।

व्याख्या—इस शरीर को ज्ञानाग्नि मे जलाओ। यौवन के मद को जलाकर विवेक रूपी उपाय से भवसागर से पार हो जाओ, भौतिक शरीर से मुक्त हो जाओ। (यहाँ 'तन' स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनो शरीरों के लिए आया है। तात्पर्य है देह से परे हो जाओ।) जो विवेक की युक्ति जानकर ज्ञानाग्नि मे अपने को प्रज्वलित करता है, उसके शरीर मे आत्म-ज्योति प्रकाशित होती है।

झ झा अरुझि सरुझि कत[6] जान, हींडत[7] ढूढ़त जाहि परान।
कोटि सुमेर ढूँढ़ि फिरि आवै, जो गढ़ गढ़ै, गढ़हि सो पावै॥

शब्दार्थ—हीडत=खोजते हुए।

सदर्भ—विषयो मे आनन्द की खोज निरर्थक है।

व्याख्या—आनन्द की खोज मे प्राणी संसार के विषयो मे उलझता-सुलझता रहता है। विषयो मे आनन्द की खोज मे उसका अन्त हो जाता है। उस आनन्द को चाहें करोड़ो सुमेरु पर्वत तक खोजा जाय, किन्तु उसकी प्राप्ति नही हो सकती। प्राणी खोजकर पुन. वापस लौट आता है। जिसने इस शरीर रूपी गढ को बनाया है, उसे इसी शरीर मे प्राप्त करने की चेष्टा करो। वही परमानन्द है।

---

१. वि०—जाजा। २. शुक०-जरो। ३. वि०, हंस-जो। ४. शुक०—परो। ५. शुक०—तन जरै। ६. शुक०—कित ज'ना,। ७. शुक —अरुझिनि हीडँत।

ञ[1] ञा निग्रह से करु नेहू, करु निरुवार छाँड़ु संदेहू।
नहि देखै, नहि भाजै[2] केहू, जानहु[3] परम सयानप येहू॥
नहि[4] देखिए, नहि आपु भजाऊ, जहाँ नहीं तहँ तन मन लाऊँ।
जहाँ नहीं तहँ सभ कछु जानो, जहाँ नहीं[5] तहाँ ले पहचानो॥

शब्दार्थ—निग्रह=नियन्त्रण। निरुवार=मिटाना, निवारण करना।

संदर्भ—इन पंक्तियों मे दो बातें बताई गई है—

(१) इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। (२) परम तत्व विषयो और आकार से परे है।

व्याख्या—मन, इन्द्रिय आदि के निग्रह से स्नेह करो अर्थात् इनके नियन्त्रण मे रुचि लो। संदेह को छोड़कर, उलझन को मिटाओ। कोई भी व्यक्ति न तो विषयों की ओर देखे और न आत्म-स्वरूप से भागे। इसी को परम चतुराई समझो। तात्पर्य यह है कि अनात्म से स्नेह न रखो, आत्मा को पहचानो।

योगवाशिष्ठ मे भी कहा गया है कि अतत्व (अनात्म) मे तत्व की भावना करने से जीव इसी देह मे घिरा रहता है। परमतत्व की भावना से जीव देह के तादात्म्य से छुटकारा पा जाता है, वैभव से संयुक्त हो जाता है और आनन्द का अनुभव करता है—

अतत्त्वे तत्त्वभावेन जीवो देहावृतो स्थितः।
निर्देहो भवति श्रीमान् सुखी तत्त्वैकभावनात्॥
(६।८२।२१)

कबीर भी कहते है कि अनात्म या विषयो की ओर मत देखो। आत्मस्वरूप से दूर मत हो। जहाँ विषय नही है, तुम्हें जहाँ शून्य दिखाई पड़ता है, वही तन-मन लगाओ। तुम्हे जहाँ शून्य मालूम होता है, वही सब कुछ है और जहाँ सब कुछ शून्य प्रतीत होता है; रूप, रंग, आकार नही है, वही परमतत्व को पहचानो।

ट[6] टा विकट बाट मनमाँही, खोलि कपाट महल मो[7] जाही।
रही लटापटि जुटि जेहि[8] माहीं, होहि अटल ते[9] कतहूं न जाहीं॥

शब्दार्थ—लटापट=मिलकर।

---

१. वि०—नाना निगर (ह) सनेहु करु, निरुवारो संदेहु, शुक०—ञञा निरखत नगर सनेहू, करु आपन निरुआर संदेहू। २. शुक०—भाजिया। ३. शुक० वि० 'जानहु' नहीं है। ४. शुक०—जहाँ न देखि तहँ आप भजाऊ। ५. शुक०—है। ६. वि०—टाटा। ७. शुक०—में। ८. वि०, शुक०—तेहि। ९. शुक०—तब।

संदर्भ—'ट' से बताया गया है कि निर्मल चित्त से ही जीव ब्रह्म तक पहुँच सकता है।

व्याख्या—प्रभु तक पहुँचने का विकट मार्ग मन मे ही है—मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयो.।

अज्ञान के कपाट खोलकर चेतन के महल मे जाओ। वहाँ आत्मा और परमात्मा एक-रस होकर, सयुक्त होकर वास करते है। उस स्थिति मे चेतन ब्रह्म में जीव अटल हो जाता है, फिर उसका ध्यान अन्यत्र नही जाता।

ठ[1] ठा ठोर दूरि, ठग नियरे, नितिकै निठुर कीन्ह मन घेरे[2]।
जे ठग ठगे सभ[3] लोग सयाना, सो ठग चीन्हि[4] ठौर पहिचाना॥

शब्दार्थ—नितिकै=अत्यन्त।

संदर्भ—काम, क्रोध रूपी ठगों से बचकर परमपद को पहचानना चाहिए।

व्याख्या—चैतन्य अथवा परमपद दूर है और काम, क्रोध आदि ठग निकट ही मौजूद है। वे अत्यन्त निष्ठुर है और मन को घेरे हुए है। काम, क्रोध आदि जिन ठगो के द्वारा बड़े-बड़े चतुर लोग भी ठगे जाते है, उन ठगो को पहचान कर अपने गन्तव्य स्थान को पहचानो।

ड डा[5] डर उपजे डर होई, डरही[6] मँह डर राखु समोई।
जौ डर डरै, डरहि फिरि आवै, डरही मँह फिरि डरहि समावै॥

शब्दार्थ—समोई=मिलाकर, लय कर।

संदर्भ—देह के तादात्म्य से डर पैदा होता है। अतः अपने को पहचानो।

व्याख्या—अज्ञान के कारण देह के तादात्म्य से डर पैदा होता है। फिर वही डर बना रहता है—द्वैताद्वै भयं भवति। भय के मूल कारण को खोजकर उसी मे भय को लय कर दो। इसी देह के कारण भय होता है। देह से अपने को अलग कर दो। भय स्वत. समाप्त हो जाएगा। डर से जितना डरोगे, वह उतना ही पीछा करेगा। तुम पुनः देहभाव को प्राप्त होगे, डर और बढेगा। इस प्रकार देह मे नाना प्रकार के डर उत्पन्न होते रहेंगे।

ढढा ढूढ़त[7] ही कत[8] आना,[9] हींडत ढूढ़त जाहि पराना[10]।
कोटि सुमेर ढूढ़ि फिरि आवै, जिहि ढूंढ़ा सो कतहूँ न पावै॥

---

१. वि०—ठाठा। २. हंस—धेरे। ३. शुक०—सब। ४. शुक०—चीन्ह। ५. वि०—डाढा। ६. हंस—डरहि। ७. शुक०—हीडत। ८. शुक०—कित। ९. हंस, वि०—जॉन। १०. हंस—परान।

शब्दार्थ—हीडत=खोजते हुए। आना=अन्य।

संदर्भ—प्रभु इसी शरीर मे विद्यमान है। उसे अन्यत्र खोजना व्यर्थ है।

व्याख्या—प्रभु को अन्यत्र कहाँ खोज रहे हो? खोजते-खोजते तुम्हारा जीवन समाप्त हो जाएगा। तुम चाहे उसे करोड़ो पहाड़ो पर खोजो, किन्तु वह वहाँ कही नही मिलेगा। तुम्हे पुनः वापस आना पड़ेगा। जो प्रभु को अन्यत्र खोजते है, वे उसे कहीं नही पाते। वह अपने अन्दर ही विद्यमान है। उसे बाहर खोजना व्यर्थ है।

ण[1] णा दुई बसाए[2] गाऊँ, रे ना ढूढ़े तेरे[3] नाऊँ।
मुए एक जॉय तजि धना, मरहिं इत्यादिक ते के[4] गना॥

शब्दार्थ—धना=सम्पत्ति।

सदर्भ—नाम-रूप मे तत्व को ढूँढना व्यर्थ है।

व्याख्या—जीव नाना प्रकार से दो गाँव (लोक-परलोक, पिण्डाण्ड-ब्रह्माण्ड) वसाता है। इस प्रकार अखण्ड सत्ता को दो खण्डो मे बाँट देता है। कबीर कहते हैं कि उसको अपने नाम-रूप मे मत खोजो। मरने पर सभी अपनी संपत्ति यही छोड़कर चले जाते है। अत. ममत्व से अलग रहो। इस ससार मे अब तक न जाने कितने लोग मर चुके है। उनकी कोई गिनती नही कर सकता।

त[5] ता अति त्रियो नहिं जाई[6], तन त्रिभुवन महँ राखु छुपाई[7]।
जौ तन त्रिभुवन माहि छिपावै, तत्तुहि मिलै[8] तत्त सो पावै॥

शब्दार्थ—त्रियो=तैरना, पार होना!

संदर्भ—परमतत्व को वही प्राप्त कर सकता है, जो तीनों शरीरों से तादात्म्य छोड देता है।

व्याख्या—जब तक तीनो शरीरों मे (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) से तादात्म्य वना हुआ है, तव तक इनसे पार निकल जाना सभव नही है। इन तीनो प्रकार के शरीरो को त्रिभुवन (प्रकृति) मे ही लय कर देना चाहिए। जो इस शरीर को त्रिभुवनात्मक प्रकृति मे लय कर देता है, वही सारतत्व को प्राप्त कर सकता है और उसमे मिल सकता है!

थ थां अति अथाह थाहो नहिं जाई, ई थिरि ऊ थिरि नाहिं रहाई।
थोर[9] थोर थिर होहु[10] रे भाई, बिन खंभै[11] जैस मंदिल थँभाई॥

---

१. वि०, हंस—नाना। २. शुक०—वताए गाऊँ। ३. वि०—तेरी, शुक०—तेरा। ४. शुक०—केते। ५. वि०—ताता। ६. शुक०—जाए। ७. शुक०—छिपाए। ८. शुक०—मिलि। ९. शुक०—थोरे थोरे। १०. शुक०—हो। ११. वि०, शुक०· थंभे।

शब्दार्थ—ई=यह (लोक) । ऊ=वह (लोक) । थोर थोर=धीरे धीरे ।

संदर्भ—परमतत्व अथाह है । उसे प्राप्त करने के लिए चित्त मे स्थिरता क्रम से ही आ सकती है ।

व्याख्या—परमतत्व अथाह है । उसकी थाह नही मिल सकती । यह लोक और परलोक दोनो सदा स्थिर नही रहते । दोनो नाशवान है, क्षर है । धीरे-धीरे स्थिरता को प्राप्त करो, अक्षर-तत्व को प्राप्त करो । जिस प्रकार मकान की छत बनाते समय प्रारम्भ मे आधार की आवश्यकता पडती है । छत पक्की हो जाने पर आधार हटा लिया जाता है और छत बिना आधार के स्थिर रहती है, उसी प्रकार साधना की प्रारम्भिक अवस्था में आलंबन की आवश्यकता रहती है, किंतु बाद मे साधना दृढ होने पर चित्त बिना आलबन के स्थिर हो जाता है।

अलंकार—उपमा ।

द दा देखहु बिनसनिहारा, जस देखहु तस करहु विचारा ।
दसहुँ दुवारे तारी लावै, तब दयाल के दरसन पावै ।।

शब्दार्थ—बिनसनिहारा=नाश होने वाला । तारी=अटूट ध्यान, समाधि ।

व्याख्या—कबीर जीव को संबोधित करते हुए कहते है कि ससार का वैभव नश्वर है । स्वयं प्रत्यक्ष देखकर इसका विचार करो । जब दशम द्वार मे अटूट ध्यान लगेगा, तब दयामय प्रभु का दर्शन होगा ।

टिप्पणी—दशमद्वार गगन गुफा का वह छिद्र है जिससे महारस टपककर तालु तक आता है । निरतर ध्यान करने से सहस्रार में स्थित दशम द्वार मे परमात्मा का परिचय प्राप्त होता है ।

ध[1] धा अर्ध माहिं अँधियारी, अरध[2] छाँड़ि ऊरध मन तारी ।
अर्ध छोड़ि उर्ध मन लावै, आपा मेटि कै प्रेम बढ़ावै ।।

शब्दार्थ—अर्ध=अधर, नीचे (प्र० अ०) मूलाधार । ऊरध=ऊपर (प्र० अ०) सहस्रार ।

संदर्भ—मन को निम्न प्रवृत्तियों से हटाकर उच्च प्रवृत्तियों मे लगाना चाहिए ।

व्याख्या—नीचे (मूलाधार से अनाहत तक) अज्ञान है । इसलिए निम्न चक्रो को छोडकर ऊर्ध्व चक्र (अनाहत से सहस्रार) मे चित्त को लगाना चाहिए । जो निम्न चक्रों को छोडकर ऊर्ध्व चक्रो में मन लगाता है, उसका अहंभाव मिट जाता है और चित्त का विस्तार हो जाता है, सबके प्रति प्रेम पैदा हो जाता है ।

---

१. वि०—धाधा । २. शुक०—अर्धहिं ।

न ना वो चौथे मँह जाई, राम कै गदह होय खर खाई।
आपा[1] छोड़ो नरक बसेरा, अजहुँ मूढ़ चित चेत सबेरा॥

शब्दार्थ—खर=तृण, घास।

संदर्भ--चित्त को उच्च प्रवृत्तियों की ओर लगाना चाहिए।

व्याख्या—जिसका चित्त निम्न प्रवृत्तियो (अनाहत से नीचे चौथे चक्र मूलाधार) की ओर रहता है, वह पशुवत् विषय रूपी तृण का सेवन करता है। अत. नरक ले जाने वाले अहंभाव का परित्याग करो। हे मूर्ख! अब भी विलब नही हुआ है। तू चेत जा और ऊर्ध्व प्रवृत्तियो मे चित्त को लगा।

प[2] पा पाप करै सब कोई, पाप के करे[3] धर्म नहिं होई।
प पा कहै सुनहु रे भाई, हमरे सेवे[4] कछुवो न पाई॥

संदर्भ—पाप कर्म से विरत रहना चाहिए।

व्याख्या—सभी प्राणी पाप कर्म मे लिप्त रहते है और धर्म से दूर हो जाते है। पाप के सेवन से मनुष्य दीन और दुनिया दोनों से जाता है।

फ फा फल लागे बड़ दूरी, चाखे सतगुरु देइ न तूरी।
फ फा कहै सुनहु रे भाई, सरग पताल की खबरि न पाई[5]॥

संदर्भ—तृष्णा के मिटने पर ही मुक्ति सभव है। गुरु केवल मार्गदर्शन करता है। वह किसी को मुक्ति दे नही सकता।

व्याख्या—मुक्ति-फल बहुत दूर है। सद्गुरु उसका आस्वादन करता है। वह उसे तोड़कर दूसरे को नही दे सकता अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को साधना द्वारा उसे प्राप्त करना होता है। सद्गुरु केवल मार्गदर्शन कर सकता है। मुक्ति का पता न स्वर्ग मे चल सकता है, न पाताल मे। तृष्णा के मिट जाने पर ही मुक्ति का अनुभव हो सकता है। कहा भी गया है.—

मुक्ति नही आकास है, मुक्ति नही पाताल।
जब मन की मनसा मिटै, तब ही मुक्ति बिसाल॥

ब बा बर बर कर सभ[6] कोई, बर बर करै काज नहिं होई।
ब बा कहै बात अरथाई, फल का मरम न जानै[7] भाई॥

शब्दार्थ—बर बर=बकवास। अरथाई=निर्णयपूर्वक।

---

१ वि०, हंस० में यह पंक्ति नहीं है। २. वि०—पापा। ३. शुक०—धरे। ४. शुक०—से इन्ह कछु। ५. हंस—जनाई। ६. शुक०—देख सब। ७. हंस—जानेहु।

संदर्भ—अध्यात्म के क्षेत्र में केवल वाक्य-ज्ञान से सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती है।

व्याख्या—प्रायः लोग बक-बक करते रहते है। अध्यात्म की लम्बी चौड़ी बाते करते हैं। इन बातो से कोई लाभ नही। अध्यात्म के विषय में लोग बहुत निश्चयपूर्वक वचन बोलते है, किन्तु वास्तविक मुक्ति का मर्म नही समझते।

तुलनीय—वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहि होई॥
—तुलसी।

भ भा भमरि रहा भरपूरी, भभरे ते है नियरे दूरी।
भ भा कहै सुनहु रे भाई, भभरे आवै भभरे जाई॥

शब्दार्थ—भमरि = भयभीत होना, भ्रम मे पडना।

संदर्भ—भ्रम से ही मनुष्य तत्त्व मे अपरिचित रहता है।

व्याख्या—सभी लोग पूर्ण रूप मे भ्रम मे पड़े हुए हैं। जो तत्त्व मबसे निकट हैं, अपने भीतर विद्यमान हैं, भ्रम के कारण वह दूर प्रतीत होता है। भ्रम से ही प्राणी का जन्म-मरण होता है।

म मा सेवैं[1] मरम न पाई, हमारे सेवे[2] मूल गँवाई।
माया मोह रहा जग पूरी, माया मोहहि लखहु बिसूरी॥

शब्दार्थ—बिसूरी = शोक, चिन्ता।

संदर्भ—मामा = मोह से मनुष्य मूल सत्य को खो देता है।

व्याख्या—माया - मोह मे पड़कर जीव सत्य के रहस्य को नही जान पाता है। उसके सेवन से मत्य (मूल) को भूल जाता है। माया-मोह संसार भर में व्याप्त है। इसलिए विचारकर इन दोनो को अच्छी प्रकार समझ लो।

य या जगत रहा भरपूरी, जगतहुँ ते हैं जाना[3] दूरी।
य या कहै सुनहुं रे भाई, हमरे[4] सेवे जै जै पाई॥

शब्दार्थ—य या = ब्रह्म।

संदर्भ—ब्रह्म मे चित्त लगाने से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

---

१. शुक०—के सेवे। २. हंस०—से इन। ३. शुक०—यया। ४. शुक०—हमहीं ते इन्ह।

व्याख्या—ब्रह्म जगत् मे व्याप्त है और वह जगत् से परे भी है। वह जगत् मे अन्तर्वर्ती (Immanent) भी है और उससे अतिवर्ती (Transcendent) भी है। जो ब्रह्म मे चित्त लगाता है, वही विजय प्राप्त करता है।

र[1] रा रारि रहा अरुझाई, राम कहे दुख दालिद[2] जाई।
र रा कहै सुनहु रे भाई, सतगुरु पूछि के सेवहु आई॥

शब्दार्थ—रारि—संहर्ष, झगडा।

संदर्भ—राम के मर्म को समझने से ही मनुष्य ससार से पार जा सकता है।

व्याख्या—अज्ञानी जीव संसार के झगडे मे उलझा रहता है। लोग समझते है कि राम का नाम लेने मात्र से दु.ख-दारिद्रय मिट जाएगा। किन्तु कबीर का कहना है कि राम के मर्म को सद्गुरु से समझकर तब उसमे चित्त लगाओ।

ल ला तुतरे बात जनाई, तुतरे पाय[3] तुतरे परचाई।
अपने[4] तुतुर और को कहई, एकै खेत दुनौ निरबहई॥

शब्दार्थ—ततुरे=अस्पष्ट बोलने वाला, तुतलाने वाला। निरबहई=निर्वाह करते है।

संदर्भ—अज्ञानी गुरु शिष्य को भी अज्ञान की ओर ही ले जाता है।

व्याख्या—अज्ञानी गुरुवा लोग अस्पष्ट बातो मे लोगो को फँसाए रहते है। वे स्वय अस्पष्ट है और दूसरे लोगो को भी अज्ञान मे रखते हैं। वे स्वयं अज्ञानी हैं और दूसरो को वही ले जाते है। इस प्रकार दोनो एक ही प्रकार के भ्रम मे पड़े रहते है।

व वा वह वह कह सभ[5] कोई, वह वह किए[6] काज ना होई।
वह तो कहै सुनै जो[7] कोई, सर्ग पताल न देखै जोई॥

संदर्भ—लोग अनुभव के बिना ईश्वर की बात करते है, जो निरर्थक है।

व्याख्या—सभी लोग ईश्वर के विषय में बाते करते है। ईश्वर की चर्चा करने मात्र से लक्ष्य पूरा नही होता। जिन्होने न स्वर्ग देखा है, न पाताल, वही मोक्ष या परलोक की बाते करते है।

---

१. वि०—रारा। २. शुक०—दारिद्र। ३. शुक०—आय, वि०—पा। ४. शुक०—आप ततुरे। ५. शुक०—करै। ६. शुक०—कीए। ७. शुक०—नहि।

श[1] शा सर नहिं देखै कोई, सर सीतलता एकै होई।
श शा कहै सुनहु रे भाई, सुन्न[2] समान चला जग जाई॥

शब्दार्थ—सर=सरोवर (प्र०अ०) ब्रह्म। सीतलता = (प्र० अ०)आनंद। सुन्न=खोखला।

संदर्भ—ब्रह्म और आनद एक ही है। उसके बिना जीवन खोखला है।

व्याख्या—सरोवर अर्थात् ब्रह्म को किसी ने देखा नहीं है। जिस प्रकार जल और उसकी शीतलता एक ही है, दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और उसका आनंद एक ही हे, एक दूसरे से पृथक् नहीं। उसके साक्षात्कार के बिना सारा संसार शून्य के समान खोखला है।

ष षा खर[3] खर करै सभ कोई, खर खर किए[4] काज नहिं होई॥
ष षा कहै सुनहु रे भाई, राम नाम लै जाहु पराई॥

शब्दार्थ—खर खर=श्रेष्ठ, परमात्मा। पराई=भाग जाना, पलायन करना।

संदर्भ—राम नाम से ही मुक्ति संभव है।

व्याख्या—सभी लोग परमात्मा को श्रेष्ठ कहते है। उसे श्रेष्ठ कहने मात्र से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। षषा यह उपदेश देता है कि राम नाम लेकर इस संसार से मुक्त हो जाओ।

स सा सरा रचो वरिआई, सर वेधे, सभ लोग[5] तवाई।
स सा के घर सुनगुन होई, यतनी बात न जानै कोई॥

शब्दार्थ—सरा = चिता। वरियाई = वलात्, जबर्दस्ती। तबाई (फा०) = नष्ट। सुनगुन = कहना-सुनना।

संदर्भ—कामी अपने कर्म के अनुसार फल पाता है, उससे बच नही सकता।

व्याख्या—कामादि ने वलात् सभी के लिए चिता का निर्माण कर रखा है, जिसमें सभी भस्म हो जाते है। काम ने शोक, चिन्ता आदि के बाणों द्वारा सभी को विद्ध करके नष्ट कर डाला है। अन्तर्यामी प्रभु के यहाँ सभी के कर्मों का सुनना-गुनना (लेखा) रहता हे। उन्ही कर्मों के अनुसार फल मिलता है। लोग इतना भी नहीं जानते।

---

१. हंस-स सा। २. शुक०-सून्य। ३. शुक०-खरा कहै सब। ४. शुक०-करे। ५. क०-सीक।

ह हा करत[1] जीव सभ जाई, छेव[2] परै तब को समुझाई।
छेव[3] परे केहु अंत न पावा, कहँहि कबीर अगमन गोहरावा॥

शब्दार्थ—छेव=मृत्यु, नाश। अगमन = आगे ही, पहले ही।

संदर्भ—जब तक जीवन है, तभी साधना कर लेनी चाहिए। अन्त समय में कुछ नही हो सकता।

व्याख्या—सभी जीव इस संसार से 'हाय हाय' करते हुए चले जाते है। जब अन्त समय आता है, तब उस जीव को समझाने से क्या लाभ? मृत्यु के निकट आने पर जीवन का रहस्य समझ में नही आता। कबीर कहते है कि मैं पहले ही चेतावनी दे चुका हूँ कि जब तक यह जीवन है, तब तक भक्ति करो।

(२) विप्रमतीसी

विप्रमतीसी=विप्रमतितीसी—इसमे ३० पंक्तियो मे ब्राह्मणों के विषय मे मत व्यक्त किया गया है। प्रस्तुत छद मे ३० पंक्तियाँ है। इसके अतिरिक्त एक साखी है, जो दोहा छन्द मे है। मुख्य छन्द की ३० पंक्तियाँ है। अतः इसे 'तीसी' कहा गया है। कही-कही इसका पाठ 'विप्रवत्तीसी' भी मिलता है, जिसमे साखी को भी जोड़ दिया गया है।

सुनहु सभन्हि मिलि विप्रमतीसो, हरि बिनु बूड़ी नाव भरी सी।
ब्राह्मन होय[4] कै ब्रह्म न जानै, घर मँह जग्य प्रतिग्रह आनै।
जे सिरजा तेहि नहि पहिचानै, करम धरम लै[5] बैठि बखाने।
ग्रहन अमावस सायर[6] दूजा, सांती पाठ[7] परोजन पूजा।
प्रेत-कनक मुख अंतर बासा, आहुति सहित होम की आसा।
कुल उत्तिम जग माँहि कहावैं, फिरि फिरि मधिम[8] करम करावैं।
सुत दारा मिलि जूठो खाई, हरि भक्ता[9] के छूति लगाई।
करम असौच उच्चिष्टा खाहीं, मति भरिष्ट जम लोकहि[10] जाहीं।

---

१. शुक०—हाय हाय में सब जग जाई। २. शुक०—हरष सोक सब माहि समाई। ३. शुक०—हहरि हहरि सब बड बड़ गयऊ, ह हा मर्म न काहू पयऊ। ४. वि० शुक—होके। ५. शुक०—मति। ६. शुक०—और। ७. वि०—शुक०--पाँति प्रयोजन। ८. वि०—मधीम। ९. शुक०—भक्तन को। १०. शुक०—लोक सिधाई।

नहाय खोरि उत्तिम होय आवैं[1], विष्नु भगत देखे दुख पावैं।
स्वारथ लागि रहै[2] बेकाजा, नाम लेत पावक जौं[3] डाजा।
राम कृस्न को छोड़िन्हि आसा, पढ़ि गुनि भए क्रितिम के दासा।
करम पढ़ैं करमहिं[4] कौं धावैं, जे पूंछे तेहि करम दिढ़ावैं।
निहकरमी कै[5] निंदा कीजै, करम करै ताही चित दीजै।
ऐसी[6] भक्ति भगवंत की लावैं,[7] हिरनाकुस को पंथ चलावैं।
देखहु कुमति[8] केर[9] परगासा, भए[10] अभिअंतर किरतिम दासा।
जाके पूजे पाप न ऊड़ै, नाम सुमिरिनी भव[11] मँह बूड़ै।
पाप पुन्नि के हाथहि पासा, मारि जगत का कीन्ह विनासा।
ई बहनी[12] कुल बहनि[13] कहावैं, ई गृह जारैं वा गृह मारैं।
बैठे ते घर साहु कहावैं, भितर भेद मन मुसहि[14] लखावैं।
ऐसी विधि सुर विप्र भनीजै, नाम लेत पीठासन[15] दीजै।
बूड़ि गए नहि आपु संभारा, ऊँच नीच कहु[16] काहि जोहारा।
ऊँच[17] नीच है मधिम बानी, एकै पवन एक है पानी।
एकै मटिया एक कुंभारा, एक सभन्हि का सिरजनहारा।
एक चाक सभ चित्र बनाया[18], नाद बिन्द के मध्य समाया[19]।
व्यापी एक सकल में जोती, नाम धरे का कहिए भौती।
राक्षस करनी देव कहावैं, वाद करैं गोपाल न भावै।
हंस देह तजि न्यारा होई, ताकर जाति कहै धौं कोई।
सेत स्याह की राता पियरा,[20] अवरन बरन की ताता सियरा[21]।
हिन्दू तुरुक की बूढ़ो बारा, नारि पुरुष का करहु विचारा।
कहिए काह कहा नहि माना, दास कबीर सोइ पै जाना॥

दो०—बहा है बहि जात है, कर गहि[22] ऐंचहु और।
समुझाए समुझैं नहीं, देहु धका दुइ और॥

---

१. शुक०–आए। २. शुक०– पाए। ३. वि०–जिमि ढाढा। ४. शुक०–औ कर्महिं। ५ शुक०–की ६. शुक०–हृदय। ७. शुक०–लखै। ८. वि०–सुमति। ९. शुक०–करै। १०. शुक०–बिनु लखि अंतर कृतिम के दासा। ११ शुक०–भय। ९. शुक०–वहिनी। १२. शुक०–वहिनी। १३. शुक०–मुसही। १४. वि०, शुक०–पंचासन। १५. शुक०–कहि कहि जो हारा। १६. शुक० की प्रति में ये दो पंक्तिया नहीं है। १७. शुक०–बनाई। १८ शुक०–समाई। १९. शुक०–प्यागा। २०. शुक०–सियारा। २१. वि०–गहे चहुं ओर, शुक०–गहिए चहुँ ओर। २२. शुक०–जो कहा नहि माने तभी, दे धक्का दुइ और।

शब्दार्थ—प्रतिगृह=यज्ञ मे प्राप्त दान । परोजन=प्रयोजन, स्वार्थ । कनक = गेहूँ का आटा । प्रेत-कनक=श्राद्ध का अन्न । बासा=वासना । असौच=अपवित्र । उचिष्ठा=उच्छिष्ट, जूठा । दारा=पत्नी । खोरि=तिलक । डाजा = क्रुद्ध होना, जलना । कृतम=कृत्रिम, मूर्ति आदि । अभि अंतर=अभ्यन्तर, आन्तरिक विवेक । उड़ै=उड जाना, मिटना । सुमिरिनी=२७ दानो की जपमाला । बहनी = वह्नि, आग । साहु=साधु, सज्जन । मुसहि=ठगी करना । जोहारा=पुकारना, प्रणाम करना । भौती=भौतिक शरीर । राता = लाल । पियरा = पीला । अबरन = बिना किसी रग का । बरन=रंग, वर्ण । ताता = तप्त, गर्म । सियरा = शीतल ।

संदर्भ—इसमे ब्राह्मणो की तथाकथित जन्मजात श्रेष्ठता और कर्महीनता पर प्रहार किया गया है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मै तीस पक्तियो के माध्यम से जो उपदेश दे रहा हूँ, उसे सभी लोग सुने । प्रभु की भक्ति के बिना यह जीवन रूपी भरी हुई नौका डूब-रही है । वास्तविक ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म को जानता है । किन्तु समाज मे ब्राह्मण वे कहे जाते है जो ब्रह्म को नही जानते है, केवल यज्ञ-मे प्राप्त धन से अपना पेट पालते है ।

वे स्रष्टा को पहचानते नही और कर्म, धर्म की बातें करते है । सूर्य-चन्द्र में ग्रहण लगने पर और अमावस्या, द्वितीया आदि तिथियो पर वे दान लेते है और अपने स्वार्थ के लिए शाति-पाठ करते है तथा पूजा करते है । ऐसे ब्राह्मणो का जीवन श्राद्ध आदि से प्राप्त अन्न के द्वारा चलता है-और उनके भीतर वासना व्याप्त रहती है । वे बराबर यह आशा लगाए रहते है कि होम (हवन) कब होगा, उसकी पूर्णाहुति कब होगी ? संसार में उनका कुल उत्तम माना जाता है, किन्तु वे कर्म नीच करते है ।

वे मृतक के श्राद्ध आदि अशुचि कर्म सम्पन्न कराकर भोजन करते है । वह भोजन एक प्रकार से उच्छिष्ट है । उनकी मति भ्रष्ट होती है । ऐसे लोग सीधे यम-लोक मे ही जाते है । वे स्वयं तो जूठा खाते है, दान मे प्राप्त अपवित्र सामग्री को पुत्र व स्त्री को भी खिलाते है । किन्तु जो वास्तव में प्रभु के भक्त है, उन्हे अछूत समझते है । वे स्नान करके तिलक लगाकर अपने को श्रेष्ठ घोषित करते है । इस प्रकार बाह्याडम्बर से अपने को पवित्र मानते है किन्तु सच्चे विष्णु-भक्तों से द्वेषक रते है । वे अपने स्वार्थ मे लगे रहते है और निकम्मे होते हैं, किन्तु सच्चे भक्तो का नाम लेते ही वे आग के समान जल उठते है । ऐसे लोग राम-कृष्ण की सच्ची उपासना की ओर ध्यान नही ले जाते और कृत्रिम (मूर्ति आदि) के दास बने रहते है । वे नाना प्रकार के कर्म काण्ड करते है तथा दूसरो को भी कर्मकाण्ड मे ही दृढ बनाते हैं । जो

लोग कर्मकाण्ड में विश्वास नही करते, उनकी वे निन्दा करते हैं और जो कर्मकाण्ड करते है, उनकी प्रशंसा करते हैं।

वे भगवान् की ऐसी भक्ति करते है कि विष्णु का नहीं, हिरण्यकशिपु का सम्प्रदाय बनाते हैं अर्थात् वास्तव मे हरिद्रोही होते हैं। आप स्वयं देख सकते है कि उनके भीतर कुमति का ही साम्राज्य है। वे विवेक से रहित हैं तथा बाहरी आडम्बर के दास हैं।

जिसकी (मूर्ति की) पूजा करने से पाप मिट नही सकते, उसी मूर्ति के समक्ष जप-माला लेकर नाम का स्मरण करते हैं। इस प्रकार वे भव-सागर मे डूबने का ही उपाय करते है। वे लोगों को पाप-पुण्य के हाथो मे फाँसते रहते है अर्थात् पाप-पुण्य का उपदेश देते रहते हैं। इस प्रकार संसार को विनाश की ओर ले जाते है। वे लोग आग के समान अपने कुल का नाश करते है। वे लोक और परलोक दोनो को नष्ट करते है। वे दूसरों के द्वार पर बैठकर ऊपर से सज्जन कहलाते है, किन्तु उनके भीतर कपट भरा रहता है और उनका मन ठगी में लगा रहता है। इस प्रकार के ब्राह्मणो को लोग देवता कहते है और बैठने के लिए ऊँचा पीढ़ा देते है। किन्तु ये ब्राह्मण स्वयं ही नष्ट होते है, अपने को भी बचा नही पाते। बताओ, किसको नीच कहा जाय और किसे श्रेष्ठ समझ कर प्रणाम किया जाय ? वस्तुतः ऊँच-नीच का भेद मिथ्या है, ऐसा कथन नीचता का द्योतक है, क्योकि सारे जगत् में पच-महाभूत अर्थात् पवन, जल, मिट्टी (पृथ्वी) आदि से सभी की उत्पत्ति हुई है और इनका स्रष्टा एक ही ब्रह्म है। उस कुम्भकार रूपी ब्रह्म ने एक ही चाक पर सारे जगत् का निर्माण किया है। जीव नाद-विन्दु (रज-वीर्य) के द्वारा शरीर धारण करता है। सभी मे एक ही ज्योति समान रूप से व्याप्त है, केवल भौतिक शरीर के द्वारा नाम-रूप का भेद है।

इन ब्राह्मणो का कार्य राक्षसो के समान है, किन्तु वे कहे देवता जाते है। वे मिथ्या विवाद में फँसे रहते है और प्रभु का चिंतन नही करते। जब शुद्धात्मा इस शरीर को छोड़कर पृथक् हो जाता है, तब उसकी कौन-सी जाति रह जाती है ? जाति का सम्बध केवल शरीर से ही है, आत्मा से नही।

बताओ शुद्धात्मा श्याम है या श्वेत, लाल है या पीला ? उसका कोई रग या वर्ण है अथवा वह सभी रंगों से पृथक् है अथवा वह किसी जाति विशेष का है अथवा उसकी कोई जाति नही ? वह गर्म है या ठंढा ? यह विचार करो कि आत्मा हिन्दू है या मुसलमान ? वृद्ध है या बालक ? स्त्री है या पुरुष ? कबीर कहते हैं कि किससे कहा जाय ? कोई उपदेश सुनता नही। जो प्रभु का दास है, वही वास्तविक तत्व को समझता है।

साखी—यह संसार जड़ता मे आज तक बहा है और अब भी बहा जा रहा है। इसे चारो ओर से पकड़ कर इसकी रक्षा करनी चाहिए। किन्तु जो समझाने पर भी न समझे, उसे दो धक्के और दे दो अर्थात् जब वह अधिक दु.ख प्राप्त करेगा, तब उसमे ज्ञान पैदा होगा।

टिप्पणी—नाद-बिन्दु—ब्रह्म के भीतर जो अव्यक्त स्पंदन होता रहता है और योगावस्था मे सुषुम्ना के भीतर जो अव्यक्त ध्वनि होती है, उसे नाद कहते है। जब ब्रह्म का नाद घनीभूत होकर सृष्टि करने के लिए उन्मुख होता है, तब उसे बिंदु कहते है। इसका दूसरा अर्थ भी है। पुरुष का वीर्य बिंदु है और स्त्री का रज-नाद। इस संदर्भ मे दूसरा अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है।

(३) कहरा

कहरा—एक विशेष प्रकार का गीत, जिसे कहार हुडक बजाकर गाते है, साथ मे नाचते भी है। इसे 'कहरवा' भी कहते है। इसके ताल मे आठ मात्राएँ होती है—धा गे न ति, न क धि न। इसे कभी-कभी दादरा मे भी गाते है।

(१)

सहज ध्यान रहु, सहज ध्यान रहु, गुरु के बचन समाई[१] हो।
मेली सिस्टि चराचित राखहु, रहहु दिस्टि लौ लाई हो।
जस दुःख देखि रहहु यहि अवसर, अस सुख होइहै पाये[२] हो॥
जो खुटुकार बेगि नहि लागै, हिरदय निवारहु कोहू हो।
मुकुति की डोरि गाढ़ि[३], जनि खैंचहु, तब बाझी बड़ रोहू हो॥
मनुवहि कहहु, रहहु मन मारे, खिझुवा[४] खीझि न बोलै हो।
मानू[५] मीत मितैयो न छोड़ै, कबहुँ[६] गाँठि न खोलै हो॥
भोगौ भोग भुगुति जनि भूलहु, जोग जुगुति तन साधहु हो।
जो यहि भाँति करहु मतवाली,[७] ता-मत के[८] चित बाँधहु हो॥
नाहि तौ ठाकुर है अति दारुन, करिहै चाल कुचाली हो।
बाँधि मारि डाँड़ि[९] सभ लै है, छुटिहै[१०] सभ मतवाली हो॥

---

१. शुक०—समोई। २. शुक०—पाई। ३. शुक०—गाँठि। ४. शुक०—खिजुआ। ५. शुक०—मानव। ६. शुक०, वि०—कमऊ। ७. शुक०—मतवलिया। ८. शुक०—का। ९. शुक०—डारि, वि०—डंड। १०. शुक०—छूटी।

जबही सॉवत आनि पहूंचैं, पीठि सांटि भल टूटिहैं हो।
ठाढ़े[1] लोग कुटुम सभ देखैं, कहे काहु के न छूटिहैं हो॥
एक तो निहुरि पॉव परि विनवैं, विनति[2] किए नहि मानै हो।
अनचिन्ह रहेउ न कियेहु चिन्हारी, सो कैसे पहिचानै[3] हो॥
लीन्ह बोलाय बात नहि पूछे, केवट गरभ ते[4] न बोलै हो।
जेकरे गॉठि समर[5] कछु नाहीं, सो[5] निरधन होय डोलै हो॥
जिन्ह सभ[7] जुक्ति अगमन कै राखिनि, धरनि माछ भरि डेहरि हो।
जेकरे हाथ पॉव कछु नाहीं, धरै लागु तेहि सोहरि[8] हो॥
पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर तीर का टोवहु हो।
उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहु को खोवहु हो॥
ऊपर[9] के घाम तरे[10] कै भूंभुरि, छाँह कतहुं नहि पायहु हो।
ऐसनि जानि पसीजहु सीझहु[11], कस न छतरिया छायहु हो॥
जो कछु खेल किए सो कीयेहु, बहुरि खेल कस होई हो।
सासु ननद दोउ देत उलाहन[12], रहहु लाज मुख गोई हो॥
गुर भौ ढील गोनि भै लचपचि, कहा न मानेहु मोरा हो।
ताजी तुरकी कबहु न साजेहुं, चढ़ेहु काठ के घोरा हो॥
ताल झाँझ भल बाजत आवैं, कहरा सभ कोई नाचै हो।
जेहि रंग दुलह बियाहन आए, तेहि रंग दुलहिनि राँचै हो॥
नौका अछत खेवै नहि जानहु, कैसे लगवहु तीरा हो।
कहहिं कबीर राम रस माते, जोलहा दास कबीरा हो॥

शब्दार्थ—सहज ध्यान=चित्त का स्वाभाविक रूप से प्रभु मे लगा रहना। मेली=मिली हुई, विकारयुक्त। राखहु=रोक रखना। चरा=चचल। लुटकार=चिंता, ध्यान। रोहू=विशेष प्रकार की मछली। खिझुवा=खीझ कर बोलनेवाला, निंदक। मतवाली=मस्ती। डाँडि=दण्ड। ठाकुर=यमराज। सावँत=यमदूत। निहुरि=झुककर। चिन्हारी=जान-पहचान। सबल=सहारा। केवट=(प्र० अ०) यमराज। गरभ=गर्व। मच्छ=मछली (प्र० अ०) मनोवृत्ति। देहरी=डेहरी। सोहरि=नाव के पाल को खीचनेवाली डोरी। पेलना=नाव खेनेवाली छोटी चौड़ी लकड़ी। अछत=रहते हुए। घाम=धूप। भूंभुरि=गर्म रेत। सीझहु=ताप या

---

१. शुक० की प्रति में यह पंक्ति नहीं है। २. शुक०—विनती। ३. वि०—पहिचनिवेउ। ४. शुक०, वि०—तन। ५. शुक०—सबल। ६. शुक०—धरनि लागि तेहि से हरि हो। ७. शुक०—सम। ८. शुक०—सेहरि। ९. शुक०, वि०—तरके, १०. शुक०, वि०—उपर के। ११. शुक०—खीजहु। १२ शुक०—उटावन, वि०—उलाटन।

कष्ट सहना । सासु = (प्र० अ०) माया । ननद = (प्र० अ०) कुमति या अविद्या । गोई = छिपाना । गुर = मस्तूल । गोनि = रस्सी । लचपचि = ढीली । ताजी (फा०) = अरबी घोड़ा । तुर्की (फा०) = तुर्किस्तान का घोड़ा ।

संदर्भ—प्रभु मे सहज-ध्यान लगाने से ही भव-सागर पार किया जा सकता है। इस शरीर से भोग और योग दोनो हो सकते है। विपयो का भोग करते हुए भी उनमे आसक्ति नही होनी चाहिए। यह शरीर ऐसी नौका है, जिससे भव-सागर पार किया जा सकता है। प्रभु अनुग्रह के लिए सदैव तैयार रहता है, जीव ही उधर उन्मुख नही होता।

व्याख्या—कबीर कहते है कि गुरु के उपदेश मे समाविष्ट होकर सहज ध्यान मे प्रवृत्त रहो, कृत्रिम ध्यान से कोई लाभ नही। यह सृष्टि विकारयुक्त है। इसकी ओर चित्त न लगाओ। चंचल चित्त को प्रभु मे लगाओ। सम्पूर्ण ध्यान भी उसी प्रभु मे लगाए रखो। प्रारम्भ मे तुम्हे जैसी कठिनाई प्रतीत होती है, प्रभु के प्राप्त होने पर वैसा ही सुख भी प्राप्त होगा। यदि प्रभु मे प्रेम न उपजे तो हृदय से क्रोध को निकाल दो। मुक्ति तक ले जाने वाली डोरी अर्थात् सुरति को दृढतापूर्वक प्रभु मे लगाओ, उसे अपनी ओर मत खीचो, प्रभु से अलग न ले जाओ, तब आत्मा रूपी मछली फँसेगी अर्थात् प्राप्त होगी। मन को प्रबोध करते रहो, उसे नियन्त्रण मे रखो। जो तुमसे खीझकर बोलता है, उससे तुम झुझँलाकर न बोलो। किसी भी मनुष्य से द्वेष भाव न रखो, मित्रता बनाए रखो और मन का पवन के साथ जो सम्बंध है, वह छूटने न पाए।

पदार्थो का भोग करते हुए भी, उनमे आसक्त न हो जाओ और योग के उपाय से साधना करते रहो अथवा योग से शरीर पर नियन्त्रण रखो। इस प्रकार योग और भोग दोनो में मस्ती बनाए रखो और उनमे चित्त को बाँधे रखो, अन्यथा भयकर यमराज दुष्टता की चाल चलेगा। वह बाँधकर पीटेगा और दण्डित करेगा, तब तुम्हारी सारी उन्मत्तता भूल जाएगी। जब यमदूत आएँगे और तुम्हारी पीठ पर कोडे पडेगे, तब तुम्हारे परिवार के लोग असहाय बनकर देखते रह जाएँगे। किसी के निवेदन से तुम्हें छुटकारा न मिलेगा। उसके सामने झुककर प्रार्थना करने पर भी यमदूत मानता नही। जीवन भर तुमने उसकी पहचान नही की, जान-पहचान का प्रयत्न नही किया, अब अत समय मे वह तुम्हे कैसे पहचानेगा ? यमदूत चलने का आदेश देता है, वह किसी प्रकार की बात सुनने को भी तैयार नही रहता। जिसकी गाँठ मे ज्ञान का सबल नही है, वह उस समय निर्धन ही रहता है। भौतिक ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति उस समय काम मे नही आती। जो सभी उपायो से अगम (प्रभु) से अपना सम्वध जोड़े हुए है, वे इसी मानव शरीर (डेहरी) के भीतर ही मनोवृत्तियो (मछलियो) को

प्रभु से अलग नही होने देते। निराकर ईश्वर को गुरुवा लोगो द्वारा बताए गए कर्म-काण्ड से प्राप्त करने का प्रयत्न व्यर्थ मे करते हो। हे अज्ञानियो! तुम्हे प्रभु ने भव-सागर मे शरीर रूपी नौका को खेने के लिए सुरति रूपी डाँडी दी है। उसके रहते हुए तुम उसके द्वारा इस भव-सागर को पार कर जाओ। उसे किनारे-किनारे क्या खोजते हो? प्रभु भव-सागर के पार है, केवल किनारे पर भटकने से उसकी प्राप्ति नही होगी।

इस भवसागर में ऊपर ही ऊपर रहो, गहराई मे जाने पर डूब जाओगे। तुम्हारी बुद्धि भ्रमित हो जाएगी। इस ससार में ऊपर से धूप है और नीचे गर्म रेत है, कही छाया नही है। यह जानते हुए भी क्यो ताप या कष्ट सह रहे हो? ज्ञान का छाता क्यो नही लगाते? बाल्यकाल से अब तक जो कर्म किए, वे तो किए ही। अब भी उनमे क्यो फँसे हो? अब तो प्रभु मे ध्यान लगाओ। माया (सासु) और कुमति (अविद्या) तुम्हें उलाहने देती है। तुम लज्जा के मारे मुँह छिपाए रहते हो।

इस शरीर रूपी नौका का सचालन करने वाले ज्ञान रूपी मस्तूल और सुरति रूपी रस्सी दोनो ढीले हो गये। तुमने गुरु के उपदेश को माना नही। तुमने कभी विवेक और भक्ति रूपी घोडे को नही सजाया, सदैव विषय रूपी काठ के घोड़े पर सवार रहे।

विवाह मे ताल-झाँझ आदि बाजे बजते है, सभी लोग उल्लासपूर्वक कहरा गाते और नाचते है। जिस उत्साह से दुलहा विवाह के लिए आता है, वधू भी उसी उल्लास से उससे प्रेम करती है; उसी प्रकार प्रभु रूपी पति जीव रूपी वधू से विवाह करने के लिए उत्साहपूर्वक आता है। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि जीवात्मा रूपी वधू उस रग मे अनुरक्त होने के लिए तैयार नही है अर्थात् उसमें भक्ति का अभाव है। राम के प्रेम मे मग्न कबीर कहते है कि इस शरीर रूपी नौका के होते हुए भी तुम उसे खेना नही जानते, फिर भव-सागर कैसे पार कर सकोगे?

अलंकार - नौका अछत तीरा हो—विशेषोक्ति।

(२)

मत सुनु मानिक मत सुनु मानिक, ह्रिदया बंध[1] निवारहु हो।
अटपट कुंभरा[2] करै कुंभरैया, चमरा गाँव न बाँचै हो।
नित उठि कोरिया पेट भरतु है, छिपिया आँगन नाचै हो॥
नित उठि नौवा नाव चढतु है, बेरहिं[3] बेरा बोरै हो।
राउर की कछु खबरि न जानहु, कैसे क झगरा निवेरहु हो॥

---

१. हस-बद। २. शुक०-कुम्हार। ३. शुक०-बेरही बेरी।

एक गाँव में पाँच तरुनि बसैं, तामँह जेठ जेठानी हो।
आपन आपन झगरा पसारिनि,[१] पिया सो प्रीति नसानी[२] हो॥
भैंसिन्ह माँह रहत नित बकुला, तकुला ताकि[3] न लीन्हा हो।
गाइन्ह माँह बसेउ नहिं कबहूँ, कैसे कै पद पहिचनवहु हो॥
पंथी पंथ पूँछि[४] नहिं लीन्हो, मूढ़हि मूढ़ गँवारा हो।
घाट छाँड़ि कस औघट रेंगहु, कैसे कै लगवहु तारा हो॥
जतइत के धन हेरिन्हि ललचिन, कोदइत के मन दौरा हो।
दुइ चकरी जनि दरर[५] पसारहु, तब पैहौ ठिक[६] ठौरा हो॥
प्रेम बान एक सतगुरु दीन्हा, गाढ़ो तीर कमाना हो।
दास कबीर कीन्ह यह कहरा, महरा माँहि समाना हो॥

शब्दार्थ—मानिक = माणिक्य (प्र० अ०) चेतन। बध = ग्रंथि। निवारहु = निवारण करना, हटाना। कुम्भरा = कुम्भकार (प्र० अ०) मन। कुम्भरैया = बर्तन (प्र० अ०) आशा। चमरा गाँव = चमड़े का गाँव (प्र० अ०) शरीर। बाँचै = सुरक्षित। मति = उपदेश। कोरिया = कोरी नामक जाति (प्र० अ०) जीव। छिपिया = छींट छापने वाला (प्र० अ०) भक्त। नौवा = नाविक (प्र० अ०) जीवात्मा। बेरहि बेरा = बार-बार। राउर = आप, आत्मतत्व। गाँव = (प्र० अ०) शरीर। तरुनि = तरुणियाँ, स्त्रियाँ (प्र० अ०) इन्द्रियाँ। जेठ = (प्र० अ०) मन। जिठानी = (प्र० अ०) कुमति। भैंसिन्ह = भैंसे (प्र० अ०) इन्द्रियाँ। बकुला = बगुला (प्र० अ०) मन। तकुला = देखने योग्य अर्थात् परम पद। गाइन = गाय (प्र० अ०) संत। पथी = पथिक। जतइत = चक्की का जाँता (प्र० अ०) पारलौकिक। कोदइत = कोदौ पीसने की चक्की (प्र० अ०) लौकिक। चकरी = चक्की। दरर = दलनेवाली वस्तु। ठिक = ठीक, वास्तविक। ठौरा = स्थान। कमाना = धनुप। महरा = (१) श्रेष्ठ, प्रधान। (२) कहार नामक जाति।

संदर्भ—सशय की ग्रथि खोलो। इन्द्रिय-सुख के चक्कर मे न पड़ो। सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग से परम पद की ओर चलो।

व्याख्या—हे चेतन जीव! मेरा उपदेश सुनो। हृदय की ग्रथि काटो। यह ग्रथि संशय की है। मन रूपी कुम्भकार आशा रूपी बर्तन का निर्माण करता है अर्थात् नई-नई तृष्णा उत्पन्न करता रहता है। चमडे का गाँव अर्थात् शरीर सुरक्षित नहीं रहता। वह नश्वर है।

---

१. शुक०, वि०-प्रगासिन। २. शुक०-नसाइन। ३. शुक०-ता किन। ४. शुक०-बूझि। ५. शुक०-दरद। ६. शुक०-ठीक।

जीवात्मा रूपी कोरी सकल्प-विकल्प से अपना पेट भरता है और वास्तविक भक्त (छीपी) संसार रूपी आँगन मे आनन्द से नाचता रहता है। जीव रूपी नाविक शरीर रूपी नाव पर बार-बार चढता है और अपने अज्ञान से उसे डुबोता रहता है।

वास्तविक आत्म-तत्त्व का बोध नही हुआ, फिर जन्म-मरण का झगड़ा कैसे निपटाया जा सकता है ? एक शरीर रूपी गाँव मे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (तरुणियाँ) बसती है। उनमे मन रूपी जेठ और कुमति रूपी जेठानी का प्राबल्य है। इन पाँचो इन्द्रियों मे विषयभोग को लेकर झगड़ा चलता रहता है। इस झगडे के कारण प्रियतम प्रभु से प्रेम समाप्त हो गया। हे जीव ! तुम्हारा मन (बगुला) रात-दिन इन्द्रियो (भैंस) मे रमा रहता है। परमपद की ओर तुम्हारी दृष्टि कभी नही जाती। तुमने सतो का संग कभी नही किया, फिर परम पद को तुम कैसे जान सकते हो ?

तुम इस ससार रूपी पथ के पथिक हो। किन्तु तुमने किसी सद्गुरु से सच्चा मार्ग जाना नही। तुम मूढ बने रहे। सद्पथ को जान नही सके। तुम श्रेष्ठ मार्ग (घाट) को छोडकर कुमार्ग (औघट) पर चलते रहे। फिर तुम्हारा उद्धार कैसे हो सकता है ?

तुम पारलौकिक सुख (जतइत) की कामना रखते हो, किन्तु तुम्हारा मन लौकिक सुखो (कोदइत) मे आसक्त रहता है। तुम दोनो चक्कियों (लौकिक-पारलौकिक) के बीच मे अपनी लालसाओ (दलनेवाली वस्तु) का प्रसार मत करो। तब वास्तविक ठिकाने (परम पद) को प्राप्त करोगे।

सद्गुरु ने भक्तो को प्रेम रूपी बाण दिया है। तुम दृढता से तीर-धनुष को सम्हालो। शरीर रूपी धनुष मे प्रेम रूपी बाण को दृढतापूर्वक धारण करो। कबीर ने यह कहरा रूपी गान प्रकट किया, जो कि श्रेष्ठ पद मे समविष्ट हो जाता है।

अलकार—प्रेमबान—रूपक।

(३)

राम नाम को सेवहु बीरा, दूरि नाहि, दुरि आसा हो।
और देव का पूजहु बौरे, ई सभ झूठो आसा हो॥
ऊपर ऊजर कहा भौ बौरे, भीतर अजहूँ कारो हो।
तन के बिरध[1] कहा भौ बौरे, मनुआ अजहूँ बारो हो॥
मुख के दाँत गए[2] कहा बौरे, भीतर दाँत लोहे के हो।
फिरि फिरि चना चबाउ[3] विषै कै, काम क्रोध मद लोभ के हो॥

---

१. शुक०—को वृद्ध। २. शुक०—मझागो। ३. शुक०—चबाय विषय को।

तन को सकल सक्ति[1] घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूनी हो।
कहहि कबीर सुनहु हो संतो, सकल सयानप[2] ऊनी हो॥

शब्दार्थ—बीरा = बीर। दुरि = दूर किए हुए। बारो = बालक। दिलासा = हौसला। सयान = चतुराई। ऊनी = कम।

संदर्भ—सभी प्रकार की तृष्णा, विषय वासना को छोड़कर प्रभु का भजन करो। इसी से कल्याण होगा। विभिन्न देव-देवियो की उपासना व्यर्थ है।

व्याख्या—हे लोगो! राम नाम की उपासना करो। वह राम तुमसे दूर नही है। तुम्हारी तृष्णा ने उन्हे दूर कर रखा है। राम को छोड़कर अन्य देवों को क्या पूजते हो? उनसे कुछ प्राप्ति की आशा व्यर्थ हैं। वे मुक्ति नही दिला सकते। ऊपर से श्वेत वस्त्र धारण करने से कोई लाभ नही, जब तक हृदय कलुषित है। शरीर के वृद्ध हो जाने से भी कोई अंतर नही आ जाता, क्योकि मन मे अब भी तृष्णा-लालसा विद्यमान है। हे मूढो! मुख के दाँत गिर जाने से भी क्या होता है? हृदय के भीतर लोहे के समान दृढ वासना रूपी दाँत विद्यमान है। काम, क्रोध, मद्, लोभ आदि के विषय रूपी चने को तुम बार-बार चवाते हो अर्थात् विषय-भोग के प्रति तुम्हारी आकाक्षा बनी रहती है। यद्यपि तुम्हारा शरीर कमजोर हो गया, उसमें शक्ति नही रही तथापि मन मे विपय-भोग का हौसला दूने रूप मे विद्यमान है। कवीर कहते हैं कि हे संतो! सुनो। सभी प्रकार की चतुराई न्यूनता की ओर ले जाती हैं। अत उसे छोडकर प्रभु का भजन करो।

(४)

ओढ़न मेरा[3] राम नाम, मै रामहि का बनिजारा हो।
राम नाम की करहुँ बनिजिया, हरि मोरा[4] हटवाई हो।
सहसनाम[5] का करौ पसारा, दिन दिन होत सवाई हो॥
जाके देव वेद पछराखा, ताके होत अढ़ाई[6] हो।
कानि तराजू सेर तिन[7] पौवा, डहकै[8] ढोल बजाई हो॥
सेर पसेरी पूरा कैले,[9] पासंग कतहुँ न जाई हो।
कहहि कबीर सुनहु हो संतो, जोर चला[10] जहँड़ाई हो॥

---

१. हंस-संग्या २. शुक०-पयान पहूनी। ३. वि०-मोरा। ४. शुक०-मोटा हटवारा। ५. यहाँ की दो पंक्तियाँ शुक० का प्रति में नहीं है। ६ वि०-हटवाई। ७. शुक०-तिर। ८. शुक०, वि०-तुकिन। ९ शुक०-करले। १०. शुक०-चले।

शब्दार्थ—बनिजारा=व्यापारी। बनिजिया=वाणिज्य, व्यापार। हटवाई= सौदा, क्रय-विक्रय। पछराखा=अनुकूल। कानि=पासग। डहकै=चिग्घाडना। सेर=(प्र०अ०) मन। पसेरी=(प्र०अ०) इन्द्रियाँ। जोर=जबर्दस्ती। जहँडाई=धोखे मे पड़ना।

सदर्भ—राम नाम का आश्रय लेकर जो मन-इन्द्रिय को वश में रखता है, उसको अभ्युदय और नि श्रेयस प्राप्त होता है।

व्याख्या—राम ही मेरे सब प्रकार के आश्रय है। मैं उनका व्यापारी हूँ। मैं राम नाम का व्यापार करता हूँ। प्रभु ही मेरा सौदा है। मैं राम नाम का प्रचार करता हूँ। यह ऐसा व्यवसाय है जो प्रतिदिन सवाया होता जाता है। जिनके लिए वेद और देव अनुकूल हैं, उनको रामनाम के व्यापार मे अढाई गुना लाभ होता है। राम नाम का सौदा करने वाले के तराजू मे ऐसा पासंग होता है कि तीन पाव का सेर भर हो जाता है अर्थात् उनका अभ्युदय हो जाता है। अत. वे ढोल बजाकर गरजते रहते है। हे। हे जीवो! मन रूपी सेर और इन्द्रियाँ रूपी पसेरी को पूर्णतः वश में कर लो। तब फिर साधारण वस्तु की प्राप्ति की इच्छा कही नही जाएगी अर्थात् इच्छा पूरी होती रहेगी। कबीर कहते है कि हे संतो! सुनो। हठपूर्वक, स्वतन्त्र रूप से चलने वाला मनुष्य, जो गुरु का उपदेश नही मानता, ठगा जाता है।

(५)

राम नाम भजु राम नाम भजु, चेति[1] देखु मन माहीं हो।
लच्छ करोरि जोरि धन गाड़िनि,[2] चलत डोलावत बांही हो॥
दादा बाबा औ परपाजा, जिन्ह के ई भुँई भाँड़े हो।
आँधर भये हियहु की फूटी, तिन्ह काहें सभ[3] छाँड़े हो॥
ई संसार असार को धंधा, अंतकाल कोइ[4] नाहीं हो।
उपजत बिनसत बार न लागै, ज्यौं[5] बादर की छांही हो॥
नाता गोता कुल कुटुम सभ, इन्ह[6] की कौन बड़ाई हो।
कहँहि कबीर एक राम भजे[7] बिनु, बूड़ी सभ चतुराई हो॥

शब्दार्थ—परपाजा=पितामह का पिता। भुँइ=जमीन। बार=विलम्ब।

सदर्भ—यह ससार नश्वर है। राम नाम ही सार है।

---

१ शुक०–चेतु। २ शुक०–गाडेहु। ३. शुक०–सब। ४. हंस–कोई। ५ वि०, हंस–जौं। ६. शुक०–इनकर। ७ शुक०–नाम।

व्याख्या—कबीर कहते है कि मन मे समझ-बूझकर राम नाम का स्मरण करो। लोग धन कमाने मे दिन-रात लगे रहते है, लाखो-करोडो रुपए एकत्र कर जमीन मे गाडते है और गर्वपूर्वक बाँहे हिलाकर चलते है। पिता, पितामह, प्रपितामह आदि ने काफी जमीन खरीदी, वर्तनो मे भरकर रुपए जमीन मे गाडे। अन्ततः उन्हे सब कुछ यही छोडकर परलोक जाना पड़ा। क्या तुम्हे यह दिखाई नही पडता ? क्या तुम्हारे हृदय की आँखे फूट गई अर्थात् तुम्हारा विवेक नष्ट हो गया ? यह ससार नश्वर है। अन्त समय मे अपना कोई नही होता। जन्म-मरण मे विलम्ब नही होता अर्थात् भौतिक जीवन नश्वर है जैसे बादल की छाया। सगे-सम्बन्धी, कुल, वंश और परिवार की क्या हैसियत ? कबीर कहते है कि राम नाम के प्रेम के बिना सब चतुराई व्यर्थ है।

अलकार—(१) ज्यौ बादर की छाँही—उपमा।
(२) अन्तिम पक्ति मे विनोक्ति।

(६)

राम नाम बिनु राम नाम बिनु, मिथ्या जनम गवाँई हो।
सेमर सेइ सुवा ज्यौं[1] जहँड़े, ऊन परे पछिताई हो।
जैसे मदपी गाँठि अरथ दै, घरहु कै अकिल गवाँई[2] हो॥
स्वादै उदर[3] भरै धौं[4] कैसे, ओसै प्यास न जाई हो।
दर्ब[5] हीन कैसन पुरुषारथ, मनहीं माँह तवाँई हो॥
गाँठी रतन मरम नहिं जानै, पारख दीन्हा[6] छोरी हो।
कहहि कबीर यहि औसर बीते, रतन न मिलै बहोरी हो॥

शब्दार्थ—जहँडे = ठगा जाता है। ऊन = रुई। मदपी = शराबी। अरथ = धन। तवाँई = ताप। बहोरी = पुन.। पारख = पारखी, सद्गुरु।

संदर्भ—विषयो के आकर्षण को छोडकर प्रभु का स्मरण करना चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि राम नाम की उपासना के बिना यह जीवन व्यर्थ चला गया। जिस प्रकार तोता सेमल के आकर्षक फल से आकृष्ट होकर उस पर चोच मारता है, किन्तु वहाँ निस्सार रुई के निकलने से वह ठगा जाता है और पछताता है, जिस प्रकार शराबी मद्यपान मे घर का धन समाप्त कर देता है और उसकी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार केवल इन्द्रियो के स्वाद मे पड़कर परिपोषण

---

१. वि०–जौं। २. वि०–गमाई। ३. हस–वोद्र। ४. हंस–दौं। ५ शुक०–द्रव्यहीन जैसे पुरुस्वारथ। ६. शुक०, वि०–लीन्हा।

कैसे सम्भव है ? वाह्य आकर्षक वस्तुएँ ओस के समान हैं। ओस चाटने से प्यास नही जा सकती, जैसे द्रव्यहीन पुरुष कोई उपलब्धि नही प्राप्त कर पाता, वह मन मे केवल सताप का अनुभव करता है, उसी प्रकार अपने पास विद्यमान आत्मा रूपी रत्न के मर्म को व्यक्ति समझ नही पाता और उसके पारखी सद्गुरु की भी शरण मे नही जाता। कबीर कहते है कि मानव जीवन का अवसर बीत जाने पर फिर पछताना पड़ेगा। यह अवसर पुनः नही मिलेगा।

अलङ्कार—(१) प्रथम पक्ति मे विनोक्ति।
(२) दूसरी पक्ति मे उपमा।
(३) स्वाद उदर ''जाई हो—दृष्टान्त।
(४) द्रव्यहीन जैसे—उपमा।

(७)

रहहु सँभारे राम-विचारे, कहता हौं जु पुकारे हो।
मूड़[1] मुड़ाय फूलि कै बैठे, मुद्रा पहिरि मंजूसा हो।
तेहि ऊपर कछु छार लपेटे, भितर भितर घर मूसा हो॥
गाँव वसत है गरव भारती, वाम काम हंकारा हो।
मोहन[2] जहाँ तहाँ लै जइहै, नहि पति रहै[3] तोहरा हो॥
मांझ मंझरिया वसै जो जानै, जन होइहै सो थीरा हो।
निरभै ह्वै[4] रहु गुरु की नगरिया, सुख सोवै दास कबीरा हो॥

शब्दार्थ—मुद्रा = स्फटिक का कर्णभूषण। मंजूसा = पिटारी (प्र० अ०) गुफा। छार = भस्म। मूसा = चोरी। भारती = सन्यासियो के दस भेदो मे एक। गाँव = (प्र० अ०) शरीर। 'वाम = कुटिल, दुष्ट। मोहन = आसक्तियुक्त मन। पति = मर्यादा, कल्याण। मांझ = भीतर। मझरिया = भीतर विद्यमान सच्चिदानन्द आत्मा। थीरा = स्थिर।

सदर्भ- इस पद मे बताया गया है कि वाह्याडम्बर से कोई सत नही हो जाता। भीतर विद्यमान आत्म-तत्व के परिचय से ही सच्चा सत बना जा सकता है।

व्याख्या—कबीर पुकारकर कहते है कि राम का विचार करते हुए अपने को सम्हाले रहो। वह वाह्याडम्बर की निन्दा करते हुए कहते है कि कुछ लोग सिर मुड़ाकर अहकार से भरे हुए अपने को सत घोषित करते है। वे कान मे स्फटिक का आभूषण पहनकर गुफा मे जाकर ध्यान लगाते है। वे ऊपर से शरीर मे भस्म लपेटे

१ शुक०–मुद्रा। २. शुक०–मोहनी। ३. शुक०–रहल। ४. शुक०–भै तहँ।

रहते है। किन्तु उनके भीतर तृष्णा ने लूट मचा रखा है। भीतर से सब खोखला है। कुछ लोग कहने को भारती नामक श्रेष्ठ सन्यासी होते है, किन्तु उनका मन सदैव शरीर रूपी गाँव मे बसा रहता है अर्थात् उसी मे आसक्त रहता है। वे कुटिल काम और अहकार से ग्रस्त रहते है। आसक्तिपूर्ण मन तुमको इधर-उधर खीच ले जाएगा और तुम्हारे योगी या सन्यासी होने की मर्यादा नष्ट हो जाएगी। भीतर सच्चिदानन्द रूपी अन्तरात्मा विद्यमान है, उसे जो जानता है, वही स्थिरता को प्राप्त होगा। कबीर कहते है कि यही गुरु (आत्मा) की नगरी है, यही अन्तरात्मा का वास है, यही निर्भय होकर रहो। जो इस मर्म को जान लेता है, उसी का जीवन सुखी है। -

(८)

छेम कुसल औ सही सलामत, कहहु कवन को दीन्हा हो।
आवत जात दोऊ विधि लूटैं, सर्व तंग हरि लीन्हा हो॥
सुर नर मुनि जति पीर औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो।
कँह लौं गनौ अनंत कोटि लौं, सकल पयाना कीन्हा हो॥
पानी पौन अकास जाहिंगे, चंद जाहिंगे सूरा हो।
ए भी जाहिंगे वो भी जाहिंगे, परत न काहु के पूरा हो॥
कुसलै कहत कहत जग बिनसै, कुसल काल की फांसी हो।
कहहिं कबीर सारी दुनिया बिनसै, रहैं राम अबिनासी हो॥

शब्दार्थ—तग=(प्र० अ०) ज्ञान। पीर (फा०) गुरु। औलिया (अ०)= सिद्ध। मीरा (फा०)=सरदार। पयाना=प्रयाण, गमन।

सदर्भ—यह संसार नश्वर है, केवल परमात्मा अविनश्वर है। उसी मे मन लगाओ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि इस ससार मे सच्चा गुरु किसे मिला है ? जन्म-मरण दोनों प्रकार से जीव लूटा जा रहा है। अविद्या ने सब ज्ञान हर लिया है। देवता, मनुष्य, मुनि, सती, पीर, सिद्ध, सरदार आदि सभी लोग जो पैदा हुए है तथा अनत कोटि जीव, जिनकी गणना संभव नही है, सभी को इस ससार से जाना होता है। जल, पवन और आकाश भी नश्वर है, सूर्य-चद्र भी नश्वर है। ससार के सभी प्राणी विनाश को प्राप्त होगे। कोई परिपूर्ण नही है। एक दूसरे का कुशल पूछते हुए अन्ततः सभी नष्ट हो जाते है। लोग जिसे कुशल समझते है, वह केवल काल की फांसी है। कबीर कहते हैं कि सारा जगत् नश्वर है, केवल राम अविनश्वर है।

(९)

ऐसनि देह निरालप बौरे, मुए[1] छुवं नहिं कोई हो।
डांड कै डोरिया[2] तोरिलाइन, जो कोटिन धन होई हो॥
उर्ध निसासा उपजि तरासा, हकराइन्हि परिवारा हो।
जो कोई आवै वेगि चलावै, पल एक रहन न पाई हो॥
चंदन चूर चतुर सभ लेपहिं, गरे गजमुकुता हारा हो।
चहुं[3] दिसि गीध मुए तन लूटैं, जंबुक उदर[4] विदारा हो॥
कहहि कबीर सुनहु हो संतो, ग्यान हीन मति हीना हो।
एक एक दिन यह गति सबकी, काह[5] राव का दीना हो॥

शब्दार्थ—निरालप = मलिन, दूषित। डाड कै डोरिया = कमर की डोरी, करधनी। तोरिलाइन = तोडकर फेंक देते है। ऊर्व = ऊपर। निसासा = निश्वास। तरासा = त्रास, भय। हंकराइन = पुकारने लगे। चूर = चूर्ण। जंबुक = सियार। विदारा = फाड डालते है। उदर = पेट। राव = राजा।

संदर्भ—प्रस्तुत अंश मे भौतिक जीवन की नश्वरता का वर्णन किया गया है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे अज्ञानी लोगो! तुम लोग जिस शरीर पर गर्व करते हो, वह इतना दूषित और मलिन है कि मरने पर उसे कोई छूना भी नही चाहता है। मरने पर कमर की करधनी भी तोड दी जाती है, भले ही वह व्यक्ति करोडपति ही क्यो न हो। मृत्यु के समय श्वास ऊपर चलने लगती है, त्रास उत्पन्न हो जाता है, व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यो को पुकारने लगता है। जो कोई आता है, वह शव को श्मशान जल्दी ले जाने की बात करता है। कोई एक पल भी उस शरीर को रहने नही देता है। जिस शरीर पर लोग चदन का चूर्ण लगाते है, गले में गजमुक्ता का हार पहनते है, उस शरीर का गीध चारो ओर से भक्षण करते है और सियार पेट फाड डालता है। कबीर कहते है कि हे सतो! सुनो। लोग ज्ञान से रहित और बुद्धिहीन है। उनकी समझ मे नही आता कि एक दिन सभी की यही दशा होगी, भले ही कोई राजा हो या रक।

(१०)

हौं सभहिन में, हौं ना[6] हो मोहि, बिलग बिलग बिलगाई हो।
ओढ़न मेरा एक पिछौरा, लोग बोलैं एकताई हो।

---

१ वि०–मुवले। २ शुक०–डन्डवक डोखा। ३. शुक०–चौमठ। ४. वि०, हंस–वोद्र। ५. शुक०–कहा। ६. शुक०–नाहीं, वि०–नहो।

एक निरन्तर अंतर नाहीं, जौं[1] ससि घट-जल झांई हो।
एकसमान कोई समुझत नाहीं, जाते जरा मरन भर्म[2] जाई हो।
रैनि दिवस मैं[3] तहवां नाहीं, नारि पुरुष समताई हो।
ना[4] मैं बालक बूढ़ो नाहीं, ना मोरे चिलकाई हो।
तिरबिधि रहौं सभनि मां बरतौं, नाम मोर रवुराई हो।
पठए न जाउँ,[5] आने नहिं आवों, सहज रहौ दुनियाई हो।
जोलहा तान बान नहिं जानै, फाॅटि बिनै दस ठाॅई हो।
गुरु-परताप जिन्हैं जस भाषो, जन बिरले सुधि पाई[6] हो।
अनंत कोटि मन[7] हीरा बेधौ, फिटकों[8] मोल न पाई हो।
सुर नर मुनि जाके खोज परे हैं, कछु कछु कबिरन्हि[9] पाई हो॥

शब्दार्थ—बिलगाई = अलग करना। पिछौरा = दुपट्टा (प्र० अ०) प्रकृति। एकताई = समानता, बराबरी। झांई = छाया। चेलिकाई = उतार-चढाव, उत्तेजना। तिरबिधि = तीन अवस्थाएँ (बाल, युवा, वृद्ध)। रमुराई = सर्वव्यापी आत्माराम। जोलहा = (प्र० अ०) जीव। फाट = थान। बिनै = बीनता है। फिटकी = सारहीन। हीरा = (प्र० अ०) चैतन्य, आत्मा।

संदर्भ—आत्मा सर्वव्यापी है। उसको न जानने से ही व्यक्ति इन्द्रियो के भोग मे पड़ा रहता है और आवागमन का चक्कर बना रहता है।

व्याख्या—यद्यपि मैं सब मे विद्यमान हूँ, फिर भी लोग अज्ञानवश मुझे पृथक्-पृथक् समझते है। प्रकृति से मिला शरीर ही मेरा दुपट्टा (वस्त्र) है। लोग अज्ञानवश दोनो को एक समझ लेते है। जिस प्रकार सभी घडों मे चन्द्रमा की छाया समान रूप से पडती है, उसमे कोई अतर नही होता, उसी प्रकार मैं आत्मा के रूप मे सबमे विद्यमान हूँ। (यहाँ चन्द्रमा की तुलना ब्रह्म से, किरणो की आत्मा से और घट की शरीर से की गई है)। कोई भी व्यक्ति इस मर्म को नही समझता है कि मैं सब मे समान रूप से विद्यमान हूँ। इसी ज्ञान से जरा-मरण का भ्रम मिट सकता है। मैं काल से परे हूँ। मैं न स्त्री हूँ, न पुरुष। मै अलिग हूँ। मै न बालक हूँ, न वृद्ध और न मेरे मे उतार-चढाव होता है। व्यक्ति शरीर से बालक या वृद्ध होता है, शरीर में उतार-चढाव आता है, आत्मा का इससे कोई सम्बध नही। मै सभी मे तीनों अवस्थाओं (बाल, युवा, वृद्ध) मे एक समान रूप से विद्यमान रहता हूँ। मैं सर्वव्यापी आत्माराम हूँ। मैं न किसी के भेजने से जाता हूँ, न बुलाने से आता हूँ। मैं सहज रूप से इस विश्व मे व्याप्त हूँ।

---

१. शुक०–ज्यौ। २. शुक०–भ्रम। ३ शुक०–ये। ४ शुक०– हौ मै। ५. शुक०–जावों। ६. शुक०–सो। ७. शुक०–मत। ८. शुक०–फटिक। ९. शुक०–कविरन।

जीव रूपी जुलाहा जीवन के शुद्ध, स्वच्छ तत्व को समझता नही। वह जीवन रूपी थान को स्वच्छ तत्व से बुनता नही। वह अनेक प्रकार के सकल्प-विकल्प करते हुए भटकता रहता है। गुरु के अनुग्रह से जिनको वास्तविक ज्ञान हो जाता है, वही बिरले जन सत्य का वास्तविक परिचय पाते है। जब मन अनत कामनाओं मे फँस जाता है, तब वह शुद्ध चैतन्य रूपी हीरा से दूर हो जाता है। तव उसकी दृष्टि मे आत्मा का फिटकरी के समान कोई मूल्य नही रह जाता। तात्पर्य यह है कि ससार मे भटकते हुए जीव की दृष्टि मे आत्मा का कोई मूल्य नही रह जाता। वह खाओ-पिओ और मौज उडाओ को ही जीवन का मूल्य समझने लगता है। जिस परमतत्व की खोज मे देवता, मनुष्य, ऋषि, मुनि सभी पडे है, उसका कुछ पता कवीर और उनके अनुयायी ही पा सकते है।

अलंकार—(१) ज्यो ससिघट जल झाई हो—उपमा।
(२) अनत कोटि···· पोई हो—रूपकातिशयोक्ति।

(११)

ननदी गे तै विषम सोहागिनि, तैं निदले संसारा गे।
आवत देखि एक संग सूती, तैं औ खसम हमारा गे॥
मोरे बाप के दुइ मेहररुआ[1], मै अरु मोर जेठानी गे।
जब हम अइलीं[2] रसिक के जग[3] में, तबहिं बात जग जानी गे॥
माई मोर मुअल पिता के संगे, सरा रचि[4] मुअल संघाती गे।
अपने मुवलि और लै मुवली, लोग कुटुम संग साथी गे॥
जौं लौं साँस रहै घट भीतर, तौलौं कुसल परी है गे।
कहँहि कबीर जब सांस निसरि[5] गौ, मंदिल अनल जरी है गे॥

शब्दार्थ—ननदी = पति की बहिन (प्र० अ०) कुमति। निदले = सुला दिया। गे = सम्बोधन 'हे' के स्थान पर, पूर्वी प्रयोग (तिरहुत मे प्रचलित)। बाप = (प्र० अ०) मूल अज्ञान। दुइ मेहररुआ = दो पत्नियाँ। जेठानी = (प्र० अ०) माया। माई = (प्र० अ०) ममता। सरा = चिता। रचि = बनाकर। संघाती = साथ मे। अनल = अग्नि।

सदर्भ—मनुष्य अविद्या और कुमति के वश मे है। इसीलिए उसका कल्याण नही होता। प्रभु-शक्ति से ही उसका उद्धार हो सकता है।

व्याख्या—अविद्या कुमति से कहती है कि हे कुमति! तू वेढब सुहागिनि है।

---

१ शुक०-मेहरुवा। २. शुक०-रहली, वि०-रहलि। ३. शुक०-संग में। ४. शुक०-सचि। ५. शुक०-निकरिगो।

तूने अपने साथ सारे समार को सुला रखा है अर्थात् वश मे कर रखा है। मैने तुझे और अपने पति (जीव) को एक साथ सोए हुए देखा है। मेरे पिता (अज्ञान) की दो पत्नियाँ है—एक मै (अविद्या) और दूसरी मेरी जेठानी (माया)। मूल अज्ञान से ही अविद्या उत्पन्न होती है। इसीलिए मूल अज्ञान को पिता कहा है। मूल अज्ञान वह है जो ब्रह्म के साथ माया को लेकर सृष्टिं मे सहायक होता है। सृष्टि होने पर अपने वास्तविक स्वरूप का बोध नही रह जाता। जब मै सासारिक विपयी लोगो के सग मे आई, तभी सासारिक विषयों का पता लगा। मेरी माता पिता के साथ चिता बनाकर जल गई अर्थात् मूल अज्ञान के नष्ट होने पर ममता भी समाप्त हो गई। ममता स्वयं तो नष्ट ही हो गई, उसके साथ परिवार के स्वजन (आशा, काम, तृष्णा, राग, द्वेप आदि) भी नष्ट हो गए।

कबीर कहते है कि जब तक शरीर मे प्राण है, तभी तक कुशल है अर्थात् तब तक प्रभु भक्ति से कल्याण होगा। प्राण के निकल जाने पर यह शरीर रूपी मंदिर आग मे भस्म हो जाएगा। तब कुछ न हो सकेगा।

(१२)

किञ्चित् पाठ-भेद के साथ यह कहरा (पद संख्या २४४) मे आ चुका है। अर्थ के लिए उसे देखिए।

(४) वसंत

वसत के माध्यम से यह बताया गया है कि परमार्थ का अनुभव ही नित्य वसत है। सासारिक जीवन मे जो वसत का समय आता है, वह थोडे दिन के लिए होता है।

(१)

जहाँ[1] बारह मास वसंत होय, परमारथ बूझै विरला कोय।
वरसै अगिन अखंडधार, बन हरियर भौ अठारह भार।
पनिया अंदर धरे[2] न कोय, पौन[3] गहै कसमलिन धोय।
बिन तरवर फूले[4] अकास, सिव बिरंचि तहँ लेहिं[5] बास।
सनकादिक भूले[6] भँवर बोय[7], लख चौरासी जोनिन[8] जोय।

---

१. वि०—जाके। २ शुक०—तेहि धरनि लोप। ३. शुक०—वह पवन। ४ शुक०—फूलो है। ५. वि०—लेहीं। ६. शुक०—फूले। ७. शक—होय। ८. शुक०, वि०—जोइन।

जो तोहि सतगुरु सत्त[1] लखाव, तातें[2] न छूटै चरन भाव।
अमर लोक फल लावै चाव, कहँहि कबीर बूझै सो पाव।।

शब्दार्थ—अगिन = ज्ञान की अग्नि। अखडधार = निरन्तर। वन = (प्र० अ०) हृदय। अठारह भार = सम्पूर्ण वनस्पति। पनिया = जल। पौन = पवन, प्राणायाम। कसमलिन = दोपपूर्ण। अकास = ब्रह्माण्ड। बोय = सुगंध। जोनिन = योनियाँ। जोय = पत्नी (प्र० अ०) माया। चाव = अनुराग।

संदर्भ—योगी साधना के द्वारा जिस आनन्द का अनुभव करते है, वह भी अनित्य है। शाश्वत वसत का साक्षात्कार परम पद की प्राप्ति से ही सम्भव है।

व्याख्या—उस परमार्थ पद को विरले लोग ही समझते है, जहाँ परमानंद-स्वरूप के उद्यान मे बारहों मास वसंत रहता है। साधारणत' लोग अनित्य वसत के आकर्षण में फँसे रहते है। उस पारमार्थिक पद में निरन्तर ज्ञानाग्नि की वर्षा होती रहती है और हृदय रूपी वन सम्पूर्ण वनस्पति जगत् के सौंदर्य का प्रतीक बन जाता है।

योगी षट् कर्म के द्वारा भीतर के दोपो का प्रक्षालन करके प्राणायाम करते है। उसके फलस्वरूप वे जिस वसंत का अनुभव करते है, वह अनित्य है। उपर्युक्त साधना से उन्हें ब्रह्माण्ड मे बिना वृक्ष के सुगंधित पुष्प का आनंद मिलता है। उस पुष्प के आकर्पण में शिव और ब्रह्मा भी भूले रहते है। उसकी सुगधि से आकृष्ट होकर सनकादिक भी भ्रमर रूप होकर मँडराते रहते है। चौरासी लाख योनियाँ इसी मायिक गध में भूली हुई है। यह वसत अनित्य है। नित्य वसत केवल परम पद है, जिसमें जीव और ब्रह्म का सायुज्य हो जाता है।

यदि सद्गुरु तुम्हे वास्तविक तत्व का परिचय करा दे तो उस तत्व के प्रति तुम्हारे हृदय मे अनुराग कम न होगा। वह अमर है। उसके प्रति भक्ति का उदय हो जाता है। वहाँ नित्य वसंत रहता है। जो इस रहस्य को समझता है, वह परमानद को प्राप्त होता है।

टिप्पणी—(१) अठारह भार—
रज्जब ने भी कहा है :—

ज्यूँ मापी मधु काढि ले, सोधि अठारह भार।
त्यूँ रज्जब तत ही गहो, तीन्यूँ लोक मंझार।।

(२) योगियों के षट् कर्म—धोती, नेती, वस्ति, न्यौली, त्राटक, कपालभाँति।

---

१. शुक०–सत सो। २. शुक०–तो ताहि।

(२)

रसना पढ़ि लेहु श्री वसंत, पुनि[1] जाय परिहौ जम के फंद।
मेरु दंड पर डंक दीन्ह, अष्ट कवँल परजारि[2] दीन्ह।
ब्रह्म[3] अगिनि कियो प्रगास, अर्ध उर्ध तहँ बहै[4] बतास।
नौ नारी परिमल सो गाँव, सखी[5] पाँच तहँ देखन धाव।
अनहद बाजा रहल पूरि, पुरुष बहत्तरि खेलै धूरि।
माया देखि कस रहहु[6], भूलि, जस बनसपती रहलि[7] फूलि।
कहँहि कबीर ई[8] हरि के दास, फगुआ माँगै बैकुंठ बास।।

शब्दार्थ—श्री वसंत = परमपद। अष्ट कवँल = सुरति कमल। परजारि = प्रज्वलित। बतास = वायु। अर्ध = नीचे, प्राणवायु। उर्ध = ऊपर, अपान वायु। डक = डंका, एक प्रकार का बाजा जो ताँबे या लोहे के बर्तन पर चमड़ा चढाकर बजाया जाता है, नगाडा। नौ नारी = नौ नाड़ियाँ (इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गाधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, पयस्विनी, लकुहा, अलम्बुषा)। परिमल = सुगंध। सखी पाँच = (प्र० अ०) पाँच ज्ञानेंद्रियाँ। अनहद बाज = अनाहत ध्वनि। पुरिष बहत्तर = शरीर मे ७२ ग्रथियाँ (१६ कण्डराएँ, १६ जाल, ४ रज्जु, ७ सेवनी, १४ अस्थि संघात, १४ सीमन्त, १ त्वचा) इनसे शरीर बँधा रहता है। धूर = धूलि। फगुआ = फागु खेलने के उपलक्ष मे दिया जाने वाला उपहार।

संदर्भ—योगियो की साधना द्वारा प्राप्त सिद्धियाँ अनित्य वसंत के समान है। परमपद ही नित्य वसत है, उसी की प्राप्ति की कामना करनी चाहिए।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे जीव! परम पद का निरन्तर स्मरण करते रहो, अन्यथा यम के पाश मे पड जाओगे।

योग के द्वारा मेरुदण्ड (सुषुम्ना नाडी) मे कुण्डलिनी के उत्थान के द्वारा डका बजाकर विजय प्राप्त की और सहस्रार के ऊपर स्थित सुरति कमल को प्रज्वलित किया अर्थात् उसे सक्रिय बनाया। प्राण और अपान के ऊपर अधिकार प्राप्त करके ब्रह्माग्नि का प्रकाश किया। नौ नाड़ियो को वश मे करके दिव्य सुगध से परिपूर्ण पद का अनुभव किया। वहाँ पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ भी आकर लय हो जाती है। वहाँ निरंतर अनाहत ध्वनि होती रहती है, तब बहत्तर कलाओ के द्वारा निर्मित इस शरीर का रहस्य उद्घाटित होता है। किंतु कबीर की दृष्टि मे योग की साधना द्वारा प्राप्त उपर्युक्त सिद्धियाँ भी मायिक एवं अनित्य है। जीव इन्ही मे अपने को भूल जाता है। ये

---

१. शुक०—बहुरि परहु जाए। २. शुक०—पर चारि लीन्ह। ३. शुक०—तब ब्रह्म। ४. शुक०—बहती। ५. शुक०—मिली सखी। ६. शुक०—रह्यो है। ७. शुक०—बन—रहल। ८. शुक०—यह।

सिद्धियाँ उस उद्यान के सदृश है, जो केवल वसत ऋतु मे ही पुष्पित-पल्लवित होता है, शेप समय उजाड रहता है। कबीर कहते है कि इस प्रकार के भक्त साधना (फगुआ) के द्वारा वैकुण्ठ रूपी उपहार चाहते है। जिस प्रकार फगुआ खेलते समय लोग दूसरो के द्वार पर जाकर उपहार माँगते है, उसी प्रकार उपर्युक्त साधक अपनी साधना के द्वारा केवल वैकुण्ठ की कामना करते है। किंतु वैकुण्ड भी वह पद है, जहाँ से पुण्य क्षीण होने पर व्यक्ति को पुन जन्म लेना पडता है। वह परम पद नही है। अतः प्रभु से सायुज्य परमपद के लिए प्रयत्न करना चाहिए। वही नित्य वसत है।

(३)

मै आयों मेहतर मिलन तोहि, रितु[1] वसंत पहिरावहु मोहि।
लम्बी पुरिया पाई छीन, सूत पुराना खूँटा तीन।
सर लागे तेहि तीन सै साठि, कसनि[2] वहत्तरि लागु गाँठि।
खुर खुर खुर खुर चलै नारि, बैठि जोलाहिन पलथि मारि।
ऊपर नचनियाँ करै[3] कोड़, करिगह[4] में दुइ चलै गोड़।
पाँच पचीसो दसहूँ द्वार, सखी पाँच[5] तहँ रची धमार।
रंग[6] बिरंगी पहिरे चीर, हरि के चरन धरि गावैं कबीर॥

शब्दार्थ—मेहतर=(१) महत्तर (प्र० अ०) सद्गुरु। (२) (फा०-मेहतर)= वुजुर्ग। रितु वसत=(प्र० अ०) परम पद। पुरिया=वह नरी जिस पर जुलाहे बाने को वुनने के पहले फैलाते है। (प्र० अ०) शरीर के अंग। पाई=पतली छडियों या वेंत का वना हुआ जुलाहो का एक ढाँचा जिस पर ताने का सूत फैलाकर खूब भाँजते है। छीन=क्षीण। खूँटा तीन=(प्र० अ०) इडा, पिंगला, सुपुम्ना। तीन सै साठ = शरीर की अस्थियाँ। कसनि = वधन। वहत्तरि गांठ=शरीर को वाँधने वाले तत्व। नारि=नाडी। जोलाहिन=(प्र० अ०) जीवात्मा। नचनियाँ=(प्र० अ०) इन्द्रियाँ। कोड=क्रीडा। करिगा=करघा (प्र० अ०) शरीर। गोड=पैर (प्र० अ०) श्वास। पचीस=प्रकृति के तत्व। दसहूँ द्वार=दस गोलक इन्द्रियाँ। पाँच सखी=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। धमार=उत्पात। चीर = वस्त्र (प्र० अ०) शरीर।

संदर्भ—माया ने आतमा को भौतिक शरीर पहनाया है। कबीर उसके स्थान पर सद्गुरु से वसंत रूपी परमपद प्राप्त करने के लिए याचना करते है।

व्याख्या—वह कहते है कि हे सद्गुरु ! मैं आपसे मिलने के लिए आया हूँ। आप मुझे नित्य वसत रूपी परम पद से सम्पन्न करे।

---

१. शुक०- अब ऋतु। २. शुक०-तहँ कसनी। ३. शुक०, वि०-करत। ४. शुक०-सो करिगा माँहि। ५. शुक०-साँच। ६. शुक०-वै रंग।

मैंने इस समय जो शरीर रूपी वस्त्र धारण कर रखा है, उसमे एक लम्बी पुरिया और क्षीण पाई (शरीर के अग) है। उसका सूत पुराना हो चुका है अर्थात् शरीर जर्जर हो चुका है। यह तीन खूँटे (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना) पर बीना गया है। इसमे तीन सौ साठ अस्थियाँ है। यह बहत्तर बंधनो से बँधा है। इसकी नाडियो मे वायु का सचार होता रहता है। इसके भीतर जीवात्मा पलथी मारकर बैठा है, इन्द्रियाँ क्रीडा करती रहती है और इस शरीर रूपी करघे मे प्राण और अपान नामक दो श्वास चलते रहते है। सभी जीव रग-बिरगे चीर पहने हुए है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का शरीर भिन्न प्रकार का है। ऐसे शरीर को धारण किए हुए कबीर प्रभु से याचना करते है कि मेरा उद्धार कीजिए।

(४)

बुढ़िया हँसि बोलै[1] मैं नितहि बारि, मोहि अस तरुनि कहौ कौन नारि।
दाँत गैल[2] मोर पान खात, केस गैल[3] मोर गंग नहात।
नैन गैल[4] मोर कजरा देत, बैस[5] गैल पर पुरुष लेत।
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने पर[6] करौं सिंगार।
कहँहि कबीर बुढ़िया आनंद गाय, पूत भतारहि बैठी खाय॥

शब्दार्थ—बुढ़िया = वृद्धा (प्र० अ०) तृष्णा के रूप मे माया। बारि = बाला युवती। पान = (प्र० अ०) विषय भोग। गंगा (प्र० अ०) लोभ, मोह। नैन गए = ज्योति चली गई। कजरा = रूप का काजल। बयस = युवावस्था। अहार = शिकार। जान = जानकार, वाचक ज्ञानी। अनजाने = अज्ञानी। पूत = पुत्र (प्र० अ०) जीव। भतार = पति (प्र० अ०) ईश्वर।

संदर्भ—माया तृष्णा के रूप मे चिर नवीन रहती है।

व्याख्या—यद्यपि माया अनादि (वृद्धा) है, किन्तु तृष्णा के रूप मे वह सदैव युवती रहती है। अतः वह कहती है कि मेरे समान दूसरी युवती कौन हो सकती है अर्थात् तृष्णा सदैव युवती बनी रहती है। विषयों का भोग (पान खाते हुए) करते हुए तमाम इन्द्रियाँ (दाँत) शिथिल हो गई। लोभ-मोह मे सदा डूबे रहने से (गगा स्नान) मेरे केश भी गिर गए। आकर्षक रूप (काजल) बनाते-बनाते मेरी नेत्र-ज्योति क्षीण हो गई। परपुरुष का संग करते-करते मेरी जवानी भी चली गई। वाक्य-ज्ञानी पुरुष मेरे शिकार हो जाते है और अज्ञानी मेरे आकर्षण मे फँसे रहते है। इसीलिए तृष्णा रूप मे माया आनंद से गाती है। वह पुत्र (जीव) और पति (ईश्वर) दोनो को आच्छादित किए हुए है।

---

१. शुक०—कहै। २. शुक०—गए। ३. शुक०—गए। ४. शुक०—गए। ५. शुक०—बयस गई। ६. शुक०, वि- को।

टिप्पणी—वस्तुतः माया ईश्वर को आच्छादित नही कर सकती, केवल जीव को आच्छादित कर सकती है। यहाँ 'आच्छादित' का तात्पर्य यह है कि वह ईश्वर की उपाधि बनी रहती है। 'उपाधि' उसे कहते है जो अपने अस्तित्व मे पार्श्व में स्थित पदार्थ को विशिष्ट बना दे अथवा प्रभावित कर दे।

अलंकार—(१) प्रथम पक्ति मे वक्रोक्ति।
(२) पूरे पद मे मानवीकरण।

(५)

तुम बूझहु[१] पंडित कवनि नारि, काहु न बियाहल है कुंवारि।
सब देवन्ह मिलि हरिहिं दीन्ह, चारिउ जुग हरि संग लीन्ह।
प्रथमैं[२] पदुमिनि रूप आहि, है सांपिनि जग खेदि खाहि।
ई भर[३] जुवती वै बार नाह, अति रे तेज त्रिय रैनि[४] ताहि[५]।
कहँहि कबीर यह जगत पियारि, अपन बलकवे रहलि मारि॥

शब्दार्थ—पदुमिनि=नायिकाएँ चार प्रकार की होती है—पद्मिनी, हस्तिनी, शखिणी, चित्रिणी। इनमे पद्मिनी सर्वोत्तम होती है। वर=श्रेष्ठ। नाह=नाथ, स्वामी। बलकवै=बच्चो को ही।

संदर्भ—सभी लोग माया के अधीन है। किन्तु माया ईश्वर के अतिरिक्त किसी के अधीन नही है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे ज्ञानियो! तुम यह पता लगाओ कि वह कौन सी स्त्री है, जो किसी की पत्नी नहीं बनी, सदा कुमारी रही। वह माया है जो सबको अपने अधीन रखती है, किन्तु स्वय किसी के अधीन नही होती। वह ईश्वर का ही अग बनकर रहती है और सदैव उसकी उपाधि बनकर रहती है। वह देखने मे पद्मिनी स्त्री के समान श्रेष्ठ है, किन्तु वास्तव में वह सर्पिणी के समान है, जो सब का पीछा करके नष्ट कर देती है। वह श्रेष्ठ युवती है और ईश्वर उसका श्रेष्ठ पति है। वह अज्ञान मे (अंधकार मे) अपना तेज दिखलाती है। कबीर कहते है कि वह सारे संसार को प्रिय है, यद्यपि वह अपने बच्चों को ही मार डालती है। जन्म और मरण माया के अधीन है।

(६)

माई मोर मनुसा अति[६] सुजान, धंधा कुटि कुटि करै बिहान।
बड़े[७] भोर उठि आँगनु बाढ़ु, बड़े[८] खाँच लै गोबर काढ़ु।

१. बि०-बुझ बुझ। २. शुक०-यह प्रथमहि। ३. शुक०-वर जोवत ऊवर नाहिं। ४. वि०-रे निराह। ५. शुक०-मा.हि। ६. हंस-अती। ७. शुक०-बडी। ८. शुक०-बड़ो।

बासी भात मनुसें[1] लीहल खाय, बड़ा घैल लै पानी के जाय।
अपने सैंयाँ के[2] बांधौं पाट, लै बेचौंगी हाटै हाट।
कहँहि कबीर ये हरि के काज, जोइया के ढिगरहिं[3] कवनि लाज॥

शब्दार्थ—मनुसा = पति। कुटि-कुटि = सम्पन्न करके। बिहान = प्रातः (प्र० अ०) दूसरा जन्म। आँगन = (प्र० अ०) शरीर। बड़े भोर = (प्र० अ०) जन्म से ही। बाढु = स्वच्छ करना। खाँच = टोकरी। गोबर = (प्र० अ०) सकाम कर्म, भोग विलास। बासी भात = (प्र० अ०) विषय। घैल = गगरा (प्र० अ०) तृष्णा। पानी = (प्र० अ०) विषय भोग। सैंयाँ = स्वामी (प्र० अ०) जीव। पाट = (प्र० अ०) वासना। हाटहि हाट = (प्र० अ०) भिन्न-भिन्न योनियो मे। जोइया = स्त्री।

संदर्भ—जीव माया के वश मे है। इसी कारण उसे भिन्न-भिन्न योनियों में जाना पड़ता है।

व्याख्या—माया कहती है कि हे माँ (अविद्या) मेरा पति (जीव) बड़ा समझदार है। वह दिन भर खूब परिश्रम करता है अर्थात् सासारिक प्रपंचों से गुजरता हुआ दूसरा जन्म लेता है। वह जन्म लेते ही शरीर रूपी आँगन को स्वच्छ करता है। फिर खाँची लेकर घर का गोबर निकालता है अर्थात् सकाम कर्मों मे प्रवृत्त हो जाता है। वह बासी भात खाता है अर्थात् दूसरो द्वारा भोगे गए पुराने विषयो का ही सेवन करता है और तृष्णा रूपी घड़ा लेकर विषय भोग रूपी जल से भरना चाहता है। मैंने अपने पति रूपी जीव को वासना की पटिया मे बाँध रखा है और उसे विभिन्न योनियो (हाटहि हाट) मे सक्रमण कराऊँगी। कबीर कहते है कि यह माया प्रभु की लीला है। जो जीव स्त्री का दास बना है, माया के वश मे है, उसे मान-मर्यादा की क्या चिन्ता?

अलकार—रूपकातिशयोक्ति।

(७)

घरहि में बाबू[4] बढ़लि रारि, उठि उठि लागै चपल नारि।
एक[5] बड़ी जाके पाँच हाथ, पाँचहु के पचीस साथ।
पचीस बतावैं और और, और बतावैं कइक[6] ठौर।
अंतर मधे अंत लेइ, झकझोरी झोला[7] जीवहिं देइ।

---

१. शुक०—मनुख लै खाए। २. शुक०—को मै बाँधी बाट। ३. शुक०—ढिग कौन है लाज। ४. वि०—बाबुल। ५. शुक०—वह बडी एक जेहि। ६. शुक०—कई। ७. शुक०—झकझोरिक झोरा।

है। अतः जीव अपने रक्षक भगवान् से त्राण की याचना करता है। यह नर तन पाकर जो मुक्ति प्राप्त कर सकेगा, कबीर की दृष्टि मे उसी का जीवन सार्थक है।

(८)

कर पल्लौ के बल[1] खेलै नारि, पंडित होय सो लेय बिचारि।
कपड़ा न पहिरै रहै उघारि, निरजिव सो धनि[2] अति पियारि।
उलटी[3] पलटी बाजै तार, काहू मारै काहू उबार।
कहहिं कबीर दासन के दास, काहू सुख दे काहू निरास॥

शब्दार्थ—कर पल्लौ = अँगुलियों के संकेत से। नारि = (प्र० अ०) माया। निरजिव = जड। धनि = स्त्री।

संदर्भ—माया ज्ञानियो का उद्धार करती है और अज्ञानियों को अधःपतन को ओर ले जाती है।

व्याख्या—ईश्वर के संकेत के बल से माया संसार मे खेल रचाती है। बुद्धिमान पुरुष ही इस रहस्य को समझ सकते है। माया सबको ढक लेती है, किन्तु विना ज्ञान के माया को कोई ढक नही सकता। वह सदैव आवरण से मुक्त रहती है। जड़ समान (मूर्ख) व्यक्तियो को वह अत्यत प्रिय है। वह माया नाना प्रकार के उल्टे-सीधे राग छेड़कर अज्ञानियो को मारती है और ज्ञानियो का उद्धार करती है। हरिभक्तो के दास कबीर कहते हैं कि वह किसी को सुख देती हैं, किसी को निराश करती है।

तुलनीय—उमा दारु जोपित की नाईं।
सबहि नचावत राग गोसाईं॥ —तुलसी

(९)

ऐसो दुर्लभ जात सरीर, राम नाम भजु लागु[4] तीर।
गए बेनु बलि[5] गए कंस, दुरजोधन गए बूड़ो बंस।
पृथु गए पृथिमी के राव, तिरविक्रम[6] गए रहे न काव।
छव चकवै मंडलिक[7] झारि, अजहूं हो नर देख बिचारि।
हनुमत कस्यप जनक बालि, ई सभ छेकल जम के द्वार।
गोपीचंद भल कीन्ह जोग, रावन[8] मरिगौ करतै भोग।
ऐसो[9] जात सभन्हि को जाम, कहहिं कबीर भजु राम नाम॥

१. शुक०—केवल। २ वि०—धन, शुक०—धन। ३. शुक०—उलटि पलटि। ४. शुक०—लागै। ५. शुक०—चलि। ६. शुक०—विकरम। ७. शुक०—मंडली के झार। ८. शुक०, वि०—जस रावन मारयो करते भोग। ९. शुक०—जात देखि नर सबके जाम।

शब्दार्थ—तीर = पार लगना। चकवै = चक्रवर्ती। मडलिक = मंडलाधीश। झारि = समस्त। छेकल = स्थान लिया। जाम = समय।

संदर्भ—यह ससार क्षणभंगुर है। इससे पार जाने का एकमात्र साधन राम की भक्ति है।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि यह दुर्लभ मानव तन भगवद् भक्ति के बिना व्यर्थ हो रहा है। राम नाम का भजन करके भव सागर के पार लग जाओ। बड़े-बड़े चक्रवर्ती मडलाधीश सम्राट् जैसे वेनु, बलि, कस आदि नष्ट हो गए। फिर साधारण मनुष्यों की क्या गणना ? राजा अंग के पुत्र वेनु, दैत्यवश के राजा बलि, मथुरा के राजा कंस, कौरवों के नायक दुर्योधन भी चले गए। उनका वंश भी नष्ट हो गया। प्रतापी राजा पृथु (वेनु के पुत्र) और त्रिविक्रम (वामन) भी नष्ट हो गए। इस पृथ्वी पर कोई न बचा। ये सभी चक्रवर्ती मण्डलाधीश राजा थे। हे मानव ! अब भी विचार कर देखो कि यह जीवन कितना क्षणभगुर है ? हनुमान, कश्यप, जनक और बालि भी यम के पाश से मुक्त न हो सके। गोपीचन्द जिन्होंने बहुत योग किया था, वह भी काल के ग्रास बने। रावण भोग करता हुआ मारा गया। सभी का समय इसी प्रकार बीतता है अर्थात् थोडे समय के लिए यहाँ सभी आते है, फिर चले जाते हैं। कबीर कहते है इस लिए राम की भक्ति करो। इसी से आवागमन से छुटकारा मिल सकता है।

(१०)

सबै[1] मदमाते कोइ न जाग, संगहि चोर घर मूसन लाग।
जोगी माते[2] धरि जोग ध्यान, पंडित माते[3] पढ़ि पुरान।
तपसी माते[4] तप के भेव, सन्यासी माते करि हमेव।
मोलना माते[5] पढ़ि मुसाफ, काजी माते[6] दै निसाफ[7]।
संसारी माते माया के धार, राजा माते[8] करि हंकार।
माते सुकदेव ऊधो अंकूर, हनुमत माते लै लंगूर।
सिव माते[9] हरि चरन सेव, कलि माते[10] नामा जयदेव।
सत्त[11] सत्त कहै सुम्रिति बेद, रावन मारो[12] घर के भेव।
चंचल मन के अधम काम, कहहि कबीर भजु राम नाम॥

शब्दार्थ—माते = उन्मत्त। मूसन = चोरी करना। भेव = रहस्य, भेद।

---

१. शुक०—सबहि। २ शुक०—मदमाते। ३. शुक०—मदमाते। ४. शुक०—मदमाते। ५. शुक०—मदमाते। ६. शुक०—मदमाते। ७. वि०—नीसाफ। ८ शु०—मदमाते। ९. शुक०—माति रहे। १०. शुक०—माति रहे। ११. शुक०—बह सत्य सत्य कहि। १२. शुक०—मरेउ घर के भेद।

हमेव=अहंकार। मोलना=मौलाना, मुल्ला। मुसाफ (अ० मुसहफ)=कुरान शरीफ। निसाफ (अ० इसाफ)=न्याय। धार=आक्रमण। अंकूर=ज्ञान का अंकुर। मारो=मारा गया।

संदर्भ—ज्ञान, भक्ति, पराक्रम सभी से अहकार हो जाता है। अहंकार विनाश का हेतु है। उस पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र साधन है—भगवान् की भक्ति। अत: राम की उपासना करो।

व्याख्या—कबीर कहते है कि इस संसार मे सभी लोग अल्प अधिकार से उन्मत्त हो रहे है। कोई भी मोह-निद्रा से जगने को तैयार नही है। मोह रूपी चोर भीतर ही भीतर मनुष्य को खोखला कर रहा है। योगी योग मे ध्यान लगाकर उन्मत्त है, पंडितो को पुराण का अहंकार है, तपस्वी तप के बल का अहकार रखते है, संन्यासियो को अह की सिद्धि का गर्व रहता है। मुल्ला को कुरान शरीफ पढने का नशा रहता है, काजी न्यायी होने का गर्व रखते है। ससार के लोग माया के प्रभाव से उन्मत्त रहते है। राजा अपने अभिमान मे चूर रहते है। शुकदेव और उद्धव अपने ज्ञान के अहंकार मे डूबे रहे। हनुमान को अपनी पूँछ पर गर्व रहा। शिव, विष्णु की चरण सेवा करके अहंकारी हो गए। कलियुग मे जयदेव और नामदेव को अपनी भक्ति का गर्व रहा। रावण घर के भेदिया के कारण मारा गया। चंचल मन का कार्य अधम होता है। वह योग और ज्ञान की सिद्धि मे भी अहंकार उत्पन्न करता है। स्मृति और वेद परमतत्त्व को सत्य नाम से पुकारते है। कबीर कहते है कि राम नाम ही सत्य है। उसी का भजन करो।

(११)

सिव कासी कैसे[1] भई तोहारि, अजहूँ हो सिव देखु[2] बिचारि।
चोवा चंदन अगर पान, घर घर सुम्रिति होय[3] पुरान।
बहु बिधि भवनन्हि लागु[4] भोग, नगर कोलाहल करत लोग।
बहु बिधि परजा लोग तोर, तेहि कारन चित्त ढीठ मोर।
हमरे बलकवा के इहै ग्यान, तोहरा के समुझावै आन।
जे जाहि मनसे रहल[5] आय, जीव को[6] मरन कहु कहाँ समाय।
ताकर जो कछु होय अकाज, ताहि दोस नहि साहेब लाज।
हर हरषित सों कहल भेव, जहाँ हम तहाँ दूसर न केव।
दिना[7] चारि मन धरहु धीर, जस देखैं तस कहहिं कबीर।।

---

१. शुक०—कस। २. शुक०—लेहु। ३. वि०—वेद। ४. शुक०—भवन में लागे। ५. शुक०—जग रहल। ६. शुक०—सो जिव मरै। ७. शुक०—तुम दिना।

शब्दार्थ—चोवा = कई सुगंधित पदार्थों को मिलाकर तैयार किया हुआ एक सुगंधित द्रव्य । अगर = धूप । परजा = शिष्य-शाखा । बलकवा = बालक । अकाज = कुगति । हर = शिव । भेव = रहस्य, भेद ।

संदर्भ—बाह्याचार से सिद्धि नही प्राप्त हो सकती है। भक्ति से ही परम पद की प्राप्ति हो सकती है ।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे शिव ! तुम अब भी समझ लो, तुम्हारी काशी की क्या गति हो रही है ? सर्वत्र बाह्याचार का बोलबाला है । घर-घर में चोवा, चदन, धूप और पान चढाया जा रहा है, स्मृति और पुराण का पाठ हो रहा है, प्रत्येक मकान मे नाना प्रकार के भोग चढ़ाए जा रहे है और सारे नगर में 'हर हर महादेव' का कोलाहल हो रहा है । तुम्हारी शिष्य-शाखा अनेक प्रकार की है । इसीलिए मैं आपके सामने धृष्टता कर रहा हूँ। लोग आपको तो तरह-तरह की बाते बताते है, किन्तु मेरे जैसे बालक के समान साधारण ज्ञान वाले का यही विचार है कि जिसकी जैसी भावना होती है उसको वैसा ही फल मिलता है । यह जीव मरने के बाद कहाँ जाता है ? उसकी जो भी कुगति होती है, वह उसी के दोष के कारण । उसके लिए आप उत्तरदायी नही है । यह सुनकर शिव ने प्रसन्न होकर यह रहस्य बताया कि सर्वत्र एकमात्र हमारी अखण्ड सत्ता व्याप्त है । मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नही है अर्थात् सर्वत्र एकरस आत्मा विद्यमान है । कबीर ने जो प्रत्यक्ष अनुभव किया है, उसी का प्रतिपादन किया है । वह अनुभव यह है कि हे मन ! थोड़े समय के लिए धैर्य धारण करके अपने को सर्वव्यापी प्रभु मे युक्त कर दो ।

(१२)

हमरा कहल के नहि पतियार, आपु बूड़े नर[1] सलिल धार ।
अंध कहै अंधा पतियाय, जस बिसुवा के लगन धराय ।
सोतो कहिए ऐसो अबूझ, खसम ठाढ़ ढिग नाहीं सूझ ।
आपन आपन चाहैं मान, झूठ प्रपंच साँच करि जान ।
झूठा कबहुँ न करिहै काज, हौं बरजौं तोहि सुनु नीलाज[2] ।
छाँड़हु पाखंड मानहु बात, नाहि तौ परिहौ जम के हाथ ।
कहहि कबीर नर कियहु[3] न खोज, भटकि मुवल जस[4] वन के रोझ ।।

शब्दार्थ—पतियार = विश्वास करने वाला । सलिल के धार = ससार सागर । अंधा = अज्ञानी गुरुवा । लगन = विवाह । अबूझ = अज्ञानी । खसम = स्वामी ।

---

१. हंस–नल । २, शुक०–निर्लाज । ३. शुक०–कियो । शुक०–जैसे वन रोझ ।

ढिग = निकट । बराजौ = मना करता हूँ । नीलाज = निर्लज्ज । रोझ = नीलगाय ।

संदर्भ—इसमे अज्ञानी गुरुवा लोगों के पाषडपूर्ण वचनो की निंदा की गई है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हमारे उपदेश पर कोई विश्वास नही करता। गुरुवा लोग तथा सामान्य मनुष्य सभी संसार-सागर की धारा मे डूबते है। अज्ञानी गुरुवा लोगों के उपदेश को अज्ञानी शिष्य सुनते है। उनका उपदेश उसी प्रकार निरर्थक है जैसे वेश्या का विवाह। लोग इतने अज्ञानी है कि अपने निकट ही स्थित प्रभु को पहचान नही पाते। गुरुवा लोग अपनी मान-मर्यादा बढाने मे लगे है और और नाना प्रकार के प्रपच को सत्य के रूप मे उपस्थित करने का प्रयत्न करते है। हे निर्लज्ज गुरुवा लोगो ! मैं तुम्हे चेतावनी देता हूँ कि असत्य कभी सत्य मे नही वदला जा सकता है। अत. पाषंड छोडो और मेरी वात मान लो, अन्यथा तुम भी यम के पाश मे पड़ोगे। कबीर कहते है कि मनुष्य ज्ञान की सच्ची खोज नही करता। अत. चारो ओर भटककर वैसे ही नष्ट होता है जैसे जगल की नीलगाय।

अलंकार—(१) जस वेस्या के लगन धराय—उपमा।
(२) जैसे वन रोझ—उपमा।

(५) चाँचर

चौदह अथवा सोलह मात्राओ की एक ताल, जिसमे होली की धुन गाई जाती है। इस धुन को चाँचर कहते है। लक्षणा से यह होली के हुडदंग और स्वाँग के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। इसमे प्राय. स्त्री और पुरुषो के दल मे प्रतियोगिता होती है। दोनो ओर से रग चलता है। कबीर ने लौकिक चाँचर को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया है। यहाँ माया चाँचर खेलती है।

(१)

खेलति माया मोहिनी, जिन्ह जेर कियो संसार।
***रच्यो रंग ते चूनरी कोइ, सुन्दरि पहिरे आय।**

*शुक० की प्रति में एक पंक्ति और है—कटि केहरि गजगामिनी, संसय कियो सृंगार।

सोभा अदबुद[1] रूप की, महिमा बरनि न जाय।
चन्द्रबदनि मृगलोचनि माया, बुंदका[2] दियो उघार।
जती सती सभ मोहिया, गज गति वाकी चाल।
नारद को मुख मांड़ि[3] के, लीन्हों बदन[4] छिनाय।
गरब[5] गहेली गरब से, उलटि चली मुसुकाय।
सिब सन ब्रह्मा बौरि कै, दोऊ पकरै जाय[6]।
फगुआ लियो छिनाय कैं, बहुरि दियो छिठकाय।
अनहद धुनि बाजा बजै, स्रवन सुनत भौ चाव।
खेलनिहारा खेलिहै, जैसी वाकी दांब।
ग्यान ढाल आगे दियो, टारे टरै न पांव।
खेलनिहारा खेलिहै, बहुरि न ऐसो[7] दांव।
सुर नर मुनि औ देवता, गोरख दत्ता व्यास।
सनक सनंदन हारिया, और की केतिक बात[8]।
छिलकत थोथे प्रेम सो, धरि पिचकारी गात।
करि[9] लीन्हों बसि आपने, फिर-फिर चितवत जात।
ग्यान गाड़ लै रोपिया, त्रिगुन लियो[10] है हाथ[11]।
सिव सन ब्रह्मा लेन[12] कहो है, और की केतिक बात।
एक ओर सुर नर मुनि ठाढ़े, एक अकेली आप।
द्रिष्टि परे उन काहु न छाँड़े, कै लीन्हों एक घाप[13]।
जेते थे तेते लिए, घूंघट माँहि समोय।
*काजर वाकी रेख है, अदग गया नहिं कोय।
इन्द्र कृस्न द्वारे खड़े, लोचन ललचि लचाय।
कहँहि कबीर ते ऊबरे, जाहि न मोह समाय॥

शब्दार्थ—जेर (फा०) = परास्त, पराजित। केहरि = सिंह। कटि कमर। रग = सत्व, रजस्, तमस् का रग। वुदका = बड़ी टिकुली। उघार खोल रखा है। माड़िके = रचकर। गहेली = गर्वीली। चाव = अनुराग दाव = अवसर, सयोग। गाड = गढ्ढा। समोय = समेटकर। अदग = बि कलंक के। लचाय = तरस रहे है।

---

१ शुक०—अद्भुत। २. शुक०—बेंदुका। ३. शुक०—मोर के। ४. शुक०, हंस०—वसन। ५. शुक०—गर्भ। ६. शुक०—धाय। ७. शुक०—वाकी। ८. शुक०—आस। ९. वि०—कै। १०. हंस० शुक० - दियो। ११. शुक०, हस०-साथ। १२. शुक० - ले लिया। १३. शुक० - छाप *ये पंक्तियाँ शुक० की प्रति में नहीं हैं।

संदर्भ—माया के मोहिनी रूप का प्रभाव सर्वव्यापी है। उससे केवल वही बच सकता है, जिसे सद्‌गुरु से ज्ञान मिला हो।

व्याख्या—लोक को मोहित करने वाली माया चाँचर नामक ताल में नृत्य कर रही है। उसने सारे ससार को अपने वश मे कर लिया है, सबको परास्त कर दिया है। माया रूपी नारी अत्यत सुन्दरी है। उसकी कटि सिह के समान क्षीण है और उसकी चाल हाथी के समान मस्ती से भरी है। उसने सशय का शृगार कर रखा है। वह लोगो मे ईश्वर के प्रति संशय उत्पन्न कर देती है। वह सत्व, रजस्, तमस् की तिरंगी चुनरी पहनकर उपस्थित हुई है। उसका सौदर्य अद्‌भुत एवं अनिर्वचनीय है। उसकी विशेषता का वर्णन नही हो सकता। उस चद्रमुखी एवं मृग के समान सुन्दर नेत्रवाली माया ने टिकुली से सुशोभित मुखमण्डल को अनावृत कर रखा है। उसने नारद को मोहित करके उनके सुन्दर मुख को बंदर के मुख में परिवर्तित कर दिया। (देखिए-मानस-नारद मोह प्रसग) और अपनी इस विजय पर गर्व से मुसकराती हुई चली गई। माया ने शिव और ब्रह्मा को भी नही छोड़ा। उनको भी जाकर अपने वश मे किया। माया ने सभी से उपहार के रूप मे फगुआ ले लिया और उसे चारो ओर वितीर्ण किया अर्थात् सबको मोह मे डाल दिया।

माया की इस क्रीड़ा से वही बच सकता है, जो सद्‌गुरु की शरण मे पहुँच चुका है। ऐसे व्यक्ति का अनाहत नाद मे अनुराग हो जाता है। उसकी कुण्डलिनी जग जाती है, तब उसमे ऐसी शक्ति आ जाती है कि वह माया के साथ सफलता-पूर्वक खेल सकता है और अपना दाँव लगा सकता है। वह सद्‌गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान रूपी ढाल को आगे कर देता है और मैदान मे अडिग रहता है। वह ज्ञानी भक्त ऐसा खेलता है कि फिर माया का दाँव नही चलता।

किन्तु जिन्हें सद्‌गुरु द्वारा ज्ञान की प्राप्ति नही हुई है, वे माया के अधिकार से छुटकारा नही प्राप्त कर सकते। देवता, मनुष्य, मुनि तथा गोरखनाथ, दत्तात्रेय, व्यास, सनक, सनदंन आदि बडे-बडे ज्ञानी और भक्त भी माया के वश मे आ गए, फिर साधारण मनुष्य की क्या बात कहूँ ? माया रूपी नारी ने कृत्रिम प्रेम की पिचकारी से लोगों पर रंग छोडकर अपने वश में कर लिया है और वापस जाते समय पीछे घूमकर देखती रहती है कि कोई बचा तो नही है। उसने त्रिगुणात्मक मोह रूपी गड्ढे मे ज्ञान को गाड़ करके रोप दिया है। इस प्रकार उसने शिव, ब्रह्मा तक को अपने वश मे कर लिया है, औरो की तो कोई बात ही नही है। चाँचर के खेल मे एक ओर देवताओ, मनुष्यो आदि का पूरा समूह है और दूसरी ओर वह स्वय अकेली है। किन्तु उसकी दृष्टि जिस पर पडती है, उसी को वह वश मे कर लेती है। उसकी छाप सब पर पड़ती

है। वह किसी को छोड़ती नहीं। उसने अपने घूँघट में समेट कर सभी को अपने वश में कर लिया है। माया की आवरण-शक्ति से सभी अपना ज्ञान खो बैठते हैं और उसके वश में आ जाते हैं। उसका स्वरूप कालिमामय है। जो भी उसके सम्पर्क में आया, वह कालिमा के दाग से बचा नहीं। इन्द्र और कृष्ण भी भिक्षुक के समान उसके द्वार पर खड़े रहते हैं और उनके नेत्र उसके दर्शन के लिए ललकते रहते हैं। कबीर कहते हैं कि माया से वही बच सकते हैं जिनके भीतर मोह नहीं है।

अलंकार—मानवीकरण, रूपक।

(२)

झारो जग का नेहारा[1] मन बौरा हो।
जामे सोग संताप समुझ मन बौरा हो।
तन धन सों का गर्वसी[2] मन बौरा हो।
भसम किरिम[3] जाके साज समुझ मन बौरा हो।
बिना नेव का देवघरा मन बौरा हो।
बिनु कहगिल की ईंट समुझ मन बौरा हो।
कालबूत की हस्तिनी मन बौरा हो।
चित्र रचो जगदीस समुझ मन बौरा हो।
काम अंध गज वसि परे मन बौरा हो।
अंकुस सहिया सीस समुझ मन बौरा हो।
मरकट मूठी स्वाद की मन बौरा हो।
लीन्हों भुजा पसारि समुझ मन बौरा हो।
छूटन की संसय परी मन बौरा हो।
घर घर नाचेउ द्वार समुझ मन बौरा हो।
*ऊँच नीच जानेउ नहीं मन बौरा हो।
घर घर खायउ डांग समुझ मन बौरा हो।
ज्यों सुवना ललनी गह्यो मन बौरा हो।
ऐसो भरम विचार समुझ मन बौरा हो।
पढ़े गुने का कीजिए मन बौरा हो।
अंत बिलैया खाय समुझ मन बौरा हो।

---

१. शुक०-मोह राम। २. शुक०-गर्भ समुझ। ३. शुक०-कीन्ह जेहि। * शुक० की प्रति में ये दो पंक्तियाँ नहीं हैं।

सूने घर का पाहुना मन बौरा हो।
ज्यौं आवै त्यौं जाय समुझ मन बौरा हो।
नहाने को तीरथ घना मन बौरा हो।
पूजन[1] को बहु देव समुझ मन बौरा हो।
बिनु पानी नर बूड़िहो[2] मन बौरा हो।
टेकहु नाम[3] जहाज समुझ मन बौरा हो।
कहँहि कबीर जग भरमिया मन बौरा हो।
छाँड़हु हरि की सेव समुझ मन बौरा हो ॥

शब्दार्थ—नेहरा=नेह, मोह। गर्वसी=गर्व करते हो। किरिम=कृमि, कीड़े। साज=शृंगार। देवघरा=देवालय। कहगिल (फा०)=काह=घास+गिल=मिट्टी, कहगिल = ईंट जोड़ने का गारा। कालबूत (फा०) = बनावटी, नाशवान। मरकट=बंदर। डांग = डंडा, लाठी। ललनी = बाँस की नली। बिलैया= काल रूपी बिल्ली। टेकहु = सहारा लेना।

संदर्भ—इस नश्वर शरीर पर गर्व करना व्यर्थ है, केवल प्रभु-भक्ति से मुक्ति सभव है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे बावले मन ! सासारिक प्रेम को भस्म कर दो, क्योकि इसमे शोक और संताप के सिवाय कुछ भी नही है। हे मन ! तन और धन पर क्या गर्व करते हो ? यह शरीर अंत मे जलाया जाता है अथवा गाड़ा जाता है, जिससे इसमे कीडे पड जाते है। यही शरीर का अतिम शृंगार है। यह शरीर बिना नीव का देवालय है अर्थात् क्षणभगुर है। यह ऐसी ईंटो का मकान है जिसमे गारा लगाया ही नही गया। पता नही यह कब गिर पड़ेगा ? प्रभु ने इसे नकली हाथी के चित्र के समान बनाया है। काम के वश मे आकर हाथी अंकुश की मार सहता है, वदर लोभवश घडे मे हाथ डालकर मुट्ठी भरता है और फिर उसके निकालने में कठिनाई पैदा हो जाती है। वह घड़े मे फँसकर मुक्ति के लिए घर-घर नाचता है और छूट नही पाता। वह जहाँ जाता है, डडे की मार खाता है। वह यह विचार नही कर पाता कि आश्रय के लिए उसे कहाँ जाना चाहिए ? बाँस की नली पर बैठकर सुआ उलट जाता है और भ्रम मे पडकर पकडा जाता है। ऐसे ही मोह, काम, लोभ एवं भ्रम के वश में पडकर मनुष्य चारो ओर मारा-मारा फिरता है और विनाश को प्राप्त होता है। शास्त्रो के अध्ययन से भी कोई लाभ नही होता। अन्ततः जीव को काल

---

१ शुक०-पुजवे। २ शुक०-बूडिया। ३. शुक०-राम।

रूपी विलाव खा जाता है। यह जीव सूने घर मे आए हुए अतिथि के समान है जो किसी प्रकार की आतिथ्य प्राप्ति के विना सूखे ही वापस लौट जाता है। बाह्याचार से भी कोई लाभ नही। स्नान करने के लिए अनेक तीर्थ है और पूजने के लिए अनेक देवता है, किन्तु इनसे उद्धार नही हो सकता। हे मनुष्यो ! तुम लोग इस भ्रम मे पडकर विना पानी के ही डूब मरोगे। प्रभु ही एकमात्र जहाज है, जिनका आश्रय लेने से उद्धार हो सकता है। कबीर कहते है कि हे अज्ञानी जीवो ! प्रभु की सेवा छोडकर तुम लोग ससार में भटकते फिरते हो। केवल प्रभु-भक्ति से ही तुम्हारा उद्धार होगा।

अलंकार—(१) विना नेव···बौरा हो—बिभावना।
(२) ज्यो सुवना ···बौरा हो—उदाहरण।
(३) अंत विलैया खाय—रूपकातिशयोक्ति।
(४) राम जहाज—रूपक।

(६) बेलि

(१)

हंसा सरवर-सरीर में हो रमैया राम,
जागत चोर घर मूसल हो रमैया राम।
जो जागल सो भागल हो रमैया राम,
सोवत गैल बिगोय हो रमैया राम॥
आजु बसेरा नियरे हो रमैया राम,
कालिह[1] बसेरा दूरि हो रमैया राम।
जैहो बिराने देस हो रमैया राम,
नैन भरहुगे[2] धूरि हो रमैया राम॥
त्रास मथन दधि मथन कियो हो रमैया राम,
भवन मथेउ भरिपूरि हो रमैया राम।
फिर[3] हंसा पाहु भयो हो रमैया राम,
बेधिनि पद निरबान हो रमैया राम॥

१. वि०–काल। २. शुक०–मरोगे दूरि हो। ३. शुक०–फिर के हंसा पाहन में।

तुम हंसा मन मानिक हो रमैया राम,
हटलो[1] न मानेहु मोर हो रमैया राम।
जस रे कियहु तस पायहु हो रमैया राम,
हमरे दोस जनि[2] देहु हो रमैया राम॥
अगम काटि[3] गम कियहु हो रमैया राम,
सहज कियहु बैपार[4] हो रमैया राम।
राम नाम धन बनिज कियहु हो रमैया राम,
लादेहु बस्तु अमोल हो रमैया राम॥
पाँच लदनुवां लादि चले हो रमैया राम,
नौ बहिया दस गोनि हो रमैया राम।
पाँच लदनुवा खाँगि परे हो रमैया राम,
खाँखरि डारिनि[5] फोरि हो रमैया राम॥
सिर धुनि हंसा उड़ि चलै हो रमैया राम,
सरवर मीत जोहारि हो रमैया राम।
आगि जो लागी सरवर में हो रमैया राम,
सरवर जरि भौ धूरि हो रमैया राम।
कहहि कबीर सुनु संतो हो रमैया राम।
परखि लेहु खरा खोट हो रमैया राम॥

शब्दार्थ—वेलि = लता (प्र० अ०) माया। हंसा = जीव। सरवर = सरोवर (प्र० अ०) शरीर। मुसल = चुरा लिया। विगोय = नष्ट हो गया। बसेरा = निवास। बिराने = पराये। त्रास = भय। भरपूर = अत्यंत। भवन = (प्र० अ०) देह। वेधिन = विच्छेदन किया, नाश कर दिया। हटलो = निषेध, मनाही। अगम = (१) अगम्य (२) निर्गुण। गम = (१) गम्य, प्रवेश (२) सगुण। बनिज = वाणिज्य। लदनुवा = लादने वाले। वहिया = वाहक। पाँच लदनुवा = पंच तत्व। नौ वहिया = चार अन्त करण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) + पाँच प्राण। गोनि = थैला। दस गोनि = (प्र० अ०) दस इन्द्रियाँ। खाँगि = खुरहा नामक रोग जिससे पशु चलने मे असमर्थ हो जाता है। खाँखरि = खोपडी (ला० अ०) शरीर। जोहारि = प्रणाम। सरवर = (प्र० अ०) शरीर।

संदर्भ—यह शरीर नश्वर है। अत. उसमे आसक्ति व्यर्थ है। प्रभु-भक्ति ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

---

१. शुक०-टहल। २. शुक०-का। ३. शुक०-कोटि। ४. शुक०-बिस्वास। ५. शुक०-डारिलि।

व्याख्या—कबीर कहते है कि जिस प्रकार हस सरोवर मे रहता है, उसी प्रकार जीव का वास शरीर मे है। जीव के विद्यमान रहते हुए भी काम, क्रोध आदि चोरो ने शरीर रूपी घर मे चोरी कर ली है। जिसने देहासक्ति त्याग दिया है, वह बाह्य वस्तु (कामादि) से छुटकारा पा गया है। जो वास्तविकता से दूर है, ज्ञान की प्राप्ति जिसे नही हुई है, जो अज्ञान की निद्रा मे सो रहा है, वह नष्ट हो जाता है। हे जीव ! अभी तो तुम्हारा निवास निकट है अर्थात् तुम मनुष्य-देह मे हो, किन्तु बाद मे तुम्हारा निवास किसी अन्य योनि मे हो जाएगा। तुम किसी पराए देश मे चले जाओगे, तब तुम्हारे ज्ञान-नेत्र मे धूलि भर जाएगी अर्थात् तुम्हारा विवेक समाप्त हो जाएगा। अभी नर-तन मे तुम्हारा विवेक कुछ कार्य कर सकता है। तुम्हारे मन को भय दही के मथने के समान मथन करता रहता है और तुम्हारे पूरे शरीर रूपी भवन को मथ डालता है। फिर यह जीव इस शरीर से निकल कर अतिथि के समान दूर चला जाता है। तुमने मोक्ष-पद को विच्छिन्न कर डाला है। हे जीव ! तुम मन के लिए माणिक्य हो अर्थात् मन को भी प्रकाश देने वाले हो। फिर भी तुम मना करने पर मानते नही हो, कामादि के वश मे पड़े रहते हो। तुम जैसा करोगे, कर्मानुसार वैसा भोग पाओगे। फिर मुझे दोष मत देना कि मैंने चेतावनी नही दी। तुम निर्गुण को छोड़कर मिटाकर, सगुण के चक्कर मे पडे हो और आहार, निद्रा आदि के सहज व्यापार मे लगे रहते हो। तुम राम की वास्तविक भक्ति न करके उसका व्यापार करते हो अर्थात् तुमने राम नाम रूपी अमूल्य पदार्थ को लाद रखा है, किन्तु उसका मर्म नही जानते। इस शरीर के पाँच तत्व राम नाम को लादने का काम करते है, अन्त.करण और पंच प्राण वाहक या व्यापारी है, दस इन्द्रियो मे जीवन का पदार्थ भरा जाता है। किन्तु जब पच तत्व जरावस्था मे असमर्थ हो जाते है, तब यह शरीर नष्ट हो जाता है और जीव शरीर को छोड़ देता है। वह इस शरीर के सम्बधियो को प्रणाम करके चला जाता है। तब शरीर रूपी सरोवर मे आग लग जाती है अर्थात् शरीर जला दिया जाता है। वह जलकर भस्म हो जाता है। कबीर कहते है कि हे संतो ! सुनो, तुम स्वय परीक्षा करके देख लो कि खरा-खोटा क्या है ? प्रभु-भक्ति ही सच्चाई है, शेष नश्वर है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

(२)

भल सुम्रिति जहड़ायहु हो रमैया राम,
धोखे कियहु बिसवास हो रमैया राम।
सो[1] तो है बन सीकसी हो रमैया राम,
सो रे कियहु बिसवास हो रमैया राम॥

---

१. शुक०-ऐते हैं बनसी कसी।

ई तो है[1] बेद भागवत हो रमैया राम,
गुरु दीहल मोहि थापि हो रमैया राम।
गोबर कोट उचाए[2] हो रमैया राम,
परिहरि जैवहु खेत हो रमैया राम॥
बुधि[3] बल जहाँ न पहुंचै हो रमैया राम,
तहाँ खोज कस होई हो रमैया राम।
सो सुनि मन धीरज भयल हो रमैया राम,
मन बढ़ि रहल लजाय हो रमैया राम॥
फिरि पाछे जनि हेरहु हो रमैया राम,
कालबूत सब आहि हो रमैया राम।
कहँहि कबीर सुनो संतो हो रमैया राम,
मन बुधि मति[4] फैलावहु हो रमैया राम॥

शब्दार्थ—भल=अच्छी तरह। जँहडायेहु=धोखे मे पडना, हानि उठाना। सीकसी=असर। थापि=स्थापित करना। कोट=दुर्ग (प्र० अ०) शरीर। परिहरि=छोड़कर। जैहो खेत=मृत्यु की प्राप्ति। कालबूत=सारहीन।

संदर्भ—संसार असार है। परमतत्व को मन-बुद्धि से नही जाना जा सकता। सद्‌गुरु के उपदेश से ही उसका अनुभव किया जा सकता है।

व्याख्या—कबीर कहते है कि पडितों के शास्त्रो ने लोगों को अच्छी प्रकार से घोखे में डाल दिया हैं। धोखे मे आकर लोगो ने उनका विश्वास कर लिया है। ये सभी शास्त्र ऊसर के जगल के समान है, जिन पर तुमने व्यर्थ ही विश्वास कर लिया है। गुरुवा लोग जो उपदेश देते हैं, वह केवल वेद-शास्त्र तक सीमित है, किन्तु सद्‌गुरु ने अपने अनुभव से मुझे निश्चित ज्ञान का मार्ग बताया है। उन्होने बताया है कि यह शरीर (कोट) मलिन है। इसको छोडकर एक दिन मरण का वरण करना अवश्य-भावी है। वास्तविक तत्व ऐसा है जहाँ मन-बुद्धि से नही पहुँचा जा सकता। यह तथ्य जानकर मन मे धैर्य धारण करो। जो मन पहले सब कुछ जान लेने का गर्व करता था, वह अब परमतत्व की जानकारी के सम्बन्ध में अपनी असमर्थता समझकर लज्जित हो रहा है। संसार मे जो कुछ है, वह कृत्रिम एवं सारहीन हैं। अतः ससार मे तत्व को मत खोजो। कबीर कहते है कि परमतत्व की खोज मे मन, बुद्धि काम नही दे सकती। उसकी प्राप्ति सद्‌गुरु के उपदेश से ही हो सकती है।

---

१. शुक०—वेद सास्त्र हो। २. शुक०, वि०—उठायहु। ३. शुक०, वि०—मन बुधि। ४. शुक०—ढिग।

(७) बिरहुली

विरहुली—अज्ञानी लोग जो आत्मदेव से विशेष रूप से रहित हो गए है, वे विरहुली है, तात्पर्य है—सासारिक जीव ।

आदि अंत नहिं होत बिरहुली, नहिं जर पल्लौ पेड़ बिरहुली ।
निसु बासर नहिं होत बिरहुली, पौन पानी नहिं मूल बिरहुली ।
ब्रह्मादिक सनकादि बिरहुली, कथि गेल[1] जोग अपार बिरहुली ।
मास असाढ़े[2] सीतल बिरहुली, बोइनि सातो बीज बिरहुली ।
×नित कोड़ै नित सींचै बिरहुली, नित नव पल्लौ पेड़ बिरहुली ।
छिछिल बिरहुली छिछिल बिरहुली, छिछिल रहलि तिहुँ लोक बिरहुली ।
फूल एक भल फूलल बिरहुली, फूलि रहल संसार बिरहुली ।
सो फूल लोरैं सत[3] जना बिरहुली, बंदि के राउर जाँहि बिरहुली ।
*सो फूल बन्दहिं भक्त बिरहुली, डसि गैल बैतल साँप बिरहुली ।
बिषहर मंत्र न मान बिरहुली, गारुड़ि बोलै अपार बिरहुली ।
बिष की कियारी बोयहु बिरहुली, लोढ़त का पछिताहु बिरहुली ।
जनम जनम जम अंतर बिरहुली, फल एक कनयर[4] डार बिरहुली ।
कहँहि कबीर सचुपाव बिरहुली, जो फल चाखहु मोर बिरहुली ।।

शब्दार्थ—जर = जड । निसि बासर = रात, दिन । छिछिल = फैल गया । लोढै = चुनना, तोडना । राउर = आत्म देव । बैतल = विषधर । बिसहर = विष को हर लेने वाला । गारुडि = मत्र जानने वाला (प्र० अ०) सद्गुरु । जम अतर = यम के वश मे । कनयर = विषैला कँटैल का वृक्ष ।

संदर्भ—परम तत्व काल और देश से परे है । परन्तु माया या प्रकृति के द्वारा उसमे संसार-वृक्ष फैलता है । जो सद्गुरु का उपदेश मानते है, वे उस वृक्ष के विषैले प्रभाव से बच जाते है, अन्यथा यम के पाश मे बाँधे जाते है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि हे सासारिक जीवो ! परमतत्व का न आदि है, न अत अर्थात् वह अनादि और अनत है, काल से परे है । उसका कोई अवयव नही है; न जड है, न शाखा है और न पल्लव । वह निरवयव है, अखण्ड है । उस परम तत्व में दिन-रात नही है । वह स्वय प्रकाश्य है । उसके मूल में जल की आवश्यकता

---

१. शुक०-गए । २. शुक०-असारढि *शुक० की प्रति में यहाँ डेढ पंक्तियाँ छूटी हैं । ३. शुक०-भक्त *यह पंक्ति शुक० की प्रति में नहीं है । ४. शुक०-कनवलडार ।

नही। उसके पोषण के लिए पवन की आवश्यकता नही अर्थात् वह अभौतिक है। उस पद को पाने के लिए ब्रह्मा और सनकादि ने अनेक प्रकार के योग बताए है।

उस परम तत्व से प्रारम्भ मे (आषाढ़ मास मे) सात मूल तत्व (पाँच तन्मात्राएँ—रूप, रस, गंध, स्पर्श, श्रवण + बुद्धि व अहंकार) उत्पन्न हुए। उनकी सिंचाई व गोडाई हुई, जिससे उस वृक्ष का विस्तार हुआ। धीरे-धीरे वह संसार-वृक्ष तीन लोक मे फैल गया। उसमे एक अनोखा फूल (काम या वासना) लगा। वह सारे ससार में फैल गया। संत लोग उस फल (काम) को तोड डालते है और उसे आत्मदेव पर चढाकर छुटकारा पा जाते है। किन्तु जो संत नही है, केवल पुजारी है, वे उस फूल की वंदना करते है, उसे अपना लेते है। इसलिए वह फूल विषधर साँप की तरह उन्हे डस लेता है। सद्गुरु उस विष को उतार सकता है, किन्तु सासारिक लोग उसके उपदेश को नही मानते। वे लोग अपने दुष्कर्म रूपी विष की क्यारी बोते है। अतः उसका फल काटने मे व्यर्थ पश्चात्ताप करते है। इस संसार रूपी वृक्ष का विषैला फल प्राप्त करके वे जन्म-जन्मान्तर यम के वश मे रहते है। कबीर कहते है कि यदि मेरे उपदेश रूपी फल को चखोगे तो सत्य को प्राप्त करोगे।

(८) हिंडोला

(१)

भरम हिंडोलना झूलै सब जग आय।
पाप पुन्नि के खंभा दोऊ मेरु माया मांनि[१]।
लोभ[२] मरुवा विषै भँवरा काम कीला ठानि।
सुभ असुभ बनाय डाँड़ो गहै दोनौ पानि।
करम पटरिया बैठिकै को को न झूलै आनि।
झूलै[३] गन गंध्रप मुनिवर झूलैं[४] सुरपति इन्द्र।
झूलैं[५] नारद सारदा झूलैं[६] ब्यास फनिंद्र।
झूलैं[७] बिरंचि महेस सुक मुनि झूलैं[८] सूरज चंद।
आपु निरगुन सगुन होय के झूलिया गोविंद।
छौ चारि चौदह सात इकइस तीनि लोक बनाय।
खानी[९] बानी खोजि देखहु फिर न कोउ रहाय।

---

१. वि०, शुक०मांहि। २. शुक०—लोभ भँवरा विखय मरुवा। ३. शुक०—झूलत। ४. शुक०—झूलत। ५. शुक—झूलत। ६. शुक—झूलत। ७ शुक०—झूलत। ८. शुक०—झूलत। ९. शुक०—खानी बानी खोजि के देखहु, छूटे कतहू न हिं।

*खंड ब्रह्माण्ड षट दरसना छूटत कतहूँ नाहि ।
साधु संत[1] बिचारि देखहु जीव तरि[2] कँह जाहि ।
रैनि[3] दिवस न चंद सूरज तहाँ तत्त-पल्लौ[4] नाहि ।
काल अकाल प्रलै नहीं तहाँ संत बिरलै जाहि ।
तहाँ के बिछुरे बहु कलप बीते भूमि परे भुलाय ।
साधु संगति[5] खोजि देखहु बहुरि[6] उलटि समाय ।
यह झूलिबे की भय नहीं जो होंहि संत सुजान ।
कहँहि कबीर सत सुकित मिलै तो बहुरि न झूलै आय ॥

शब्दार्थ—हिंडोला = भ्रम का झूला । मेरु = हिंडोले के दोनो खम्भो के बीच की लकडी । मरुवा = ऊपर की लकड़ी जिसमे हिंडोला लटकाया जाता है । भँवरा = हिंडोले की एक लकडी जो मयारी (धरन) मे लगी रहती है और जिसमे डोरी तथा डडी बँधी रहती है । कीला = खूँटी । डाँडी = हिंडोले में लगी हुई चार लकडियाँ या डोरी की लरें जिनसे बँधी हुई बैठने की पटरी लटकती रहती है । पटरिया = काठ का तख्ता । गन = गण, शिव के सेवक । फनीन्द्र = शेष नाग । सुक = शुकदेव । छौ = छ. शास्त्र (साँख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमासा, वेदान्त) । चार = चार वेद (ऋक्, यजु, साम, अथर्वण) । चौदह = भुवन (सात स्वर्ग—भू, भुव, स्व, जन, तप, मह, सत्य + सात पाताल—अतल, वितल, तल, सुतल, महातल, रसातल, पाताल) । इकइस = १४ भुवन + सात दीप (जबु, कुश, प्लक्ष, क्रौच, शाक, पुष्कर, शालमलय) तीन = तीन लोक (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) । खानी = उत्पत्ति स्थान (अंडज, पिंडज, स्वेदज, जरायुज) । बानी = ग्रथ, वाणी । षट दरसना = योगी, जगम, शेवडा, संन्यासी, दरवेश, ब्राह्मण । कल्प = काल का एक विभाग जिसे ब्रह्मा का एक दिन कहते है, जिसमे १४ मन्वन्तर व ४३२०० ००००० वर्ष होते है । सत सुकृत = सत्य परुष, ईश्वर ।

सदर्भ—संसार एक भ्रम का झूला है, जिस पर सुर, नर, मुनि सभी झूलते है । जो सत्यपुरुप का साक्षात्कार करते है, वही इस झूले से छुटकारा पाते है ।

व्याख्या—कबीर कहते है कि सभी लोग इस ससार में आकर भ्रम के झूले मे झूलते है अर्थात् भ्रम मे पडे हुए है । इस झूले मे पाप-पुण्य के दो खम्भे है और माया ही मेरु (दोनो खम्भो के बीच की लकडी) है, लोभ मरुवा है, विषय भँवरा है, काम खूँटी है, शुभ-अशुभ कर्म डाँड़ी है जिसको झूलनेवाले दोनो हाथों से पकड़े

*शुक० की प्रति में यह पंक्ति नही है ।

१. शुक०-संग बिलारि । २. शुक०-निस्तरि जाहि । ३. हंस-ससि सूर रैनी सारदा । ४. शक०-परलै । ५ शुक०-संग । ६. शुक०-बहुरि न ।

रहते है। यहाँ आकर (जगत् मे) कर्म रूपी पटरी पर बैठकर कौन झूला नही झूलता ? शिव के गण, गंधर्व, वडे-बड़े मुनि, देवताओ के स्वामी इन्द्र, भक्त नारद, देवी शारदा, महर्षि व्यास, शेषनाग, ब्रह्मा, महेश, शुकदेव मुनि, सूर्य और चन्द्र सभी इस भ्रम के झूले मे झूल रहे है। स्वय ईश्वर जो निर्गुण है वह भी सगुण होकर इसी झूले मे झूलता है। छ शास्त्रो, चार वेदो, चौदह भुवनो, सात लोको अथवा दोनो को मिलाकर इक्कीस भुवनो, चारो योनियो तथा सभी ग्रथो की वाणियो मे खोजकर देखो, यह स्पष्ट मिलेगा कि इनमे कोई भी स्थिर नही रहता। ब्रह्माण्ड हो या खण्ड अथवा छ· प्रकार के दर्शन हो, कोई भी बंधन से छूटता नही। हे साधु संतो ! विचार कर देखो कि ससार को पार करके यह जीव कहाँ जाता है ? जो वास्तविक परमार्थ है, वहाँ न रात है न दिन, न सूर्य है न चन्द्र और न वहाँ प्राकृतिक तत्व है, न उनका विस्तार। वहाँ न काल की गति है, न अकाल है, न प्रलय है। ऐसे परमार्थ मे कोई बिरले ही सत पहुँचते है। उस परमार्थ तत्व से वियुक्त होने पर जीव अनेक कल्पों तक अपने स्वरूप को भूलकर पृथ्वी पर भटकता रहता है। साधुओ की संगति से यह पता चलेगा कि जीव पुन. वापस जाकर उसी मे समा जाता है। यदि कोई विवेकी सत हो तो उसे इस झूले का भ्रम नही है। कबीर कहते है कि यदि सत्य-पुरुष से मिलन हो जाय तो फिर आवागमन से मुक्ति मिल जाएगी और संसार मे आकर पुन. इस झूले मे नही झूलना पडेगा।

अलंकार—सांग रूपक।

(२)

बहु बिधि चित्र बनाय के हरि रच्यो[1] क्रीड़ा रास।
जाहि न इच्छा झूलिबे की ऐसी बुधि केहि पास।
झूलत झूलत बहु कल्प बीते मन नहि छोड़ै आस।
रच्यो[2] हिंडोला अहो निसि चारि जुग चौमास।
कबहुँ ऊँचे कबहुँ नीचे सरग भूमि[3] ले जाय।
अति भरमत भरम हिंडोलना[4] नेकु नहीं ठहराय।
डरपत हौं यह झूलिबे को राखु जादवराय।
कहहिं कबीर गोपाल बिनती सरन हरि तुव[5] आय॥

---

१. शुक०-रचित। २. शुक०-रचो रहस हिंडोलना निसि। ३. शुक०-भूत। ४. शुक०-हिंडोलवा। ५. हंस-तुम।

शब्दार्थ—चित्र = भोग-वासना का चित्र। क्रीड़ा रास = केलि, नृत्य। जादवराय = कृष्ण। आस = तृष्णा।

संदर्भ—जीव इस भ्रम रूपी हिंडोले मे नाना कल्पों तक झूलते हुए भी तृष्णा को नही छोडता। उसकी रक्षा प्रभु की शरण में जाने पर ही हो सकती है।

व्याख्या—प्रभु ने नाना प्रकार के भोग-वासना के चित्र बनाकर जीवन का रास रचा है। ऐसा कौन है जिसको भोग के लोभ मे इस जगत् रूपी झूले मे झूलने की इच्छा न हो। जीव की विचित्र स्थिति है कि इस संसार रूपी झूले मे झूलते हुए न जाने कितने कल्प बीत गए, फिर भी उसका मन तृष्णा नही छोडता। चार युग रूपी चौमास (वर्षा ऋतु) मे दिन-रात झूला पडा रहता है। लोग उस पर झूलते रहते है। उस झूले मे लोग ऊपर-नीचे झूलते रहते है। यह भ्रम रूपी झूला सदैव चलता रहता है, कभी रुकता नही। कबीर कहते है कि हे प्रभु ! मैं तुम्हारी शरण मे आकर विनय करता हूँ। इस भ्रम रूपी हिंडोले में झूलने से मैं डरता हूँ। आप ही मेरी रक्षा करे।

(३)

लोभ मोह के खम्भा दोऊ मन से रच्यो हिंडोर।
झूलहि जीव जहान जहँ कतहूँ नहीं थिति[1] ठौर।
चतुरा झूलहि चतुराइया झूलहि राजा सेस।
चाँद सूरज दोउ झूलहि उनहु[2] न अग्या भेव।
*लख चौरासी जीव झूलहि रविसुत धरिया ध्यान।
कोटि कल्प जुग बीतल[4], अजहुँ न मानै हान[5]।
धरति अकास दोऊ झूलहि झूलहि पवना नीर।
देह धरे हरि झूलहि ठाढ़े देखहिं हंस कबीर॥

शब्दार्थ—मन = निरंजन मन। जहान = विश्व। थिति ठौर = स्थिर स्थान। चतुराइया = चतुराई मे। रविसुत = यमराज। हस = मुक्त जीवात्मा।

संदर्भ—यह झूला सदैव चलता रहता है। इसमे सभी झूलते रहते है, केवल ज्ञानी पुरुष जो मुक्त हो जाते है, वही साक्ष्य रूप से इस झूले को देखते रहते है।

---

१. शुक०–थिय। २. शुक०–रवि सुत धरिया ध्यान। *शुक० की प्रति में यह पंक्ति नहीं है। ४ शुक०–बीतिया। ५. शुक०, हंस-हारि।

व्याख्या—निरंजन मन ने लोभ और मोह के खम्भे मे ससार रूपी हिंडोला डाल रखा है। सभी जीव उसी मे झूलते रहते है। उन्हे कभी विश्राम नही मिलता। बड़े-बड़े चतुर लोग, जो अपनी चतुराई से बाज नही आते, वे भी इसी झूले मे झूलते रहते है। शेषनाग, सूर्य और चन्द्र भी इसी झूले मे झूलते रहते है। वे इसकी (मन की) आज्ञा को टाल नही सकते। चौरासी लाख जीव इसी झूले मे झूलते रहते है और यमराज इनकी ओर निरन्तर ध्यान लगाए बैठा है। करोड़ो कल्प वीत गए, फिर भी अज्ञानी जीव हार नही मानता। पृथ्वी और आकाश, पवन और जल सभी इसी झूले मे झूलते रहते है। यहाँ तक कि विष्णु भगवान् भी देह धारण करने पर इसी झूले मे झूलते है। मुक्त कबीर साक्ष्य रूप से इस तमाशे को देखते रहते है।

परिशिष्ट

२

कबीर के पदों में प्रयुक्त रागों के लक्षण

१. राग—आसावरी
२. राग—कल्याण
३. राग—काफी
४. राग—कानरो
५. राग—केदार
६. राग—गौरी
७. राग—धनाश्री
८. राग—बसत
९. राग—बिलावल
१०. राग—मलार
११. राग—मारू
१२. राग—भैरव
१३. राग—रामकली
१४. राग—ललित
१५. राग—विहागड़ा
१६. राग—सारंग
१७. राग—सोरठ

रागों के लक्षण

(१) राग आसावरी

लक्षण—आसावरी राग मे आरोह मे गाधार और निषाद स्वर वर्जित है। अवरोह सम्पूर्ण है। इसमे गाधार, धैवत और निषाद कोमल स्वर है। इसके गाने का समय दिन का दूसरा प्रहर है।

ऋषभ दो प्रकार से लगता है—(१) तीव्र ऋषभ (२) कोमल ऋषभ। इसका वादी स्वर धैवत हैं और सम्वादी गाधार। इसका आरोहावरोह स्वरूप निम्नलिखित है—

(i) तीव्र ऋषभ प्रकार—

सा, रे म प, ध, सा। सां नि ध, प, म ग, रे, सा।

(ii) कोमल ऋषभ प्रकार—

सा, रे म प, ध, सा। सां नि ध, प, म ग, रे सा।

(२) राग कल्याण

कल्याण राग प्राय. शुद्ध कल्याण के लिए प्रयुक्त होता है। इसके आरोह में मध्यम और निषाद वर्ज्य है। इसको जाति औडुव-सम्पूर्ण है। इसका वादी स्वर गाधार है और संवादी धैवत है। इसका समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। इसमें अवरोह मे सब तीव्र स्वर लगते है और आरोह मे शुद्ध स्वर लगते है, किन्तु मध्य और निषाद वर्ज्य है। इस राग मे पचम और ऋषम की सगति वहुत ही सुदर प्रतीत होती है। इसका आरोहावरोह स्वरूप निम्नलिखित है :—

सा, रे ग, प ध सा, सां नि ध प, मं ग, रे, सा

कुछ लोग यमन (ऐमन) राग को भी कल्याण ही कहते है। यमन मे आरोह और अवरोह दोनो सम्पूर्ण है और दोनो मे सव तीव्र स्वर लगते है। इसका आरोहा-वरोह स्वरूप निम्नलिखित है :—

स, रे, ग, मं, प, ध, नि सं। स, नि, ध, प, मं, ग, रे, स।

(३) राग काफी

लक्षण—इस राग में गाधार और निषाद स्वर कोमल होते है, शेष स्वर शुद्ध लगते है। इसका वादी स्वर पचम है और सम्वादी स्वर षड्ज है। इनके गायन का समय रात्रि है। कुछ लोग इसके गायन का समय सायकाल भी मानते

है। इसके आरोह में तीव्र गाधार और तीव्र निषाद का भी स्वल्प प्रयोग होता है। इस राग का आरोहावरोह स्वरूप इस प्रकार है :—

सा रे ग॒, म, प, ध नि॒ सा। सा नि॒ ।, प, म ग॒, रे, सा।

(४) राग कानरो (कनड़ो)

यह राग आसावरी ठाट में उत्पन्न हुआ है। इसका वादी स्वर ऋषभ और संवादी पंचम है। इसके गाने का समय मध्यरात्रि का है और इसकी प्रकृति गम्भीर है। इसका चलन मुख्यतः मन्द्र और मध्य स्थानों में है। इसके आरोह में गाधार दुर्बल है। आरोह में प्रायः यह (गाधार) बहुत कम लगता है। इसमें गाधार आंदोलित स्वर है। अवरोह में धैवत को वर्ज्य करते हैं। इसका आरोहावरोह स्वरूप इस प्रकार है—

नि॒ सा, रे ग॒, रे सा, म प, ध, नि॒ सा।

सा, ध॒, नि॒, प, म प, ग॒, म रे, सा.

(५) राग केदार

लक्षण—इसका प्रचलित नाम राग केदार है। ब्रज में इसे केदारो कहते हैं। यह कल्याण ठाट का राग है। इसमें तीव्र और शुद्ध दोनों मध्यम स्वर लगते हैं। इसका वादी स्वर शुद्ध मध्यम और सम्वादी षड्ज है। इस राग का आरोह करने में षड्ज स्वर से एकदम मध्यम स्वर पर जाते हैं। अवरोह में कभी-कभी कोमल निषाद का अल्प प्रयोग धैवत के साथ करते हैं।

इस राग के आरोह में ऋषभ और गाधार स्वर वर्जित है और अवरोह में गाधार वक्र और दुर्बल लगा जाता है। अतः इस राग की जाति-औडव-षाडव है। इसके गाने का समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। इसका आरोहावरोह स्वरूप इस प्रकार है—

सा म, म प, ध प, नि ध, सा।

सा, नि ध, प, म॑ प ध प,

म, ग म रे सा.।

(६) राग गौरी—प्रचार में गौड़ी राग नहीं है। केवल गौरी राग प्रचलित है।

लक्षण—गौरी राग दो प्रकार का होता है—(१) भैरव ठाट का और (२) पूर्वी ठाट का। भैरव ठाट के गौरी राग के आरोह में गाधार और धैवत स्वर

वर्ज्य होते है। अवरोह सम्पूर्ण होता है। इसका वादी स्वर ऋषभ और सम्वादी पचम है। यह साय गेय राग है। कुछ लोग इसमे तीव्र मध्यम का प्रयोग करते है। इसका उठाव इस प्रकार है—

सानिधनि, रेगरेमगरेसारेनि, सा।

पूर्वी ठाट के गौरी राग मे भी आरोह मे गांधार और धैवत स्वर वर्ज्य होते है। इसमे वादी स्वर ऋषभ और सम्वादी स्वर पचम होता है। इसके गायन का समय संध्याकाल है। इसका उठाव इस प्रकार है—

सानिधनि, रेग, रेमगरेसारे निसा।

प्राचीन काल मे गौडी राग प्रचार में था, जिसका वर्णन 'सगीत रत्नाकर' मे इस प्रकार मिलता है—

'यह हिंदोल राग की' भाषा है। इसका षड्ज स्वर न्यास, ग्रह और अंश है। इसमे धैवत और ऋषम वर्जित है और मन्द्र षड्ज का प्रयोग मिलता है।'

(७) राग–धनाश्री।

लक्षणः—यह राग दो प्रकार का होता है—(१) काफी ठाट का (२) भैरवी ठाट का। काफी ठाट के धनाश्री मे ऋषम और धैवत आरोह मे वर्ज्य है। इसमे वादी पचम और सम्वादी षड्ज होता है। अवरोह मे 'पग' स्वर-संगति, श्रुति मधुर होती है। यह तीसरे पहर गाया जाता है। काफी मेलजन्य धनाश्री का उठाव निम्न प्रकार का होता है—

निसा, गमप, धप, निधप, ग, पग, रेसा।

भैरवी मेल के धनाश्री राग मे ऋषम और धैवत कोमल होता है। इस राग का उठाव निम्न प्रकार का होता है—

निसा, गमप, निसां, निधपमग, पग, रेसा।

(८) राग वसत

लक्षण—वसत राग पूर्वी ठाट से निकला है। यह राग प्रचार में दो प्रकार से गाया जाता है। पहले प्रकार मे दोनो मध्यम और तीव्र धैवत लगाकर पचम वर्ज्य करके गाते है। दूसरे प्रकार मे इस राग को सम्पूर्ण मानते है। इसका वादी स्वर तार-षड्ज और सम्वादी पचम है। तीव्र धैवत लगने वाले प्रकार में पंचम वर्ज्य करके शुद्ध मध्यम को सम्वादी मानते है। यह राग प्रायः वसंत ऋतु मे दिन-रात गाया जाता है, अन्य ऋतुओ मे यह रात्रि के अतिम प्रहर मे गाया जाता है। इस राग का आरोहावरोह स्वरूप इस प्रकार है—

सा ग, मध, रें सा ।

रें नि ध, प, मग, मग, मधमग, रेसा ।

(९) राग विलावल

लक्षण—यह राग विलावल ठाट से उत्पन्न होता है । इसकी जाति सम्पूर्ण है । इस राग मे सभी स्वर शुद्ध लगते है । वादी स्वर धैवत और सम्वादी स्वर गाधार हे । इस राग मे निषाद और गाधार स्वर वक्र गति से प्रयुक्त होते हैं । यह प्रातः गाया जाता है । इसका आरोहावरोह स्वरूप इस प्रकार है—

सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा ।
सा, नि, ध, प, मग, रे सा ।

(१०) राग मलार

मलार या मल्लार राग काफी ठाट से उत्पन्न हुआ है । इसका आविष्कार मियाँ तानसेन ने किया था । इसका वादी स्वर मध्यम और संवादी षड्ज है । कोई-कोई वादी षड्ज मानते है और संवादी पंचम मानते हे । अवरोह में धैवत स्वर वर्ज्य है । यह राग प्राय. वर्षा ऋतु मे गाया जाता है । अन्य ऋतुओं मे इस राग को प्राय रात मे गाते है । इसका आरोहावरोह स्वरूप निम्नलिखित है—

रे म रे सा, म रे, प, नि ध, नि सा ।

सां नि प, म प, ग म, रे सा ।

(११) राग मारू

मारू शब्द 'मारवा' का विकृत रूप है । प्राय इस राग को 'मारवा' कहते है । इसमे ऋषम स्वर कोमल होता है और मध्यम तीव्र । शेष स्वर शुद्ध होते है । इसमे पंचम वर्ज्य है । इसलिए यह षाडव जाति का राग है । इस राग की विशेषता 'रे ग ध' स्वरो से झलकती है । इसके आरोह में ऋषम जब वक्र गति से प्रयुक्त होता है, तब यह राग विशेष रूप से खिलता है । इसका गायन-समय दिन का अंतिम प्रहर है । इस राग की चलन निम्न प्रकार की है—

सा रे, ग, म ध, निध, सा ।

सां निध, म ग रे सा ॥

(१२) राग भैरव

लक्षण—इसका शुद्ध रूप भैरव है। भैरव राग सम्पूर्ण जाति का है अर्थात् इसके आरोह और अवरोह दोनो मे सातो स्वर लगते है। इसमे ऋषभ और धैवत स्वर कोमल लगते है, शेष पाच स्वर शुद्ध लगते है। इसका गायन समय प्रात काल है। इस राग की प्रकृति गम्भीर है। ऋषभ और धैवत के आंदोलन से यह राग अधिक खिलता है। इसके आरोह में ऋषभ का अल्प प्रयोग होता है। इस राग मे मध्यम से ऋषभ की मीड बहुत ही हृदयग्राही होती है। इसका आरोहावरोह स्वरूप इस प्रकार है—

सा रे ग म, प ध, नि सा।

सां नि ध, प म ग, रे, सा।

(१३) राग रामकली

लक्षण—रामकली राग भैरव ठाट का है। यह राग प्रायः तीन प्रकार से गाया जाता है। इसके तीसरे प्रकार मे दोनो मध्यम और दोनों निषाद का प्रयोग होता है। यही प्रकार प्रचार मे है। इसमे धैवत और ऋषभ स्वर आदोलित होते है। इसका आरोहावरोह-स्वरूप इस प्रकार है—

सा ग, मप, ध, नि सा। सां नि ध, प, म प ध नि ध, प ग, म रे सा।

(१४) राग ललित

यह राग मारवा ठाट से उत्पन्न होता है। इसमे पंचम स्वर वर्ज्य है। इसलिए यह राग षाडव जाति का माना जाता है। इसका वादी स्वर शुद्ध मध्यम है और सम्वादी स्वर षड्ज है। इसके गाने का समय रात्रि का अतिम प्रहर माना जाता है। परन्तु प्राय. इसे प्रात काल नौ से ग्यारह बजे के बीच गाते है। इस राग मे :—

ध म ध म म,

यह स्वर-समुदाय बार-बार आता है। कुछ लोग इस राग मे शुद्ध धैवत के स्थान पर कोमल धैवत का प्रयोग करते है। इस राग की चलन निम्न प्रकार की है—

निरेगम, ममग, मध, सा।

रेंनिध, मधममग, रे, सा.॥

(१५) राग विहागड़ा

लक्षण—इसका प्रचलित नाम विहागडा है। यह बिहाग राग का उपाग है। इसके अवरोह मे कोमल 'नि' स्वर का प्रयोग होता है। आरोह मे ऋषभ का स्वल्प

प्रयोग होता है। इसमे मध्यम स्वर का अधिक महत्व होता है। यह रात में गाया जाता है। इसका चलन इस प्रकार है—

रे
गमध, पधनिध, पमगसा, गग, पम, मगम, पधनि, सा, सां, निध, प, मपम

गरेसा।

(१६) राग सारंग

सारग राग के कई प्रकार है। किन्तु केवल सारग शब्द से कुछ लोग या तो शुद्ध सारग समझते है अथवा वृन्दावनी सारंग समझते है। वृन्दावनी सारग में आरोह और अवरोह दोनो में गाधार और धैवत वर्ज्य है। इसका आरोहावरोह स्वरूप निम्नलिखित है—

नि सा, रे, मप, नि सां। सा निप म रे, सा. ॥

शुद्ध सारंग मे गाधार स्वर वर्ज्य है। ऋषभ वादी है और पचम सवादी स्वर है। इसमें दोनो मध्यम और दोनों निषाद लगते है और अवरोह में धैवत का थोड़ा प्रयोग होता है। इस राग की उठान निम्न प्रकार से होती है—

सा, रेमरे, प, मप, निप, मप, मरे, सा।

सभी प्रकार के सारग दोपहर मे गाये जाते है।

(१७) राग सोरठ

लक्षण—सोरठ राग खमाज ठाट से उत्पन्न होता है। इसके आरोह में गाधार और धैवत स्वर वर्ज्य होते हैं, अवरोह मे भी गाधार स्वर बहुत दुर्बल रहता है। इसका किंचित् प्रयोग मध्यम से ऋषभ तक की मीड में निहित रहता है। इस राग मे 'धमरे' की स्वर-सगति प्रधान है। इसका वादी स्वर ऋषभ और सवादी धैवत है। इसका आरोहावरोह स्वरूप इस प्रकार है—

सा रे, मप नि, सां। सा, रें, नि ध, मपध, मरे, नि, सा।

□